श्रीविष्णुशर्मप्रणीत

पञ्चतन्त्रम्

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१७

श्रीविष्णुशर्मप्रणीतं

पञ्चतन्त्रम्

'सरला'-हिन्दीटीकोपेतम्

टीकाकारः

स्व० गोकुलदास गुप्त

सम्पादकः

पं० रामचन्द्र झा, व्याकरणाचार्यः

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक :
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ६३०७६

पंचम संस्करण १९८९
मूल्य ५०–००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ५७२१४

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर
दिल्ली ११०००७
दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

प्राक्कथन

सम्पूर्ण विश्व पञ्चतन्त्र की उपयोगिता से परिचित है। यद्यपि यह ग्रन्थ सरल संस्कृत भाषा में लिखा है, तथापि हिन्दी मात्र के ज्ञाता तो इसका आनन्द नहीं ही उठा सकते। जो टीकाएँ हिन्दी में प्रकाशित हुई भी हैं, वे इस कोटि की हैं कि संस्कृत के ज्ञाता ही उनसे लाभान्वित हो सकते हैं। अतः स्व० गोकुलदास गुप्त विरचित स्वतन्त्र रूप की यह व्यवस्थित सरल हिन्दी टीका प्रकाशित की गई है।

इस टीका की यह विशेषता है कि एक मात्र हिन्दी जानने वाले भी पञ्चतन्त्र की कथाओं में आये हुए उपदेशों तथा नीतितत्त्वों से भली-भाँति अवगत हों तथा पदे-पदे संस्कृत भाषा एवं साहित्य का आनन्द लेते हुए विषय को हृदयङ्गम कर सकें।

विद्यार्थियों, अध्यापकों एवं साहित्य तथा नीति-प्रेमियों को समान रूप से लाभ हो, इस बात का प्रस्तुत टीका में अत्यधिक ध्यान रखा गया है। परन्तु निःसंकोच यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें किसी प्रकार की त्रुटि है ही नहीं। अस्तु, इस प्रकाशन से टीकाकार की दिवंगत आत्मा को शान्ति एवं पाठक को आनन्द अवश्य प्राप्त होगा, ऐसी आशा है।

टीकाकार का परिचय

प्रस्तुत टीका के रचयिता चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के अध्यक्ष स्वनामधन्य बाबू जयकृष्णदासजी गुप्त के ज्येष्ठ पुत्र स्व० बाबू गोकुलदासजी गुप्त हैं। आपके सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि—

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥'

यह अभिलाष ही आपकी थी। जगत् में जो कुछ है सब भगवान् का प्रकाश है। मानव के भीतर भी भगवान् हैं। मानव जिस दिन इस बात को सम्यक् रूप से उपलब्ध करता है, उसी दिन से वह भगवान् में निवास करता है। वेदान्तवादियों में वैष्णवों ने नरनारायण के रूप का अवलम्बन करके इस बात को खूब दिखलाया है। आप उसी वैष्णव-कुल के स्वच्छ नीलगगन में उत्फुल्ल सुधाकर की भाँति उदित हो रहे थे, किन्तु २१ वर्ष की आयु में ही आपका दुःखद निधन हो गया। आप रामायण, गीता और नीति-ग्रन्थों का अध्ययन विशेष अभिरुचि से किया करते थे। पञ्चतन्त्र की यह टीका आपके समक्ष प्रकाशित नहीं हो सकी, अतः आपकी स्मृतिस्वरूप यह पुस्तक आज आपको ही भेंट की जा रही है। इसका सम्पादन करते समय दिवंगत गुप्तजी का अभाव यदा-कदा मुझे किंकर्तव्यविमूढ़ कर देता था, किन्तु यावच्छक्य मैंने इसको सुचारु बनाने का प्रयत्न किया है। फिर भी सम्पादन में कुछ दोष रह गया हो तो पाठक उसे सुधार कर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

वाराणसी
वि० सं० २०१५

विनीत
रामचन्द्र झा

कथानुक्रमणिका

प्रथम तन्त्र : मित्रभेद

द्वितीय तन्त्र : मित्रसम्प्राप्ति

तृतीय तन्त्र : काकोलूकीय

चतुर्थ तन्त्र : लब्धप्रणाश

पञ्चम तन्त्र : अपरीक्षितकारक

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१७

श्रीविष्णुशर्मप्रणीतं

पञ्चतन्त्रम्

प्रथमतन्त्रम् : मित्रभेदः

'सरला'-हिन्दीटीकोपेतम्

टीकाकारः

स्व० श्रीगोकुलदास गुप्त बी० ए०

सम्पादकः

पं० रामचन्द्र झा व्याकरणाचार्यः

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी २२१००१

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

पञ्चमं संस्करण १९८८

मूल्य २०-००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

दिल्ली ११०००७

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

प्राक्कथन

सम्पूर्ण विश्व पञ्चतन्त्र की उपयोगिता से परिचित है। यद्यपि यह ग्रन्थ सरल संस्कृत भाषा में लिखा है तथापि हिन्दी मात्र के ज्ञाता तो इसका आनन्द नहीं ही उठा सकते। जो टीकाएँ हिन्दी में प्रकाशित हुई भी हैं वे इस कोटि की हैं कि संस्कृत के ज्ञाता ही उनसे लाभान्वित हो सकते हैं। अतः स्व० श्रीगोकुल दास गुप्त विरचित स्वतन्त्र रूप की यह व्यवस्थित सरल हिन्दी टीका प्रकाशित की गई है।

इस टीका की यह विशेषता है कि एक मात्र हिन्दी जानने वाले भी पञ्चतन्त्र की कथाओं में आये हुए उपदेशों तथा नीतितत्त्वों से भली भाँति अवगत हों तथा पदे-पदे संस्कृत भाषा एवं साहित्य का आनन्द लेते हुए विषय को हृदयङ्गम कर सकें।

विद्यार्थियों, अध्यापकों एवं साहित्य तथा नीतिप्रेमियों को समान रूप से लाभ हो, इस बात का प्रस्तुत टीका में अत्यधिक ध्यान रखा गया है। परन्तु निःसंकोच यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें किसी प्रकार की त्रुटि है ही नहीं। अस्तु, इस प्रकाशन से टीकाकर की दिवङ्गत आत्मा को शान्ति एवं पाठक को आनन्द अवश्य प्राप्त होगा, ऐसी आशा है।

टीकाकार का परिचय

प्रस्तुत टीका के रचयिता चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के अध्यक्ष स्वनामधन्य बाबू जयकृष्णदासजी गुप्त के ज्येष्ठ पुत्र स्व० बाबू गोकुलदासजी गुप्त हैं। आपके सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि—

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥'

यह अभिलाषा ही आपकी थी। जगत् में जो कुछ है सब भगवान् का प्रकाश है। मानव के भीतर भी भगवान् हैं। मानव जिस दिन इस बात को सम्यक् रूप से उपलब्ध करता है, उसी दिन से वह भगवान् में निवास करता है। वेदान्तवादियों में वैष्णवों ने नरनारायण के रूप का अवलम्बन करके इस बात को खूब दिखलाया है। आप उसी वैष्णवकुल के स्वच्छ नीलगगन में उत्फुल्ल सुधाकर की भाँति उदित हो रहे थे, किन्तु २१ वर्ष की आयु में ही आपका दुःखद निधन हो गया। आप रामायण, गीता और नीति ग्रन्थों का अध्ययन विशेष अभिरुचि से किया करते थे। पञ्चतन्त्र की यह टीका आप के समक्ष प्रकाशित नहीं हो सकी, अतः आपकी स्मृतिस्वरूप यह पुस्तक आज आपको ही भेंट की जा रही है। इसका सम्पादन करते समय दिवङ्गत गुप्तजी का अभाव यदा-कदा मुझे किंकर्तव्यविमूढ़ कर देता था, किन्तु यावच्छक्य मैंने इसको सुचारु बनाने का प्रयत्न किया है। फिर भी सम्पादन में कुछ दोष रह गया हो तो पाठक उसे सुधार कर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

वाराणसी
वि० सं० २०१५

विनीत
—रामचन्द्र झा

॥ श्रीः ॥

पञ्चतन्त्रम्

प्रथमतन्त्रम् : मित्रभेदः

तत्र कथामुखम्

ब्रह्मा रुद्रः कुमारो हरिवरुणयमा वह्निरिन्द्रः कुबेर-
श्चन्द्रादित्यौ सरस्वत्युदधियुगनगा वायुरुर्वी भुजङ्गाः ।
सिद्धा नद्योऽश्विनौ श्रीर्दितिरदितिसुता मातरश्चण्डिकाद्या
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गणवसुमुनयः पान्तु नित्यं ग्रहाश्च ॥ १ ॥
मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय ।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः ॥ २ ॥
सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम् ।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम् ॥ ३ ॥

विष्णुशर्मा ग्रन्थारम्भ में निर्विघ्न ग्रन्थसमाप्ति के लिए मङ्गलाचरण करते हैं—ब्रह्मा इत्यादि । ब्रह्मा, महेश, कार्तिकेय, विष्णु, वरुण, यम, अग्नि, इन्द्र, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, सरस्वती, समुद्र, युग (कृत, त्रेता, द्वापर, कलि), पर्वत, वायु, पृथ्वी, वासुकि आदि नागराज, कपिलादि सिद्ध, नदी, अश्विनीकुमार (यमल, स्वर्वैद्य), लक्ष्मी, दिति, अदितिपुत्र-देवता, चण्डिकाप्रभृति माताएँ, वेद (ऋक्, युजु; साम. अथर्व), तीर्थ—काशी-प्रयागादि, यज्ञ—अश्वमेधादि, गण—प्रमथादि, वसु (धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष तथा प्रभास), मुनि—व्यासादि और ग्रह—सूर्यादि, नव, ये सब नित्य हम लोगों की रक्षा करें ॥१॥

मनु, बृहस्पति, शुक्राचार्य, पुत्र (व्यास) के सहित पराशरमुनि, विद्वान् चाणक्य तथा नीतिशास्त्र के बनानेवालों के प्रति मेरा नमस्कार है ॥ २ ॥

इस ग्रन्थ की मौलिकता सिद्ध करने के लिए कहते हैं—सकलार्थ इत्यादि ।

तद्यथाऽनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तत्र सकलार्थिकल्पद्रुमः प्रवरमुकुटमणिमरीचिमञ्जरीचर्चितचरणयुगलः सकलकलापारङ्गतोऽमरशक्तिर्नाम राजा बभूव। तस्य त्रयः पुत्राः परमदुर्मेधसो बहुशक्तिरुग्रशक्तिरनन्तशक्तिश्चेति नामानो बभूवुः। अथ राजा ताञ्शास्त्रविमुखानालोक्य सचिवानाहूय प्रोवाच—'भोः, ज्ञातमेतद्भवद्भिर्यन्ममैते पुत्राः शास्त्रविमुखा विवेकरहिताश्च तदेतान्पश्यतो मे महदपि राज्यं न सौख्यमावहति।

अथवा साध्विदमुच्यते—

अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम्।
यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत्॥ ४॥

वरं गर्भस्रावो वरमृतुषु नैवाभिगमनं
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता।

इस संसार में उपलब्ध सम्पूर्ण अर्थशास्त्र के निष्कर्ष की समालोचना कर मैंने (विष्णुशर्मा ने) पाँच तन्त्रों से युक्त इस मनोहर शास्त्र को बनाया है॥ ३॥

इस प्रकार सुना जाता है कि दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का नगर था। वहाँ समस्त याचकों के लिए कल्पवृक्ष के समान, उच्चतम राजाओं की मुकुटमणियों के किरणसमूह से पूजित चरणयुगलवाला और समग्र कलाओं का पारदर्शी अमरशक्ति नाम का राजा था। उसके परम मूर्ख तीन पुत्र हुए, जिनके नाम थे—बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति। उन पुत्रों को शास्त्र से विमुख देखकर राजा ने मन्त्रियों को बुलाकर कहा—'यह तो आप लोगों को विदित ही है कि ये मेरे पुत्र शास्त्रज्ञान से विमुख तथा विवेकशून्य हैं। इसलिए इन्हें देखते हुए मुझे यह विशाल राज्य भी आनन्द नहीं देता।'

अथवा यह किसी ने ठीक ही कहा है—

उत्पन्न ही नहीं हुए, उत्पन्न होकर मर गये एवं मूर्ख—इन तीन पुत्रों में से उत्पन्न ही न हुए और उत्पन्न होकर मर गये ये दोनों बल्कि अच्छे हैं क्योंकि वे अत्यन्त अल्प दुःख देनेवाले होते हैं, किन्तु अन्तिम मूर्ख पुत्र तो जीवनपर्यन्त सन्ताप ही देता रहता है॥ ४॥

बल्कि गर्भ का पतन हो जाना अच्छा है, ऋतुकाल में स्त्री के पास न जाना अच्छा है, किसी प्रकार सन्तति के उत्पन्न होने पर उसका तत्काल ही मर जाना

वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न चाविद्वान्रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ॥ ५ ॥
किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा ।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न भक्तिमान् ॥ ६ ॥
वरमिह वा सुतमरणं मा मूर्खत्वं कुलप्रसूतस्य ।
येन विबुधजनमध्ये जारज इव लज्जते मनुजः ॥ ७ ॥
गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससंभ्रमा यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ॥ ८ ॥

तदेतेषां यथा बुद्धिप्रकाशो भवति तथा कोऽप्युपायोऽनुष्ठीयताम् । अत्र च मद्दत्तां वृत्तिं भुञ्जानानां पण्डितानां पञ्चशती तिष्ठति । ततो 'यथा मम मनोरथाः सिद्धिं यान्ति तथाऽनुष्ठीयताम्' इति । तत्रैकः प्रोवाच 'देव, द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते । ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि । एवं च ततो

अच्छा है, अथवा पुत्र न होकर कन्या का ही जन्म होना अच्छा है, स्त्री का वन्ध्या होना या सन्तान का गर्भ में ही रहना अच्छा है, किन्तु रूप-सम्पत्ति-गुण-सम्पन्न होता हुआ भी मूर्ख पुत्र अच्छा नहीं है ॥ ५ ॥

उस गौ से क्या प्रयोजन जो न बच्चा उत्पन्न करती है और न तो दूध ही देती है ? उसी प्रकार उस पुत्र से क्या प्रयोजन जो न विद्वान् हो और न माता-पिता, गुरु एवं इष्टदेवों में प्रेम करनेवाला हो ॥ ६ ॥

अथवा इस संसार में पुत्र का मरण अच्छा है, परन्तु कुल में उत्पन्न पुत्र का मूर्ख होना उचित नहीं है । क्योंकि उस मूर्ख पुत्र से विद्वानों के मध्य में जारज पुत्र के समान मनुष्य लज्जित होता है ॥ ७ ॥

गुणी लोगों की गणना के समय जिसके नाम पर अँगुली शीघ्रता के साथ न गिरे, यदि उस प्रकार के पुत्र से उसकी माता पुत्रवती है तो बताओ फिर वन्ध्या किस प्रकार की स्त्री होती है ॥ ८ ॥

इसलिए जिस प्रकार इनकी बुद्धि का विकास हो वैसा कोई उपाय आप लोग करें । यहाँ पर मेरे द्वारा दी हुई जीविका को भोगते हुए पाँच सौ विद्वान् रहते हैं । अत एव जिस प्रकार मेरे मनोरथ सिद्ध हों वैसा उद्योग करें ।' उनमें से एक मन्त्री ने कहा—'राजन् ! बारह वर्ष में व्याकरणशास्त्र का अध्ययन होता है,

धर्मार्थकामशास्त्राणि ज्ञायन्ते। ततः प्रतिबोधनं भवति।' अथ तन्मध्यतो सुमतिर्नाम सचिवः प्राह—'अशाश्वतोऽयं जीवितव्यविषयः। प्रभूतकालज्ञेयानि शब्दशास्त्राणि। तत्संक्षेपमात्रं शास्त्रं किञ्चिदेतेषां प्रबोधनार्थं चिन्त्यतामिति। उक्तं च यतः—

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथाऽऽयुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥ ९॥

तदत्रास्ति विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मणः सकलशास्त्रपारङ्गमश्छात्रसंसदि लब्धकीर्तिः। तस्मै समर्पयतु एतान्। स नूनं द्राक्प्रबुद्धान्करिष्यति' इति। स राजा तदाकर्ण्य विष्णुशर्माणमाहूय प्रोवाच—'भो भगवन्, मदनुग्रहार्थमेतानर्थशास्त्रं प्रति द्राग्यथानन्यसदृशान्विदधासि तथा कुरु। तदाहं त्वां शासनशतेन योजयिष्यामि।' अथ विष्णुशर्मा तं राजानमूचे—'देव, श्रूयतां मे तथ्यवचनम्। नाहं विद्याविक्रयं शासनशतेनापि

तत्पश्चात् मनु आदि के धर्मशास्त्र, चाणक्यादि के अर्थशास्त्र, वात्स्यायनादि के कामशास्त्र। तदन्तर धर्म, अर्थ तथा कामशास्त्र पढ़े जाते हैं। इन सबों के पढ़ने के अनन्तर ही ज्ञान होता है।' इसके अनन्तर उनमें से सुमति नामक एक मन्त्री ने कहा—'यह मानवजीवन अनित्य है और शब्दशास्त्र (व्याकरण) का ज्ञान अधिक समय के अनन्तर होता है। इसलिए इनके बोध के लिए किसी संक्षिप्त-शास्त्र का विचार कीजिए। क्योंकि कहा भी है—

शब्दशास्त्र (व्याकरण) का निश्चित कहीं पार नहीं, अवस्था थोड़ी और विघ्न अत्यधिक हैं। इसलिए सार (तत्त्व) को ग्रहण कर, असार (निस्तत्त्व) का वैसे ही परित्याग कर देना चाहिए जैसे हंस जल से दूध निकाल लेते और जल त्याग देते हैं॥ ९॥

यहाँ अपने विद्वन्मण्डलियों में समस्त शास्त्रों का पारगामी और छात्रों की मण्डली में यशस्वी विष्णुशर्मा नाम का एक ब्राह्मण है, उसे इन पुत्रों को आप सौंप दें। वह अवश्य इनको शीघ्र ही ज्ञानवान बना देगा।' राजा ने यह बात सुनकर विष्णुशर्मा को बुलाकर कहा—'भगवन्! मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आप मेरे इन पुत्रों को शीघ्र अर्थशास्त्र में जिस प्रकार हो सके उस प्रकार असाधारण विद्वान् बना दीजिये। इसके बदले मैं आपको सौ गाँव का मालिक बना दूँगा'। इसके अनन्तर राजा से विष्णुशर्मा ने कहा—'राजन् मेरे सत्य

करोमि। पुनरेतांस्तव पुत्रान्मासषट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञान्न करोमि, ततः स्वनामत्यागं करोमि। किं बहुना। श्रूयतां ममैष सिंहनादः। नाहमर्थलिप्सुर्ब्रवीमि। ममाशीतिवर्षस्य व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य न किञ्चिदर्थेन प्रयोजनम्। किंतु त्वत्प्रार्थनासिद्ध्यर्थं सरस्वतीविनोदं करिष्यामि। तल्लिख्यतामद्यतनो दिवसः। यद्यहं षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नयशास्त्रं प्रत्यनन्यसदृशान्न करिष्यामि, ततो नार्हति देवो देवमार्गं संदर्शयितुम्।'

अथासौ राजा तां ब्राह्मणस्यासम्भाव्यां प्रतिज्ञां श्रुत्वा ससचिवः प्रहृष्टो विस्मयान्वितस्तस्मै सादरं तान्कुमारान्समर्प्य परां निर्वृत्तिमाजगाम। विष्णुशर्मणापि तानादाय तदर्थं मित्रभेद-मित्रप्राप्ति-काकोलूकीय-लब्धप्रणाश-अपरीक्षितकारकाणि चेति पञ्चतन्त्राणि रचयित्वा पाठितास्ते राजपुत्राः। तेऽपि तान्यधीत्य मासषट्केन यथोक्ताः संवृत्ताः। ततः प्रभृत्येतत्पञ्चतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं भूतले प्रवृत्तम्। किं बहुना—

वचन सुनिये। मैं सौ गाँव लेकर भी विद्या-विक्रय नहीं करता। तथापि आपके इन पुत्रों को यदि छः महीने में नीतिशास्त्र का ज्ञाना न बना दूँ तो मैं अपना नाम त्याग दूँगा। बहुत कहने से क्या लाभ? आप मेरा सिंहनाद सुनें। धन मिल जाने की अभिलाषा से मैं ऐसा नहीं कहता, क्योंकि अस्सी वर्ष की अवस्था तक समस्त इन्द्रियों के भोग से निःस्पृह हो गया हूँ, अतः मुझे धन से कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु आपकी प्रार्थनासिद्धि के निमित्त मैं सरस्वती-विनोद करूँगा। अतः आप आज के दिन का नाम लिख लीजिए। यदि मैं ६ महीने के अन्दर आपके पुत्रों को विद्या में असाधारण ज्ञाता न बना दूँ तो भगवान् मुझे देवमार्ग (स्वर्ग) न दिखावें'।

इसके अनन्तर ब्राह्मण की इस असम्भव (असाधारण) प्रतिज्ञा को सुनकर राजा मन्त्रियों सहित अत्यधिक प्रसन्न हो आश्चर्ययुक्त हुआ और उन राजकुमारों को आदर के साथ उनको समर्पित कर राजा अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। विष्णुशर्मा ने भी उन (कुमारों) को ले जाकर उनके निमित्त मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश और अपरीक्षितकारक नामक इन पाँच तन्त्रों की रचना कर उन्हें पढ़ाया। वे राजकुमार भी उन तन्त्रों को पढ़कर छः महीने में जैसा कहा था, असाधारण ज्ञाता हो गये। उसी दिन से यह पञ्चतन्त्र नामक

अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन॥ १०॥

इति कथामुखं समाप्तम्।

—:०:—

अथ मित्रभेदः प्रारम्भः

अथातः प्रारभ्यते मित्रभेदो नाम प्रथमं तन्त्रम्। यस्यायमादिमः श्लोकः—

वर्धमानो महान्स्नेहः सिंहगोवृषयोर्वने।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः॥ १॥

तद्यथाऽनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तत्र धर्मोपार्जितभूरिविभवो वर्धमानको नाम वणिक्पुत्रो बभूव। तस्य कदाचिद्रात्रौ शय्यारूढस्य चिन्ता समुत्पन्ना—तत्प्रभूतेऽपि वित्तेऽर्थोपायाश्चिन्तनीयाः कर्तव्याश्चेति। यत उक्तं च—

नीतिशास्त्र का ग्रन्थ बालकों को ज्ञानप्राप्ति के लिए संसार में प्रसिद्ध हुआ। अधिक क्या?

जो इस नीतिशास्त्र का नित्य अध्ययन करता है अथवा सुनता है वह देवराज इन्द्र से भी कभी पराजित नहीं होता॥ १०॥

इस प्रकार पञ्चतन्त्र भाषाटीकान्तर्गत कथामुख समाप्त।

अब यहाँ से मित्रभेद नाम का प्रथम तन्त्र प्रारम्भ किया जाता है जिसका यह सर्वप्रथम श्लोक है—

वन में एक सिंह और बैल के बीच जो अधिक स्नेह बढ़ा हुआ था, उसे चुगलखोर और अत्यधिक लालची गीदड़ ने नष्ट कर दिया॥ १॥

इस प्रकार सुना जाता है कि दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का एक नगर था। वहाँ धर्मपूर्वक अत्यधिक धन उपार्जन करनेवाला वर्द्धमान नाम का एक बनिये का पुत्र था। एक समय रात्रि में शय्या पर सोते हुए उसे चिन्ता उत्पन्न हुई—धन का आधिक्य हो जाने पर भी धनप्राप्ति का उपाय सोचना और करना ही चाहिये। क्योंकि कहा भी है—

न हि तद्विद्यते किंचिद्यदर्थेन न सिद्धयति।
यत्नेन मतिमांस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत् ॥ २ ॥
यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥ ३ ॥
न सा विद्या न तद्दानं न तच्छिल्पं न सा कला।
न तत्स्थैर्यं हि धनिनां याचकैर्यन्न गीयतते ॥ ४ ॥
इह लोके हि धनिनां परोऽपि स्वजनायते।
स्वजनोऽपि दरिद्राणां सर्वदा दुर्जनायते ॥ ५ ॥
अर्थेभ्योऽपि हि वृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्य इतस्ततः।
प्रवर्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतेभ्य इवापगाः ॥ ६ ॥
पूज्यते यदपूज्योऽपि यदगम्योऽपि गम्यते।
वन्द्यते यदवन्द्योऽपि स प्रभावो धनस्य च ॥ ७ ॥

संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो धन के द्वारा सिद्ध न होती हो, इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि केवल धन का यत्न के साथ उपार्जन करे ॥ २ ॥

जिसके पास धन है उसी के मित्र होते हैं! जिसके पास धन है उसी के बन्धु होते हैं। जिसके पास धन रहता है वही इस संसार में पुरुष है और जिसके पास धन है वही पण्डित (सदसद्विवेकशील) समझा जाता है ॥ ३ ॥

न कोई ऐसी वह विद्या है, न वह दान है, न वह कारीगरी है, न वह कला है, न वह स्थिरता है, जिसे धनिकों में याचकगण न कहते हों (अर्थात् विद्या आदि समस्त गुण धनिकों में ही कहे जाते हैं) ॥ ४ ॥

इस संसार में अनात्मीय लोग भी धनियों के आत्मीय (सम्बन्धी) हो ज़ाते हैं, किन्तु दरिद्र पुरुष के अपने कुटुम्बी भी सर्वदा दुर्जन के समान व्यवहार करने लगते हैं ॥ ५ ॥

जिस प्रकार पर्वतों से ही सब नदियाँ निकल कर समस्त कार्य पूर्ण करती हैं, उसी प्रकार इधर-उधर से इकट्ठा कर बढ़ाये हुए धन से ही समस्त लौकिक क्रियाओं की प्रवृत्ति होती है ॥ ६ ॥

यह धन का ही प्रभाव है जो कि--अपूज्य भी पूजित होता है, न जाने

अशनादिन्द्रियाणीव स्युः कार्याण्यखिलान्यपि ।
एतस्मात्कारणाद्वित्तं सर्वसाधनमुच्यते ॥ ८ ॥
अर्थार्थी जीवलोकोऽयं श्मशानमपि सेवते ।
त्यक्त्वा जनयितारं स्वं निःस्वं गच्छति दूरतः ॥ ९ ॥
गतवयसामपि पुंसां येषामर्था भवन्ति ते तरुणाः ।
अर्थे तु ये हीना वृद्धास्ते यौवनेऽपि स्युः ॥ १० ॥

स चार्थः पुरुषाणां षडभिरुपायैर्भवति—भिक्षया, नृपसेवया, कृषिकर्मणा, विद्योपार्जनेन, व्यवहारेण, वणिक्कर्मणा वा । सर्वेषामपि तेषां वाणिज्येनातिरस्कृतोऽर्थलाभः स्यात् । उक्तं च यतः—

कृता भिक्षाऽनेकैर्वितरति नृपो नोचितमहो
कृषिः क्लिष्टा विद्या गुरुविनयवृत्त्याऽतिविषमा ।
कुसीदाद्दारिद्र्यं परकरगतग्रन्थिशमना-
न्न मन्ये वाणिज्यात्किमपि परमं वर्तनमिह ॥ ११ ॥

योग्य के यहाँ भी जाया जाता है और प्रणाम न करने के योग्य भी व्यक्ति लोगों से प्रणम्य हो जाता है ॥ ७ ॥

जिस प्रकार भोजन करने से समस्त इन्द्रियाँ सबल होती हैं, उसी प्रकार समस्त कार्य धन से ही सम्पन्न होते हैं, इसलिए धन सर्वसाधन कहलाता है ॥८॥

धन की अभिलाषा से प्राणी श्मशान (मुर्दा जलाने का स्थान) का भी सेवन करता है, और वही प्राणी अपने उत्पन्न करनेवाले निर्धन पिता को भी छोड़ कर दूर चला जाता है ॥ ९ ॥

वृद्ध पुरुषों में भी जिनके पास धन है वे तरुण हैं । किन्तु जो धनहीन हैं वे युवावस्था में भी वृद्ध हो जाते हैं ॥ १० ॥

वह धन मनुष्यों को छः उपायों से मिलता है—(१) भिक्षा (२) राजजीय सेवा (नौकरी) (३) खेती के कार्य (४) विद्योपार्जन (५) व्यवहार (लेनदेन) और (६) वाणिज्य (धनियों के कर्म, व्यापार) द्वारा । इन सब में वाणिज्य द्वारा अपमानरहित धनलाभ होता है । क्योंकि कहा भी है—

अनेक पुरुषों के घरों से भिक्षा प्राप्त की जाती है । सेवा करने पर राजा भी उचित वृत्ति नहीं देता, औरों की तो बात ही क्या ? कृषिकर्म क्लेश से परिपूर्ण है, विद्या गुरु की विनयवृत्ति द्वारा बड़ी विषम है, व्याज से भी दरिद्रता

उपायानां च सर्वेषामुपायः पण्यसंग्रहः।
धनार्थं शस्यते ह्येकस्तदन्यः संशयात्मकः ॥ १२ ॥

तच्च वाणिज्यं सप्तविधमर्थागमाय स्यात्। तद्यथा—गान्धिकव्यवहारः, निक्षेपप्रवेशः, गोष्ठिककर्म, परिचितग्राहकागमः, मिथ्याक्रयकथनम्, कूटतुलामानम्, देशान्तराद्भाण्डानयनं चेति। उक्तं च—

पण्यानां गान्धिकं पण्यं किमन्यैः काञ्चनादिभिः।
यत्रैकेन च यत्क्रीतं तच्छतेन प्रदीयते ॥ १३ ॥
निक्षेपे पतिते हर्म्ये श्रेष्ठी स्तौति स्वदेवताम्।
निक्षेपी म्रियते तुभ्यं प्रदास्याम्युपयाचितम् ॥ १४ ॥

होती है, क्योंकि अपना धन दूसरे के हाथों में जाने से ग्रन्थिशमन (पूँजी गायब) का सन्देह बना रहता है। इसलिये वाणिज्य कर्म से बढ़कर और किसी को मैं जीवनोपाय का साधन नहीं मानता ॥ ११ ॥

समस्त उपायों में वेचने योग्य वस्तुओं का संग्रह (वाणिज्य) ही एक धनप्राप्ति का उत्तम उपाय है, इसके अतिरिक्त अन्य सब संशयात्मक हैं ॥ १२ ॥

धन की प्राप्ति के लिए सात प्रकार का वाणिज्य होता है। जैसे—(१) सुगन्धित द्रव्यों जड़ी-बूटी आदि का व्यवसाय, (२) निक्षेपप्रवेश—अर्थात् दूसरे की वस्तु धरोहर रखना और उसे उसके बदले ब्याज पर रुपया देना, (३) गोष्ठिक (गाय से सम्बन्धित) कर्म अथवा गोष्ठिक कर्म अर्थात् समाज सम्बन्धी कर्म (समाज में मुखिया बनकर न्यायान्याय का विचार 'सामाजिक सेवा' करना) (४) परिचित ग्राहकों को खींचना, (५) बिक्री करते समय थोड़े मूल्य में खरीदी चीज का अधिक मूल्य बताना, (६) तराजू तौलने में चालबाजी करना और (७) दूसरे देश से बरतन आदि वस्तुओं को लाना। कहा गया है कि—

वेचने योग्य वस्तुओं में, सुगन्धित द्रव्यों, जड़ी-बूटी आदि का व्यापार सर्वोत्तम होता है, क्योंकि एक का खरीद कर सौ का वेचा जाता है, तब अन्य सुवर्ण आदि वस्तुओं के व्यापार से क्या-लाभ ॥ १३ ॥

धरोहर घर में आ जाने पर सेठ अपने कुलदेवता से प्रार्थना करता है कि यदि धरोहर रखने वाला मर जाय तो मैं आपकी अभिलषित वस्तु से पूजा करूँगा ॥ १४ ॥

गोष्ठिककर्मनियुक्तः श्रेष्ठी चिन्तयति चेतसा हृष्टः ।
वसुधा वसुसंपूर्णा मयाऽद्य लब्धा किमन्येन ॥ १५ ॥
परिचितमागच्छन्तं ग्राहकमुत्कण्ठया विलोक्यासौ ।
हृष्यति तद्धनलुब्धो यद्वत्पुत्रेण जातेन ॥ १६ ॥

अन्यच्च-

पूर्णापूर्णे माने परिचितजनवञ्चनं तथा नित्यम् ।
मिथ्याक्रयस्य कथनं प्रकृतिरियं स्यात्किरातानाम् ॥ १७ ॥
द्विगुणं त्रिगुणं वित्तं भाण्डक्रयविचक्षणाः ।
प्राप्नुवन्त्युद्यमाल्लोका दूरदेशान्तरं गताः ॥ १८ ॥

इत्येवं सम्प्रधार्य मथुरागामीनि भाण्डान्यादाय शुभायां तिथौ गुरुजनानुज्ञातः सुरथाधिरूढः प्रस्थितः । तस्य च मङ्गलवृषभौ संजीवक-नन्दकनामानौ गृहोत्पन्नौ धूर्वोढारौ स्थितौ । तयोरेकः संजीवकाभिधानो यमुनाकच्छमवतीर्णः सम्पङ्कपूरमासाद्य कलितचरणो युगभङ्गं

गोष्ठिक कर्म (गाय-बैल के व्यापार में लगा हुआ सेठ प्रफुल्लित मन से विचार करता है कि धन से परिपूर्ण पृथ्वी की प्राप्ति मैंने आज की है । मुझे अब अन्य वस्तु से क्या प्रयोजन है ॥ १५ ॥

परिचित ग्राहकों को आते हुए उत्कण्ठा से देखकर व्यापारी उसके धन पर आँख गड़ा कर इस प्रकार प्रसन्न होता है, जिस प्रकार उसके यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ हो ॥ १६ ॥

और भी—कम और पूरा तौल कर प्रतिदिन परिचित लोगों को ठगना और असत्य भाव बतलाना—यह किरातों (किराना के व्यापारियों या जङ्गलियों) का स्वभाव है ॥ १७ ॥

और भी—बरतनों के बेचने में चतुर मनुष्य दूसरे दूर देश में जाकर उद्योग द्वारा दूना तिगुना धन प्राप्त कर लेते हैं ॥ १८ ॥

ऐसा निश्चय कर उस बनिये ने मथुरा में बिकने योग्य पात्रों (बरतनों) को लेकर शुभ तिथि में गुरुजनों की आज्ञा से गाड़ी पर बैठकर प्रस्थान किया । घर में उत्पन्न हुए शुभलक्षणसम्पन्न सञ्जीवक तथा नन्दक नामवाले दो बैल बोझ ढोनेवाले थे । उनमें एक सञ्जीवक नामवाला बैल यमुना के तीर पर उतर कर कीचड़ में फँस जाने के कारण टाँग के टूट जाने से जुआ गिराकर

विधाय निषसाद। अथ तं तदवस्थमालोक्य वर्धमानः परं विषादमगमत्। तदर्थं च स्नेहार्द्रहृदयस्त्रिरात्रं प्रयाणभङ्गमकरोत्। अथ तं विषण्णमालोक्य सार्थिकैरभिहितम्—'भोः श्रेष्ठिन्, किमेवं वृषभस्य कृते सिंहव्याघ्रसमाकुले बह्वपायेऽस्मिन्वने समस्तसार्थस्त्वया संदेहे नियोजितः। उक्तं च—

'न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः।
एतदेवात्र पाण्डित्यं यत्स्वल्पाद्भूरिरक्षणम्॥ १९॥

अथासौ तदवधार्य संजीवकस्य रक्षापुरुषान्निरूप्याशेषसार्थं नीत्वा प्रस्थितः। अथ रक्षापुरुषा अपि बह्वपायं तद्वनं विदित्वा संजीवकं परित्यज्य पृष्ठतो गत्वाऽन्येद्युस्तं सार्थवाहं मिथ्याऽऽहुः—'स्वामिन्, मृतोऽसौ संजीवकः अस्माभिस्तु सार्थवाहस्याभीष्ट इति मत्वा वह्निना संस्कृतः' इति। तच्छ्रुत्वा सार्थवाहः कृतज्ञतया स्नेहार्द्रहृदयस्तस्यौर्ध्वदेहिकक्रिया वृषोत्सर्गादिकाः सर्वाश्चकार। संजीवकोऽप्यायुःशेषतया यमुनासलिलमिश्रैः शिशिरतरवातैराप्यायितशरीरः कथञ्चिदप्युत्थाय यमुनातटमुपपेदे। तत्र

बैठ गया। इसके अनन्तर उसकी वैसी दशा देखकर वर्द्धमान अत्यधिक दुःखी हुआ तथा उसने उसके लिए प्रेम से आर्द्रहृदय होकर तीन रात तक आगे प्रस्थान नहीं किया। उसको इस प्रकार खिन्न देखकर साथियों ने कहा—'हे सेठजी! क्यों एक बैल के लिए सिंह और बाघ से युक्त तथा अनेक विपत्तिवाले इस वन में सब साथियों को आपने खतरे में डाल रखा है? कहा भी है—

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि थोड़े के लिए अधिक का नाश न करे। इसी में पाण्डित्य (समझदारी) है कि थोड़े से अधिक की रक्षा करें॥ १९॥

इसके बाद उस बात को अच्छी तरह से समझकर वह वैश्य सञ्जीवक की रक्षा करने के लिए रक्षक-पुरुषों को नियुक्त करके अवशिष्ट सब साथियों को लेकर आगे चला। नियुक्त रक्षकगण भी उस वन को संकटयुक्त जानकर सञ्जीवक को वहीं छोड़कर पीछे से दूसरे दिन उस सार्थवाह (वनिये) के पास जाकर झूठ बोलने लगे, कि—'हे स्वामिन्! वह सञ्जीवक तो मर गया और हम लोगों ने उसे आपका प्यारा जानकर उसका अग्निसंस्कार भी कर दिया।' यह सुनकर सार्थवाह (वैश्य) ने कृतज्ञता और दया से आर्द्रहृदय होकर उस (बैल) की वृषोत्सर्गादि और्ध्वदेहिक सब क्रिया सम्पन्न की। इधर सञ्जीवक भी आयु शेष रहने के कारण, यमुना के जल से मिश्रित अत्यन्त शीतल वायु द्वारा स्वस्थ

मरकतसदृशानि बालतृणाग्राणि भक्षयन्कतिपयैरहोभिर्हरवृषभ इव पीनः ककुद्मान्बलवांश्च संवृत्तः प्रत्यहं वल्मीकशिखराग्राणि शृङ्गाभ्यां विदारयन्गर्जमान आस्ते। साधु चेदमुच्यते—

अरक्षितं तिष्ठति देवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नयोऽपि गृहे विनश्यति ॥ २० ॥

अथ कदाचित्पिङ्गलको नाम सिंहः सर्वमृगपरिवृतः पिपासाकुल उदकपानार्थं यमुनातटमवतीर्णः संजीवकस्य गम्भीरतररावं दूरादेवाशृणोत्। तच्छ्रुत्वाऽतीव व्याकुलहृदयः ससाध्वसमाकारं प्रच्छाद्य वटतले चतुर्मण्डलावस्थानेनावस्थितः। चतुर्मण्डलावस्थानं त्विदम्—सिंहः, सिंहानुयायिनः, काकरवाः, किंवृत्ता इति। अथ तस्य करटकदमनकनामानौ द्वौ शृगालौ मन्त्रिपुत्रौ भ्रष्टाधिकारौ सदानुयायिनावास्ताम्। तौ च परस्परं मन्त्रयतः।

शरीर से, किसी प्रकार उठकर यमुना के किनारे पहुँचा। वहाँ मरकत मणि के समान (हरे-हरे) छोटे तृण के अग्रभाग को खाता हुआ वह कुछ ही दिनों में शङ्करजी के वृषभ (नन्दी) के समान मोटा ककुद (पीठ पर का मोटा मांस का भाग) वाला और बलवान् भी हो गया। प्रतिदिन वल्मीक (दीमक के घरौंदे) के शिखर (टीले) के अगले भागों को सींगों से विदीर्ण करता हुआ गर्जन करने लगा। यह ठीक ही कहा जाता है कि—

अरक्षित वस्तु भी दैव से रक्षित होकर बची रहती है, और अच्छी तरह से रक्षित वस्तु भी दैव से अरक्षित होकर नष्ट हो जाती है। वन में परित्यक्त हुआ भी अनाथ जी जाता है, किन्तु घर में विशेष प्रयत्न करने पर भी नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

इसके अनन्तर किसी समय पिङ्गलक नाम का सिंह समस्त मृगों के साथ प्यास से व्याकुल होकर जल पीने के लिए यमुना के किनारे पहुँचा। उसने सहसा सञ्जीवक के अत्यन्त गम्भीर गर्जन को दूर ही से सुना। उसे सुनकर अत्यधिक बेचैन होकर भय से आकार को छिपाकर वटवृक्ष के नीचे चतुर्मण्डलावस्थान के क्रम से बैठा। चतुर्मण्डलावस्थान उसे कहते हैं—जिसमें सिंह के पीछे गमन करनेवाले, काकरव (कौए के समान शब्द करने वाले) और किंवृत (कौन-सा विषय उपस्थित है, उसे जानने वाले) होते हैं। करटक और दमनक नामक दो सियार मन्त्री के पुत्र अधिकार से भ्रष्ट होकर भी सदा उसका अनुगमन

तत्र दमनकोऽब्रवीत्—'भद्र करटक, अयं तावदस्मत्स्वामी पिङ्गलक उदकग्रहणार्थं यमुनाकच्छमवतीर्य स्थितः। स किंनिमित्तं पिपासाकुलोऽपि निवृत्य व्यूहरचनां विधाय दौर्मनस्येनाभिभूतोऽत्र वटतले स्थितः।' करटक आह—'भद्र, किमावयोरनेन व्यापारेण उक्तं च यतः—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति।
स एव निधनं याति कीलोत्पाटीव वानरः॥ २१॥

दमनक आह—'कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

कथा १

कस्मिंश्चिन्नगराभ्याशे केनापि वणिक्पुत्रेण तरुखण्डमध्ये देवतायतनं कर्तुमारब्धम्। तत्र च ये कर्मकराः स्थापत्यादयः, ते मध्याह्नवेलायामाहारार्थं नगरमध्ये गच्छन्ति। अथ कदाचित्तत्रानुषङ्गिकं वानरयूथमितश्चेतश्च परिभ्रमदागतम्। तत्रैकस्य कस्यचिच्छिल्पिनोऽर्धस्फाटितोऽञ्जनवृक्षदारुमयः स्तम्भः खदिरकीलकेन मध्यनिहितेन तिष्ठति। एतस्मिन्नन्तरे ते

करने वाले थे। वे दोनों आपस में मन्त्रणा करने लगे। उनमें से दमनक ने कहा—'भद्र करटक! हमारा स्वामी पिङ्गलक तो जल पीने के लिए यमुना की जल युक्त भूमि पर बैठा हुआ था। फिर क्या कारण है कि प्यास से बेचैन होने पर भी लौटकर यह अपनी सेना का मण्डल बनाकर, दुःखी मन से पराभव को प्राप्त होकर इस वरगद के नीचे आया? करटक बोला—'हे भद्र! हम लोगों को इस व्यर्थ के विषय में सोचने से क्या प्रयोजन? क्योंकि कहा है—

जो मनुष्य व्यर्थ का काम करना चाहता है, वह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार कील को उखाड़ कर वह वानर नष्ट हो गया था॥ २१॥

दमनक ने कहा—यह किस प्रकार की कथा है? उसने कहा—

किसी नगर के समीप किसी बनिये के पुत्र ने बगीचे के बीच में देवमन्दिर का निर्माण प्रारम्भ किया। उसमें काम करने वाले जो कारीगर, शिल्पी (बढ़ई) आदि थे, वे दोपहर के समय भोजन करने के लिए नगर में चले जाते थे। एक समय अपनी जाति के स्वभाव से वानरों का झुण्ड इधर-उधर से घूमता हुआ वहाँ आ पहुंचा। वहाँ किसी एक कारीगर द्वारा आधे चीरे हुए अञ्जनवृक्ष के काठ के खम्भे के बीच खैर की खूंटी लगी हुई पड़ी थी। इसी बीच वे वानर

वानरास्तरुशिखरप्रसादशृङ्गदारुपर्यन्तेषु यथेच्छया क्रीडितुमारब्धाः। एकश्च तेषां प्रत्यासन्नमृत्युश्चापल्यात्तस्मिन्नर्धस्फाटितस्तम्भे उपविश्य पाणिभ्यां कीलकं संगृह्य यावदुत्पादयितुमारेभे, तावत्तस्य स्तम्भमध्यगत-वृषणस्य स्वस्थानाच्चलितकीलकेन यद्वृत्तं तत्प्रागेव निवेदितम्। अतोऽहं ब्रवीमि-'अव्यापारेषु' इति। आवयोर्भक्षितशेष आहारोऽस्त्येव। तत्किमनेन व्यापारेण।' दमनक आह-'तत्किं भवानाहारार्थी केवलमेव। तन्न युक्तम्। उक्तं च—

सुहृदामुपकारणाद् द्विषतामप्यपकारणात्।
नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जठरं को न बिभर्ति केवलम्॥ २२॥

किञ्च—यस्मिञ्जीवन्ति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवतु।
वयांसि किं न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्॥ २३॥

तथा च—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञानशौर्यविभवार्यगुणैः समेतम्।

वृक्षों तथा मन्दिर की चोटी और काठ के चारों ओर स्वेच्छापूर्वक क्रीड़ा करने लगे। उनमें से एक जिसकी मृत्यु निकट आ गई थी चपलता के कारण उस आधे चीरे हुए स्तम्भ पर बैठ गया और हाथ से उस खूँटी को पकड़कर ज्यों ही उखाड़ने लगा त्यों ही अपनी जगह से निकली हुई खूँटी के कारण, स्तम्भ के छेद में लटके हुए उसके अण्डकोषों (पोतों) के दबने से उसकी जो दशा हुई उसे मैंने प्रारम्भ में ही बतला दी है। इसलिए मैं कहता हूँ कि 'अव्यापारेषु' इत्यादि। हम दोनों के खाने से बचा हुआ भोजन भी अभी रखा ही है तो इस व्यर्थ के व्यापार से क्या प्रयोजन ? दमनक ने कहा—उससे क्या ? आप तो केवल भोजन की ही चेष्टा करते हैं। यह उचित नहीं। कहा है कि—

बुद्धिमान लोग मित्रों का उपकार करने और शत्रुओं का अपकार करने के लिए ही राजा का आश्रय पाने की अभिलाषा करते हैं। यों तो कौन ऐसा है जो अपना पेट नहीं भर लेता॥ २२॥

क्योंकि—जिसके जीने से बहुत से पुरुष जिएँ, वही इस लोक में जीवित रहे—अर्थात् उसी का जीना ठीक है। वैसे तो क्या पक्षीगण चोंच से अपने उदर की पूर्ति नहीं कर लेते॥ २३॥

और भी—मनुष्यों से जिस जीवन में विज्ञान, शूरता तथा ऐश्वर्य आदि

तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ २४ ॥
यो नात्मना न च परेण च वन्धुवर्गे
दीने दयां न कुरुते न च मर्त्यवर्गे ।
किं तस्य जीवितफलं हि मनुष्यलोके
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ २५ ॥
सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः ।
सुसंतुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥ २६ ॥
किं च—किं तेन जातु जातेन मातुर्यौवनहारिणा ।
आरोहति न यः स्वस्य वंशस्याग्रे ध्वजो यथा ॥ २७ ॥
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
जातस्तु गण्यते सोऽत्र यः स्फुरेच्च श्रियाधिकः ॥ २८ ॥

सद्‌गुणों से युक्त होकर क्षण भर भी प्रतिष्ठा के साथ जीया जाता है उसे ही विद्वान् लोग वास्तविक जीवन कहते हैं। यों तो कौआ भी बहुत दिनों तक जीता है और बलि खाता है ॥ २४ ॥

जो अपने अथवा दूसरों के द्वारा, न तो सम्बन्धियों पर न दीनों पर और न मनुष्यों पर ही दया करता है, मनुष्यलोक में उसके जीवित रहने का क्या फल है ? इस तरह तो कौआ भी चिरकाल तक जीता है और बलि खाता है ॥ २५ ॥

क्योंकि—छोटी नदी और चूहे की अञ्जलि शीघ्र ही परिपूर्ण हो जाती है। (इसी प्रकार) कायर पुरुष अतिशीघ्र स्वल्प वस्तु से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ २६ ॥

और भी—माता की युवावस्था हरण करनेवाले उस पुरुष के जन्म से क्या लाभ ? जो अपने वंश (कुल) में वंश (बांस) के अग्रिम भाग में स्थित पताका के समान नहीं फहराता ॥ २७ ॥

परिवर्तनशील संसार में मर कर कौन नहीं उत्पन्न होता ? किन्तु वास्तविक वही जन्म लेने वाला परिगणित होता है, जो अधिकाधिक लक्ष्मी से देदीप्यमान हो ॥ २८ ॥

किंच—जातस्य नदीतीरे तस्यापि तृणस्य जन्मसाफल्यम् ।
यत् सलिलमज्जनाकुलजनहस्तालम्बनं भवति ॥ २९ ॥

तथा च—स्तिमितोन्नतसञ्चारा जनसन्तापहारिणः ।
जायन्ते विरला लोके जलदा इव सज्जनाः ॥ ३० ॥

निरतिशयं गरिमाणं तेन जनन्याः स्मरन्ति विद्वांसः ।
यत्कमपि वहति गर्भं महतामपि यो गुरुर्भवति ॥ ३१ ॥

अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि जनस्तिरस्क्रियां लभते ।
निवसन्नन्तर्दारुणि लङ्घ्यो वह्निर्न तु ज्वलितः ॥ ३२ ॥

करटक आह—'आवां तावदप्रधानौ तत्किमावयोरनेन व्यापारेण ।

उक्तं च—अपृष्टोऽत्राप्रधानो यो ब्रूते राज्ञः पुरः कुधीः ।
न केवलमसम्मानं लभते च विडम्बनम् ॥ ३३ ॥

तथा च—वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं लभते फलम् ।
स्थायी भवति चात्यन्तं रागः शुक्लपटे यथा ॥ ३४ ॥

और भी—नदी के किनारे उत्पन्न हुए उस तृण का भी जन्म सफल है, जो जल में डूबते समय व्याकुल हुए लोगों का सहारा बनता है ॥ २९ ॥

और भी—ऊँचे-नीचे सञ्चार करनेवाले, लोगों के सन्ताप को हरण करने वाले मेघ के समान उपकारी सज्जन तो कोई विरले ही होते हैं ॥ ३० ॥

विद्वान् पुरुष ऐसी माता को अत्यधिक महत्त्व देकर स्मरण करते हैं, जो अपने गर्भ में विलक्षण पुरुष को धारण करती है, जो बालक बड़े लोगों का भी गुरु होता है ॥ ३१ ॥

(जिस प्रकार) लकड़ी के अन्दर रहनेवाली आग का सभी उल्लंघन करते हैं, प्रज्वलित का कोई नहीं । (उसी प्रकार) अपनी शक्ति को प्रकट न करने वाला समर्थ पुरुष भी दूसरे के द्वारा अपमानित हो जाता है ॥ ३२ ॥

करटक ने कहा—'हमलोग तो यहाँ अप्रधान हैं, अतः हमें इस व्यापार से क्या प्रयोजन ?

कहा भी है—जो अप्रधान कुबुद्धि प्राणी बिना पूछे हुए इस लोक में राजा के सम्मुख बोलता है, वह केवल असम्मान को ही नहीं प्राप्त होता, बल्कि उसकी विडम्बना भी होती है ॥ ३३ ॥

और भी—बात वहाँ कहनी चाहिये, जहाँ कहने से कुछ लाभ हो । जैसे कि स्वच्छ कपड़े पर लाल रङ्ग अधिक स्थायी होता है ॥ ३४ ॥

दमनक आह—'मा मैवं वद ।'

अप्रधानः प्रधानः स्यात्सेवते यदि पार्थिवम् ।
प्रधानोऽप्यप्रधानः स्याद्यदि सेवाविवर्जितः ॥ ३५ ॥

यत उक्तं च—

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं विद्याविहीनमकुलीनमसंस्कृतं वा ।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च यत्पार्श्वतो भवति तत्परिवेष्टयन्ति ॥३६॥

तथा च—कोपप्रसादवस्तूनि ये विचिन्वन्ति सेवकाः ।
आरोहन्ति शनैः पश्चाद् धुन्वन्तमपि पार्थिवम् ॥ ३७ ॥
विद्यावतां महेच्छानां शिल्पविक्रमशालिनाम् ।
सेवावृत्तिविदां चैव नाश्रयः पार्थिवं विना ॥ ३८ ॥
ये जात्यादिमहोत्साहान्नरेन्द्रान्नोपयान्ति च ।
तेषामामरणं भिक्षा प्रायश्चित्तं विनिर्मितम् ॥ ३९ ॥
ये च प्राहुर्दुरात्मानो दुराराध्या महीभुजः ।
प्रमादालस्यजाड्यानि ख्यापितानि निजानि तैः ॥ ४० ॥

दमनकने कहा—'ऐसा मत कहो ।'

यदि राजा की सेवा करे तो अप्रधान प्रधान हो जाता है और सेवा से पराङ्मुख हो तो प्रधान भी अप्रधान हो जाता है ॥ ३५ ॥

क्योंकि कहा भी है—राजा अपने समीप के ही मनुष्य को मानता है, चाहे वह विद्यारहित, अकुलीन अथवा संस्कार-रहित ही क्यों न हो ? प्रायः राजा, स्त्री और लताएँ जो समीप में रहता है, उन्हीं का परिवेष्टन करती हैं ॥ ३६ ॥

और भी—जो सेवक स्वामी के क्रोध और प्रसन्नता के कारण पर मनन किया करते हैं, वे धीरे-धीरे प्रतिकूल राजा के यहाँ भी (उच्च पद पर) अपना स्थान बना लेते हैं ॥ ३७ ॥

विद्वान, कारीगर एवं पराक्रम से युक्त और सेवावृत्ति के जानने वाले लोगों का राजा को छोड़ कर—अन्यत्र कहीं आश्रय नहीं रहता ॥ ३८ ॥

जो अपनी जाति आदि के गौरव के कारण राजा के समीप नहीं जाते, उनके लिए मरणपर्यन्त भिक्षा माँगना ही प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ ३९ ॥

जो दुरात्मा यह कहा करते हैं कि 'राजा बड़ी कठिनाई के द्वारा आराधना

सर्पान् व्याघ्रान् गजान् सिंहान् दृष्ट्वोपायैर्वशीकृतान् ।
राजेति कियती मात्रा धीमतामप्रमादिनाम् ॥ ४१ ॥
राजानमेव संश्रित्य विद्वान् याति परां गतिम् ।
विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति ॥ ४२ ॥
धवलान्यातपत्राणि वाजिनश्च मनोरमाः ।
सदा मत्ताश्च मातङ्गाः प्रसन्ने सति भूपतौ' ॥ ४३ ॥

करटक आह—'अथ भवान् किं कर्तुमनाः ।' सोऽब्रवीत्—'अद्यास्मत्स्वामी पिङ्गलको भीतो भीतपरिवारश्च वर्तते । तदेनं गत्वा भयकारणं विज्ञाय संधि-विग्रह-यान-आसन-संश्रय-द्वैधीभावानामेकतमेन संविधास्ये ।'

करटक आह—'कथं वेत्ति भवान् यद्भयाविष्टोऽयं स्वामी ।' सोऽब्रवीत्–'ज्ञेयं किमत्र । यत उक्तं च—

करने योग्य होते हैं उन्होंने अपनी असावधानी, आलस्य और मूर्खता ही प्रकट की है ॥ ४० ॥

जब सांप, बाघ, हाथी और सिंहों को भी उपायों के द्वारा वशीभूत होते हुए देखा जाता है, तो सावधान रहने वाले बुद्धिमान् लोगों के लिए राजा को वश में करना कौन सी बड़ी बात है ॥ ४१ ॥

राजा के ही आश्रय से विद्वान् अपनी परम उन्नति को प्राप्त करता है क्योंकि मलय पर्वत के अतिरिक्त अन्यत्र चन्दन वृक्ष नहीं उगता ॥ ४२ ॥

श्वेत छत्र, सुन्दर घोड़े और मत्त हाथी, ये सब सर्वदा राजा की प्रसन्नता से ही प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

करटक ने कहा–'तो अब आप क्या करना चाहते हैं । उसने कहा–'आज हम लोगों का स्वामी पिङ्गलक परिवार सहित भयभीत हैं । इसीलिए उसके समीप जाकर भय के कारण को समझ कर सन्धि (मेल), विग्रह (लड़ाई), यान (शत्रु पर चढ़ाई करने के लिए प्रस्थान करना), आसन (समय की प्रतीक्षा करना), संश्रय (वर्तमान प्रबल शत्रुओं के या भविष्य में होने वाले प्रबल शत्रुओं के विरुद्ध शक्तिशाली राजा का आश्रयण करना) और द्वैधीभाव (दो शक्तिशाली शत्रु हों तो दोनों से मिलकर अपने स्थान में रहना)—इन नीतियों में से किसी एक का आश्रय लूँगा ।'

करटक ने कहा—'आप कैसे जानते हैं स्वामी भयभीत हैं । उसने कहा—'इसे जानने में रखा ही क्या है ? क्योंकि कहा भी तो है—

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥४४॥
तथा च मनुः—आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ४५ ॥

तदद्यैनं भयाकुलं प्राप्य स्वबुद्धिप्रभावेण निर्भयं कृत्वा वशीकृत्य च निजां साचिव्यपदवीं समासादयिष्यामि।' करटक आह—'अनभिज्ञो भवान् सेवाधर्मस्य। तत्कथमेनं वशीकरिष्यसि। सोऽब्रवीत्—'कथमहं सेवानभिज्ञः। मया हि तातोत्सङ्गे क्रीडताभ्यागतसाधूनां नीतिशास्त्रं पठता यच्छ्रुतं सेवाधर्मस्य सारं तद् हृदि स्थापितम्। श्रूयताम् तच्चेदम्—

सुवर्णपुष्पितां पृथ्वीं विचिन्वन्ति नरास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ४६ ॥
सा सेवा या प्रभुहिता ग्राह्या वाक्यविशेषतः।
आश्रयेत्पार्थिवं विद्वांस्तद्द्वारेणैव नान्यथा ॥ ४७ ॥

कही हुई बात का अर्थ तो पशु भी ग्रहण कर लेते हैं प्रेरणा करने पर घोड़े और हाथी भी भार-वहन करते हैं। किन्तु पण्डित लोग विना कही हुई बात को भी समझ लेते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि दूसरों के भाव को जानने वाली होती है ॥ ४४ ॥

ऐसा मनु भगवान् ने भी कहा है—हर्ष और विषाद को प्राप्त हुए आकार, संकेत, गमन, चेष्टा, भाषण, नेत्र, और मुख की विकृतावस्था (चढ़ाव-उतार) से मन के भीतर की बात जानी जाती है ॥ ४५ ॥

इसलिए मैं भयभीत स्वामी के पास जाकर, अपनी बुद्धि के प्रभाव से निर्भय और वश में कर, पुनः अपनी मन्त्री-पदवी को प्राप्त करूँगा।' करटक ने कहा—'आप सेवाधर्म से अनभिज्ञ हैं। इसलिए उन्हें वश में किस प्रकार करेंगे।' उसने कहा—'मैं सेवा से अनभिज्ञ किस तरह हूँ। मैंने पिता की गोद में खेलते हुए अभ्यागत साधुओं के मुख से जो नीतिशास्त्र सुना है, उस सेवाधर्म के सारांश (निचोड़) को मैंने हृदय में धारण कर लिया है। उसे सुनिए, वह यह है—

पराक्रमी, विद्वान् और सेवावृत्ति के जानने वाले तीन प्रकार के लोग सुवर्णरूप फूल फूलने वाली अर्थात् सुवर्ण से परिपूर्ण पृथ्वी की खोज कर उसे प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४६ ॥

वही सेवा है, जो प्रभु का कल्याण करने वाली है और यह विशेषकर प्रभु

योः न वेत्ति गुणान् यस्य न तं सेवेत् पण्डितः ।
न हि तस्मात् फलं किंचित्सुकृष्टादूषरादिव ॥ ४८ ॥
द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि सेव्यः सेव्यगुणान्वितः ।
भवत्याजीवनं तस्मात् फलं कालान्तरादपि ॥ ४९ ॥
अपि स्थाणुवदासीनः शुष्यन्परिगतः क्षुधा ।
न त्वज्ञानात्मसम्पन्नाद् वृत्तिमीहेत पण्डितः ॥ ५० ॥
सेवकः स्वामिनं द्वेष्टि कृपणं परुषाक्षरम् ।
आत्मानं किं स न द्वेष्टि सेव्यासेव्यं न वेत्ति यः ॥ ५१ ॥
यस्याश्रित्य विश्रामं क्षुधार्ता यान्ति सेवकाः ।
सोऽर्कवन्नृपतिस्त्याज्यः सदा पुष्पफलोऽपि सन् ॥ ५२ ॥

के वाक्य से ग्रहण की जा सकती है। विद्वद्वर्ग को चाहिए कि उसी (वाक्य) के द्वारा राजा का आश्रय लें और दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ ४७ ॥

जो जिसका गुण न जानता हो, उस स्वामी की सेवा पण्डितों (राजनीतिज्ञों) को चाहिए कि न करे। क्योंकि जिस प्रकार ऊसर भूमि को अच्छी तरह जोतने पर भी कोई लाभ नहीं होता है उसी प्रकार वैसे स्वामी से कुछ फल नहीं होता ॥ ४८ ॥

द्रव्य और प्रकृति से हीन पुरुष भी यदि सेवन करने योग्य गुणों से युक्त हो तो उसकी सेवा करनी चाहिए। क्योंकि उससे जीवनपर्यन्त कालान्तर में फल की प्राप्ति हो सकती है ॥ ४९ ॥

ठूँठे पेड़ के समान खड़ा हुआ और भूख से सूखता हुआ रहना श्रेयस्कर है, किन्तु विद्वान् को चाहिए कि अज्ञानी प्रभु से जीविका-प्राप्ति की अभिलाषा कभी भी न करे ॥ ५० ॥

जो सेवक अपने कृपण स्वामी की कठोर शब्दों में निन्दा करता है, वह अपनी ही निन्दा क्यों नहीं करता, क्योंकि वह सेव्य (सेवा करने योग्य) है या असेव्य (सेवा करने योग्य नहीं) है इसका ज्ञान स्वयं नहीं रखता ॥ ५१ ॥

जिसकी सेवा करके भूख से व्याकुल सेवक को विश्राम नहीं प्राप्त होता, वह राजा—फले हुए मदार (आक) के पेड़ के समान सर्वथा त्यागने के ही योग्य है ॥ ५२ ॥

राजमातरि देव्यां च कुमारे मुख्यमन्त्रिणि ।
पुरोहिते प्रतीहारे सदा वर्तेत राजवत् ॥ ५३ ॥
जीवेति प्रब्रुवन् प्रोक्तः कृत्याकृत्यविचक्षणः ।
करोति निर्विकल्पं यः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५४ ॥
प्रभुप्रसादजं वित्तं सुप्राप्तं यो निवेदयेत् ।
वस्त्राद्यं च दधात्यङ्गे स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५५ ॥
अन्तःपुरचरैः सार्धं यो न मन्त्रं समाचरेत् ।
न कलत्रैर्नरेन्द्रस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५६ ॥
द्यूतं यो यमदूताभं हालां हालाहलोपमाम् ।
पश्येद्दारान् वृथाकारान् स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५७ ॥
युद्धकालेऽग्रणीर्यः स्यात् सदा पृष्ठानुगः पुरे ।
प्रभोर्द्वाराश्रितो हर्म्ये स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५८ ॥
सम्मतोऽहं विभोर्नित्यमिति मत्वा व्यतिक्रमेत् ।
कृच्छ्रेष्वपि न मर्यादां स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५९ ॥

सेवक को चाहिए कि वह राजमाता, पटरानी, राजकुमारी, मुख्यमन्त्री, पुरोहित और द्वारपाल--इनसे हर समय राजा के समान ही आचरण करे ॥५३॥

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का जाननेवाला जो सेवक पुकारने से 'जी' कहता है और कोई विचार किये बिना ही जो राजा की आज्ञा का पालन करता है, वही राजा का प्रियपात्र होता है ॥ ५४ ॥

जो प्रभु की प्रसन्नता प्राप्त हुए धन से सन्तोष करता है और उनके दिये वस्त्रादि को अपने अङ्गों पर धारण करता है, वही राजा का प्रिय होता है ॥५५॥

जो सेवक अन्तःपुर में रहनेवालों के साथ संभाषण नहीं करता और न राजा की रानियों से ही बात करता है, वही राजा का प्रिय होता है ॥५६॥

जो सेवक जुए को यमदूत के समान, मद्य को विष के समान और स्त्रियों को कुत्सित स्वरूपवाली (कुरूपा के समान) देखता है वही राजा का प्रिय होता है ॥

जो युद्धसमय में आगे चलनेवाला हो, नगर में पीछे-पीछे चलने वाला हो और महल में प्रभु की ड्योढ़ी पर खड़ा रहनेवाला हो, वही सेवक राजा का प्रिय होता है ॥ ५८ ॥

मैं सर्वदा प्रभु का प्रेमपात्र हूँ (उनकी सम्मति से ही बराबर कार्य करने-

द्वेषिद्वेषपरो नित्यमिष्टानामिष्टकर्मकृत् ।
यो नरो नरनाथस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६० ॥
प्रोक्तः प्रत्युत्तरं नाह विरुद्धं प्रभुणा न यः ।
न समीपे हसत्युच्चैः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६१ ॥
यो रणं शरणं तद्वन्मन्यते भयवर्जितः ।
प्रवासं स्वपुरावासं स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६२ ॥
न कुर्यान्नरनाथस्य योषिद्भिः सह संगतिम् ।
न निन्दां न विवादं च स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६३ ॥

करटक आह—'अथ भवांस्तत्र गत्वा किं तावत्प्रथमं वक्ष्यति तत्तावदुच्यताम् ।' दमनक आह—

'उत्तरादुत्तरं वाक्यं वदतां सम्प्रजायते ।
सुवृष्टिगुणसम्पन्नाद्बीजाद्बीजमिवापरम् ॥ ६४ ॥
अपायसन्दर्शनजां विपत्तिमुपायसंदर्शनजां च सिद्धिम् ।
मेधाविनो नीतिगुणप्रयुक्तां पुरः स्फुरन्तीमिव वर्णयन्ति ॥ ६५ ॥

वाला हूँ)—इस प्रकार समझकर जो संकट के समय भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता, वही राजा का प्रिय होता है ॥ ५९ ॥

जो राजा के विपक्षियों से सर्वदा द्वेष रखता है और उसके प्रियजनों का अभिलषित कार्य करता है, वही राजा का प्रिय होता है ॥ ६० ॥

जो प्रभु के वचन को सुनकर विपरीत उत्तर नहीं देता और उसके समीप अधिक जोर से नहीं हँसता, वही राजा का प्रिय होता है ॥ ६१ ॥

जो निर्भय होकर युद्धस्थल को गृहभूमि के समान मानता है और परदेश में रहने को अपने नगर में रहने के समान मानता है वही राजा का प्रिय होता है ॥

जो राजा की स्त्रियों के साथ न सङ्गति, न (उनकी) निन्दा और न विवाद करे वही राजा का प्रिय होता है ॥ ६३ ॥

करटक ने कहा—'आप वहाँ जाकर सबसे पहले क्या कहेंगे यह तो बतलाइये ।' दमनक ने कहा—

'जिस प्रकार अच्छी वर्षा होने के गुण से एक बीज से दूसरा बीज उत्पन्न होता रहता है, उसी प्रकार कहने-सुनने से वाक्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है ॥ ६४ ॥

असावधानी से प्राप्त होने वाली विपत्ति और उपाय करने से होनेवाली

एकेषां वाचि शुकवदन्येषां हृदि मूकवत् ।
हृदि वाचि तथान्येषां वल्गु वल्गुन्ति सूक्तयः ॥ ६६ ॥

न च अहमप्राप्तकालं वक्ष्ये। आकर्णितं मया नीतिसारं पितुः पूर्वमुत्सङ्गं हि निषेवता ।

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरति ब्रुवन् ।
लभते बह्ववज्ञानमपमानं च पुष्कलम् ॥ ६७ ॥

करटक आह—

'दुराराध्या हि राजानः पर्वता इव सर्वदा ।
व्यालाकीर्णाः सुविषमाः कठिना दुष्टसेविताः ॥ ६८ ॥

तथा च—भोगिनः कञ्चुकाविष्टाः कुटिलाः क्रूरचेष्टिताः ।
सुदुष्टा मन्त्रसाध्याश्च राजानः पन्नगा इव ॥ ६९ ॥

सिद्धि—इन दोनों को बुद्धिमान् लोग नीति के गुण से युक्त होने के कारण प्रत्यक्ष देखते हुए के समान वर्णन करते हैं ॥ ६५ ॥

कुछ लोगों के वचन तोते के समान (अर्थात् वे तोते की तरह मधुर शब्द कहते हैं, किन्तु उनके मन में कपट भरा रहता है), दूसरे प्रकार के व्यक्ति के हृदय में मूक के समान (अर्थात् उनका सम्भाषण तो अत्यन्त कठोर होता है, किन्तु हृदय कठोरता रहित होता है) और तीसरे प्रकार के लोगों की सुन्दर उक्ति हृदय और वचन से सरसता को प्रकट करती है ॥ ६६ ॥

मैं असमय की बात न कहूँगा क्योंकि पिता की गोद में खेलते हुए पहले मैंने नीतिसार सुना है ।

असमय की बात को यदि, बृहस्पति भी कहते हों तो वे भी अत्यन्त निरादर तथा अपमान को प्राप्त होते हैं ॥ ६७ ॥

करटक ने कहा—'जिस प्रकार पर्वत सर्प आदि हिंसक जन्तुओं से युक्त तथा ऊँचे-नीचे मार्गों से विषम होने के कारण कठिन होते हैं उसी प्रकार राजा भी दुष्टों द्वारा सेवित होने के कारण सदा कठिनाई से आराधनीय होते हैं ॥ ६८ ॥

और भी—जिस प्रकार सर्प फण धारण करने वाला, केंचुली से युक्त, टेढ़ा गमन करनेवाला, हिंसक चेष्टावाला होता है और मन्त्र द्वारा वशीभूत होता है उसी प्रकार राजा भोग-सुख में लीन रहनेवाला, सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाला कपटी, क्रूर चेष्टावाला होता है और वह दुष्ट मन्त्र द्वारा अर्थात् चित्तानुवृत्ति के साध्य होता है ॥ ६९ ॥

द्विजिह्वाः क्रूरकर्माणोऽनिष्टाश्छिद्रानुसारिणः ।
दूरतोऽपि हि पश्यन्ति राजानो भुजगा इव ॥ ७० ॥
स्वल्पमप्यपकुर्वन्ति येऽभीष्टा हि महीपतेः ।
ते वह्नाविव दह्यन्ते पतङ्गा पापचेतसः ॥ ७१ ॥
दुरारोहं पदं राज्ञां सर्वलोकनमस्कृतम् ।
स्वल्पेनाप्यपकारेण ब्राह्मण्यमिव दुष्यति ॥ ७२ ॥
दुराराध्याः श्रियो राज्ञां दुरापा दुष्परिग्रहाः ।
तिष्ठन्त्याप इवाधारे चिरमात्मनि संस्थिताः ॥ ७३ ॥

दमनक आह—'सत्यमेतत्परम् । किन्तु—

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन समाचरेत् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ७४ ॥
भर्त्तुश्चित्तानुवर्तित्वं सुवृत्तं चानुजीविनाम् ।
राक्षसाश्चापि गृह्यन्ते नित्यं छन्दानुवर्तिभिः ॥ ७५ ॥

जिस प्रकार सर्प दो जिह्वावाला, क्रूरकर्म करनेवाला, बिल में घुसनेवाला, तीक्ष्ण एवं प्रसारित दृष्टि के कारण अनभिलषित, दूर से भी देखनेवाला होता है, उसी प्रकार राजा भी दो जीभवाला (अनेक प्रकार की बात कहनेवाला), क्रूर-कर्मा, अनभिलषित, दोष को दूर से (गुप्तचरों द्वारा) देखनेवाला होता है ॥७०॥

जो राजा का प्रियपात्र होकर थोड़ा सा भी उसका अपकार करते हैं, वे पापी पतङ्ग के समान अग्नि में भस्म हो जाते हैं ॥ ७१ ॥

सब लोगों से नमस्कार पाने योग्य, राजा का पद अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होता है, जो थोड़े से अपकार के कारण ब्रह्मतेज के समान दूषित हो जाता है ।७२।

राजलक्ष्मी बड़ी कठिनता से आराधनीय (प्राप्त होने योग्य) होती है, इसीलिए उसे प्राप्त करने एवं रक्षा करने में बड़ी कठिनाई होती है। किन्तु वह पात्र में भरे जल के समान बहुत दिन तक अपने पास अर्थात् स्वयं देख-भाल करने से ही रक्षित रह सकती है ॥ ७३ ॥

दमनक ने कहा—'यह बहुत ठीक है, परन्तु—जिसका-जिसका जो-जो भाव है उसके-उसके साथ उसी प्रकार का आचरण करे। फिर बुद्धिमान् उसमें प्रवेश कर (अर्थात् अपने मालिक के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझ कर) उसे शीघ्र अपने वश में कर ले ॥ ७४ ॥

मालिक की इच्छा के अनुकूल आचरण करना, उनके द्वारा प्राप्तजीविक

सरुषि नृपे स्तुतिवचनं तदभिमते प्रेम तद्द्विषि द्वेषः ।
तद्दानस्य च शंसा अमन्त्रतन्त्रं वशीकरणम्' ॥ ७६ ॥

करटक आह—'यद्येवमभिमतं तर्हि शिवास्ते पन्थानः सन्तु । यथाभिलषितमनुष्ठीयताम् ।' सोऽपि प्रणम्य पिङ्गलकाभिमुखं प्रतस्थे ।

अथागच्छन्तं दमनकमालोक्य पिङ्गलको द्वास्थमब्रवीत्—'अपसार्यतां वेत्रलता । अयमस्माकं चिरंतनो मन्त्रिपुत्रो दमनकोऽव्याहतप्रवेशः । तत्प्रवेश्यतां द्वितीयमण्डलभागी' इति । स आह—'यथावादी भवान्' इति । अथोपसृत्य दमनको निर्दिष्ट आसने पिङ्गलकं प्रणम्य प्राप्तानुज्ञ उपविष्टः । स तु तस्य नखकुलिशालंकृतं दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा मानपुरःसरमुवाच—'अपि शिवं भवतः । कस्माच्चिराद् दृष्टोऽसि' । दमनक आह—'न किंचिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम् । परं भवतां प्राप्तकालं वक्तव्यम्, यत उत्तममध्यमाधमैः सर्वैरपि राज्ञां प्रयोजनम् ।

सेवकों का सदाचार माना जाता है । निरन्तर उनके आशय के अनुसार कार्य करनेवाले मनुष्य राक्षसों को भी अपने वश में कर लेते हैं ॥ ७५ ॥

राज के क्रोध करने पर स्तुतिवाक्य, उनके मनोभिलषित पर प्रेम, उनके द्वेषियों से द्वेष और उनके दान की प्रशंसा—ये बिना मन्त्र-तन्त्र के वश साधन (वशीकरण मन्त्र) हैं ॥ ७६ ॥

करटक ने कहा—'यदि ऐसा विचार है तो (प्रस्थान करें) आपका मार्ग कल्याणकारक हो । अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कीजिए ।' उसने भी प्रणाम कर पिङ्गलक की ओर प्रस्थान किया ।

इसके बाद दमनक को आते हुए देखकर पिङ्गलक ने द्वारपाल से कहा—'बेंत की छड़ी दूर करो, यह हमारे प्राचीन मन्त्री का पुत्र दमनक है, जिसके प्रवेश करने में कोई रुकावट नहीं है । इस दूसरी श्रेणी के अधिकारी को प्रवेश करने दो ।' द्वारपाल ने कहा—'जैसी आप आज्ञा दें ।' तब दमनक समीप जाकर पिङ्गलक को प्रणाम कर दिये हुए आसन पर आज्ञा पाकर बैठा । वह (पिङ्गलक) वज्र-सदृश नख से सुशोभित दाहिने हाथ को उसके ऊपर रखकर सम्मान पूर्वक बोला—'कहिए कुशलपूर्वक तो हैं, आप बहुत दिन के बाद कैसे दिखाई पड़े ! दमनक ने कहा—'यद्यपि श्रीमान् के चरणों को हमसे कुछ प्रयोजन नहीं है, तथापि समयानुकूल आपसे कुछ कहना उचित ही है क्योंकि उत्तम, मध्यम और अधम—सभी से राजाओं का प्रयोजन रहता है ।

उक्तं च—दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्ग वाग्घस्तवता नरेण ॥ ७७ ॥

तथा वयं देवपादानामन्वयागता भृत्या आपत्स्वपि पृष्ठगामिनो यद्यपि स्वमधिकारं न लभामहे तथापि देवपादानामेतद्युक्तं न भवति। उक्तं च—

स्थानेष्वेव नियोक्तव्या भृत्या आभरणानि च।
न हि चूडामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते ॥ ७८ ॥

यतः—अनभिज्ञो गुणानां यो न भृत्यैरनुगम्यते।
धनाढ्योऽपि कुलीनोऽपि क्रमायातोऽपि भूपतिः ॥ ७९ ॥

उक्तं च—असमैः समीयमानः समैश्च परिहीयमाणसत्कारः।
धुरि यो न युज्यमानस्त्रिभिरर्थपतिं त्यजति भृत्यः ॥ ८० ॥

यच्चाविवेकितया राजा भृत्यानुत्तमपदयोग्यान्हीनाधमस्थाने नियोजयति, न ते तत्रैव तिष्ठन्ति, स भूपतेर्दोषो न तेषाम्। उक्तं च—

कहा भी है—दाँत के खोदने वाले अथवा नित्य कान खुजलाने वाले तिनके से भी राजाओं का काम पड़ता है, फिर हे नाथ! वाणी और हाथ-पैर वाले मनुष्य का काम पड़े तो क्या आश्चर्य है ॥ ७७ ॥

हम महाराज के श्रीचरणों के वंश-क्रमागत अनुचर हैं और आपत्तिकाल में भी अनुसरण करने वाले हैं। यद्यपि इस समय हमने अपने अधिकार-पद को नहीं पाया है तो क्या श्रीमान् को यह उचित नहीं है। कहा भी है—

अनुचर और आभूषण—इनको (उचित) स्थान में ही नियुक्त करना चाहिए। क्योंकि मैं समर्थ हूँ, ऐसा समझ कर मस्तक पर रहने वाले आभूषण को कोई चरण पर नहीं धारण करता है ॥ ७८ ॥

क्योंकि—जो गुणियों के गुणों से अनभिज्ञ होते हैं, अनुचर उनका साथ नहीं देते—चाहे वह धनी, उच्चकुल में उत्पन्न और क्रमागत (पीढ़ी दर पीढ़ी) राजा क्यों न होता आया हो ॥ ७९ ॥

कहा है कि—जिस अनुचर की समानता, समानता न रखने योग्य अनुचर के साथ की जाय, समानता करने योग्य अनुचर से उसे दूर रखा जाय (अर्थात् किसी के अनुकूल और किसी के प्रतिकूल आचरण किया जाय) और जो कार्य-भार में आगे न लगाया जाय—इन तीनों कारणों से सेवक राजा का परित्याग कर देता है ॥ ८० ॥

जो राजा अपनी अज्ञानता से उत्तम पद के योग्य सेवकों को अधम पद पर

कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते।
न स विरौति न चापि स शोभते भवति योजयितुर्वचनीयता ॥८१॥

यच्च स्वाम्येवं वदति 'चिराद् दृश्यते', तदपि श्रूयताम्—

सव्यदक्षिणयोर्यत्र विशेषो नास्ति हस्तयोः।
कस्तत्र क्षणमप्यार्यो विद्यमानगतिर्भवेत् ॥ ८२ ॥
काचे मणिर्मणौ काचो येषां बुद्धिर्विकल्पते।
न तेषां सन्निधौ भृत्यो नाममात्रोऽपि तिष्ठति ॥ ८३ ॥
परीक्षका यत्र न सन्ति देशे नार्घन्ति रत्नानि समुद्रजानि।
आभीरदेशे किल चन्द्रकातं त्रिभिर्वराटैर्विपणन्ति गोपाः ॥८४॥
लोहिताख्यस्य च मणेः पद्मरागस्य चान्तरम्।
यत्र नास्ति कथं तत्र क्रियते रत्नविक्रयः ॥ ८५ ॥

रखता है तो वे सेवक उस पद पर स्थिर नहीं रहते। इसमें राजा का ही दोष है, उनका नहीं। कहा भी है—

सोने के गहने में लगाने योग्य मणि यदि निकृष्ट धातु राँगा में लगायी जाय तो वह मणि होती है और शोभित होती है, किन्तु उस स्थान पर जड़नेवाले की ही निन्दा होती है ॥ ८१ ॥

और स्वामी ने जो यह कहा है कि 'बहुत दिन के बाद कैसे दिखाई पड़े' सो उसे भी सुनिये—

जहाँ दाहिने और बायें हाथ की विशेषता देखने में नहीं आती, वहाँ अनिरुद्ध गतिवाला (चतुर) कौन आर्य (नीतिज्ञ विद्वान्) क्षणमात्र भी रहने की अभिलाषा करेगा ॥ ८२ ॥

जिनकी बुद्धि काँच में मणि और मणि में काँच की कल्पना करती है, उनके समीप नाममात्र के लिए भी सेवक गण नहीं रहते ॥ ८३ ॥

जिस देश में परीक्षा करनेवाले पारखी लोग नहीं होते, वहाँ समुद्र से निकले हुए रत्नों का कोई मूल्य नहीं होता। यह कहा जाता है कि आभीर देश में ग्वाले सब चन्द्रकान्तमणि को तीन-तीन कौड़ी में बेचते और खरीदते हैं ॥८४॥

जहाँ लोहित (लाल) मणि और पद्मराग मणि में अन्तर जाननेवाला कोई नहीं है, वहाँ रत्नों का विक्रय कैसे हो सकता है ॥ ८५ ॥

निर्विशेषं यदा स्वामी समं भृत्येषु वर्तते।
तत्रोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ८६ ॥
न विना पार्थिवो भृत्यैर्न भृत्याः पार्थिवं विना।
तेषां च व्यवहारोऽयं परस्परनिबन्धनः ॥ ८७ ॥
भृत्यैर्विना स्वयं राजा लोकानुग्रहकारिभिः।
मयूखैरिव दीप्तांशुस्तेजस्व्यपि न शोभते ॥ ८८ ॥
अरैः संधार्यते नाभिर्नाभौ चाराः प्रतिष्ठिताः।
स्वामिसेवकयोरेवं वृत्तिचक्रं प्रवर्तते ॥ ८९ ॥
शिरसा विधृता नित्यं स्नेहेन परिपालिताः।
केशा अपि विरज्यन्ते निःस्नेहाः किं न सेवकाः ॥ ९० ॥
राजा तुष्टो हि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति।
ते तु संमानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ९१ ॥
एवं ज्ञात्वा नरेन्द्रेण भृत्याः कार्या विचक्षणाः।
कुलीनाः शौर्यसंयुक्ताः शक्ता भक्ताः क्रमागताः ॥ ९२ ॥

जब मालिक सब सेवकों के प्रति समान (विशेषता रहित) व्यवहार करता है तब उद्यमी सेवकों का उत्साह ही भंग हो जाता है ॥ ८६ ॥

सेवकों के विना न राजा रह सकते हैं और न राजा के बिना सेवक ही रह सकते हैं। उनका व्यवहार आपस में एक दूसरे से सम्बन्ध रखनेवाला है ॥८७॥

सेवकों के विना स्वयं राजा उसी प्रकार शोभित नहीं होता जिस प्रकार लोक पर अनुकम्पा करनेवाली किरणों के विना अंशुमान् (सूर्य) शोभित नहीं होता ॥ ८८ ॥

जिस प्रकार पहिये की लकड़ी, बीच के छेद में और बीच के छेद पहिए की लकड़ी में स्थित रहते हैं उसी प्रकार मालिक और सेवकों का यह वृत्ति-चक्र (आजीविका) चलता रहता है ॥ ८९ ॥

केशों को शिर नित्य धारण किए रहता है और स्नेह (तेल) से उसका परिपालन करता है, किन्तु स्नेह (तेल) के बिना वे—केश भी जब रूखे हो जाते है तो क्या सेवक भी स्नेह हीन हो जायेंगे ॥ ९० ॥

राजा प्रसन्न होने पर सेवकों को केवल धन ही देता है किन्तु वे (सेवक) राजा से सम्मानमात्र पाकर ही अपने प्राण उसके लिए न्यौछावर कर देते हैं ॥९१॥

इन सब (विषयों) पर ध्यानपूर्वक विचार कर राजा का कर्तव्य है कि

यः कृत्वा सुकृतं राज्ञो दुष्करं हितमुत्तमम् ।
लज्जया वक्ति नो किंचित्तेन राजा सहायवान् ॥ ९३ ॥
यस्मिन्कृत्यं समावेश्य निर्विशङ्केन चेतसा ।
आस्यते सेवकः स स्यात्कलत्रमिव चापरम् ॥ ९४ ॥
योऽनाहूतः समभ्येति द्वारि तिष्ठति सर्वदा ।
पृष्टः सत्यं मितं ब्रूते स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९५ ॥
अनादिष्टोऽपि भूपस्य दृष्ट्वा हानिकरं च यः ।
यतते तस्य नाशाय स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९६ ॥
ताडितोऽपि दुरुक्तोऽपि दण्डितोऽपि महीभुजा ।
यो न चिन्तयते पापं स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९७ ॥
न गर्वं कुरुते माने नापमाने च तप्यते ।
स्वाकारं रक्षयेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९८ ॥

ऐसे सेवकों को रक्खे जो निपुण हों, कुलीन हों, शूरवीर हों, समर्थ हों, भक्त हों और कुल-परम्परा से चले आ रहे हों ॥ ९२ ॥

जो मनुष्य राजा का मङ्गल और दुष्कर उत्तम हितकर कार्य करके भी लज्जा के कारण कुछ नहीं कहता, ऐसे सेवक से राजा सहायक वाला होता है ॥

जिस (अनुचर) पर शङ्का-रहित मन से कार्यभार डालकर, राजा निश्चिन्त हो जाता है वही अनुचर दूसरी सहधर्मिणी के समान राजा के लिए कल्याणकारी है ॥ ९४ ॥

जो बिना बुलाये समीप आ जाय, हर समय दरवाजे पर ही खड़ा रहे और किसी बात के पूछने पर सत्य और थोड़ा बोले, वही राजा का सेवक होने योग्य है ॥ ९५ ॥

राजा द्वारा आज्ञा पाये बिना ही जो उनकी हानिकारक बात को देखकर उसके नाश के लिये प्रयत्न करता है, ऐसा व्यक्ति राजा का सेवक होने योग्य है ॥

जो राजा द्वारा ताड़ित होता है एवं कठोर वचन से दण्डित भी किया जाता है, किन्तु इतना होने पर भी जो राजा का अशुभ (बुरा) नहीं सोचता है, वह मनुष्य राजा का सेवक होने योग्य है ॥ ९७ ॥

जो सम्मान पा लेने पर अहङ्कार नहीं करता, अपमानित होने पर सन्तप्त नहीं होता और अपने मानापमान के भाव को राजा से छिपा लेता है ऐसा मनुष्य राजा का सेवक होने योग्य है ॥ ९८ ॥

न क्षुधा पीड्यते यस्तु निद्रया न कदाचन।
न च शीतातपाद्यैश्च स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९९ ॥
श्रुत्वा सांग्रामिकीं वार्तां भविष्यां स्वामिनं प्रति।
प्रसन्नास्यो भवेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ १०० ॥
सीमा वृद्धिं समायाति शुक्लपक्ष इवोडुराट्।
नियोगसंस्थिते यस्मिन् स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ १०१ ॥
सीमा संकोचमायाति वह्नौ चर्म इवाहितम्।
स्थिते यस्मिन् स तु त्याज्यो भृत्यो राज्यं समीहता ॥१०२॥

तथा शृगालोऽयमिति मन्यमानेन ममोपरि स्वामिना यद्यवज्ञा क्रियते, तदप्ययुक्तम्। उक्तं च यतः—

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाद् दूर्वापि गोरोमतः
पङ्कात्तामरसं शशाङ्क उदधेरिन्दीवरं गोमयात्।
काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना
प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना ॥१०३॥

जो कभी भूख, नींद, सर्दी और गरमी से घबड़ाता नहीं, वही राजाओं का सेवक होने योग्य है ॥ ९९ ॥

जो भविष्य में होने वाली संग्रामवार्ता को सुनकर स्वामी की सहायता के लिये प्रसन्नमुख हो जाता है, वही राजाओं का सेवक होने योग्य है ॥ १०० ॥

जिसके नियुक्त होने पर शुक्लपक्ष के नक्षत्र (चन्द्रमा) के समान राजा की सीमा की वृद्धि होती है, वही राजाओं का सेवक होने योग्य है ॥१०१॥

जिसके नियुक्त होते ही राजा की सीमा अग्नि में पड़े चमड़े के समान संकुचित होती जाय, तो राज्य के इच्छुक (साम्राज्यवादी) राजा को चाहिए कि इस प्रकार के सेवक को त्याग दे ॥ १०२ ॥

'यह सियार है' ऐसा समझ कर यदि स्वामी मेरी अवहेलना करें तो यह भी अनुचित है। क्योंकि कहा भी है—

कीड़ों से रेशम, पाषाण से सुवर्ण, गोरोम से दूर्वा, कीचड़ से लाल कमल, समुद्र से चन्द्रमा, गोबर से नील कमल, गोपित्त से गोरोचन उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि गुणी लोग अपने गुणों के उदय होने के कारण ही प्रकाशित होते हैं, न कि केवल जन्म लेने से ॥ १०३ ॥

मूषिका गृहजातापि हन्तव्या स्वापकारिणी।
भक्ष्यप्रदानैर्मार्जारो हितकृत् प्रार्थ्यते जनैः॥ १०४॥
एरण्डभिण्डार्कनलैः प्रभूतैरपि सञ्चितैः।
दारुकृत्यं यथा नास्ति तथैवाज्ञैः प्रयोजनम्॥ १०५॥
किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा।
भक्तं शक्तं च मां राजन्नावज्ञातुं त्वमर्हसि'॥ १०६॥

पिङ्गलक आह—'भवत्वेवं तावत्। असमर्थः समर्थो वा चिरंतनस्त्वमस्माकं मन्त्रिपुत्रः। तद्विश्रब्धं ब्रूहि यत्किंचिद्वक्तुकामः।' दमनक आह–'देव, विज्ञाप्यं किंचिदस्ति।' पिङ्गलक आह—'तन्निवेदयाभिप्रेतम्।' सोऽब्रवीत्—

'अपि स्वल्पतरं कार्यं यद्भवेत् पृथिवीपतेः।
तन्न वाच्यं सभामध्ये प्रोवाचेदं बृहस्पतिः॥ १०७॥

तदैकान्तिके मद्विज्ञाप्यमाकर्णयन्तु देवपादाः। यतः—

घर में उत्पन्न होकर भी अपना अपकार करने वाली चुहिया मारने योग्य होती है, और हितकारी बिलाव को लोग आहार देकर भी घर में लाने की इच्छा करते हैं॥ १०४॥

जिस प्रकार एरण्ड (रेड़), भिण्ड, आक (मदार) और नल—इत्यादि को अत्यधिक इकट्ठा करने पर भी काठ का काम नहीं निकलता, उसी प्रकार अनभिज्ञ सेवकों से राजा का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता॥ १०५॥

शक्तिहीन भक्त से तथा समर्थ अपकार करने वाले से क्या प्रयोजन? हे राजन्! मुझ भक्त (अनुरक्त) और समर्थ सेवक का निरादर करने योग्य आप नहीं हैं॥ १०६॥

पिङ्गलक ने कहा–'अच्छा, इसे रहने दो। असमर्थ हो या समर्थ, तुम मेरे प्राचीन मन्त्री के पुत्र हो, अतः जो कुछ तुम्हें कहना हो विश्वासपूर्वक (बेखटके) कहो।' दमनक ने कहा—'महाराज कुछ कहना है।' पिङ्गलक ने कहा—'तो अपना अभिप्राय निवेदन करो।' उसने कहा—

यदि राजा का अत्यन्त छोटा कार्य भी हो तो उसे सभा में नहीं कहना चाहिए—ऐसा बृहस्पति ने कहा है॥ १०७॥

इसलिये महाराज एकान्त में मेरी विज्ञप्ति सुनिये। क्योंकि—

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णः स्थिरो भवेत् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन षट्कर्णं वर्जयेत् सुधीः ॥ १०८ ॥

अथ पिङ्गलकाभिप्रायज्ञा व्याघ्रद्वीपिवृकपुरःसरा सर्वेऽपि तद्वचः समाकर्ण्य संसदि तत्क्षणादेव दूरीभूताः। ततश्च दमनक आह–'उदक-ग्रहणार्थं प्रवृत्तस्य स्वामिनः किमिह निवृत्त्यावस्थानम् ।' पिङ्गलक आह सविलक्षस्मितम्–'न किंचिदपि ।' सोऽब्रवीत्—'देव, यद्यनाख्येयं तत्तिष्ठतु । उक्तं च–

दारेषु किंचित् स्वजनेषु किंचिद् गोप्यं वयस्येषु सुतेषु किंचित् ।
युक्तं न वा युक्तमिदं विचिन्त्य वदेद्विपश्चिन्महतोऽनुरोधात्' ॥१०९॥

तच्छ्रुत्वा पिङ्गलकश्चिन्तयामास—'योग्योऽयं दृश्यते। तत्कथयाम्येतस्याग्रे आत्मनोऽभिप्रायम् । उक्तं च—

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे ।
स्वामिनि सौहृदयुक्ते निवेद्य दुःखं सुखी भवति ॥ ११० ॥

छः कानों (तीन मनुष्यों) द्वारा गुप्त मन्त्रणा प्रकट हो जाती हैं और चार कानों (दो मनुष्यों) द्वारा स्थिर रहती है। इसलिए विद्वान् को चाहिए कि ऐसा उद्योग करे जिसमें षट्कर्ण को ज्ञात न हो ॥ १०८ ॥

इसके अनन्तर पिङ्गलक के अभिप्राय जाननेवाले, बाघ, चीते, भेड़िये आदि सब जानवर, उसके वचन को सुनकर, सभा से उसी क्षण दूर हट गये। उसके बाद दमनक ने कहा—'पानी पीने के लिये गए हुए स्वामी लौटकर यहाँ आकर क्यों बैठ गये।' पिङ्गलक ने लज्जित होकर कुछ मुस्कराते हुए कहा—'कुछ भी (कारण) नहीं है।' उसने कहा—'भगवन् ! यदि वह कहने योग्य न हो तो रहने दीजिये । क्योंकि कहा है—

कुछ बातें स्त्रियों से, कुछ स्वजनों से, कुछ समान वयस्क मित्रों से, कुछ पुत्रों से गुप्त रखे। 'यह युक्त (उचित) है या नहीं' ऐसा विचार कर बुद्धिमान् को चाहिए कि बड़े लोगों के अनुरोध से गोपनीय भी कहे' ॥ १०९ ॥

यह सुनकर पिङ्गलक ने विचार किया कि 'यह तो योग्य व्यक्ति प्रतीत होता हैं, अतः इसके सम्मुख अपने अभिप्राय को कह दूँ। कहा भी है—

अनन्य हृदय (दिल मिले हुए) मित्र के प्रति, गुणवान् सेवक के प्रति, अनुगामिनी भार्या के प्रति और सौहार्दयुक्त स्वामी के प्रति अपना दुःख कहकर मनुष्य सुखी होता है ॥ ११० ॥

भो दमनक, शृणोषि शब्दं दूरान्महान्तम्।' सोऽब्रवीत्—'स्वामिन् शृणोमि। ततः किम्।' पिंगलक आह—'भद्र अहमस्माद्वनाद् गन्तुमिच्छामि।' दमनक आह—'कस्मात्।' पिंगलक आह—'यतोऽद्यास्मद्वने किमप्यपूर्वं सत्त्वं प्रविष्टं यस्यायं महाशब्दः श्रूयते। तस्य च शब्दानुरूपेण पराक्रमेण भाव्यम्। इति। दमनक आह—'यच्छब्दमात्रादपि भयमुपगतः स्वामी, तदप्ययुक्तम्। उक्तं च—

अम्भसा भिद्यते सेतुस्तथा मन्त्रोऽप्यरक्षितः।
पैशुन्याद्भिद्यते स्नेहो भिद्यते वाग्भिरातुरः॥ १११॥

तन्न युक्तं स्वामिनः पूर्वोपार्जितं वनं त्यक्तुम्। यतो भेरीवेणुवीणा-मृदङ्गतालपटहशङ्खकाहलादिभेदेन शब्दा अनेकविधा भवन्ति। तन्न केवलाच्छब्दमात्रादपि भेतव्यम्। उक्तं च—

अत्युत्कटे च रौद्रे च शत्रौ प्राप्ते न हीयते।
धैर्यं यस्य महीनाथो न स याति पराभवम्॥ ११२॥

अरे दमनक! क्या तुम दूर से (यह जो) बड़ा भारी शब्द आ रहा है उस को सुन रहे हो।' उसने कहा—'स्वामिन् मैं सुनता हूँ। लेकिन उस (शब्द) से क्या?' पिङ्गलक ने कहा—'प्रियवर मैं इस जङ्गल से चले जाने की इच्छा करता हूँ।' दमनक ने पूछा—'क्यों?' पिङ्गलक ने कहा—'इसलिये कि आज इस वन में कोई अपूर्व प्राणी आ गया हैं, जिसका यह महाशब्द सुनाई देता है। (सम्भवतः) इस शब्द के अनुरूप ही उसका पराक्रम (बल) भी होगा।' दमनक ने कहा—'यदि शब्द मात्र से ही स्वामी भययुक्त हो गये, तो यह उचित नहीं है।' कहा है—

जिस प्रकार जल के वेग से सेतु (पुल, बांध) टूट (बह) जाता है उसी प्रकार अरक्षित मन्त्र (सलाह) भी भेद को प्राप्त हो जाता है। चुगली से स्नेह और दुखी (घबराए हुए) प्राणी रूखी बात से भेद को प्राप्त होते हैं॥ १११॥

इसलिए पूर्वजों द्वारा उपार्जित वन को त्यागना स्वामी के लिए उचित नहीं है क्योंकि भेरी (नगाड़ा), वेणु (वंशी), बीणा, मृदंग, ताल, पटह (ढक्का वाद्य), शङ्ख, कहाल (शहनाई) आदि के भेद से शब्द अनेक प्रकार के होते हैं। इसलिए केवल शब्द मात्र से ही डरना नहीं चाहिए। कहा भी है—

अत्यन्त भयङ्कर शत्रु के प्राप्त होने पर जिसके धैर्य में कमी नहीं होती, वह राजा कभी पराभव को प्राप्त नहीं होता॥ ११२॥

दर्शितभयेऽपि धातरि धैर्यध्वंसो भवेन्न धीराणाम् ।
शोषितसरसि निदाघे नितरामेवोद्धतः सिन्धुः ॥ ११३ ॥

तथा च—यस्य न विपदि विषादः संपदि हर्षो रणे न भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥११४॥

तथा च—शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥ ११५ ॥

अपि च—अन्यप्रतापमासाद्य यो दृढत्वं न गच्छति ।
जतुजाभरणस्येव रूपेणापि हि तस्य किम् ॥ ११६ ॥

तदेवं ज्ञात्वा स्वामिना धैर्यविष्टम्भः कार्यः । न शब्दमात्राद् भेतव्यम् ।

अपि च—पूर्वमेव मया ज्ञातं पूर्णमेतद्धि मेदसा ।
अनुप्रविश्य विज्ञातं यावच्चर्म च दारु च' ॥ ११७ ॥

पिङ्गलक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

विधाता के भय दिखाने पर भी धीर पुरुषों का धैर्य नष्ट नहीं होता। क्योंकि सरोवरों को सुखानेवाले गरमी के समय में भी समुद्र अत्यधिक उग्र रूप को धारण करता है अर्थात् बढ़ता ही है ॥ ११३ ॥

और भी—जिसे विपत्ति में विषाद, सम्पत्ति में हर्ष और युद्ध में भय नहीं होता, तीनों लोकों के तिलक तुल्य ऐसे पुत्र को कोई विरली ही माता उत्पन्न करती है ॥ ११४ ॥

और भी—सामर्थ्य के न रहने पर नम्र होना, निःसार होने से अत्यन्त लघु तथा सम्मानरहित व्यक्ति का जन्मधारण करना तृण उत्पन्न होने के समान होता है। अर्थात् शक्तिहीन, तेजरहित तथा तिरस्कृत पुरुषों का जीवन तृण के समान अन्तस्तत्त्वरहित है ॥ ११५ ॥

और भी—जो दूसरे के प्रताप को पाकर भी दृढ़ता को नहीं प्राप्त होता, लाक्षा (लाह) के आभूषण के समान उसके (बाह्य) स्वरूप से क्या प्रयोजन।

इसलिये यह सब जानकर स्वामी को चाहिए कि धैर्य धारण करें, केवल शब्दमात्र से ही भयभीत होना उचित नहीं है।

कहा भी है—मैंने भी पहले इसे भली-भाँति जान लिया था कि यह मज्जा से भरा है, किन्तु प्रवेश कर अनुभव किया कि यह केवल चर्म और लकड़ी ही है' ॥ ११७ ॥

पिंगलक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

कथा २

कश्चिद् गोमायुर्नाम शृगालः क्षुत्क्षामकण्ठः इतस्ततः परिभ्रमन् वने सैन्यद्वयसंग्रामभूमिमपश्यत्। तस्यां च दुन्दुभेः पतितस्य वायुवशाद्वल्लीशाखाग्रैर्हन्यमानस्य शब्दमशृणोत्। अथ क्षुभितहृदयश्चिन्तयामास 'अहो विनष्टोऽस्मि। तद्यावन्नास्य प्रोच्चारितशब्दस्य दृष्टिगोचरे गच्छामि, तावदन्यतो व्रजामि। अथवा नैतद्युज्यते सहसैव।

भये वा यदि वा हर्षे सम्प्राप्ते यो विमर्शयेत्।
कृत्यं न कुरुते वेगान्न स सन्तापमाप्नुयात्॥ ११८॥

तत्तावज्जानामि कस्यायं शब्दः।' धैर्यमालम्ब्य विमर्शयन् यावन्मन्दं मन्दं गच्छति तावद् दुन्दुभिमपश्यत्। स च तं परिज्ञाय समीपं गत्वा स्वयमेव कौतुकादताडयत्। भूयश्च हर्षादचिन्तयत्—'अहो, चिरादेतदस्माकं महोद्भोजनमापतितम्। तन्नूनं प्रभूतमांसमेदोऽसृग्भिः परिपूरितं भविष्यति। ततः परुषचर्मावगुण्ठितं तत्कथमपि विदार्यैकदेशे छिद्रं

किसी गोमायु नाम के गीदड़ नें भूख से शुष्ककण्ठ होकर इधर-उधर भ्रमण करते हुए वन में दो सेनाओं की युद्धभूमि को देखा। वहाँ गिरी हुई दुन्दुभि (नौबत-नगाड़े) के, हवा के कारण लता और शाखाओं के अग्रिम भाग की चोट लगने से उत्पन्न, शब्द को उसने सुना। तब खिन्न-हृदय होकर चिन्ता करने लगा—'अहो अब मैं नष्ट हुआ, इसलिए इस शब्द करने वाले के दृष्टि-पथ में जब तक न पड़ूँ तब तक मैं अन्यत्र चला जाऊँ। अथवा, एकाएक पिता और पितामहों का वन छोड़ देना भी तो उचित नहीं है, क्योंकि कहा भी है—

भय या हर्ष के प्राप्त होने पर भी जो मनुष्य अच्छी तरह विचार करता है और किसी कार्य को शीघ्रतावश नहीं करता, वह कभी भी सन्ताप को नहीं प्राप्त होता॥ ११८॥

इसलिए पहले मुझे जानना चाहिए कि 'यह किसका शब्द है ?' जब धैर्य धारण कर विचार करता हुआ धीरे-धीरे गया तो उसने दुन्दुभि को देखा। उसने उसे जानकर समीप जाकर कुतूहलवश स्वयं ही उसे बजाया। फिर बाद में हर्षपूर्वक सोचने लगा—'अहो बहुत दिन के बाद यह अत्यधिक भोजन मुझे मिला है। यह निश्चय ही प्रचुर मांस, मेदा (चरबी) और रक्त से परिपूर्ण होगा।' इसके अनन्तर कठिन चमड़े से मढ़े हुए उस (दुन्दुभि) को

कृत्वा संहृष्टमना मध्ये प्रविष्टः। परं चर्मविदारणतो दंष्ट्राभङ्गः समजनि। अथ निराशीभूतस्तद्दारुशेषमवलोक्य श्लोकमेनमपठत्—'पूर्वमेव मया ज्ञातम्' इति। अतो न शब्दमात्राद्भेतव्यम्। पिंगलक आह—'भोः पश्यायं मम सर्वोऽपि परिग्रहो भयव्याकुलितमनाः पलायितुमिच्छति। तत्कथमहं धैर्यावष्टम्भं करोमि।' सोऽब्रवीत्—'स्वामिन् नैषामेष दोषः। यतः स्वामिसदृशा एवं भवन्ति भृत्याः। उक्तं च—

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च ॥ ११९ ॥

तत्पौरुषावष्टम्भं कृत्वा त्वं तावदत्रैव प्रतिपालय यावदहमेतच्छब्द-स्वरूपं ज्ञात्वागच्छामि। ततः पश्चाद्यथोचितं कार्यम्' इति। पिङ्गलक आह—'किं तत्र भवान् गन्तुमुत्सहते।' स आह—किं स्वाम्यादेशात् सद्भृत्य कृत्याकृत्यमस्ति। उक्तं च—

स्वाम्यादेशात् सुभृत्यस्य न भीः सञ्जायते क्वचित्।
प्रविशेन्मुखमाहेयं दुस्तरं वा महार्णवम् ॥ १२० ॥

किसी प्रकार फाड़कर एक स्थान पर छेद कर, प्रसन्न मन हो उसमें प्रवेश किया; किन्तु चमड़े के फाड़ने से उसकी दाढ़ें टूट गयीं। तब उसने निराश होकर केवल काष्ठ मात्र को देखकर इस श्लोक को पढ़ा—'पूर्वमेव मया ज्ञातम्' इत्यादि। इसलिये केवल शब्द से ही भयभीत नहीं होना चाहिए। पिंगलक ने कहा—'अरे देखो तो यह मेरे सब परिजन भय से व्याकुल चित्तवाले होकर, भागने की इच्छा कर रहे हैं। तब मैं किस प्रकार धैर्य धारण करूँ?' उसने कहा—'स्वामिन् इसमें इनका दोष नहीं है, क्योंकि स्वामी के तुल्य ही अनुचर हुआ करता है'। कहा भी है—

घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, नर और नारी—ये पुरुषविशेष को प्राप्त होकर योग्य अथवा अयोग्य हो जाया करते हैं ॥ ११९ ॥

इसलिए पुरुषार्थ का अवलम्बन कर आप तब तक यहाँ रहें, जब तक मैं इस शब्द का स्वरूप (कारण) जानकर न आऊँ। उसके बाद जैसा उचित हो वैसा करें।' पिङ्गलक ने कहा—'क्या वहाँ जाने के लिए आप उत्साह करते हैं।' उसने कहा—'स्वामी के आदेश से अच्छे अनुचर को कृत्य (करने योग्य) और अकृत्य (न करने योग्य) के विषय में विचार ही क्या करना है। कहा है—

स्वामी की आज्ञा से अच्छे सेवक को कहीं भी भय का सञ्चार नहीं होता,

तथा च—स्वाम्यादिष्टस्तु यो भृत्यः समं विषममेव च।
मन्यते न स सन्धार्यो भूभुजा भूतिमिच्छता॥ १२१॥

पिंगलक आह—'भद्र, यद्येवं तद्गच्छ। शिवास्ते पन्थानः सन्तु' इति। दमनकोऽपि तं प्रणम्य संजीवकशब्दानुसारी प्रतस्थे।

अथ दमनके गते भयव्याकुलमनाः पिंगलकश्चिन्तयामास—अहो, न शोभनं कृतं मया, यत्तस्य विश्वासं गत्वात्माभिप्रायो निवेदितः। कदाचिद् दमनकोऽयमुभयवेतनो भूत्वा ममोपरि दुष्टबुद्धिः स्याद् भ्रष्टाधिकारत्वात्। उक्तं च—

ये भवन्ति महीपस्य सम्मानितविमानिताः।
यतन्ते तस्य नाशाय कुलीना अपि सर्वदा॥ १२२॥

तत्तावदस्य चिकीर्षितं वेत्तुमन्यत् स्थानान्तरं गत्वा प्रतिपालयामि। कदाचिद् दमनकस्तमादाय मां व्यापादयितुमिच्छति। उक्तं च—

चाहे सर्प के मुख में प्रवेश कर जाँय या दुस्तर महासमुद्र भी तैर जाँय॥ १२०॥

वैसे ही—स्वामी से आदेश पाया हुआ जो सेवक उस (आदेश) को सम (सरल) या विषम (कठिन) नहीं मानते, ऐश्वर्य की कामना करने वाले राजाओं को चाहिए कि ऐसे सेवकों को समीप रखें॥ १२१॥

पिङ्गलक ने कहा—'भद्र यदि ऐसा है, तो जाओ। तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो।' दमनक भी उसे प्रणाम कर संजीवक के शब्द का अनुसरण करता हुआ चला।

इसके बाद दमनक के चले जाने पर भय से व्याकुलचित्त होकर पिङ्गलक ने विचार किया—'अहो मैंने अच्छा नहीं किया जो उसका विश्वास कर अपना अभिप्राय उससे निवेदन कर दिया। कदाचित् यह दमनक दोनों ओर से वेतन लेकर (भेदिया बनकर) मेरे ऊपर अधिकारच्युत होने के कारण दुष्ट-बुद्धिवाला न हो जाय'।' कहा भी है—

जो राजा से पहले सम्मान पाकर पीछे अपमानित होते हैं, वे उसके नाश के लिये सर्वदा प्रयत्न किया करते है, चाहे वे कुलीन भी क्यों न हों॥ १२२॥

इसलिए तब तक इसकी इच्छा देखने के लिए किसी दूसरे स्थान में जाकर रहूँ? कदाचित् दमनक उसको साथ लेकर मुझे मरवा डालने की इच्छा करता हो। कहा भी है—

न वध्यन्ते ह्यविश्वस्ता बलिभिर्दुर्बला अपि ।
विश्वस्तास्त्वेव वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ १२३ ॥
बृहस्परपि प्राज्ञो न विश्वासे व्रजेन्नरः ।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥ १२४ ॥
शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासे व्रजेद्रिपोः ।
राज्यलाभोद्यतो वृत्रः शक्रेण शपथैर्हतः ॥ १२५ ॥
न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिद्धयति ।
विश्वासात् त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः' ॥ १२६ ॥

एवं सम्प्रधार्य स्थानान्तरं गत्वा दमनकमार्गमवलोकयन्नेकाकी तस्थौ । दमनकोऽपि सञ्जीवकसकाशं गत्वा वृषभोऽयमिति परिज्ञाय हृष्टमना व्यचिन्तयत् 'अहो, शोभनमापतितम् । अनेनैतस्य संधिविग्रहद्धारेण मम पिंगलको वश्यो भविष्यतीति । उक्तं च—

न कौलीन्यान्न सौहार्दान्नृपो वाक्ये प्रवर्तते ।
मन्त्रिणां यावदभ्येति व्यसनं शोकमेव च ॥ १२७ ॥

किसी का विश्वास न करनेवाले दुर्बल को भी सबल नहीं मार सकते, किन्तु सब पर विश्वास रखनेवाले बलवान् भी दुर्बलों से मारे जा सकते हैं ॥ १२३ ॥

जो अपनी आयु की वृद्धि और सुख की इच्छा करता हो, वह बुद्धिमान् मनुष्य-बृहस्पति पर भी विश्वास न करे ॥ १२४ ॥

शपथ से कृतसन्धि (सन्धि किये गये) शत्रु का भी विश्वास न करे क्योंकि राज्य के लोभ से उद्यत वृत्रासुर को इन्द्र ने शपथों से ही तो (विश्वास दिलाकर) मारा ॥ १२५ ॥

देवताओं का शत्रु भी विश्वास के बिना वश में नहीं होता, विश्वास ही से इन्द्र ने दिति (कश्यप की पत्नी) के गर्भ को नष्ट कर दिया था' ॥ १२६ ॥

इस प्रकार निश्चय कर, दूसरे स्थान पर जाकर दमनक के आने का मार्ग देखता हुआ अकेला बैठा रहा । दमनक भी सञ्जीवक के निकट गया और 'यह बैल है' ऐसा जानकर प्रसन्नचित्त हो विचार करने लगा—'अहो बड़ा अच्छा हुआ । इसके साथ उसकी सन्धि (मित्रता) और विग्रह (सन्धिविच्छेद) होने से पिङ्गलक मेरा वशीभूत हो जायेगा । कहा भी है—

कुलीनता और सौहार्द के कारण राजा मन्त्रियों के वाक्य में तब तक प्रवृत्त होता है, जब तक स्वयं उसको व्यसन (विपत्ति) और शोक की प्राप्ति नहीं होती ॥ १२७ ॥

सदैवापद्गतो राजा भोग्यो भवति मन्त्रिणाम् ।
अत एव हि वाञ्छन्ति मन्त्रिणः सापदं नृपम् ॥ १२८ ॥
यथा नेच्छति नीरोगः कदाचित् सुचिकित्सकम् ।
तथापद्रहितो राजा सचिवं नाभिवाञ्छति ॥ १२९ ॥

एवं विचिन्तयन्पिंगलकाभिमुखः प्रतस्थे। पिंगलकोऽपि तमायान्तं प्रेक्ष्य स्वाकारं रक्षन्यथापूर्वंस्थितः दमनकोऽपि पिंगलकसकाशं गत्वा प्रणम्योपविष्टः। पिंगलक आह—'किं दृष्टं भवता तत्सत्त्वम् ।' दमनक आह—'दृष्टं स्वामिप्रसादात् ।' पिंगलक आह—'अपि सत्यम् ।' दमनक आह—'किं स्वामिपादानामग्रेऽसत्यं विज्ञाप्यते। उक्तं च—

अपि स्वल्पमसत्यं यः पुरो वदति भूभुजाम् ।
देवानां च विनश्येत स द्रुतं सुमहानपि ॥ १३० ॥

तथा च—सर्वदेवमयो राजा मनुना सम्प्रकीर्तितः ।
तस्मात्तं देववत्पश्येन्न व्यलीकेन कर्हिचित् ॥ १३१ ॥

विपत्ति में पड़ा हुआ राजा सदैव मन्त्रियों का भोग्य होता है। इसलिये मन्त्री लोग चाहते हैं कि राजा विपत्तियों में फँसा रहे ॥ १२८ ॥

जिस प्रकार रोग-रहित मनुष्य कभी भी सद्वैद्य की इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार आपत्ति-रहित राजा मन्त्री की अभिलाषा नहीं करता' ॥ १२९ ॥

इस प्रकार सोचता हुआ पिङ्गलक की ओर चला। पिङ्गलक भी उसको आता हुआ देख कर, अपने आकार की रक्षा कर (अर्थात् अपने मानसिक दुर्भावना को छिपाता हुआ) पहले की तरह बैठ गया। दमनक पिङ्गलक के पास जाकर प्रणाम करके बैठ गया। (तब) पिङ्गलक ने कहा—'क्या आपने उस जीव को देखा ?' दमनक ने कहा—'हाँ, स्वामी की कृपा से देखा।' पिङ्गलक ने पूछा—'क्या सचमुच' ? दमनक ने कहा—'क्या स्वामी के चरणों के सम्मुख मुझसे असत्य कहा जायेगा ? कहा भी है—

जो राजा और देवताओं के सम्मुख थोड़ा भी असत्य कहता है, वह बड़ा भी हो तो शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ १३० ॥

और भी—भगवान् मनु का कहना है कि राजा में सब देवता निवास करते हैं। इसलिए उसे देवताओं के समान ही देखे, अन्य किसी प्रकार से नहीं ॥१३१॥

सर्वदेवमयस्यापि विशेषो नृपतेरयम् ।
शुभाशुभफलं सद्यो नृपाद् देवाद्भवान्तरे ॥ १३२ ॥

पिंगलक आह—'सत्यं दृष्टं भविष्यति भवता । न दीनोपरि महान्तः कुप्यन्तीति न त्वं तेन निपातितः । यतः—

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।
स्वभाव एवोन्नतचेतसामयं महान्महत्स्वेव करोति विक्रमम् ॥ १३३ ॥

अपि च—गण्डस्थलेषु मदवारिषु बद्धराग-
मत्तभ्रमद्भ्रमरपादतलाहतोऽपि ।
कोपं न गच्छति नितान्तबलोऽपि नाग-
स्तुल्ये बले तु बलवान् परिकोपमेति ॥ १३४ ॥

दमनक आह—'अस्त्वेवं स महात्मा, वयं कृपणाः, तथापि स्वामी यदि कथयति ततो भृत्यत्वे नियोजयामि ।' पिंगलक आह—सोच्छ्वासम्—किं भवाञ्शक्नोत्येवं कर्तुम् ।' दमनक आह—'किमसाध्यं बुद्धेरस्ति । उक्तं च—

राजा सब देवताओं का निवासस्थान होते हुए भी उसकी यह विशेषता है कि शुभ और अशुभ (कर्मों) का फल उससे शीघ्र मिल जाता है, किन्तु देवताओं से दूसरे जन्म में फल मिलता है' ॥ १३२ ॥

पिङ्गलक ने कहा—'आपने तो उसे सचमुच देखा होगा । बड़े लोग दुर्बलों पर अधिक क्रोध नहीं करते । इसलिए उसने आपको नहीं मारा । क्योंकि—

वायु कोमल, नीचे हुए और सब प्रकार से नम्र तृण को नहीं उखाड़ता । क्योंकि उच्च विचार वालों का यह स्वभाव ही है । बड़े लोग बड़ों पर ही अपना पराक्रम दिखाया करते हैं ॥ १३३ ॥

और भी—मद के जल से पूर्ण कपोलों से प्रेम रखनेवाले, मतवाले होकर मँडराते हुए भ्रमरों के चरणतलों से ताड़ित होकर भी, महाबली गजराज (उन पर) क्रोध नहीं करता । क्योंकि बलवान् प्राणी अपने तुल्य बलवाले पर ही क्रोध करते हैं' ॥ १३४ ॥

दमनक ने कहा—'यही सही कि यह महात्मा हैं और हम दीन हैं । तथापि यदि स्वामी कहें तो मैं उसको आपकी सेवकाई में नियुक्त कर दूँ ।' पिङ्गलक ने ऊर्ध्व श्वास लेते हुए कहा—'क्या आप ऐसा कर सकते हैं ?' दमनक ने कहा—'बुद्धि के द्वारा क्या असाध्य है ?' कहा भी है—

न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रैर्न हयैर्न पदातिभिः ।
कार्यं संसद्धिमभ्येति यथा बुद्धया प्रसाधितम् ॥ १३५ ॥

पिंगलक आह—'यद्येवं तर्ह्यमात्यपदेऽध्यारोपितस्त्वम् । अद्यप्रभृति प्रसादनिग्रहादिकं त्वयैव कार्यमिति निश्चयः ।'

अथ दमनकः सत्वरं गत्वा साक्षेपं तमिदमाह—'एह्येहीतो दुष्टवृषभ ! स्वामी पिङ्गलकस्त्वामाकारयति । किं निःशङ्को भूत्वा मुहुर्मुहुर्नदसि वृथा' इति । तच्छ्रुत्वा सञ्जीवकोऽब्रवीत्–'भद्र, कोऽयं पिगलकः' । दमनक आह—'किं स्वामिनं पिंगलकमपि न जानासि । तत्क्षणप्रतिपालय । फलेनैव ज्ञास्यसि । नन्वयं सर्वमृगपरिवृतो वटतले स्वामी पिंगलकनामा सिंहस्तिष्ठति ।' तच्छ्रुत्वा गतायुषमिवात्मानं मन्यमानः सञ्जीवकः परं विषादमगमत् । आह च—'भद्र, भवान् साधुसमाचारो वचनपटुश्च दृश्यते । तद्यदि मामवश्यं तत्र नयसि तदभयप्रदानेन स्वामिनः सकाशात् प्रसादः कारयितव्यः । दमनक आह—भोः, सत्यमभिहितं भवता । नीतिरेषा यतः—

कोई भी कार्य शस्त्र, हाथी, घोड़े और पैदल सेना से जितना सिद्ध नहीं होता उतना बुद्धि द्वारा हो जाता है' ॥ १३५ ॥

पिङ्गलक ने कहा—'यदि ऐसा है तो आज तुझको मैंने मन्त्री पद पर नियुक्त कर दिया । आज से अनुग्रह (कृपा) और निग्रह (दण्ड) तुम ही करना—ऐसा मेरा निश्चय है ।'

इसके अनन्तर दमनक ने शीघ्रता से जाकर, आक्षेप करते (फटकारते) हुए उससे कहा—'इधर आ, इधर आ, अरे दुष्ट वृषभ ! स्वामी पिङ्गलक तुझे बुलाते हैं । निःशङ्क होकर क्यों बार-बार व्यर्थ गर्जन करता है ?' यह सुनकर सञ्जीवक ने कहा—'हे भद्र यह पिङ्गलक कौन है ?' दमनक ने कहा—'क्या तू स्वामी पिङ्गलक को भी नहीं जानता ? तो थोड़ी देर ठहर जा । फल से ही तू जान जायेगा । निःसन्देह सब मृगों से युक्त वटवृक्ष के नीचे हमारा स्वामी पिङ्गलक नाम का सिंह बैठा हुआ है ।' उसे सुनकर अपने को आयुरहित मानता हुआ, सञ्जीवक अत्यधिक दुःखी हुआ और बोला—'हे भद्र आप मुझे सज्जनोचित व्यवहार और बात करने में बड़े दक्ष प्रतीत होते हैं । यदि मुझे आप वहाँ अवश्य ले चलना चाहते हों तो स्वामी से अभय-दान दिलाकर मुझे बचाने की दया करेंगे ।' दमनक ने कहा—अरे तूने सत्य कहा है । नीति इसी प्रकार की है । (अर्थात् राजाओं का विश्वास नहीं करना चाहिए) क्योंकि—

पर्यन्तो लभ्यते भूमेः समुद्रस्य गिरेरपि ।
न कथंचिन्महीपस्य चित्तान्तः केनचित्कचित् ॥ १२६ ॥

तत्त्वमत्रैव तिष्ठ यावदहं तं समये दृष्ट्वा ततः पश्चात्त्वामानयामि' इति । तथा अनुष्ठिते दमनकः पिंगलकसकाशं गत्वेदमाह—'स्वामिन्, न तत्प्राकृतं सत्त्वम् । स हि भगवतो महेश्वरस्य वाहनभूतो वृषभः' इति । मया पृष्ट इदमूचे—महेश्वरेण परितुष्टेन कालिन्दीपरिसरे शष्पाग्राणि भक्षयितुं समादिष्टः । किं बहुना । मम प्रदत्त भगवता क्रीडार्थं वनमिदम् । पिंगलक आह—'सत्यं ज्ञातं मयाऽधुना । न देवताप्रसादं विना शष्पभोजिनो व्यालाकीर्ण एवंविधे वने निःशङ्का नदन्तो भ्रमन्ति । ततस्त्वया किमभिहितम् ।' दमनक आह—स्वामिन्, एतदभिहितं मया यदेतद्वनं चण्डिकावाहनभूतस्य मत्स्वामिनः पिंगलकनाम्नः सिंहस्य विषयीभूतम् । तद्भवानभ्यागतः प्रियोऽतिथिः । तत्तस्य सकाशं गत्वा भ्रातृस्नेहेनैकत्र भक्षणपानविहरणक्रियाभिरेकस्थानाश्रयेण कालो नेयः' इति । ततस्तेनापि सर्वमेतत्प्रतिपन्नम् ।

मनुष्य द्वारा पृथ्वी, समुद्र और पर्वत का अन्त पाया जा सकता है किन्तु राजा के हृदय की बात का अन्त किसी प्रकार किसी ने आज तक कभी भी नहीं पाया है ॥ १३६ ॥

इसलिये (तब तक) तुम यहीं ठहरो, जब तक मैं अनुकूल समय को देखकर न आऊँ, पीछे तुम्हें ले चलता हूँ ।' ऐसा करके दमनक ने पिङ्गलक के समीप जाकर यह कहा—'स्वामिन् वह कोई साधारण जानवर नहीं है । वह तो भगवान् महेश्वर (शंकर) का वाहनस्वरूप वृषभ है । मेरे पूछने पर उसने कहा—'शंकर जी ने प्रसन्न होकर यमुना के तीरवर्ती प्रदेश में बाल तृण (नवीन घास) खाने के लिए मुझे आज्ञा दी है । अधिक कहने से क्या प्रयोजन ? भगवान् शंकर ने क्रीड़ा करने के लिए मुझे यह वन दिया है ।' पिङ्गलक ने डरते हुए कहा—ठीक-ठीक अब मैंने समझ लिया कि देवता की अनुकम्पा के बिना, सर्पों से भरे हुए इस प्रकार के घोर जंगल में घास खानेवाला जीव निःशङ्क हो, गर्जन करता हुआ, कैसे घूम सकता है ? तो फिर (उससे) तुमने क्या कहा ? दमनक ने कहा—'स्वामिन् ! मैंने यह कहा कि यह वन भगवती चण्डिका के वाहनस्वरूप मेरे स्वामी पिंगलक नामक सिंह के अधिकार में है ! इसलिए आप हमारे अभ्यागत अथवा अतिथि के रूप में आये हैं तो मेरे स्वामी के पास चल कर बन्धु-प्रेम में बँधकर एक जगह ही खाना, पीना, घूमना, आदि क्रिया के द्वारा एक

उक्तं च सहर्षम्---'स्वामिनः सकाशादभयदक्षिणा दापयितव्या' इति तदत्र स्वामी प्रमाणम्। तच्छ्रुत्वा पिंगलक आह---'साधु सुमते, साधु। मन्त्रि-श्रोत्रिय साधु। मम हृदयेन सह सम्मन्त्र्य भवतेदमभिहितम्। तद्दत्ता मया तस्याभयदक्षिणा। परं सोऽपि मदर्थेऽभयदक्षिणां याचयित्वा द्रुततरमानी-यताम्' इति। अथ साधु चेदमुच्यते---

अन्तःसारैरकुटिलैरच्छिद्रैः सुपरीक्षितैः।
मन्त्रिभिर्धार्यते राज्यं सुस्तम्भैरिव मन्दिरम्॥ १३७॥

तथा च---मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातिके।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डितः' ॥ १३८॥

दमनकोऽपि तं प्रणम्य सञ्जीवकसकाशं प्रस्थितः, सहर्षमचिन्तयत्, अहो प्रसादसम्मुखो नः स्वामी वचनवशगश्च संवृत्तः। तन्नास्ति धन्यतरो मम। उक्तं च---

अमृतं शिशिरे वह्निरमृतं प्रियदर्शनम्।
अमृतं राजसम्मानममृतं क्षीरभोजनम्॥ १३९॥

ही स्थान का आश्रय लेकर वहीं समय बिताइये।' तब उसने मेरी बातें स्वीकार कर आनन्दित होकर कहा--'स्वामी के समीप से मुझे अभय दक्षिणा दिलवाइये।' सो इसमें स्वामी ही प्रमाण हैं। उसे सुनकर पिङ्गलक ने कहा---'धन्य बुद्धिमान्! धन्य मन्त्रिश्रेष्ठ! मानो मेरे हृदय से ही सम्मति लेकर तुमने ऐसा कहा। इसलिए मैंने उसे अभय दक्षिणा प्रदान की। किन्तु अब उससे भी मुझे अभय दान दिलाकर उसे शीघ्रातिशीघ्र लाओ। यह ठीक ही कहा है---

जिस प्रकार अच्छे, पुष्ट, सीधे खम्भों के सहारे मन्दिर खड़े रहते हैं उसी प्रकार सावधान (बलवान्), निष्कपट, निर्दोष, अच्छी तरह से परीक्षा किए हुए मन्त्रियों द्वारा राज्य धारण किया जाता है॥ १३७॥

और भी---भेद और सन्धि के समय से मन्त्रियों की और सन्निपात (कफ, पित्त, वायुजन्य त्रिदोष) ज्वर में वैद्यों की बुद्धि देखी जाती है, अन्यथा स्वस्थ रहने पर कौन नहीं पण्डित होता है' ॥ १३८॥

दमनक भी उसे प्रणाम कर सञ्जीवक के पास चल दिया, और हर्षित हो सोचने लगा---अहो (इस समय) हमारे ऊपर स्वामी प्रसन्न हैं और मेरे वचन के वशीभूत हैं। सलिए मुझसे बढ़ कर भाग्यवान् दूसरा कौन है? कहा भी है---

शिशिर ऋतु (माघ-फाल्गुन) में अग्नि अमृत (अमृत के समान सुखावह)

अथ सञ्जीवकसकाशमासाद्य सप्रश्रयमुवाच—'भो मित्र, प्रार्थितोऽसौ मया भवदर्थे स्वाम्यभयप्रदानम्। तद्विश्रब्धं गम्यतामिति। परं त्वया राजप्रसादमासाद्य मया सह समयधर्मेण वर्तितव्यम्। न गर्वमासाद्य स्वप्रभुतया विचरणीयम्। अहमपि तव संकेतेन सर्वां राज्यधुरममात्यपदवीमाश्रित्योद्धरिष्यामि। एवं कृते द्वयोरप्यावयो राज्यलक्ष्मीर्भोग्या भविष्यति।

आखेटकस्य धर्मेण विभवाः स्युर्वशे नृणाम्।
नृप्रजाः प्रेरयत्येको हन्त्यन्योऽत्र मृगानिव ॥ १४० ॥

तथा च—यो न पूजयते गर्वादुत्तमाधममध्यमान्
भूपसंमानमान्योऽपि भ्रश्यते दन्तिलो यथा ॥ १४१ ॥

संजीवक आह—'कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

कथा ३

अस्त्यत्र धरातले वर्धमानं नाम नगरम्। तत्र दन्तिलो नाम नानाभाण्डपतिः सकलपुरनायकः प्रतिवसति स्म। तेन पुरकार्यं नृपकार्यं च कुर्वता तुष्टिं नीतास्तत्पुरवासिनो लोका नृपतिश्च। किं बहुना। न कोऽपि

है, प्रियजन का दर्शन अमृत है, राज-सम्मान अमृत है तथा दुग्ध-भोजन अमृत है ॥ १३९ ॥

इसके बाद सञ्जीवक के पास पहुँच कर स्नेहपूर्वक उस (दमनक) ने कहा—हे मित्र ! मैंने आपके लिए स्वामी से अभय प्रदान के लिए प्रार्थना की। अतः आप निर्भय होकर चलिये। परन्तु राजा की कृपा प्राप्त कर, मेरे साथ आपको सामयिक धर्म के अनुरूप व्यवहार करना चाहिए। अभिमान में आकर अपनी प्रभुता से स्वेच्छापूर्वक विचरण न करना। मैं भी आपके संकेत (सलाह) से समस्त राज्य के धुरी मन्त्रित्व के पद को प्राप्त कर, धारण करूँगा। ऐसा करने से हम दोनों से राज्यलक्ष्मी भोग्य होगी, क्योंकि—

शिकार करनेवाले के समान आचरण करने से ऐश्वर्य मनुष्यों के वशीभूत हो जाते हैं। एक मनुष्य नररूपी प्रजा की प्रेरणा करता है और दूसरा इस लोक में हरिणों के समान उसे कष्ट देकर अपना कार्य सिद्ध करता है ॥ १४० ॥

जो अहङ्कार के कारण उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी के लोगों का सम्मान नहीं करता, वह राजा द्वारा सम्मानित होने पर भी दन्तिल के समान पतित हो जाता है ॥ १४१ ॥

संजीवक ने कहा—'यह कैसे' ? उसने कहा—

इस भूतल पर वर्धमान नाम का एक नगर है। वहाँ दन्तिल नाम का एक

तादृक्केनापि चतुरो दृष्टो नापि श्रुतो वेति। अथवा साधु चेदमुच्यते—

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः।
इति महति विरोधं वर्तमाने समाने
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता ॥ १४२ ॥

अथैवं गच्छति काले दन्तिलस्य कदाचिद्विवाहः संप्रवृत्तः। तत्र तेन सर्वे पुरनिवासिनो राजसंनिधिलोकाश्च सम्मानपुरःसरमामन्त्र्य भोजिता वस्त्रादिभिः सत्कृताश्च। ततो विवाहानन्तर राजा सान्तःपुरः स्वगृहमानीयाभ्यर्चितः। अथ तस्य नृपतेर्गृहसम्माजनकर्त्ता गोरम्भो नाम राजसेवको गृहायातोऽपि तेनानुचितस्थान उपविष्टोऽवज्ञायाऽर्धचन्द्रं दत्वा निःसारितः। सोऽपि ततः प्रभृति निश्वसन्नपमानान्न रात्रावप्यधिशेते। 'कथं मया तस्य भाण्डपते राजप्रसादहानिः कर्तव्या' इति चिन्तयन्नास्ते। अथवा किमनेन

बहुत बड़ा पूँजीपति (भण्डार और खजाने का अध्यक्ष), समस्त नगर का नायक (मुखिया) रहता था। उसने नगर-कार्य और राज-कार्य करते हुए उस नगर के निवासियों (नागरिकों) और राजा को प्रसन्न कर दिया। उसके समान चतुर कर्मचारी किसी ने भी न कहीं देखा और न सुना ही था। अथवा यह सत्य ही कहा जाता है—

राजा का हित करनेवाले को जनता अपना द्वेषी समझती है और देश (जनता) का कल्याण करनेवाले को राजा पदच्युत कर देते हैं। इस प्रकार के बड़े विरोध के विद्यमान होने पर भी राजा और प्रजा (दोनों) का समान रूप से कार्यसाधक बड़ा दुर्लभ होता है ॥ १४२ ॥

इस प्रकार कुछ समय बीतने पर दन्तिल का एक समय विवाह होना निश्चित हुआ। तब उसने समस्त नागरिकों और राजा के निकट रहनेवाले (मन्त्री, मुखिया, सामन्त) लोगों को सत्कारपूर्वक निमन्त्रण देकर, भोजन और वस्त्रों से सम्मानित किया। विवाह के बाद उसने अन्तःपुरवासियों के साथ राजा को अपने घर बुला कर अभ्यर्चना की; किन्तु उस राजा के भवन की सफाई करनेवाले गोरम्भ नाम के एक राजसेवक को अपने घर आने पर अनुचित स्थल (ऊँचे आसन) पर बैठने के कारण अर्धचन्द्र (गरदनियाँ) देकर बाहर निकाल दिया। वह भी उसी दिन से अपमानित होने के कारण लम्बी श्वास लेता (आहें भरता) हुआ रात्रि में सोया भी न था। 'मैं इस पूँजीपति को किस प्रकार

वृथा शरीरशोषणेन। न किंचिन्मया तस्यापकर्तुं शक्यमिति। अथवा साध्विदमुच्यते—

> यो ह्यपकर्तुमशक्तः कुप्यति किमसौ नरोऽत्र निर्लज्जः।
> उत्पतितोऽपि हि चणकः शक्तः किं भ्राष्ट्रकं भङ्क्तुम्' ॥ १४३ ॥

अथ कदाचित्प्रत्यूषे योगनिद्रां गतस्य राज्ञः शय्यान्ते मार्जनं कुर्वन्निदमाह—अहो, दन्तिलस्य महद् दृप्तत्वं यद्राजमहिषीमालिंगति।' तच्छ्रुत्वा राजा ससंभ्रममुत्थाय तमुवाच—भो भो गोरम्भ, सत्यमेतत् यत्त्वया जल्पितम्। किं दन्तिलेन समालिङ्गिता' इति। गोरम्भः प्राह—'देव, रात्रिजागरणेन द्यूतासक्तस्य मे बलान्निद्रा समायाता। तन्न वेद्मि किं मयाभिहितम्।' राजा सेर्ष्यं स्वगतम्—'एष तावदस्मद्गृहेऽप्रतिहतगतिस्तथा दन्तिलोऽपि। तत्कदाचिदनेन देवी समालिङ्ग्यमाना दृष्टा भविष्यति। तेनेदमभिहितम्। उक्तं च—

राजा की कृपा से वंचित कराऊँ। यही सोचा करता था। अथवा इस शरीर को निरर्थक सुखाने से क्या लाभ। मैं उसका कुछ भी अपकार नहीं कर सकता।' यह ठीक कहा है—

जो किसी का अपकार करने में असमर्थ है, वह निर्लज्ज मनुष्य व्यर्थ क्यों किसी पर क्रोध करता है? क्या चना उछल कर भी भूजने के बर्तन को फोड़ सकता है ॥ १४३ ॥

किसी समय प्रातःकाल में जब राजा कुछ सो रहे थे, उस समय गोरम्भ ने शय्या के समीप झाड़ू देते हुए कहा—'अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि दन्तिल को इतना अहंकार हो गया है कि वह पटरानी को आलिंगन करता है।' उसे सुनकर राजा शीघ्रता से उठकर बोले—'अरे गोरम्भ क्या यह सत्य है, जो तू कह रहा है? क्या महारानी को दन्तिल ने आलिंगन किया। गोरम्भ ने कहा—'महाराज मैं रात भर जूए में आसक्त रहने के कारण जागरण करता रहा। इसलिये मुझे बड़ी ज़ोर की नींद आ रही थी, मुझे पता नहीं कि मैंने क्या कहा है?' राजा ने ईर्ष्यापूर्वक मन में विचार किया—'यह तो हमारे महल में बेरोक-टोक आने वाला है और दन्तिल भी उसी तरह आता जाता है। सम्भव है कि इसने कभी देवी को आलिंगन की जाती हुई देखा होगा, तभी तो ऐसा कहता है। कहा भी है—

यद्वाञ्छति दिवा मर्त्यो वीक्षते वा करोति वा।
तत्स्वप्नेऽपि तदभ्यासाद् ब्रूते वाथ करोति वा॥ १४४॥
तथा च—शुभं वा यदि पापं यन्नृणां हृदि संस्थितम्।
सुगूढमपि तज्ज्ञेय स्वप्नवाक्यात्तथा मदात्॥ १४५॥
अथवा स्त्रीणां विषये कोऽत्र सदेहः।
जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः।
हृद्गतं चिन्तयत्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम्॥ १४६॥
अन्यच्च—
एकेन स्मितपाटलाधररुचो जल्पन्त्यनल्पाक्षरं
वीक्षन्तेऽन्यमितः स्फुटत्कुमुदिनीफुल्लोल्लसल्लोचनाः।
दूरोदारचरित्रचित्रविभवं ध्यायन्ति चान्यं धिया
केनेत्थं परमार्थतोऽर्थवदिव प्रेमास्ति वामभ्रुवाम्॥ १४७॥
तथा च—नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना॥ १४८॥

मनुष्य दिन में जो अभिलाषा करता है, देखता है या करता है स्वप्न में भी उसके अभ्यास के कारण वही बोलता और करता है॥ १४४॥

और भी—अच्छा या बुरा जो भाव मनुष्यों के हृदय में रहता है, वह अत्यन्त गूढ़ होने पर भी स्वप्नवाच्य अथवा मद (नशा) से विदित हो जाता है॥ १४५॥

अथवा स्त्रियों के विषय में सन्देह ही क्या करना।

एक के साथ वार्तालाप करती हैं, दूसरे की ओर विलासपूर्वक देखती हैं और हृदय में बैठे अन्य पुरुष के विषय में विचार करती हैं। कहो तो सही स्त्रियों के लिए कौन प्यारा हो सकता है॥ १४६॥

और भी—एक के साथ मुस्कराते हुए लाल अधर की कान्तिवाली वनिता खूब बातें करती है, दूसरे की ओर खिली हुई कुमुदिनी के समान उल्लासयुक्त नेत्रों से देखती हैं, और विचित्र चरित्रवाले ऐश्वर्य से परिपूर्ण किसी तीसरे पुरुष का अपने चित्त में ध्यान करती है। सत्य सत्य कहिये कि, टेढ़ी भौं वाली स्त्रियों का वास्तविक प्रेम किसके साथ होता है। अर्थात् किसी के भी साथ नहीं हो॥ १४७॥

वैसे ही—अग्नि काष्ठों (के भस्म करने) से, समुद्र अनेक नदियों (के

रहो नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः ।
तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ १४९ ॥
यो मोहान्मन्यते मूढो रक्तेयं मम कामिनी ।
स तस्या वशगो नित्यं भवेत्क्रीडाशकुन्तवत् ॥ १५० ॥
तासां वाक्यानि कृत्यानि स्वल्पानि सुगुरूण्यपि ।
करोति सः कृतैर्लोके लघुत्वं याति सर्वतः ॥ १५१ ॥
स्त्रियं च यः प्रार्थयते सन्निकर्षं च गच्छति ।
ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः ॥ १५२ ॥
अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात्परिजनस्य च ।
मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥ १५३ ॥
नासां कश्चिदगम्योऽस्ति नासां च वयसि स्थितिः ।
विरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुज्यते ॥ १५४ ॥

समागम) से यम समस्त प्राणियों (के संहार करने) से और कामिनी स्त्री अनेक पुरुषों (के संसर्ग) से भी तृप्त नहीं होती ॥ १४८ ॥

एकान्त नहीं मिलता, समय नहीं मिलता, अभिलषित मनुष्य (चाहने वाला मित्र) नहीं मिलता, इसलिए हे नारद स्त्रियों का सतीत्व बचा रहता है ॥ १४९ ॥

जो मूर्ख अज्ञान के कारण यह मानता है कि 'यह कामिनी मुझ पर अनुरक्त है, वह मनुष्य क्रीड़ा के पक्षी के समान नित्य उस (कामिनी) के वशीभूत हो जाता है ॥ १५० ॥

जो चतुर पुरुष स्त्रियों के वाक्यों एवं कृत्यों को चाहे वे स्वल्प हो अथवा अधिक—करता है, वह सब प्रकार से लोक लघुता (निम्नता) को प्राप्त होता है ॥ १५१ ॥

जो स्त्री की प्रार्थना करता है, उसके समीप जाता है और थोड़ी सेवा भी करता है उसी को वह चाहने लगती है ॥ १५२ ॥

मनुष्यों के न चाहने के कारण और परिजनों के भय से कुमार्ग में जानेवाली स्त्रियाँ भी सदा मर्यादा में रहती हैं ॥ १५३ ॥

इन स्त्रियों के लिए कोई अगम्य नहीं है। न अवस्था (वृद्ध, युवा) का ही इनको विचार रहता है और न कुरूप अथवा सौन्दर्य से ही प्रयोजन। ये तो केवल पुरुष मात्र के साथ भोग करना चाहती हैं ॥ १५४ ॥

रक्तो हि जायते भोग्यो नारीणां शाटिका यथा ।
घृष्यते यो दशालम्बी नितम्बे विनिवेशितः ॥ १५५ ॥
अलक्तको यथा रक्तो निष्पीड्य पुरुषस्तथा ।
अबलाभिर्बलाद्रक्तः पादमूले निपात्यते ॥ १५६ ॥

एवं स राजा बहुविधं विलप्य तत्प्रभृति दन्तिलस्य प्रसादपराङ्मुखः संजातः । किं बहुना । राजद्वारप्रवेशोऽपि तस्य निवारितः । दन्तिलोऽप्यकस्मादेव प्रसादपराङ्मुखमवनिपतिमवलोक्य चिन्तयामास—'अहो, साधु चेदमुच्यते—

कोऽर्थान्प्राप्य न गर्विलो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को नाम राज्ञां प्रियः ।
कः कालस्य न गोचरान्तरगतः कोऽर्थी गतो गौरवं
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ॥ १५७ ॥

तथा च—काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं
सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः ।

अनुरक्त मनुष्य साड़ी के समान स्त्रियों का भोग्य होता है जो दशा (१. कामावस्था, २. कपड़े के अञ्चल भाग.) को प्राप्त होकर लटकता हुआ, नितम्ब में आवेष्टित होकर घर्षण को प्राप्त होता है ॥ १५५ ॥

जिस प्रकार स्त्रियाँ लाख के रङ्ग (महावर) को जोर से दबाकर निचोड़ कर अपने चरणों में लगाती हैं, उसी प्रकार वे अपने अनुरक्त को निष्पीडित (आलिंगित) कर अपने चरणों पर गिराती हैं ॥ १५६ ॥

इस प्रकार वह राजा अनेक प्रकार से विलापकर उसी दिन से दन्तिल के प्रति अप्रसन्न हो गया । अधिक कौन कहे ? राजद्वार में उसके प्रवेश के लिए भी निषेध हो गया । दन्तिल भी एकाएक राजा को अनुरागरहित देखकर विचार करने लगा—अहो ! किसी ने सत्य कहा है—

धन पाकर कौन गर्वित नहीं हुआ ? किस विषयी पुरुष की विपत्तियाँ नष्ट हुई हैं । स्त्री में किसका मन खण्डित (विलसित) नहीं हुआ है ? राजाओं का प्रिय कौन हुआ है ? काल के गाल में कौन नहीं गया ? किस याचना करने वाले को सम्मान मिला है ? दुर्जनों के कपट रूप जाल में फँसे हुए किस पुरुष का कल्याण हुआ है ॥ १५७ ॥

और भी—कौए में पवित्रता, जूआ खेलनेवालों में सत्यता, सर्प में सहन-

क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ॥ १५८ ॥

अपरं मयास्य भूपतेरथवान्यस्यापि कस्यचिद्राजसंबन्धिन: स्वप्नेऽपि नानिष्टं कृतम्। तत्किमेतत्पराङ्मुखो मां प्रति भूपति:' इति। एवं तं दन्तिलं कदाचिद्राजद्वारे विष्कम्भितं विलोक्य संमार्जनकर्ता गोरम्भो विहस्य द्वारपालानिदमूचे—भो भो द्वारपाला:! राजप्रसादाधिष्ठितोऽयं दन्तिल: स्वयं निग्रहानुग्रहकर्ता च। तदनेन निवारितेन यथाहं तथा यूयमप्यर्धचन्द्रभाजिनो भविष्यथ। तच्छ्रुत्वा दन्तिलश्चिन्तयामास— 'नूनमिदमस्य गोरम्भस्य चेष्टितम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

अकुलीनोऽपि मूर्खोऽपि भूपालं योऽत्र सेवते।
अपि सम्मानहीनोऽपि स सर्वत्र प्रपूज्यते ॥ १५९ ॥
अपि कापुरुषो भीरु: स्याच्चेन्नृपतिसेवक:।
तथापि न पराभूतिं जनादाप्नोति मानव: ॥ १६० ॥

एवं स बहुविधं विलप्य विलक्षमना: सोद्वेगो गतप्रभाव: स्वगृहं

शीलता, स्त्रियों में कामशान्ति, नपुंसक में धैर्य, मद्य पीने वालों में तत्त्वविचार और राजा का मित्र होते किसने देखा अथवा सुना है ? ॥ १५८ ॥

और मैंने इस राजा की या राजा की किसी दूसरे सम्बन्धी की स्वप्न में भी बुराई नहीं की। तब क्या कारण है कि राजा ने मुझसे मुँह मोड़ लिया है ? इस प्रकार उस दन्तिल को किसी समय राजद्वार पर द्वारपाल से रोका हुआ देखकर, सम्मार्जन (झाड़ू) करने वाले गोरम्भ ने हँसकर द्वारपाल ने कहा— 'ऐ दरवान ! राजमहल में आया हुआ यह दन्तिल स्वयं निग्रह (दण्ड) और अनुग्रह (कृपा) करनेवाला है। इसलिये इससे रोकने के कारण जिस प्रकार मैं (अर्धचन्द्र का भागी) हुआ था उसी प्रकार तुम भी अर्धचन्द्र (गरदनियाँ) के भागी होओगे।' यह सुनकर दन्तिल विचारने लगा—'निःसन्देह यह गोरम्भ की ही करतूत है। अथवा उचित ही कहा गया है—

अकुलीन या मूर्ख जो कोई भी राजा की सेवा करता है, वह सम्मानरहित होता हुआ भी सर्वत्र आदृत होता है ॥ १५९ ॥

कायर या डरपोक मनुष्य भी यदि राजा का सेवक हो तो वह किसी मनुष्य से पराभव प्राप्त नहीं करता ॥ १६० ॥

इस प्रकार उसने अनेक प्रकार से विचारकर, लज्जित एवं व्याकुल मन होने

निशामुखे गोरम्भमाहूय वस्त्रयुगलेन सम्मान्येदमुवाच—'भद्र, मया न तदा त्वं रागवशान्निःसारितः। यतस्त्वं ब्राह्मणानामग्रतोऽनुचितस्थाने समुपविष्टो दृष्ट इत्यपमानितः। तत्क्षम्यताम्।' सोऽपि स्वर्गराज्योपमं तद्वस्त्र-युगलमासाद्य परं परितोषं गत्वा तमुवाच—'भोः श्रेष्ठिन्, क्षान्तं मया ते तत्। तदस्य सम्मानस्य कृते पश्य मे बुद्धिप्रभावं राजप्रसादं च।' एवमुक्त्वा सपरितोषं निष्क्रान्तः। साधु चेदमुच्यते—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी चेष्टा तुलायष्टेः खलस्य च॥ १६१॥

ततश्चान्येद्युः स गोरम्भो राजकुले गत्वा योगनिद्रां गतस्य भूपतेः सम्मार्जनक्रियां कुर्वन्निदमाह—'अहो अविवेकोऽस्मद्भूपतेः, यत्पुरीषोत्सर्गमाचरंश्चिर्भटीभक्षणं करोति'। तच्छ्रुत्वा राजा सविस्मयं तमुवाच—'रे रे गोरम्भ, किमप्रस्तुतं लपसि। गृहकर्मकरं मत्वा त्वां न व्यापादयामि। किं त्वया कदाचिदहमेवंविधं कर्म समाचरन्दृष्टः।' सोऽब्रवीत्—

से हतप्रभ होकर, अपने घर जाकर, सायंकाल गोरम्भ को बुलाकर, एक जोड़ कपड़े से उसे सत्कृत कर यह कहा—'हे भद्र! मैंने उस समय तुम्हें क्रोधवश नहीं निकाला था, किन्तु जो तुम ब्राह्मणों के आगे अनुचित स्थान पर बैठे हुए देखे गये इससे तुम्हारा तिरस्कार (अपमान) हुआ। अतः उसे क्षमा करो।' उसने स्वर्गराज्य के समान दोनों कपड़ों को पाकर अत्यधिक सन्तुष्ट होकर उससे कहा—'ऐ सेठ जी! मैंने वह सब क्षमा कर दिया। इस सम्मान के बदले मेरे बुद्धिप्रभाव और राजप्रसाद को देखो।' ऐसा कहकर सन्तोष के साथ वह चला गया। यह ठीक ही कहा गया है—

जिस प्रकार तराजू की डण्डी थोड़े में ऊपर चली जाती है और थोड़े ही में नीचे चली आती है, उसी प्रकार दुष्ट की चेष्टा भी है, जो थोड़े ही में ऊपर हो जाता है और थोड़े ही में नीचे चला आता है। अर्थात् जिसको कुपित होने और प्रसन्न होने में बहुत देर नहीं लगती॥ १६१॥

तब दूसरे दिन उस गोरम्भ ने, राजकुल में जाकर कुछ-कुछ निद्रावस्था में प्राप्त हुए राजा के यहाँ झाड़ू देते हुए यह कहा—'अत्यधिक आश्चर्य की बात है कि हमारे राजा की कैसी अज्ञानता है कि वह मलत्याग (पैखाना) करते समय ककड़ी खाता है। यह सुनकर आश्चर्य से चकित होकर राजा ने उससे कहा—'अरे गोरम्भ! क्यों अयुक्त बात करता है? घर का काम करनेवाला

'देव, द्यूतासक्तस्य रात्रिजागरणेन सम्मार्जनं कुर्वाणस्य मम बलान्निद्रा समायाता। तयाधिष्ठितेन मया किंचिज्जल्पितम्, तन्न वेद्मि। तत्प्रसादं करोतु स्वामी निद्रापरवशस्य' इति। एवं श्रुत्वा राजा चिन्तितवान् 'यन्मया जन्मान्तरे पुरीषोत्सर्गं कुर्वता कदापि चिर्भटिका न भक्षिता, तद्यथायं व्यतिकरोऽसंभाव्यो ममानेन मूढेन व्याहृतः, तथा दन्तिलस्यापीति निश्चयः। तन्मया न युक्तं कृतं यत्स वराकः सम्मानेन वियोजितः। न तादृक्पुरुषाणामेवंविधं चेष्टितं सम्भाव्यते। तदभावेन राजकृत्यानि पौरकृत्यानि च सर्वाणि शिथिलतां व्रजन्ति।' एवमनेकधा विमृश्य दन्तिलं समाहूय निजाङ्गवस्त्राभरणादिभिः संयोज्य स्वाधिकारे नियोजयामास। अतोऽहं ब्रवीमि—'यो न पूजयते गर्वात्' इति। संजीवक आह—'भद्र, एवमेवैतत्। यद्भवताभिहितं तदेव मया कर्तव्यम्' इति। एवमभिहिते दमनकस्तमादाय पिङ्गलकसकाशमगमत्। आह च—'देव एष मयानीतः स संजीवकः। अधुना देवः प्रमाणम्। संजीवकोऽपि तं सादरं

समझकर तुझे नहीं मारता हूँ। क्या तूने किसी समय मुझे इस प्रकार के कर्म करते हुए देखा है?' उसने कहा—'देव! जूआ खेलने में तल्लीन रहने के कारण रातभर जागते रहने से, झाड़ू देते-देते मुझे नींद आ गई। अतः उस प्रकार की दशा होने से क्या शब्द मेरे मुख से निकल गये, इसका मुझे पता नहीं है। सो मुझ, नींद के वशीभूत पर स्वामी कृपा करें।' इस प्रकार सुनकर राजा ने सोचा कि मैंने जन्मान्तर में भी मलत्याग करते समय कभी ककड़ी नहीं खाई। अतः जिस प्रकार मेरे विषय में इस मूढ़ की कही हुई बात असम्भव है, उसी प्रकार दन्तिल के विषय में भी इसने की होगी—ऐसा मेरा निश्चय है। इसलिये मैंने अच्छा नहीं किया कि व्यर्थ ही उस बेचारे को सत्काररहित कर दिया। उस प्रकार के मनुष्यों का इस प्रकार का बुरा व्यवहार असम्भव है। उसके न रहने के कारण राजकार्य और नगरकार्य सभी ढीले पड़ गये हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार से विचार कर, दन्तिल को बुलवाकर, अपने शरीर के वस्त्रालङ्कार से सुशोभित कर, उसे फिर उसके अधिकार-पद पर नियुक्त कर दिया। इसी से मैं कहता हूँ कि 'यो न पूजयते गर्वात्' इत्यादि। सञ्जीवक ने कहा—'भद्र! यह ऐसा ही है। आपने जैसा कहा है उसी प्रकार मैं करूँगा।' ऐसा कहने पर दमनक उसको लेकर पिङ्गलक के समीप गया और बोला—'स्वामिन्! इस सञ्जीवक को मैं लाया हूँ। अब आप जैसा उचित समझें,

प्रणम्याग्रतः सविनयं स्थितः। पिङ्गलकोऽपि तस्य पीनायतककुद्मतो नखकुलिशालंकृतं दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा मानपुरःसरमुवाच—अपि शिवं भवतः। कुतस्त्वमस्मिन्वने विजने समायातोऽसि।' तेनाप्यात्मकवृत्तान्तः कथितः। यथा वर्धमानेन सह वियोगः सञ्जातस्तथा सर्वं निवेदितम्। तच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सादरतरं तमुवाच–'वयस्य, न भेतव्यम्। मद्भुजपञ्जर-परिरक्षितेन यथेच्छं त्वयाधुना वर्तितव्यम्। अन्यच्च नित्यं मत्समीपवर्तिना भाव्यम्। यतः कारणाद् बह्वपायं रौद्रसत्त्वनिषेवितं वनं गुरूणामपि सत्त्वानामसेव्यम्, कुतः शष्पभोजिनाम्।' एवमुक्त्वा सकलमृगपरिवृतो यमुनाकच्छमवतीर्योदकग्रहणं कृत्वा स्वेच्छया तदेव वनं प्रविष्टः। ततश्च करटकदमनकनिक्षिप्तराज्यभारः संजीवकेन सह सुभाषितगोष्ठीमनुभवन्नास्ते। अथवा साध्विदमुच्यते।

यदृच्छयाप्युपनतं सकृत्सज्जनसंगतम्।
भवत्यजरमत्यन्तं नाभ्यासक्रममीक्षते॥ १६२॥

संजीवकेनाप्यनेकशास्त्रावगाहनादुत्पन्नबुद्धिप्रागल्भ्येन स्तोकैरेवा-

---

करें। सञ्जीवक भी उसे आदर के साथ प्रणाम कर विनयपूर्वक उसके आगे बैठ गया। पिङ्गलक भी पुष्ट एवं विशाल ककुभवाले उस बैल पर वज्र के समान नख से सुशोभित दाहिने हाथ को रखकर सम्मानपूर्वक बोला—'कहिए आप कुशल तो हैं? इस निर्जन वन में आप कहाँ से आये?' उसने भी अपना वृत्तान्त कहा और जिस प्रकार वर्धमान के साथ वियोग हुआ वे सब बातें भी कह दीं। उसे सुनकर पिङ्गलक ने अत्यधिक आदर के साथ उससे कहा—

हे मित्र! तुम मत डरो। मेरे भुजपञ्जर से सुरक्षित होकर अब स्वच्छन्दतया विचरण करो, और नित्य मेरे समीप रहा करो। क्योंकि बहुत आपत्ति पूर्ण भयङ्कर जानवरों से सेवित इस जंगल में बड़े-बड़े जीव नहीं रह सकते, फिर घास खानेवालों की तो बात ही क्या है। यह कह कर समस्त मृगों के साथ यमुना तट पर जाकर, जलपान कर स्वेच्छापूर्वक उसी जंगल में प्रविष्ट हुआ। उसके बाद करटक और दमनक पर राज्यभार डालकर, सञ्जीवक के साथ सुभाषित गोष्ठी का सुख अनुभव करता हुआ रहने लगा। अथवा यह ठीक ही कहा है—

यदि अकस्मात् एक बार भी सज्जनों को संगति हो जाय तो वह अक्षय होती है। वह बार-बार अभ्यास के क्रम की अपेक्षा नहीं करती॥ १६२॥

सञ्जीवक ने भी अनेक शास्त्रों के श्रवण करने से उत्पन्न बुद्धि की प्रगल्भता

होभिर्मूढमतिः पिङ्गलको धीमांस्तथा कृतो यथारण्यधर्माद्वियोज्य ग्राम्यधर्मेषु नियोजितः। किं बहुना प्रत्यहं पिङ्गलकसंजीवकावेव केवलं रहसि मन्त्रयतः। शेषः सर्वोऽपि मृगजनो दूरीभूतस्तिष्ठति। करटकदनमनकावपि प्रवेशं न लभेते। अन्यच्च सिंहपराक्रमाभावात्सर्वोऽपि मृगजनस्तौ च शृगालौ क्षुधाव्याधिबाधिता एकां दिशमाश्रित्य स्थिताः।

उक्तं च—फलहीनं नृपं भृत्याः कुलीनमपि चोन्नतम्।
सन्त्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः॥ १६३॥

तथा च—अपि सम्मानसंयुक्ताः कुलीना भक्तितत्पराः।
वृत्तिभङ्गान्महीपालं त्यजन्त्येव हि सेवकाः॥ १६४॥

अन्यच्च—कालातिक्रमणं वृत्तेर्यो न कुर्वीत भूपतिः।
कदाचित्तं न मुञ्चन्ति भर्त्सिता अपि सेवकाः॥ १६५॥

(अर्थात् प्रत्युत्पन्नमतित्व, अवसर पर तत्काल उत्तर देना) के द्वारा थोड़े ही दिनों में उस मूर्खबुद्धि पिङ्गलक को ऐसा बुद्धिमान् बना दिया कि वन धर्म (स्वाभाविक हिंसा) से पृथक् कर उसे ग्राम्य धर्म (ग्राम-वासियों के स्वाभाविक दया-धर्म) में लगा दिया। अधिक कहने से क्या, प्रतिदिन पिङ्गलक और सञ्जीवक ही केवल एकान्त में मन्त्रणा करते और अवशिष्ट सब मृगगण दूर रहते थे। [यहाँ तक कि] करटक और दमनक को भी प्रवेश नहीं था। इसके अतिरिक्त सिंह के पराक्रम न रहने के कारण, सब मृग और वे दोनों सियार क्षुधा रोग से पीड़ित होकर एक किनारे बैठे रहते थे।

कहा भी है—उच्च कुलोत्पन्न तथा उन्नत राजा को भी फलहीन समझकर उसके अनुचर लोग उसे उस प्रकार छोड़ कर दूसरे स्थान में चले जाते हैं जिस प्रकार सूखे, अच्छे और उन्नत वृक्ष को फलहीन समझ, उसे छोड़कर पक्षीगण चले जाते हैं॥ १६३॥

सम्मान-युक्त, कुलीन और भक्ति में तत्पर सेवक भी वृत्तिभङ्ग (वेतन न मिलने के कारण) राजा को छोड़ देते हैं॥ १६४॥

और भी—जो राजा वृत्ति (मासिक वेतन) देने में समय का अतिक्रमण नहीं करता (अर्थात् वेतन उचित समय पर दे देता है) उसके भर्त्सना करने (घुड़कने, झिड़कने और फटकारने) पर भी सेवक लोग उसे कभी-भी नहीं छोड़ते॥ १६५॥

तथा न केवलं सेवका इत्थंभूता यावत्समस्तमप्येतज्जगत्परस्परं भक्षणार्थं सामादिभिरुपायैस्तिष्ठति। तद्यथा—

देशानामुपरि क्ष्माभृदातुराणां चिकित्सकाः।
वणिजो ग्राहकाणां च मूर्खाणामपि पण्डिताः॥ १६६॥
प्रमादिनां तथा चौरा भिक्षुका गृहमेधिनाम्।
गणिकाः कामिनां चैव सर्वलोकस्य शिल्पिनः॥ १६७॥
सामादिसज्जितैः पाशैः प्रतीक्षन्ते दिवानिशम्।
उपजीवन्ति शक्त्या हि जलजा जलदानिव॥ १६८॥

अथवा साध्विदमुच्यते—

सर्पाणां च खलानां च परद्रव्यापहारिणाम्।
अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत्॥ १६९॥
अत्तुं वाञ्छति शाम्भवो गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी
तं च क्रौञ्चरिपोः शिखी गिरिसुतासिंहोऽपि नागाशनम्।
इत्थं यत्र परिग्रहस्य घटना शम्भोरपि स्यात् गृहे
तत्राप्यस्य कथं न भावि जगतो यस्मात्स्वरूपं हि तत्॥१७०॥

इस प्रकार केवल सेवक लोग ही नहीं होते, किन्तु यह समस्त संसार परस्पर भक्षण के लिए ही साम आदि (दाम, दण्ड, भेद) उपायों में लगा रहता है। वह इस प्रकार से—

देशवासियों के ऊपर राजा, आतुर (रोगग्रस्त) लोगों पर वैद्य, ग्राहकों पर धनिकों और मूर्खों पर पण्डितों का प्रभुत्व रहता है॥ १६६॥

असावधानों पर चोरों, गृहस्थों पर भिक्षुकों, कामियों पर गणिकाओं और सर्वसाधारण जनता पर शिल्पियों (कारीगरों) का प्रभाव रहता है॥ १६७॥

(लोग) साम आदि (दाम, दण्ड, भेद का) जाल फैलाये दिन-रात उसी प्रकार प्रतीक्षा किया करते हैं जिस प्रकार जलजात (धान्यादि) मेघों की प्रतीक्षा करते हैं; क्योंकि ये सब उनकी शक्ति से जीवन धारण करते हैं॥ १६८॥

अथवा यह ठीक कहा जाता है कि—सर्पों और पराया द्रव्य हरण करनेवाले दुष्ट पुरुषों के अभिप्राय सिद्ध नहीं होते इसलिए यह संसार अब तक टिका हुआ है॥ १६९॥

शिवजी का सर्प भूख से पीड़ित होकर गणेशजी के चूहे को खाने की इच्छा करता है। उस सर्प को कार्तिकेय का मोर खाना चाहता है। और उस नाग-

ततः स्वामिप्रसादरहितौ क्षुत्क्षामकण्ठौ परस्परं करटकदमनकौ मन्त्रयेते। तत्र दमनको ब्रूते—'आर्य करटक, आवां तावदप्रधानतां गतौ। एष पिङ्गलकः संजीवकानुरक्तः स्वव्यापारपराङ्मुखः संजातः। सर्वोऽपि परिजनो गतः। तत्किं क्रियते।' करटक आह—'यद्यपि त्वदीयवचनं न करोति तथापि स्वामी स्वदोषनाशाय वाच्यः। उक्तञ्च—

अश्रृण्वन्नपि बोद्धव्यो मन्त्रिभिः पृथिवीपतिः।
यथा स्वदोषनाशाय विदुरेणाम्बिकासुतः॥ १७१॥

तथा च—मदोन्मत्तस्य भूपस्य कुञ्जरस्य च गच्छतः।
उन्मार्गं वाच्यतां यान्ति महामात्राः समीपगाः॥ १७२॥

तत्त्वयैव शष्पभोजी स्वामिनः सकाशमानीतः। तत्स्वहस्तेनाङ्गाराः कर्षिताः।' दमनक आह—'सत्यमेतत्। ममायं दोषः, न स्वामिनः।

भक्षण करनेवाले मोर को पार्वती का वाहन सिंह भी खाने की अभिलाषा करता है। इस प्रकार जब शंकरजी के घर में भी आपस की घटना इस प्रकार की है तब दूसरों के घर में क्यों नहीं होगी? क्योंकि संसार का स्वरूप ही ऐसा है॥१७०॥

उसके अनन्तर स्वामी की कृपा से रहित तथा भूख से सूखे कण्ठ वाले करटक और दमनक आपस में मन्त्रणा (सलाह) करने लगे। उनमें दमनक ने कहा—'आर्य करटक! हम दोनों अब अप्रधान हो गये। यह पिङ्गलक सञ्जीवक के प्रति अनुरक्त होकर अपने कार्य (जीवहिंसा) से विमुख हो गया। हमारे सब परिजन भी चले गए। अब क्या किया जाय!' करटक ने कहा—'यद्यपि वह आपके कथानानुसार नहीं करता, तथापि अपने दोष (सेवकों का पालन न करने) से बचने के लिए स्वामी से कुछ कहना उचित ही है। कहा है—

राजा यदि न सुने तो भी मन्त्री का कर्तव्य है कि राजा को समझावे। जिस प्रकार अपना दोष दूर करने के लिए विदुर ने धृतराष्ट्र को समझाया था॥१७१॥

और भी—मदोन्मत्त राजा और हाथी—इन दोनों के उन्मार्ग (कुमार्ग)-गामी हो जाने पर उनके समीपवर्ती महामात्र (प्रधान मन्त्री और महावत) ही वाच्यता को प्राप्त होते हैं (अर्थात् वे ही निन्दनीय समझे जाते हैं)॥ १७२॥

इसलिए तुमने ही इस घास खानेवाले को स्वामी के समीप लाया, सो अपने हाथ से ही तुमने आग उठायी है (अर्थात् अपने पैर में कुल्हाड़ी मारी है) दमनक ने कहा—'यह सत्य है, इसमें मेरा ही दोष है, न कि स्वामी का।

उक्तञ्च—जम्बुको हुडुयुद्धेन वयं चाषाढभूतिना ।
दूतिका परकार्येण त्रयो दोषाः स्वयंकृताः' ॥ १७३ ॥

कथा ४

करटक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

अस्ति कस्मिंश्चिद्विविक्तप्रदेशे मठायतनम् । तत्र देवशर्मा नाम परिव्राजकः प्रतिवसतिस्म । तस्यानेकसाधुजनदत्तसूक्ष्मवस्त्रविक्रयवशात्कालेन्न महती वित्तमात्रा संजाता । ततः स न कस्यचिद्विश्वसिति । नक्तंदिनं कक्षान्तरात्तां मात्रां न मुञ्चति । अथवा साधु चेदमुच्यते—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः ॥ १७४ ॥

अथाषाढभूतिर्नाम परवित्तापहारी धूर्तस्तामर्थमात्रां तस्य कक्षान्तरगतां लक्षयित्वा व्यचिन्तयत्—'कथं मयास्येयमर्थमात्रा हर्तव्या' इति । तदत्र मठे तावद्दृढशिलासंचयवशाद्भित्तिभेदो न भवति । उच्चैस्तरत्वाच्च द्वारे प्रवेशो न स्यात् । तदेनं मायावचनैर्विश्वास्याहं छात्रतां व्रजामि येन स विश्वस्तः कदाचिद्विश्वासमेति ।' उक्तञ्च—

कहा भी है—हुडु (मेढों) के युद्ध से गीदड़, आषाढ़भूति से हम और दूसरे के कार्य करने से दूती, ये तीनों अपने ही दोष से दूषित हुए ॥ १७३ ॥

करटक ने पूछा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

किसी निर्जन स्थान में एक मठ-मन्दिर था । वहीं देवशर्मा नाम का एक संन्यासी रहता था । उसके पास अनेक महात्मा पुरुषों द्वारा दिए हुए सूक्ष्म (महीन) वस्त्रों के बेचने से, कुछ समय के बाद बहुत धन इकट्ठा हो गया । तब से वह किसी का विश्वास नहीं करता था । रात-दिन कांख के भीतर से उस धन को पृथक् नहीं करता था । अथवा किसी ने ठीक कहा है—

धन के कमाने में दुःख, कमाये हुए धन की रक्षा करने में दुःख, आमदनी में दुःख और खर्च करने में दुःख, अतः ऐसे कष्टकारक धन को धिक्कार है ॥१७४॥

कुछ समय के बाद आषाढभूति नामक पराये धन को अपहरण करने वाला धूर्त (ठग) उस धन को उसकी कांख में देखकर विचार करने लगा—'किस तरह मैं इसके इस धन को हरण करूँ । मजबूत पत्थर से बने हुए इस मठ में सेंध भी नहीं दी जा सकती । अधिक ऊँचा होने के कारण द्वार में प्रवेश भी

निस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः ।
नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात्स्फुटवक्ता न वञ्चकः ॥ १७५ ॥

एवं निश्चित्य तस्यान्तिकमुपगम्य 'ॐ नमः शिवाय' इति प्रोच्चार्य साष्टाङ्गं प्रणम्य च सप्रश्रयमुवाच—'भगवन्, असारः संसारोऽयम्, गिरिनदीवेगोपमं यौवनम्, तृणाग्निसमं जीवितम्, शरदभ्रच्छाया-सदृशा भोगाः स्वप्नसदृशो मित्रपुत्रकलत्रभृत्यवर्गसम्बन्धः, एवं मया सम्यक्परिज्ञातम्। तत्किं कुर्वतो मे संसारसमुद्रोत्तरणं भविष्यति।' तच्छ्रुत्वा देवशर्मा सादरमाह—'वत्स !' धन्योऽसि यत्प्रथमे वयस्येवं विरक्तिभावः। उक्तञ्च—

पूर्वे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः ।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ॥ १७६ ॥

नहीं हो सकता । अतः इनको अपने कपट वाक्यों (चिकनी-चुपड़ी बातों) द्वारा विश्वास दिला कर मैं छात्र बन जाऊँ, जिससे यह विश्वस्त होकर कदाचित् मेरे विश्वास में आ जाय । कहा है—

जो अभिलाषारहित है वह (धन का) अधिकारी नहीं हो सकता, संभोग की अभिलाषा से रहित मनुष्य शृङ्गारप्रिय नहीं हो सकता, मूर्ख कभी प्रिय नहीं बोल सकता और साफ-साफ कहने वाला धूर्त्त (ठग) नहीं हो सकता ॥१७५॥

ऐसा निश्चय कर उसके समीप जा 'ॐ नमः शिवाय' ऐसा बोल कर, साष्टाङ्ग प्रणाम कर नम्रता से बोला—'भगवन् ! यह संसार सारहीन है, पहाड़ी नदी के समान यौवन है, तृण (फूस) की अग्नि के समान जीवन है, शरद ऋतु के मेघ की छाया के समान (क्षण भर में विलीन होने वाला) भोग-विलास है स्वप्न के समान मित्र-पुत्र-भार्या भृत्य-वर्ग का सम्बन्ध है । यह सब मैंने भली-भाँति समझ लिया है । अतः क्या करने से मैं संसाररूपी समुद्र को पार कर सकूँगा ?' यह सुनकर देवशर्मा ने आदरपूर्वक कहा—'वत्स धन्य हो, प्रथमावस्था में ही तुम्हारे अन्दर इस प्रकार के वैराग्यभाव का उदय हुआ है । कहा है—

जो पहली अवस्था में शान्त है, वही शान्त है—ऐसी मेरी सम्मति है । क्योंकि धातुओं के क्षीण हो जाने पर किसमें शान्ति नहीं आ जाती ॥ १७६ ॥

आदौ चित्ते ततः काये सतां संपद्यते जरा।
असतां तु पुनः काये नैव चित्ते कदाचन ॥ १७७ ॥

यच्च मां संसारसागरोत्तरणोपायं पृच्छसि, तच्छ्रुयताम्—

शूद्रो वा यदि वान्योऽपि चण्डालोऽपि जटाधरः।
दीक्षितः शिवमन्त्रेण स भस्माङ्गी शिवो भवेत् ॥ १७८ ॥
षडक्षरेण मन्त्रेण पुष्पमेकमपि स्वयम्।
लिङ्गस्य मूर्ध्नि यो दद्यान्न स भूयोऽभिजायते' ॥ १७९ ॥

तच्छ्रुत्वाषाढभूतिस्तत्पादौ गृहीत्वा सप्रश्रयमिदमाह—'भगवन्, तर्हि दीक्षया मेऽनुग्रहं कुरु।' देवशर्मा आह—'वत्स अनुग्रहं ते करिष्यामि। परन्तु रात्रौ त्वया मठमध्ये न प्रवेष्टव्यम्। यत्कारणं निःसङ्गता यतीनां प्रशस्यते तव च ममापि च। उक्तञ्च—

दुर्मन्त्रान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात्।

सत्पुरुषों के पहले चित्त में, उसके बाद शरीर में वृद्धावस्था आती है, किन्तु दुष्टों के शरीर में वृद्धावस्था आने पर भी वह चित्त में नहीं प्रविष्ट हो पाती ॥ १७७ ॥

जो मुझ से संसार समुद्र से पार हो जाने का उपाय पूछते हो तो सुनो—

शूद्र हो अथवा अन्य कोई, यहाँ तक कि चाण्डाल भी जटाधारण करने वाला हो तो शिवमन्त्र से दीक्षित होकर केवल शरीर में भस्म लगाने पर शिव स्वरूप हो जाता है ॥ १७८ ॥

जो स्वयं षडक्षर (ॐ नमः शिवाय) मन्त्र से एक भी फूल शिवलिङ्ग पर चढ़ाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ १७९ ॥

उसे सुनकर आषाढ़भूति उसके दोनों पैरों को पकड़ कर नम्रतापूर्वक यह कहने लगा—'भगवन् ! तब दीक्षा (शिवमन्त्र का उपदेश) देकर मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिए।' देवशर्मा ने कहा—'वत्स ! तुम्हारे ऊपर अनुग्रह तो करूँगा, किन्तु रात्रि में तुम मठ में प्रवेश न करना। इसका कारण यह है कि संन्यासियों का संग-रहित होना प्रशंसनीय है। यही बात तुम्हारे लिये और मेरे लिये भी अच्छी है। कहा भी है—

दुर्मन्त्रणा (बुरी सलाह) के कारण राजा, विषयादि में राग रखने के कारण यति, लालन (वात्सल्य से, प्यार से) करने से पुत्र, अध्ययन न करने से ब्राह्मण, कुपुत्र से कुल, दुष्टों की उपासना करने से सदाचार, स्नेहशून्यता से मित्रता,

मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्स्नेहः प्रवासाश्रयात्-
स्त्री गर्वादनवेक्षणादपि कृषिस्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥ १८० ॥

तत्त्वया व्रतग्रहणानन्तरं मठद्वारे तृणकुटीरके शयितव्यम्' इति। स आह—'भगवन्, भवदादेशः प्रमाणम्। परत्र हि तेन मे प्रयोजनम्।' अथ कृतशयनसमयं देवशर्मानुग्रहं कृत्वा शास्त्रोक्तविधिना शिष्यतामनयत्। सोऽपि हस्तपादावमर्दनादिपरिचर्यया तं परितोषमनयत्। पुनस्तथापि मुनिः कक्षान्तरान्मात्रां न मुञ्चति। अथैवं गच्छति काले आषाढभूतिश्चिन्तयामास—'अहो, न कथंचिदेष मे विश्वासमागच्छति। तत्किं दिवापि शस्त्रेण मारयामि, किं वा विषं प्रयच्छामि, किं वा पशुधर्मेण व्यापादयामि' इति। एवं चिन्तयतस्तस्य देवशर्मणोऽपि शिष्यपुत्रः कश्चिद्ग्रामादामन्त्रणार्थं समायातः। प्राह च—'भगवन्, पवित्रारोपणकृते मम गृहमागम्यताम्' इति। तच्छ्रुत्वा देवशर्माषाढभूतिना सह प्रहृष्टमनाः प्रस्थितः। अथैवं तस्य गच्छतोऽग्रे काचिन्नदी समायाता। तां दृष्ट्वा मात्रां कक्षान्तरादवतार्य कन्थामध्ये सुगुप्तां निधाय

अनीति से समृद्धि, परदेश में रहने के कारण स्नेह, अहङ्कार के कारण स्त्री, देखभाल न करने से खेती तथा त्याग और प्रमाद (लापरवाही) से धन का नाश होता है ॥ १८० ॥

इसलिये तुम्हें व्रत ग्रहण करने पर मठ के द्वार पर फूस की कुटी में शयन करना चाहिए। उसने कहा—'भगवान् आपकी आज्ञा ही प्रमाण है। परलोक में कल्याण हो, यही मेरा प्रयोजन है।' इसके बाद शयन का समय बिताकर देवशर्मा ने शास्त्रोक्त विधि से, उसे शिष्य बनाया। वह भी हाथ-पैर दबाने आदि सेवा से उसे प्रसन्न करने लगा। इतना होने पर भी वह मुनि अपने बगल से धन की गठरी को नहीं छोड़ता था। इस प्रकार कुछ समय बीत जाने पर आषाढ़भूति ने विचार किया—आश्चर्य है कि किसी प्रकार मेरे विश्वास में नहीं आता है, तो क्या दिन में शस्त्र से मार डालूँ अथवा विष दे दूँ, अथवा पशुओं के समान इसका गला घोंट दूँ? ऐसा विचार करने पर देवशर्मा के शिष्य का पुत्र किसी गाँव से निमन्त्रण के देने के लिए आया। उसने कहा—'भगवान्! पवित्रारोपण के लिए (यज्ञोपवीत संस्कार करने के लिए) मेरे घर पर आइयेगा।' यह सुनकर देवशर्मा ने आषाढ़भूति के साथ आनन्दित हो प्रस्थान किया। चलते-चलते उनको रास्ते में कोई नदी मिली। उसे देखकर

स्नात्वा देवार्चनं विधाय तदनन्तरमाषाढभूतिमिदमाह—'भो आषाढ-भूते, यावदहं पुरीषोत्सर्गं कृत्वा समागच्छामि तावदेषा कन्था योगेश्वरस्य सावधानतया रक्षणीया।' इत्युक्त्वा गतः। आषाढभूतिरपि तस्मिन्नदर्शनीभूते मात्रामादाय सत्वरं प्रस्थितः देवशर्मापि छात्र-गुणानुरञ्जितमनाः सुविश्वस्तो यावदुपविष्टस्तिष्ठति तावत्सुवर्णरोमदेह-यूथमध्ये हुडुयुद्धमपश्यत्। अथ रोषवशाद्धुडुयुगलस्य दूरमपसरणं कृत्वा भूयोऽपि समुपेत्य लालटपट्टाभ्यां प्रहरतो भूरि रुधिरं पतति। तच्च जम्बूको जिह्वालौल्येन रङ्गभूमिं प्रविश्यास्वादयति। देवशर्मापि तदालोक्य व्यचिन्तयत्—'अहो, मन्दमतिरयं जम्बूकः। यदि कथ-मप्यनयोः संघट्टे पतिष्यति तन्नूनं मृत्युमवाप्स्यतीति वितर्कयामि।' क्षणान्तरे च तथैव रक्तास्वादनलौल्यान्मध्ये प्रविशस्तयोः शिरःसंपाते पतितो मृतश्च शृगालः। देवशर्मापि तं शोचमानो मात्रामुद्दिश्य शनैः शनैः प्रस्थितो यावदाषाढभूतिं न पश्यति ततश्चौत्सुक्येन शौचं विधाय यावत्कन्थामालोकयति तावन्मात्रां न पश्यति। ततश्च 'हा हा मुषि-

---

पोटरी को बगल से निकाल कर, गुदड़ी (कथरी) में छिपा रखा। स्नान करके देवपूजा करने के बाद आषाढ़भूति से उसने कहा—'आषाढ़भूति! जब तक मैं मल-त्याग करके न आऊँ तब तक इस योगेश्वर (शंकर) की गुदड़ी की सावधानता से रक्षा करना।' ऐसा कहकर चला गया। आषाढ़भूति भी उसके आँखों से ओझल होने पर झटपट उस धन को लेकर चलता बना। देवशर्मा भी छात्र के गुणों पर प्रसन्न होकर विश्वास करके जब लौट कर बैठा तभी सोने के समान रोमवाले मेढों के झुण्ड के बीच दो मेढों की लड़ाई देखने लगा। वहाँ क्रोध में भरे दोनों मेढे पहले कुछ दूर जाते तब बड़े वेग से आकर एक दूसरे के मस्तक पर प्रहार करते थे, जिससे अत्यधिक रक्त निकलता था। एक गीदड़ जिह्वा के लालच से युद्धस्थल में प्रवेश कर रक्त को चखता था। देवशर्मा ने भी उसे देखकर विचार किया—'अहो! यह गीदड़ मूर्ख है। यदि किसी प्रकार इन दोनों की चपेट में पड़ जायगा तो निश्चय ही मर जायगा, ऐसा मैं सोचता हूँ।' थोड़ी ही देर बाद वह गीदड़ रक्त चखने के लिए घुसा और उन दोनों के मस्तक की टक्कर में पड़कर मर गया। देवशर्मा भी उसी को सोचते हुए अपने धन की गठरी लेने के लिए धीरे-धीरे चला। जब आषाढ़भूति नहीं दिखाई दिया तब उत्कण्ठा के कारण शौचक्रिया से निवृत्त हो गुदड़ी को देखने

तोऽस्मि' इति जल्पन्पृथिवीतले मूर्च्छया निपपात। ततः क्षणाच्चेतनां लब्ध्वा भूयोऽपि समुत्थाय फूत्कर्तुमारब्धः—'भो आषाढभूते, क्व मां वञ्चयित्वा गतोऽसि। तद् देहि मे प्रतिवचनम्।' एवं बहु विलप्य तस्य पदपद्धतिमन्वेषयञ्शनैः शनैः प्रस्थितः। अथैव गच्छन्सायंतनसमये कञ्चिद्ग्राममाससाद। अथ तस्माद्ग्रामात्कश्चित्कौलिकः सभार्यो मद्यपानकृते समीपवर्तिनि नगरे प्रस्थितः। देवशर्मापि तमालोक्य प्रोवाच—'भो भद्र, वयं सूर्योढा अतिथयस्तवान्तिकं प्राप्ताः। न कमप्यत्र ग्रामे जानीमः। तद्गृह्यतामतिथिधर्मः। उक्तञ्च—

'सम्प्राप्तो योऽतिथिः सायं सूर्योढे गृहमेधिनाम्।
पूजया तस्य देवत्वं प्रयान्ति गृहमेधिनः॥ १८१॥

तथा च—तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि हर्म्येषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ १८२॥
स्वागतेनाग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः।
पादशौचेन पितरः अर्घाच्छम्भुस्तथाऽतिथेः'॥ १८३॥

लगा! जब धन देखने में नहीं आया तो 'हाय! हाय! मैं लुट गया' यह कहते हुए गिर पड़ा। क्षण भर बाद होश आने पर, पुनः उठकर, जोर से आहें भरने लगा—'अरे आषाढ़भूति! मुझे धोखा देकर कहाँ चले गये हो, इसका मुझे उत्तर दो'। इस तरह बहुत विलाप करके उसके पैरों के चिह्न खोजता हुआ धीरे-धीरे चल पड़ा। चलते चलते सन्ध्या समय किसी गाँव में पहुँचा। उस गाँव से कोई जुलाहा अपनी स्त्री के साथ मद्य पीने के लिये समीप के नगर की ओर जा रहा था। देवशर्मा ने उसे देखकर कहा—'भद्र! हम सूर्यास्त के समय पहुँचे हुए अतिथि हैं, तुम्हारे निकट आये हैं। इस गाँव में और किसी को नहीं जानते इसलिए तुम्हीं अतिथि-धर्म स्वीकार करो। कहा भी है—

जो अतिथि सन्ध्या को सूर्यास्त के समय गृहस्थों के यहाँ आ पहुँचे उसकी पूजा करने से गृहस्थलोग देवता के तुल्य हो जाते हैं॥ १८१॥

उसी प्रकार—तृण (कुशासन की चटाई), भूमि, जल एवं चौथी सत्य और प्रियवाणी ये सज्जनों के घर से कदापि नष्ट नहीं होतीं॥ १८२॥

अतिथि से 'अच्छा हुआ आप आये, आपका स्वागत है' इस प्रकार पूछने से अग्नि, आसन प्रदान करने से इन्द्र, चरण धोने से पितर और अर्घ्य देने से महादेव जी प्रसन्न होते हैं॥ १८३॥

कौलिकोऽपि तच्छ्रुत्वा भार्यामाह—'प्रिये गच्छ त्वतिथिमादाय गृह प्रति पादशौचभोजनशयनादिभिः सत्कृत्य त्वं तत्रैव तिष्ठ। अहं तव कृते प्रभूत मद्यमानेष्यामि। एवमुक्त्वा प्रस्थितः। सापि भार्या पुंश्चली तमादाय प्रहसितवदना देवदत्तं मनसि ध्यायन्ती गृहं प्रति प्रतस्थे। अथवा साधु चेदमुच्यते—

दुर्दिवसे घनतिमिरे दुःसञ्चारासु नगरवीथीषु।
पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः॥ १८४॥

तथा च—पर्यङ्केष्वास्तरणं पतिमनुकूलं मनोहरं शयनम्।
तृणमिव लघु मन्यन्ते कामिन्यश्चौर्यरतलुब्धाः॥ १८५॥

तथा च—केलिं प्रदहति लज्जा शृङ्गारोऽस्थीनि चाटवः कटवः।
बन्धक्याः परितोषो न किंचिदिष्टं भवेत्पत्यौ॥ १८६॥

कुलपतनं जनगर्हां बन्धनमपि जीवितव्यसन्देहम्।
अङ्गीकरोति कुलटा सततं परपुरुषसंसक्ता॥ १८७॥

कौलिक ने उसे सुनकर अपनी स्त्री से कहा—'हे प्यारी तू अतिथि को लेकर घर जा। पद प्रक्षालन, भोजन और शयन आदि से सत्कार करके तू घर पर ही रहना। मैं तेरे लिए बहुत मद्य ले आऊँगा।' ऐसा कहकर चल दिया। वह व्यभिचारिणी स्त्री भी उसे लेकर हँसती हुई मन में देवदत्त का ध्यान करती हुई घर की ओर चली। अथवा ठीक ही कहा है—

मेघ से आच्छादित (ढँके हुए) दिन में, घने अन्धकार में, अत्यन्त संकीर्ण गलियों में और पति के विदेश जाने पर, चपल जङ्घा (कुलटा) स्त्रियों को अत्यधिक आनन्द होता है॥ १८४॥

और भी पलङ्ग पर उत्तम आच्छादन वस्त्र, अपने अनुकूल पति एवं मनोहर शयन को भी—चोरी से सम्भोग की लालची कामिनियाँ तृण के समान तुच्छ मानती हैं॥ १८५॥

और भी—पति के साथ व्यभिचारिणी स्त्री की काम-क्रीड़ा को लज्जा तथा हड्डियों को शृङ्गार जला देता है। प्रियवचन (स्वामी के हास्य-विनोद) को वे कड़ुआ समझती हैं—व्यभिचारिणी स्त्रियों को न तो पति से सन्तोष होता है और न उनकी अभिलाषा पूर्ण होती है॥ १८६॥

अपने कुल का पतन, मनुष्यों की निन्दा, बन्धन (पकड़ कर घर में बन्द किया जाना) और जीवन में संशय—ये सब बातें हर समय परपुरुष में मन लगाने वाली कुलटा स्त्री स्वीकार कर लेती है॥ १८७॥

अथ कौलिकभार्या गृहं गत्वा देवशर्मणे गतास्तरणं भग्नां च खट्वां समर्प्येदमाह–'भो भगवन्, यावदहं स्वसखीं ग्रामादभ्यागतां सम्भाव्य द्रुतमागच्छामि तावत्त्वया मद्गृहेऽप्रमत्तेन भाव्यम्।' एवमभिधाय शृङ्गारविधिं विधाय यावद्देवदत्तमुद्दिश्य व्रजति तावत्तद्भर्ता संमुखो मदविह्वलाङ्गो मुक्तकेशः पदे पदे प्रस्खलन्गृहीतमद्यभाण्डः समभ्येति। तं च दृष्ट्वा सा द्रुततरं व्याघुट्य स्वगृहं प्रविश्य मुक्तशृङ्गारवेशा यथापूर्वमभवत्। कौलिकोऽपि तां पलायमानां कृताद्भुतशृङ्गारां विलोक्य प्रागेव कर्णपरम्परया तस्याः श्रुतापवादक्षुभितहृदयः स्वाकारं निगूहमानः सदैवास्ते। ततश्च तथाविधं चेष्टितमवलोक्य दृष्टप्रत्ययः क्रोधवशगो गृहं प्रविश्य तामुवाच—'आः पापे पुंश्चलि, क्व प्रस्थितासि।' सा प्रोवाच—'अहं त्वत्सकाशादागता न कुत्रचिदपि निर्गता। तत्कथं मद्यपानवशादप्रस्तुतं वदसि। अथवा साधु चेदमुच्यते—

वैकल्यं धरणीपातमयथोचितजल्पनम्।
संनिपातस्य चिह्नानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत्॥ १८८॥

कौलिक की स्त्री अपने घर पहुँचकर देवशर्मा को बिना बिछौने की एक टूटी खाट समर्पण कर बोली—'भगवान्! जब तक मैं अपनी सखी से वार्त्तालाप न कर आऊँ तब तक आप मेरे घर में सावधानता से रहिएगा।' इस प्रकार कहकर विधिपूर्वक शृङ्गार कर ज्यों ही देवदत्त से मिलने चली, त्यों ही उसका स्वामी कौलिक नशे में चूर शरीरवाला, बाल खोले हुए, एक-एक पद पर गिरता हुआ मद्य का बर्तन लिए हुए समक्ष उपस्थित हुआ। उसे देखकर वह बहुत शीघ्रता से तत्काल लौट पड़ी और अपने घर में प्रविष्ट हो शृङ्गार-भूषा को उतार कर, जिस प्रकार पहले थी उसी प्रकार हो गयी। कौलिक ने भागती हुई और अद्भुत शृङ्गार की हुई उसको देख लिया। पहले ही से अपने कानों उसकी निन्दा सुन चुकने के कारण क्षुभित हृदय होकर वह अपने आकार (मानसिक भाव) को सदा छिपाये रखता था। उस समय उसकी चेष्टा को देखकर, देखी हुई बात का विश्वास कर क्रोध के वशीभूत हो, घर में जाकर उससे कहा-'अरी पापिनी! दुराचारिणी! कहाँ जा रही थी?' उसने उत्तर दिया कि—'मैं आपके पास से आने पर कहीं नहीं गयी। तुम मद्य पीने के कारण क्यों व्यर्थ ऊटपटांग बकते हो? अथवा ठीक है—

विकलता, भूमि पर गिरना और जो मन में आवे सो (अण्ट-सण्ट) बकना ये सब सन्निपात के चिह्न मद्य प्रकट कर देता है॥ १८८॥

करस्पन्दोऽम्बरत्यागस्तेजोहानिः सरागता ।
वारुणीसङ्गजावस्था भानुनाऽप्यनुभुयते' ॥ १८९ ॥

सोऽपि तच्छ्रुत्वा प्रतिकूलवचनं वेशविपर्ययं चावलोक्य तमाह—'पुंश्चलि, चिरकालं श्रुतो मया तवापवादः। तदद्य स्वयं सञ्जातप्रत्ययस्तव यथोचितं निग्रहं करोमि ।' इत्यभिधाय लगुडप्रहारैस्तां जर्जरितदेहां विधाय स्थूणया सह दृढबन्धनेन बद्ध्वा सोऽपि मदविह्वलो निद्रावशमगमत्। अत्रान्तरे तस्याः सखी नापिती कौलिकं निद्रावशगतं विज्ञाय तां गत्वेदमाह—'सखि, स देवदत्तस्तस्मिन्स्थाने त्वां प्रतीक्षते। तच्छीघ्रमागम्यताम्' इति। सा चाह—'पश्य ममावस्थाम्। तत्कथं गच्छामि। तद्गत्वा ब्रूहि तं कामिनं यदस्यां रात्रौ न त्वया सह समागमः।' नापिती प्राह—'सखि, मा मैवं वद। नायं कुलटाधर्मः उक्तं च—

विषमस्थस्वादुफलग्रहणव्यवसायनिश्चयो येषाम् ।
उष्ट्राणामिव तेषां मन्येऽहं शंसितं जन्म ॥ १९० ॥

करस्पन्दन (हाथ में कँपकपी), कपड़ा खोलकर फेंक देना, शरीरकान्ति-रहित, क्रोध से लाल इस प्रकार मद्यपान से उत्पन्न हुई दशा की समता पश्चिम दिशा के सूर्य से की जाती है। (अस्त होते हुए) सूर्य भी पश्चिम दिशा के संग से झिलमिल आकाशहीन, तेजहीन, और लाल वर्ण का होता है ॥ १८९ ॥

उसने उसे सुनकर उलटी-पुल्टी बात तथा बदले हुए वेश को देखकर कहा—'अरी कुलटे ! बहुत दिनों से मैंने तेरा अयश सुन रखा था। सो आज स्वयं देखकर दृढ़ विश्वास हो गया है। अब तेरा यथोचित अङ्गपूजन करता हूँ। ऐसा कहकर दण्डों की मार से उसके शरीर को जर्जर कर, खम्भे के साथ उसे बाँध दिया। वह भी नशे से अभिभूत होकर निद्रा के वश हो गया (अर्थात् उसे नींद आ गयी)। इस बीच उसकी सखी नाइन, कौलिक को निद्रा के वशीभूत (सोता) जानकर, उसके निकट जाकर यह कहने लगी—'हे सखी ! वह देवदत्त, उस स्थान में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है, अतः शीघ्र आओ !' उसने कहा—'मेरी दशा तो देखो भला मैं किस प्रकार जा सकती हूँ। इसलिए जाकर उस कामी पुरुष से तू ही कह दे कि आज की रात्रि में तुम्हारे साथ समागम न हो सकेगा।' नाइन ने कहा—'सखी ! इस प्रकार न कह, यह व्यभिचारिणी का धर्म नहीं है। कहा है—

जिस प्रकार कठिन स्थान में लगे हुए स्वादिष्ट फलों को ग्रहण करने का

तथा च—संदिग्धे परलोके जनापवादे च जगति बहुचित्रे।
स्वाधीने पररमणे धन्यास्तारुण्यफलभाजः ॥ १९१ ॥
अन्यच्च—यदि भवति दैवयोगात्पुमान्विरूपोऽपि बन्धको रहसि।
न तु कृच्छ्रादपि भद्रं निजकान्तं सा भजत्येव' ॥ १९२ ॥

साब्रवीत्—'यद्येवं तर्हि कथय कथं दृढबन्धनबद्धा सती तत्र गच्छामि। सन्निहितश्चायं पापात्मा मत्पतिः।' नापित्याह—'सखि, मदविह्वलोऽयं सूर्यकरस्पृष्टः प्रबोधं यास्यति। तदहं त्वामुन्मोचयामि। मामात्मस्थाने बद्ध्वा द्रुततरं देवदत्तं सम्भाव्यागच्छ। साब्रवीत्—'एवमस्तु' इति। तदनु सा नापिती तां स्वसखीं बन्धनाद्विमोच्य तस्याः स्थाने यथापूर्वमात्मानं बद्ध्वा तां देवदत्तसकाशे संकेतस्थानं प्रेषितवती। तथानुष्ठिते कौलिकः कस्मिंश्चित्क्षणे समुत्थाय किंचिद्गतकोपो विमदस्तामाह—

ऊँटों का स्वभाव होता है उसी प्रकार दुर्लभ पर-पुरुष-समागम का आनन्द उठाने का जिनका निश्चय दृढ़ होता है, उन्हीं का जन्म मैं ऊँटों के समान प्रशंसा के योग्य समझती हूँ ॥ १९० ॥

और भी—परलोक में क्या होगा, इसमें सन्देह है, इस लोक में अनेक प्रकार की झूठ, सच, अद्भुत लोक निन्दा होती रहती है, पर दूसरे के साथ भोग करना अपने वश की बात है। इसलिए वे ही धन्य हैं जो अपनी युवावस्था का आनन्द प्राप्त करते हैं ॥ १९१ ॥

और भी—यदि भाग्यवश कुरूप पुरुष भी एकान्त में व्यभिचारिणी को प्राप्त हो जाय तो कष्ट से प्राप्य ऐसे पुरुष साथ भी सम्भोग करती है, किन्तु अच्छे (स्वरूपवाले) सुन्दर अपने पति के साथ रमण नहीं करती ॥ १९२ ॥

वह बोली—'यदि ऐसी बात है, तो कह, किस प्रकार मैं दृढ़ बन्धन में बँधी हुई वहाँ जा सकती हूँ। क्योंकि यह पापी मेरा स्वामी समीप ही है।' नाइन के कहा—'हे सखी! नशे में चूर यह मनुष्य सूर्य की किरणों का स्पर्श (प्रातः) होने पर जागेगा। इसलिये मैं तुम्हें छुड़ा देती हूँ। मुझे अपने स्थान पर बाँधकर देवदत्त को मनोरथ पूर्ण कर, अतिशीघ्र आ जा'। उसने कहा—'मैं ऐसा स्वीकार करती हूँ?' इसके पश्चात् उस नाइन ने उस अपनी सखी को बन्धरहित कर, उसके स्थान पर पहले के समान अपने को बँधवाकर, उसे देवदत्त के समीप संकेत-स्थल पर भेज दिया। ऐसा होने पर कुछ देर के बाद कौलिक ने उठकर कुछ क्रोध-रहित हो और नशा दूर होने के बाद कहा—

'हे परुषवादिनि, यदद्य प्रभृति गृहान्निष्क्रमणं न करोषि, न च परुषं वदसि, ततऽस्त्वामुन्मोचयामि।' नापित्यपि स्वरभेदभयाद्यावन्न किंचिदूचे, तावत्सोऽपि भूयो भूयस्तां तदेवाह। अथ सा यावत्प्रत्युत्तरं किमपि न ददौ, तावत्स प्रकुपितस्तीक्ष्णशस्त्रमादाय नासिकामच्छिनत्। आह च—रे पुंश्चलि, तिष्ठेदानीम्। त्वां भूयस्तोषयिष्यामि' इति जल्पन्पुनरपि निद्रावशमगात्। देवशर्मापि वित्तनाशात्क्षुत्क्षामकण्ठो नष्टनिद्रस्तत्सर्वं स्त्रीचरित्रमपश्यत्। सापि कौलिकभार्या यथेच्छया देवदत्तेन सह सुरत-सुखमनुभूय कस्मिंश्चित्क्षणे स्वगृहमागत्य तां नापित्तीमिदमाह—'अयि, शिवं भवत्याः। नायं पापात्मा मम गताया उत्थितः।' नापित्याह—'शिवं नासिकया विना शेषस्य शरीरस्य। तद् द्रुतं तां मोचय बन्धनाद्यावन्नायं मां पश्यति, येन स्वगृहं गच्छामि।' तथानुष्ठिते भूयोऽपि कौलिक उत्थाय तामाह—'पुंश्चलि, किमद्यापि न वदसि। किं भूयोऽप्यतो दुष्टतरं निग्रहं कर्णच्छेदेन करोमि।' अथ सा सकोपं साधिक्षेपमिदमाह—'धिङ्महामूढ, को मां महासतीं धर्षयितुं व्यङ्गयितुं वा समर्थः। तच्छृण्वन्तु सर्वेऽपि लोकपालाः।

'अरी कटुभाषिणी! यदि आज से अब कभी घर से बाहर न निकलेगी और न कठोर बात कहेगी तो मैं तुझे खोल दूँ।' नाइन ने स्वरभेद के सन्देह से जब कुछ उत्तर नहीं दिया तब वह बारम्बार उससे वही कहने लगा। जब उसने कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया तब क्रुद्ध हो, तीक्ष्ण शस्त्र को लेकर कौलिक ने उसकी नाक काट ली और उससे कहा—'अरी व्यभिचारिणी! इस प्रकार ही बँधी रह, अब मैं तेरा अनुनय (खुशामद) न करूँगा।' यह कहकर फिर निद्रा के वशीभूत हो गया। देवशर्मा भी धननाश के कारण, भूख से सूखा हुआ कंठवाला और निद्रारहित होने के कारण यह सब स्त्रीचरित्र देखता रहा। वह कौलिक की स्त्री भी देवदत्त के साथ जी भर सम्भोग कर कुछ समय के पश्चात् अपने घर आकर उस नाइन से बोली—'अरी! तुम्हारा कुशल तो है? यह पापी मेरे जाने पर उठा तो नहीं था?' नाइन ने कहा—'नासिका के अतिरिक्त और शेष शरीर के अवयवों का तो कुशल है। सो तू शीघ्रता से मुझे बन्धन से खोल दे, जिससे यह मुझे न देख ले और मैं अपने घर चली जाऊँ।' वैसा करने के बाद फिर कौलिक ने उठकर उससे कहा—'कुलटे! अब भी क्यों नहीं बोलती? क्या अब इससे कठिन दण्ड कान काटने का दूँ।'

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥१९३॥

तद्यदि मम सतीत्वमस्ति, मनसापि परपुरुषो नाभिलषितः, ततो देवा भूयोऽपि मे नासिकां तादृग्रूपामक्षतां कुर्वन्तु। अथवा यदि मम चित्ते परपुरुषस्य भ्रान्तिरपि भवति, मां भस्मसान्नयन्तु।' एवमुक्त्वा भूयोऽपि तमाह—'भो दुरात्मन्, पश्य मे सतीत्वप्रभावेण तादृश्येव नासिका संवृत्ता।' अथासावुल्मुकमादाय यावत्पश्यति तावत्तद्रूपां नासिकां च भूतले रक्तप्रवाहं च महान्तमपश्यत्। अथ स विस्मितमनास्तां बन्धनाद्विमुच्य शय्यायामारोप्य च चाटुशतैः पर्यतोषयत्। देवशर्मापि तं सर्ववृत्तान्तमालोक्य विस्मितमना इदमाह—

'शम्बरस्य च या माया या माया नमुचेरपि।
बलेः कुम्भीनसेश्चैव सर्वास्ता योषितो विदुः॥ १९४॥

तब उसने क्रोध और फटकार के साथ उत्तर दिया—'धिक्कार है, धिक्कार है! अरे मूर्खराज! मुझ महासती को डाँटने और विकलाङ्ग करने में कौन समर्थ है, अतः अब सब लोकपाल सुन लें—

'सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, यमराज, दिन रात्रि, दोनों सन्ध्याएँ (प्रातः एवं सायंकाल की) और धर्म—ये सब मनुष्यों के चरित्र जानते हैं॥ १९३॥

इसलिए यदि मेरा सतीत्व है, और मन से भी यदि मैंने दूसरे पुरुष की अभिलाषा नहीं की है तो देवता मेरी नासिका फिर से उसी प्रकार अखण्डित कर दें। और यदि मेरे मन में परपुरुष की भ्रान्ति भी हो तो मुझे भस्म कर देवें।' इस प्रकार कहकर फिर उससे कहा—'अरे दुष्टात्मा! देख, मेरे सतीत्व के प्रभाव से मेरी नाक उसी प्रकार (पहले की तरह) हो गयी है।' इसके बाद कौलिक ने ज्यों ही मशाल लेकर देखा तो उसी रूप की नासिका और भूतल पर अत्यधिक रक्तप्रवाह उसे दिखलाई पड़ा। तब आश्चर्यचकित होकर उसने उसे बन्धन से मुक्त कर, शय्या पर बैठाकर, सैकड़ों चाटूक्तियों (मनोहर वचनों) से उसको सन्तुष्ट किया। देवशर्मा ने भी, उस सारी घटना को देखकर आश्चर्यान्वित होकर यह कहा—

जो शम्बर दैत्य की माया है, जो माया नमुचि राक्षस (शुम्भ-निशुम्भ के छोटे भाई) की है, जो बलि (विरोचन के पुत्र) और कुम्भीनसी (लवणासुर

हसन्तं प्रहसन्त्येता रुदन्तं प्ररुदन्त्यपि।
अप्रियं प्रियवाक्यैश्च गृह्णन्ति कालयोगतः॥ १९५॥
उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः।
स्त्रीबुद्ध्या न विशेष्येत तस्माद्रक्ष्याः कथं हि ताः॥ १९६॥
अनृतं सत्यमित्याहुः सत्यं चापि तथानृतम्।
इति यास्ताः कथं धीरैः संरक्ष्याः पुरुषैरिह॥ १९७॥

अन्यत्राप्युक्तम्—
नातिप्रसङ्गः प्रमदासु कार्यो नेच्छेद् बलं स्त्रीषु विवर्धमानम्।
अतिप्रसक्तैः पुरुषैर्यतस्ताः क्रीडन्ति काकैरिव लूनपक्षैः॥ १९८॥
सुमुखेन वदन्ति वल्गुना प्रहरन्त्येव शितेन चेतसा।
मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालाहलं महद्विषम्॥ १९९॥

की माता या लंकेश्वर रावण की मौसी) की माया है—उन सबको स्त्रियाँ जानती हैं॥ १९४॥

ये हँसते हुए के साथ हँसती हैं, रोते हुए के साथ रोती हैं और जैसा अब होता है उसके अनुसार कटु बोलनेवालों को मधुर वाणी से अपने अधीन करती हैं॥ १९५॥

जिस शास्त्र को शुक्राचार्य और बृहस्पति जानते हैं वह शास्त्र स्त्री की बुद्धि से कुछ बाहर की बात नहीं है, अतः उन स्त्रियों की किस प्रकार रक्षा हो सकती है॥ १९६॥

जो स्त्रियाँ झूठ को सच और सच को झूठ बनाती रहती हैं, उनकी इस लोक में धैर्यवान् पुरुष किस प्रकार रक्षा कर सकते हैं॥ १९७॥

किसी दूसरे स्थान पर भी कहा गया है—स्त्रियों में अधिक आसक्ति न करे, उनमें बढ़े हुए बल की इच्छा न करे क्योंकि अत्यधिक आसक्त पुरुषों के साथ, वे इस प्रकार खेल करती हैं जिस प्रकार पंख कटे हुए कौवे के साथ लोग खेलते हैं॥ १९८॥

वे सुन्दर मुख से मनोहर वचन बोलती हैं एवं तीक्ष्ण चित्त से प्रहार करती हैं। स्त्रियों की वाणी में तो मधुरता और हृदय में घोर विष भरा रहता है॥ १९९॥

अत एव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ।
पुरुषैः सुखलेशवञ्चितैर्मधुलुब्धैः कमलं यथालिभिः ॥ २०० ॥

अपि च—

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां
दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।
दुर्ग्राह्यं यन्महद्भिर्नरवरवृषभैः सर्वमायाकरण्डं
स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषममृतयुतं धर्मनाशाय सृष्टम् ॥ २०१ ॥

कार्कश्यं स्तनयोर्दृशोस्तरलताऽलीकं मुखे दृश्यते
कौटिल्यं कचसञ्चये प्रवचने मान्द्यन्त्रिके स्थूलता ।
भीरुत्वं हृदये सदैव कथितं मायाप्रयोगः प्रिये
यासां दोषगणो गुणा मृगदृशां ताः किं नराणां प्रियाः ॥ २०२ ॥

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतो-
र्विश्वासयन्ति च परं न च विश्वसन्ति ।

इसीलिए तो—जिस प्रकार मधु का लोभी भ्रमर कमल का अधर पान करता है और उसके निचले भाग का मर्दन करता है उसी प्रकार सुखलेश से वञ्चित हुए पुरुषों द्वारा उनके अधर का पान किया जाता है और हृदय पर मुष्टिका से ताड़ना दी जाती है ॥ २०० ॥

और भी—सन्देहों का भँवर, अविनय का गृह, साहस का नगर, दोषों का खजाना, कपट शत का स्थान, अविश्वासों का क्षेत्र, जो बड़े-बड़े मनुष्य रूपी बैलों से भी ढोया न जा सके (अर्थात् बड़े बड़े पुरुषों द्वारा सँभालने में अशक्य), सब प्रकार के माया की पिटारी के तुल्य स्त्रीरूपी यन्त्र—जिसमें अमृत और विष दोनों हैं—उसको जगत् में धर्मनाश के लिए किसने निर्माण किया ? ॥ २०१ ॥

स्तनों में कठोरता, नेत्रों में चञ्चलता, मुख में असत्यता, केशों में कुटिलता, वाणी में मन्दता, नितम्बों में स्थूलता, हृदय में भीरुता, स्वामी के साथ सदैव माया का प्रयोग (जादू-टोना आदि) करना, ऐसे जिन मृगलोचनाओं के दोष-समूह भी गुण के समान माने जाते हैं, वे क्या कहीं मनुष्यों की प्रिया हो सकती हैं ? अर्थात् कदापि नहीं ॥ २०२ ॥

ये अपने कार्य साधने के लिए हँसती है, रोती हैं, औरों को विश्वास दिलाती हैं, किन्तु स्वयं किसी का विश्वास नहीं करतीं । इसलिए कुलवान् और शीलवान्

तस्मान्नरेण कुलशीलवता सदैव
नार्यः श्मशानवटिका इव वर्जनीयाः ॥ २०३ ॥
व्यकीर्णकेसरकरालमुखा मृगेन्द्रा
नागाश्च भूरिमंदराजविराजमानाः ।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः
स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥ २०४ ॥
कुर्वन्ति तावत्प्रथमं प्रियाणि यावन्न जानन्ति नरं प्रसक्तम् ।
ज्ञात्वा च तं मन्मथपाशबद्धं ग्रस्तामिषं मीनमिवोद्धरन्ति ॥ २०५ ॥
समुद्रवीचीव चलस्वभावाः संध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागाः ।
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥ २०६ ॥
अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ २०७ ॥

पुरुष को चाहिए कि वे इस प्रकार की स्त्रियों को श्मशानस्थ हाँड़ी के समान छोड़ दें ॥ २०३ ॥

बिखरे हुए गरदन के बालों द्वारा विकराल मुँहवाले सिंह, अत्यन्त मद समूह से मस्त हाथी एवं प्रतिभाशाली और संग्राम में शूर पुरुष भी स्त्री के निकट परम कायर हो जाते हैं ॥ २०४ ॥

जब तक स्त्रियाँ यह नहीं जान लेतीं कि यह पुरुष मुझ पर आसक्त हो गया है, तब तक उनके मन का करती हैं। बाद में जब यह समझ जाती है कि वह काम-पाश में बद्ध हो गया है अर्थात् (मेरे वशीभूत हो गया है) तब जिस प्रकार मांस के लोभ में मछली वंशी में फँसाकर ऊपर खींच ली जाती हैं उसी प्रकार सम्भोग के लोभ में फँसाकर उसे अपने अधीन कर लेती हैं ॥ २०५ ॥

समुद्र की तरङ्गों के समान चञ्चल स्वभाववाली और सन्ध्याकालीन मेघ-रेखा के समान मुहूर्त (क्षण) भर के लिए राग (प्रेम, लाल रूप) दिखाने वाली स्त्रियाँ कृतार्थ होकर (अपना मनोरथ पूरा कर लेने के बाद) धनहीन पुरुष को निष्पीड़ित महावर (आलता रंगविशेष,जिसे सुन्दरियाँ अपने पैरों में लगाती हैं) के समान छोड़ देती हैं ॥ २०६ ॥

असत्य, साहस, माया, मूर्खता अतिलोभ, अपवित्रता और निर्दयता—ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष माने गये हैं ॥ २०७ ॥

सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।
एताः प्रविश्य सरलं हृदयं नराणां
किं वा न वामनयना न समाचरन्ति॥ २०८॥
अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः।
गुञ्जाफलसमाकारा योषितः केन निर्मिताः॥ २०९॥

एवं चिन्तयतस्तस्य परिव्राजकस्य सा निशा महता कृच्छ्रेणातिचक्राम। सा च दूतिका छिन्ननासिका स्वगृहं गत्वा चिन्तयामास—'किमिदानीं कर्तव्यम्। कथमेतन्महच्छिद्रं स्थगयितव्यम्।' अथ तस्या एवं विचिन्तयन्त्या भर्ता कार्यवशाद्राजकुले पर्युषितः प्रत्यूषे च स्वगृहमभ्युपेत्य द्वारदेशस्थो विविधपौरकृत्योत्सुकतया तामाह—'भद्रे, शीघ्रमानीयतां क्षुरभाण्डं येन क्षौरकर्मकरणाय गच्छामि।' सापि छिन्ननासिका गृहमध्यस्थितैव कार्यकरणापेक्षया क्षुरभाण्डात्क्षुरमेकं समाकृष्य तस्याभिमुखं प्रेषयामास। नापितोऽप्युत्सुकतया तमेकं क्षुरमवलोक्य कोपाविष्टः सन्

पहले मोहित करती हैं, बाद प्रेम में मस्त बनाती हैं, कभी ठगती हैं तो कभी घुड़कती हैं, कभी रमण करती हैं तो कभी दिल तोड़ती हैं, मनुष्यों के सरल (कपटरहित) हृदयों में प्रवेश कर, ये कुटिल आँखोंवाली ललनाएँ क्या-क्या अनर्थ नहीं करतीं॥ २०८॥

गुञ्जाफल (घुंघची) के समान भीतर से विषैली और बाहर से देखने में मनोहर स्वरूपवाली ललनाओं का किसने निर्माण किया ?॥ २०९॥

इस प्रकार चिन्ता करते-करते उस संन्यासी की वह रात्रि अत्यधिक क्लेश के साथ बीती। उधर वह नककटी दूती अपने घर जाकर सोचने लगी कि 'अब इस समय मुझे क्या करना चाहिए ? किस प्रकार इस बड़े दोष को गुप्त रखना चाहिए ?' वह इस प्रकार विचार कर रही थी कि उसका पति, जो किसी कार्यवश राजकुल में गया हुआ था, उसी समय सबेरे अपने घर आ पहुँचा। द्वार पर खड़ा होकर बहुतेरे नागरिकों के क्षौरकर्म की उत्कण्ठा के कारण कहने लगा–'हे भद्रे ! शीघ्र छुरे की पेटी ला, जिससे मैं बाल बनाने के लिए जाऊँ।' उस नककटी ने घर के भीतर से ही कार्याधिकता की व्याकुलता प्रकट करती हुई अस्तुरे की पेटी से, एक अस्तूरा निकाल कर वहीं से उसके सामने फेंक दिया। नाई ने केवल एक छुरे को देखते ही क्रुद्ध हो, उस छुरे को उसकी ओर फेंक दिया।

तदभिमुखमेव तं क्षुरं प्राहिणोत्। एतस्मिन्नन्तरे सा दुष्टोर्ध्ववाहू विधाय फुत्कर्तुमना गृहान्निश्चक्राम। 'अहो पश्यत पापेनानेन मम सदाचारवर्तिन्याः नासिकाच्छेदो विहितः। तत्परित्रायताम् परित्रायताम्।' अत्रान्तरे राजपुरुषाः समभ्येत्य तं नापितं लगुडप्रहारैर्जर्जरीकृत्य दृढबन्धनैर्वद्ध्वा तया छिन्ननासिकया सह धर्माधिकरणस्थानं नीत्वा सभ्यानूचुः—'शृण्वन्तु भवन्तः सभासदः, अनेन नापितेनापराधं विना स्त्रीरत्नमेतद्व्यङ्गितम्। तदस्य यद्युज्यते तत्क्रियताम्।' इत्यभिहिते सभ्या ऊचुः—'रे नापित, किमर्थं त्वया भार्या व्यङ्गिता। किमनया परपुरुषोऽभिलषितः, उतस्वित्प्राणद्रोहः कृतः, किंवा चौर्यकर्माचरितम्। तत्कथ्यतामस्या अपराधः।' नापितोऽपि प्रहारपीडिततनुर्वक्तुं न शशाक। अथ तं तूष्णींभूतं दृष्ट्वा पुनः ऊचुः—'अहो, सत्यमेतद्राजपुरुषाणां वचः, पापात्माऽयम्। अनेनेयं निर्दोषा वराकी दूषिता। उक्तं च—

भिन्नस्वरमुखवर्णः शङ्कितदृष्टिः समुत्पतिततेजाः।
भवति हि पापं कृत्वा स्वकर्मसन्त्रासितः पुरुषः॥ २१०॥

फिर क्या था? वह दुष्टा अपने हाथों को ऊपर उठाकर, साँस लेती हुई घर के बाहर निकल पड़ी और कहने लगी—'अरे लोगो! देखो इस पापी ने (छूरा फेंककर) मुझ जैसी सदाचारिणी की नाक काट डाली है। बचाओ! बचाओ!! उसके बाद सिपाहियों ने आकर उस नाई को दण्डों के प्रहार से पीटकर, मजबूत बन्धन में बाँधकर, उस नककटी के साथ न्यायाधीश के पास ले जाकर वहाँ सभ्यों से कहा—हे सभासदो! आप लोग सुनिये। इस नापित ने बिना अपराध के इस स्त्री को विकलाङ्ग कर दिया है। अतः जो उचित न्याय हो वह कीजिए।' इतना कहने पर सभ्यों ने कहा—'अरे नाई! तूने किसलिए अपनी स्त्री को विकलांग कर दिया है? क्या इसने दूसरे पुरुष की अभिलाषा की? या प्राणनाश की चेष्टा की? अथवा चोरी की? इसका अपराध बता।' नाई को शरीर में मार के कारण अत्यधिक कष्ट था इसलिए वह कुछ न कह सका। तब उसको मौन ग्रहण किये देखकर पुनः सभ्यों ने कहा—'अरे सिपाहियों की बात ठीक है। यह पापी है। इसने इस दोषरहित विचारी को नाहक दूषित किया है? कहा भी है—

कण्ठ स्वर का बदल जाना, मुखाकृति बिगड़ जाना, आँखों में शंकाभाव

तथा च—

आयाति स्खलितैः पादैर्मुखवैवर्ण्यसंयुतः ।
ललाटस्वेदभाग् भूरि गद्गदं भाषते वचः ॥ २११ ॥
अधोदृष्टिर्वदेत्कृत्वा पापं प्राप्तः सभां नरः ।
तस्माद्यत्नात्परिज्ञेयाश्चिह्नैरेतैर्विचक्षणैः ॥ २१२ ॥

अन्यच्च—प्रसन्नवदनो दृष्टः स्पष्टवाक्यः सरोषदृक् ।
सभायां वक्ति सामर्षं सावष्टम्भो नरः शुचिः ॥ २१३ ॥

'तदेष दुष्टचरित्रलक्षणो दृश्यते । स्त्रीधर्षणाद्वध्य इति । तच्छूलीयामारोप्यताम्' इति । अथ वध्यस्थाने नीयमानं तमवलोक्य देवशर्मा तान्धर्माधिकृतान्गत्वा प्रोवाच—'भो भोः, अन्यायेनैष वराको वध्यते नापितः । साधुसमाचार एषः । तच्छ्रूयतां मे वाक्यम्—'जम्बूको हुडुयुद्धेन' इति । अथ ते सभ्या ऊचुः—'भो भगवन्, कथमेतत् ?' ततो देवशर्मा तेषां त्रयाणामपि वृत्तान्तं विस्तरेणाकथयत् । तदाकर्ण्य सुविस्मितमनसस्ते नापितं विमोच्य मिथः प्रोचुः—'अहो !

दीखना और तेज नष्ट हो जाना—ये सब बातें पाप (चोरी, हत्या आदि) करने के बाद अपने कुकृत्यों से डरे हुए पुरुषों में पायी जाती हैं ॥ २१० ॥

और भी—इस प्रकार का अपराधी लड़खड़ाते पावों से चलता है, उसके चेहरे पर रङ्ग फीका पड़ जाता है, ललाट पर पसीना आ जाता है और बोलने में ऊटपटांग बातें निकलती हैं ॥ २११ ॥

यदि कोई पुरुष पाप करके पंचायत में जाता है, तो उसकी दृष्टि नीची हो जाती है, अतः इन चिह्नों से अधिकारी पुरुषों को चाहिये कि यत्नपूर्वक इन्हें समझें ॥ २१२ ॥

और भी जो—निरपराधी मनुष्य होता है वह कचहरी में प्रसन्नमुख, हर्षयुक्त, स्पष्ट वचन बोलने वाला, क्रोधयुक्त दृष्टिवाला और धैर्य के साथ सभा के बीच में क्रोध से बोलता है ॥ २१३ ॥

अतः स्वरूप से यह दुराचारी प्रतीत होता है । स्त्री के अपमानित करने के कारण यह मार डालने योग्य है । इसलिये इसे शूली पर चढ़ा दो ।' इसके बाद वध्यभूमि को ले जाये जाते हुए उसे देखकर देवशर्मा ने उन धर्माधिकारियों के पास जाकर कहा—'अरे भाई ! अन्याय से यह गरीब मारा जा रहा है । यह नाई सज्जन के समान व्यवहार करनेवाला है । अतः मेरी बात सुनिये । 'जम्बूक

अवध्या ब्राह्मणो बालः स्त्री तपस्वी च रोगभाक् ।
विहिता व्यङ्गिता तेषामपराधे महत्यपि ॥ २१५ ॥

तदस्या नासिकाच्छेदः स्वकर्मणा हि संवृत्तः । ततो राजनिग्रहस्तु कर्णच्छेदः कार्यः । तथानुष्ठिते देवशर्मापि वित्तनाशसमुद्भूतशोकरहितः पुनरपि स्वकीयं मठायतनं जगाम । अतोऽहं ब्रवीमि—'जम्बूको हुडुयुद्धेन' इति । 'करटक आह—'एवंविधे व्यतिकरे किं कर्तव्यमावयोः' । दमनकोऽब्रवीत्—'एवं विधेऽपि समये मम बुद्धिस्फुरणं भविष्यति, येन संजीवकं प्रभोर्विश्लेषयिष्यामि । उक्तं च यतः—

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतः सृष्टा हन्ति राष्ट्रं सनायकम् ॥ २१५ ॥

तदहं मायाप्रपञ्चेन गुप्तमाश्रित्य तं स्फोटयिष्यामि ।' करटक आह—'भद्र, यदि कथमपि तव मायाप्रवेशं पिङ्गलको ज्ञास्यति, संजीवको वा

हुडुयुद्ध से' इत्यादि । इसके पश्चात् उन सभासदों ने कहा—'भगवन् ! यह कौन सी बात है ?' तब देवशर्मा ने उन तीनों का कथा विस्तारपूर्वक कही । उसे सुनकर आश्चर्यचकित हो उन लोगों ने नाई को छुड़वाकर परस्पर कहना प्रारम्भ किया कि 'अहो !

ब्राह्मण, बालक, स्त्री, तपस्वी और रोगी—ये वध करने योग्य नहीं हैं । इनका कोई बड़ा अपराध हो तब भी अङ्ग-भङ्ग करना ही धर्मशास्त्रियों ने बताया है ॥ २१४ ॥

तो इसका नासिका-छेदन तो अपनी करनी से ही हो गया है । अब राजदण्डस्वरूप इसके कान काट दिये जायें ।' ऐसा हो जाने पर देवशर्मा भी धन के नाश से उत्पन्न हुए शोक से रहित होकर पुनः अपने स्थान को चला गया । इसलिए मैं कहता हूँ कि—'जम्बूक हुडुयुद्ध द्वारा' इत्यादि । करटक ने कहा—'इस प्रकार की अवस्था प्राप्त होने पर हम दोनों को क्या करना चाहिए ? दमनक ने कहा—'ऐसे समय में भी मेरी बुद्धि स्फुरित होगी जिसमें सञ्जीवक को स्वामी से पृथक् कर दूँगा । क्योंकि कहा भी है—

धनुर्धारी के धनुष से छूटा हुआ बाण चाहे किसी एक को मारे या न मारे, किन्तु नीतिज्ञ बुद्धिमानों की बुद्धि से किया हुआ कार्य राजा सहित समस्त राज्य को नष्ट कर देता है ॥ २१५ ॥

अतः मैं माया-प्रपञ्च द्वारा, गुप्तरूप से षड्यन्त्र रचकर फूट डाल दूँगा ।'

तदा नूनं विघात एव।' सोऽब्रवीत्—'तात, मैवं वद। गूढबुद्धिभिरापत्काले विधुरेऽपि दैवे बुद्धिः प्रयोक्तव्या। नोद्यमस्त्याज्यः। कदाचिद् घुणाक्षरन्यायेन बुद्धेः साम्राज्यं भवति। उक्तं च—

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि दैवे धैर्यात्कदाचित्स्थितिमाप्नुयात्सः।
याते समुद्रेऽपि हि पोतभङ्गे सांयात्रिको वाञ्छति कर्म एव ॥ २१६ ॥

तथा च—उद्योगिनं सततमत्र समेति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ॥ २१७ ॥

तदेवं ज्ञात्वा सुगूढ़बुद्धिप्रभावेण यथा तौ द्वावपि न ज्ञास्यतः, तथा मिथो वियोजयिष्यामि। उक्तं च—

करटक ने कहा—'भद्र ! यदि किसी प्रकार तुम्हारी माया (कपटाचरण) को पिङ्गलक या सञ्जीवक ही जान जाय तो अवश्य ही व्याघात (विनाश) होगा।' उसने कहा—'तात! इस तरह न कहिए। कूटबुद्धि द्वारा आपत्ति-समय में विधाता के प्रतिकूल होने पर भी बुद्धिमान को चाहिए कि अपनी बुद्धि का प्रयोग करे। उद्योग को छोड़ देना समुचित नहीं है। कभी-कभी घुणाक्षरन्याय (घुन के काटने से बने अक्षर) से बुद्धि द्वारा साम्राज्य तक प्राप्त हो जाता है। कहा भी है—

भाग्य के प्रतिकूल होने पर भी धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि धैर्य से कदाचित् किसी स्थिति की प्राप्ति हो जाय। जिस प्रकार समुद्र में जहाज डूबने पर (इतना खतरा उठाने पर) भी व्यवसायी गण अपने व्यापार करने की अभिलाषा करते ही हैं (अपने समुद्री व्यापार को कभी नहीं छोड़ते) ॥ २१६ ॥

और भी—उद्योग में तत्पर मनुष्य को इस लोक में सदा लक्ष्मी प्राप्त होती रहती है। 'भाग्य भाग्य' (सब कुछ है) ऐसा कायर पुरुष कहा करते हैं। भाग्य को ठुकरा कर अपनी शक्ति भर पुरुषार्थ करो। प्रयत्न करने पर भी यदि कार्य सिद्ध न हो तो इसमें कौन सी त्रुटि रह गई है इसका अनुसन्धान करना चाहिए ॥ २१७ ॥

अतः इस प्रकार जानकर अपनी निगूढ बुद्धि के प्रभाव जिस प्रकार वे दोनों न जानने पावें, उस प्रकार उनको परस्पर पृथक् करा दूँगा। कहा भी है—

सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति।
'कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते' ॥ २१८ ॥

करटक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

कथा ५

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कौलिकरथकारौ मित्रे प्रतिवसतः स्म। तत्र च तौ बाल्यात्प्रभृति सहचारिणौ परस्परमतीव स्नेहपरौ सदैकस्थानविहारिणौ कालं नयतः। अथ कदाचित्तत्राधिष्ठाने कस्मिंश्चिद्देवायतने यात्रामहोत्सवः संवृत्तः। तत्र च नटनर्तकचारणसंकुले नानादेशागतजनावृते तौ सहचरौ भ्रमन्तौ काञ्चिद्राजकन्यां करेणुकारूढां सर्वलक्षणसनाथां कञ्चुकिवर्षधर-परिवारितां देवतादर्शनार्थं समायातां दृष्टवन्तौ। अथासौ कौलिकस्तां दृष्ट्वा विषार्दित इव दुष्टग्रहगृहीत इव कामशरैर्हन्यमानः सहसा भूतले निपपात। अथ तं तदवस्थमवलोक्य रथकारस्तद्दुःखदुःखित आप्तपुरुषैस्तं

भली भाँति छिपाकर किये पाखण्ड के अन्त को ब्रह्मा भी नहीं जान सकते। 'जिस प्रकार एक कौलिक (जुलाहा) विष्णु का रूप धारण करके राजकन्या से रमण करता था' ॥ २१८ ॥

करटक ने कहा 'यह कैसी कथा है ?' उसने कहा—

किसी नगर में कौलिक (जुलाहा) और गाड़ी बनानेवाला (बढ़ई) ये दोनों मित्र रहा करते थे। वहीं वे बचपन से ही एक संग रहते, परस्पर अत्यधिक स्नेह करते और बराबर एक स्थान में आमोद-प्रमोद करते हुए समय बिताते थे। किसी समय उसी जगह किसी देवमन्दिर में यात्रा का महोत्सव हुआ। वहाँ नट, नर्त्तक (नाचनेवाले) और चारणों (स्तुतिपाठक-भाटों) से युक्त, विविध देशों से आये हुए मनुष्यों से भरे उस महोत्सव में उन दोनों मित्रों ने भ्रमण करते हुए किसी राजकन्या को देखा—जो हथिनी पर चढ़ी हुई, सब सामुद्रिक लक्षणों से संयुत, कञ्चुकी (अन्तःपुर के वृद्ध ब्राह्मण), वर्षधर (अन्तःपुर की रक्षा करनेवाले नपुंसक—हिजड़े) आदि सेवकों के सहित देव-दर्शन के लिए आयी हुई थी। इसके अनन्तर वह जुलाहा उस राजपुत्री को देखकर, विष से व्यथित हुए के समान अथवा दुष्टग्रह (पूतना आदि) से पकड़े हुए के समान, कामदेव के बाणों से घायल होकर एकाएक पृथ्वी पर गिर पड़ा।

समुत्क्षिप्य स्वगृहमानाययत्। तत्र च विविधैः शीतोपचारैश्चिकित्सकोपदिष्टैर्मन्त्रवादिभिरुपचर्यमाणश्चिरात्कथंचित्सचेतनो बभूव। ततो रथकारेण पृष्टः—'भो मित्र, किमेवं त्वमकस्माद्विचेतनः सञ्जातः। तत्कथ्यतामात्मस्वरूपम्'। स आह—'वयस्य, यद्येवं तच्छृणु मे रहस्यं येन सर्वामात्मवेदनां ते वदामि। यदि त्वं मां सुहृदं मन्यसे ततः काष्ठप्रदानेन प्रसादः क्रियताम्। क्षम्यतां यद्वा किंचित्प्रणयातिरेकादयुक्तं तव मयानुष्ठितम्।' सोऽपि तदाकर्ण्य बाष्पपिहितनयनः सगद्गदमुवाच—'वयस्य, यत्किंचिद् दुःखकारणं तद्वद येन प्रतीकारः क्रियते यदि शक्यते कर्तुम्। उक्तं च—

औषधार्थसुमन्त्राणां बुद्धेश्चैव महात्मनाम्।
असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यद् ब्रह्माण्डस्य मध्यगम् ॥ २१९ ॥

'तदेषां चतुर्णां यदि साध्यं भविष्यति तदाहं साधयिष्यामि।' कौलिक आह—'वयस्य' एतेषामन्येषामपि सहस्राणामुपायानामसाध्यं तन्मे दुःखम्।

तदनन्तर उसकी उस दशा को देखकर रथकार (बढ़ई) उसके दुःख से दुःखित हो, आप्त (अपने सच्चे हितैषी) व्यक्तियों द्वारा उसे उठवा कर अपने घर ले आया। वहाँ सद्वैद्यों द्वारा आज्ञा दी हुई अनेक तरह की शीत (श्रीखण्ड, चन्दन, खश, कपूर आदि ठंढे उपचार) चिकित्सा, और मन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग करने वाले गुणियों की सेवा से कुछ समय के बाद उसे कुछ चेतना हुई। तब रथकार ने पूछा—'हे मित्र! क्या कारण है कि तुम एकाएक बेहोश हो गए? सो अपनी हालत कहो।' उसने कहा—'हे मित्र! यदि ऐसी बात है तो मेरा रहस्य (गोपनीय) विषय सुनिए जिससे मैं अपनी समस्त मानसी पीड़ा को आप से कहता हूँ। यदि आप मुझे अपना मित्र मानते हैं तो मेरे लिए चिता बनाकर मेरे ऊपर कृपा कीजिए, तथा स्नेह के कारण जो कुछ मैंने आप से अनुचित व्यवहार किया हो उसे क्षमा कर दीजिए।' उसने भी उसे सुनकर नेत्रों में आँसू भर कर गद्गद कण्ठ से कहा—'मित्र! जो कुछ दुःख का कारण हो, उसे बताओ, जिससे यदि हो सके तो उसका प्रतीकार (समुचित उपचार) कर दिया जाय। कहा भी है—

इस लोक में अथवा ब्रह्माण्ड भर में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो औषधि, धन, सुन्दर मन्त्रणा (अच्छे मन्त्र-तन्त्र या सलाह) और महात्मा पुरुषों की बुद्धि के आगे असाध्य हो ॥ २१९ ॥

इसलिए इन चार उपायों में से किसी उपाय से यदि तुम्हारा कार्य साध्य

तस्मान्मम मरणे मा कालक्षेपं कुरु।' रथकार आह—'भो मित्र, यद्यप्यसाध्यं तथापि निवेदय येनाहमपि तदसाध्यं मत्वा त्वया समं वह्नौ प्रविशामि। न क्षणमपि त्वद्वियोगं सहिष्ये। एष मे निश्चयः।' कौलिक आह—'वयस्य, यासौ राजकन्या करेणुमारूढा तत्रोत्सवे दृष्टा, तस्या दर्शनानन्तरं मकरध्वजेन मयेयमवस्था विहिता। तन्न शक्नोमि तद्वेदनां सोढुम्।' तथा चोक्तम्—

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुङ्कुमार्द्रे
तस्याः पयोधरयुगे रतिखेदखिन्नः।
वक्षो निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्ती
स्वप्स्ये कदा क्षणमवाप्य तदीयसङ्गम्॥ २२०॥

तथा च—

रागी बिम्बाधरोऽसौ स्तनकलशयुगं यौवनारूढगर्वं
नीचा नाभिः प्रकृत्या कुटिलकमलकं स्वल्पकं चापि मध्यम्।
कुर्वन्त्वेतानि नाम प्रसभमिह मनश्चिन्तितान्याशु खेदं
यन्मां तस्याः कपोलौ दहत इति मुहुः स्वच्छकौ तन्न युक्तम्'॥२२१॥

होगा तो मैं उसे सिद्ध करूँगा।' कौलिक ने कहा—'मित्र! इन (उपर्युक्त चारों) तथा अन्य हजारों उपायों से भी मेरा दुःख असाध्य (मिटाने योग्य नहीं) है। अतः मेरे मरने में व्यर्थ समय मत बिताओ।' रथकार ने कहा—'यद्यपि असाध्य है, तो भी बताओ, जिससे मै भी उसे असाध्य मानकर तुम्हारे साथ अग्नि में प्रवेश करूँ, क्योंकि क्षणमात्र भी तुम्हारा वियोग मैं न सह सकूँगा, यह मेरा निश्चय है।' कौलिक ने कहा—'मित्र! उस महोत्सव में हथिनी पर चढ़ी हुई जो वह राजपुत्री मैंने देखी थी, उसे देखते ही मकरध्वज (कामदेव) ने मेरी यह दशा कर दी। सो उस काम-पीड़ा को मैं सहन करने में समर्थ नहीं हूँ! ऐसा कहा भी है—

मतवाले हाथी के कुम्भ (हाथी के मस्तक के दो मांस के गोले) के समान विस्तृत, कुंकुम से आर्द्र, उसके दोनों स्तनों पर, सम्भोग के परिश्रम के कारण परिश्रान्त हुआ मैं, उसकी दोनों भुजाओं के बीच अपने वक्षःस्थल (छाती) को रखकर, क्षणमात्र के लिए भी उसके संग को प्राप्त कर कब सोऊँगा?॥ २२०॥

और भी—बिम्ब के फल के समान स्वयं रागयुक्त उसके लाल अधर, कलश के समान दोनों स्तन, युवावस्था प्राप्त होने का अभिमान (मस्ती), अति-

रथकारोऽप्येवं सकामं तद्वचनमाकर्ण्यं सस्मितमिदमाह—'वयस्य, यद्येवं तर्हि दिष्ट्या सिद्धं नः प्रयोजनम्। तदद्यैव तया सह समागमः क्रियताम्' इति। कौलिक आह—'वयस्य, यत्र कन्यान्तःपुरे वायुं मुक्त्वा नान्यस्य प्रवेशोऽस्ति तत्र रक्षापुरुषाधिष्ठिते कथं मम तया सह समागमः। तत्किं मामसत्यवचनेन विडम्बयसि।' रथकार आह—'मित्र, पश्य मे बुद्धिबलम्।' एवमभिधाय तत्क्षणात्कीलसञ्चारिणं वैनतेयं बाहुयुगलं वायुजवृक्षदारुणा शङ्खचक्रगदापद्मान्वितं सकिरीटकौस्तुभमघटयत्। ततस्तस्मिन्कौलिकं समारोप्य विष्णुचिह्नितं कृत्वा कीलसञ्चरणविज्ञानं च दर्शयित्वा प्रोवाच—'वयस्य, अनेन विष्णुरूपेण गत्वा कन्यान्तःपुरे निशीथे तां राजकन्यामेकाकिनीं सप्तभूमिकप्रासादप्रान्तगतां मुग्धस्वभावां त्वां वासुदेवं मन्यमानां स्वकीयमिथ्यावक्रोक्तिभी रञ्जयित्वा वात्स्यायनोक्त-

---

गम्भीर नाभि, स्वाभाविक कुटिल केश और अत्यधिक पतली कटि आदि ये स्मरण करने से ही मन में खेद उत्पन्न करते हैं, यह उचित ही है किन्तु उसके दोनों विमल कपोल जो मुझे बारम्बार दग्ध कर रहे हैं, यह उचित नहीं है॥ २२१॥

रथकार ने भी इस तरह उसके कामपूर्ण वचनों को सुनकर मुस्कराते हुए यह कहा—'सखे! यदि ऐसी बात है तो सौभाग्य से हमारा मनोरथ सिद्ध हुआ समझ लो। आज ही उस (राजकन्या) के साथ समागम (सम्भोग) करो।' कौलिक ने कहा—'मित्र! जिस कन्या के अन्तःपुर में वायु को छोड़कर किसी दूसरे का प्रवेश नहीं है वहाँ पर पहरा देनेवालों के रहते हुए किस प्रकार मेरा उसके साथ समागम हो सकता है। सो मुझे झूठी बात से क्यों धोखा दे रहे हो?' रथकार ने कहा—'वयस्य! मेरे बुद्धिबल को देखो।' इस प्रकार कह कर तत्काल ही वायुज (साल्हें) वृक्ष की लकड़ी का बना हुआ, कील चलाने से उड़नेवाला गरुड़, दो भुजाएँ, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म के साथ किरीट और कौस्तुभमणि को उसने बनाया। उसके बाद कौलिक को उस पर चढ़ाकर, विष्णु के चिह्नों से अङ्कित कर, कील चलाने की युक्ति सिखाकर उसने कहा—'सखे! इस विष्णुरूप द्वारा कन्या के अन्तःपुर में जाकर आधीरात के समय सप्त-भूमिक (सात चौकवाले) प्रासाद के अन्तिम भाग में अकेली रहनेवाली मुग्ध स्वभाववाली (भोली भाली), तथा तुम्हें वासुदेव (भगवान्) मानने वाली उस राजकुमारी को तुम अपने झूठे प्रिय वचनों से प्रसन्न कर वात्स्यायन मुनि-

विधिना भज।' कौलिकोऽपि तदाकर्ण्य तथारूपस्तत्र गत्वा तामाह—'राजपुत्रि, सुप्ता किं वा जागर्षि। अहं तव कृते समुद्रात्सानुरागो लक्ष्मीं विहायैवागतः। तत्क्रियतां मया सह समागमः' इति। सापि गरुडारूढं चतुर्भुजं सायुधं कौस्तुभोपेतमवलोक्य सविस्मया शयनादुत्थाय प्रोवाच—भगवन्, अहं मानुषी कोटिकाशुचिः। भगवांस्त्रैलोक्यपावनो वन्दनीयश्च। तत्कथमेतद्युज्यते।' कौलिक आह—'सुभगे, सत्यमभिहितं भवत्या। परं किं तु राधा नाम मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथममासीत्, सा त्वमत्रावतीर्णा। तेनाहमत्रायातः।' इत्युक्ता सा प्राह—'भगवन्, यद्येवं तन्मे तातं प्रार्थय। सोऽप्यविकल्पं मां तुभ्यं प्रयच्छति। कौलिक आह—सुभगे, नाहं दर्शनपथं मानुषाणां गच्छामि। किं पुनरालापकरणम्। त्वं गान्धर्वेण विवाहेनात्मानं प्रयच्छ। नो चेच्छापं दत्त्वा सान्वयं ते पितरं भस्मसात्करिष्यामि' इति। एवमभिधाय गरुडादवतीर्य सव्ये पाणौ गृहीत्वा तां सभयां सलज्जां

निर्मित कामसूत्र के विधान से उससे सम्भोग करो।' कौलिक ने उसे सुनकर उस रूप में वहाँ जाकर, उस (राजकन्या) से कहा—'राजपुत्रि! तुम सोती हो या जागती हो? मैं तुम्हारे लिए क्षीरसमुद्र से लक्ष्मी को छोड़कर, स्नेहपूर्वक यहाँ आया हूँ। अतः मेरे साथ समागम (सम्भोग) करो।' उस (राजकन्या) ने चतुर्भुज, आयुधसहित और कौस्तुममणि संयुक्त उसे गरुड़ पर चढ़े हुए देखकर आश्चर्यान्वित हो, सोयी हुई अवस्था से उठ कर कहा—'मैं कीड़े के समान अपवित्र एक मनुष्य जाति की कन्या हूँ, और भगवान् (आप) तीनों लोक को पवित्र करनेवाले तथा तीनों लोकों के मनुष्यों द्वारा नमस्कार करने योग्य हैं। सो यह सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है।' कौलिक ने कहा—'सुन्दरी! तुमने सत्य कहा किन्तु राधा नाम की मेरी पत्नी पहले गोपकुल में उत्पन्न हुई थी, वही तुम इस समय यहाँ पर इस रूप में अवतीर्ण हुई हो। इसलिए मैं यहाँ आया हूँ।' इस प्रकार कही जाने पर उसने कहा—'भगवन्! यदि यह बात है तो मेरे पिता से प्रार्थना कीजिए। वे मुझे आपको निःसन्देह दे देंगे।' कौलिक ने कहा—'सुलक्षणे! मैं मनुष्यों को दृष्टिगोचर (आँखों के सामने) नहीं होता, फिर वार्तालाप करने की तो बात ही और है! तुम गान्धर्व विवाह की रीति से मुझे अपने को सौंप दो, नहीं तो शाप देकर तुम्हारे पिता को कुलसहित भस्म कर दूँगा।' इस प्रकार कह कर गरुड़ से उतर कर उस भयभीत, लज्जावती, काँपती

वेपमानां शय्यायामानयत्। ततश्च रात्रिशेषं यावद्वात्स्यायनोक्तवधिना निषेव्य प्रत्यूषे स्वगृहमलक्षितो जगाम। एवं तस्य तां नित्यं सेवमानस्य कालो याति। अथ कदाचित्कञ्चुकिनस्तस्या अधरोष्ठप्रबालखण्डनं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः—अहो, पश्यतास्या राजकन्यायाः पुरुषोपभुक्ताया इव शरीरावयवा विभाव्यन्ते। तत्कथमयं सुरक्षितेऽप्यस्मिन्गृह एवविधो व्यवहारः। तद्राज्ञे निवेदयामः।' एवं निश्चित्य सर्वे समेत्य राजानं प्रोचुः—देव, वयं न विद्मः। परं सुरक्षितेऽपि कन्यान्तःपुरे कश्चित्प्रविशति। तद् देवः प्रमाणम्' इति। तच्छ्रुत्वा राजातीव व्याकुलितचित्तो व्यचिन्तयत्—

पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता कस्मै प्रदेयेति महान्वितर्कः।
दत्त्वा सुखं प्राप्स्यति वा न वेति कन्या पितृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥२२२॥

हुई राजकुमारी का बायाँ हाथ पकड़ कर उसे शय्या पर ले आया। उसके बाद रात भर वात्स्यायन मुनि के द्वारा बताई हुई विधि से सम्भोग कर, उषःकाल (बहुत तड़के) में अलक्षित होकर अपने घर चला गया। इस तरह उसके साथ प्रतिदिन रमण करते हुए उस कौलिक (जुलाहे) का समय व्यतीत होने लगा। उसके बाद किसी दिन कञ्चुकी लोग उसके अधरोष्ठप्रवाल (मूँगे के समान रक्त अधर) को खण्डित देखकर एकान्त में परस्पर कहने लगे—'अहो! देखो तो राजकन्या के शरीर के प्रत्येक भाग मनुष्य से उपभोग किए हुए के समान प्रतीत हो रहे हैं। सो किस तरह इस भवन में भलीभाँति पहरा होने पर भी इस प्रकार कार्य हुआ। इसलिए हम लोग राजा से निवेदन कर दें।' इस प्रकार निश्चय कर वे सब एकत्रित होकर राजा से बोले—स्वामिन्! हम लोग नहीं जानते, किन्तु कन्या के अन्तःपुर के पूर्णरूप से सुरक्षित होने पर भी कोई उसमें प्रवेश करता है, सो इसमें महाराज ही प्रमाण हैं।' (अर्थात् श्रीमान् ही मालिक हैं जैसा चाहें, वैसा करें।) उसे सुन कर राजा अत्यन्त व्याकुल होकर सोचने लगा—

इस संसार 'कन्या उत्पन्न हुई' बस इतने ही से बड़ी भारी चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। इसे किसे देना चाहिए' इस प्रकार की समस्या मन में बहुत जोर शोर से उत्पन्न होती है। 'कन्यादान कर देने पर भी (पति से) सुख पावेगी या नहीं' ऐसा मन में सन्देह उत्पन्न होता है। इसलिए सचमुच कन्या का पिता होना ही कष्टदायक है॥ २२२॥

नद्यश्च नार्यश्च सदृक्प्रभावास्तुल्यानि कूलानि कुलानि तासाम् ।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः ॥ २२३ ॥
जननीमनो हरति जातवती परिवर्धते सह शुचा सुहृदाम् ।
परसात्कृतापि कुरुते मलिनं दुरितक्रमा दुहितरो विपदः' ॥ २२४ ॥

एवं बहुविधं विचिन्त्य देवीं रहःस्थां प्रोवाच—देवि, ज्ञायतां किमेते कञ्चुकिनो वदन्ति । तस्य कृतान्तः कुपितो येनैतदेवं क्रियते ।' देव्यपि तदाकर्ण्य व्याकुलीभूता सत्वरं कन्यान्तःपुरे गत्वा तां खण्डिताधरां नखविलिखितशरीरावयवां दुहितरमपश्यत् । आह च—'आः पापे कुलकलङ्ककारिणि, किमेवं शीलखण्डनं कृतम् । कोऽयं कृतान्तावलोकितस्त्वत्सकाशमभ्येति । तत्कथ्यतां ममाग्रे सत्यम् ।' इति कोपाटोपविसङ्कटं वदत्यां मातरि राजपुत्री भयलज्जानताननं प्रोवाच—'अम्ब, साक्षान्नारायणः

नदियों और नारियों का प्रभाव समान होता है । नदियों के दोनों कूल (किनारे) स्त्रियों के दोनों कुल (मातृ-पितृकुल) के समान हैं । क्योंकि नदियाँ जल से अपने दोनों किनारों को, और नारियाँ दोषों से अपने दोनों कुलों को पतित करती हैं ॥ २२३ ॥

और भी—कन्या उत्पन्न होते ही माता के मन को हरती (चिन्तित करती) है, और कुटुम्बियों के शोक के साथ बढ़ती है तथा पति द्वारा पराधीन रहकर भी निन्दित कर्म कर डालती है, अतएव कन्यारूपी विपत्ति के पार जाना बहुत कठिन है ॥ २२४ ॥

इस तरह अनेक प्रकार से विचार कर राजा ने एकान्त में बैठी हुई रानी से कहा—'महारानी ! पता तो लगाओ कि कञ्चुकी लोग जो कहते हैं क्या वह सत्य है ? जो इस तरह का कार्य करता है उसके ऊपर काल नाच रहा है ।' महारानी ने भी इस बात को सुन व्याकुल होकर, शीघ्र ही कन्या के अन्तःपुर में जाकर उस खण्डित अधरवाली, नखों के चिह्न से अङ्कित शरीर के प्रत्येक अवयवों वाली, अपनी कन्या को देखा और कहने लगी—'अरी पापिनी ! कुल में कलङ्क लगानेवाली ! तूने इस प्रकार अपना चरित्र क्यों नष्ट कर लिया ? यमराज द्वारा देखा गया (अर्थात् जिसके ऊपर काल नाच रहा है, ऐसा) कौन व्यक्ति तेरे समीप आता है ? सो मुझसे ठीक-ठीक कह ।' इस तरह क्रोध से आक्रान्त, निष्ठुर वाक्य कहने वाली अपनी माता से भय और लज्जा के कारण, मस्तक झुकाए हुई राजकन्या ने कहा—'माता जी ! साक्षात् नारायण प्रतिदिन, गरुड़

प्रत्यहं गरुडारूढो निशि समायाति। चेदसत्यं मम वाक्यम्, तत्स्व-चक्षुषा विलोकयतु निगूढतरा निशीथे भगवन्तं रमाकान्तम्। तच्छ्रुत्वा सापि प्रहसितवदना पुलकाङ्कितसर्वाङ्गी सत्वरं राजानमूचे—'देव, दिष्ट्या वर्धसे। नित्यमेव निशीथे भगवान्नारायणः कन्यकापार्श्वेऽभ्येति। तेन गान्धर्वविवाहेन सा विवाहिता। तदद्य त्वया मया च रात्रौ वाता-यनगताभ्यां निशीथे द्रष्टव्यः, यतो न स मानुषैः सहालापं करोति।' तच्छ्रुत्वा हर्षि.स्य राज्ञस्तद्दिनं वर्षशतप्रायमिव कथञ्चिज्जगाम। ततस्तु रात्रौ निभृतो भूत्वा राज्ञीसहितो राजा वातायनस्थो गगनासक्तदृष्टिर्या-वत्तिष्ठति, तावत्तस्मिन्समये गरुडारूढम् तं शङ्खचक्रगदापद्महस्तं यथोक्त-चिह्नाङ्कितं व्योम्नोऽवतरन्तं नारायणमपश्यत्। ततः सुधापूरप्लावित-मिवात्मानं मन्यमानस्तामुवाच—'प्रिये, नास्त्यन्यो धन्यतरो लोके मत्तस्त्वत्तश्च, तत्प्रसूतिं नारायणो भजते। तत्सिद्धाः सर्वेऽस्माकं मनो-रथाः। अधुना जामातृप्रभावेण सकलामपि वसुमतीं वश्यां करिष्यामि।' एवं निश्चित्य सर्वैः सीमाधिपैः सह मर्यादाव्यतिक्रममकरोत्। ते च तं

पर चढ़कर, रात्रि में मेरे निकट आते हैं। यदि मेरी बात झूठ समझती हो तो छिपे-छिपे आधी रात आकर अपनी आँखों से भगवान् रमाकान्त को देख लीजिए।' उसे सुनकर वह हँसते हुए मुख से, समस्त अवयव में रोमाञ्चवाली, शीघ्रता से पहुँचकर राजा से बोली—'देव! आप बड़े भाग्यवान् हैं, क्योंकि नित्य रात्रि में भगवान् नारायण कन्या के निकट आते हैं। उन्होंने गान्धर्व-विवाह की रीति से उसके साथ विवाह भी कर लिया है। सो आप और मैं रात्रि के समय वातायन (खिड़की के झरोखों में) से छिपकर देख लें, क्योंकि मनुष्यों के साथ वे प्रत्यक्षरूप से बात-चीत नहीं करते।' यह सुनकर प्रसन्न हुए उस राजा का वह दिन किसी प्रकार सौ वर्ष बीते हुए के समान बीता। उसके बाद रात्रि में छिपकर, रानी के साथ राजा ज्यों ही आकाश की तरफ दृष्टि लगाकर झरोखे पर बैठे कि त्यों ही उसी समय गरुड़ पर चढ़े हुए उन शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण करनेवाले, उपयुक्त चिह्नों से युक्त नारायण को उन्होंने आकाश से उतरते हुए देखा। उसके बाद अमृत के प्रवाहों से अपने को प्लावित मानते हुए राजा ने अपनी रानी से कहा—'प्रिये! इस संसार में मुझसे और तुझसे बढ़कर धन्य दूसरा कोई नहीं है, जिसकी पुत्री के साथ नारायण भोग करते हैं। सो हमारे सब मनोरथ सिद्ध हो गए। अब तो जमाता के प्रभाव से मैं समस्त पृथ्वी को अपने

मर्यादाव्यतिक्रमेण वर्तमानमालोक्य सर्वे समेत्य तेन सह विग्रहं चक्रुः। अत्रान्तरे स राजा देवीमुखेन तां दुहितरमुवाच–'पुत्रि, त्वयि दुहितरि वर्तमानायां नारायणे भगवति जामातरि स्थिते तत्किमेवं युज्यते यत्सर्वे पार्थिवा मया सह विग्रहं कुर्वन्ति। तत्सम्बोध्योऽद्य त्वया निजभर्ता, यथा मम शत्रून् व्यापादयति।' ततस्तया स कौलिको रात्रौ सविनयमभिहितः—'भगवन्, त्वयि जामातरि स्थिते मम तातो यच्छत्रुभिः परिभूयते तन्न युक्तम्। तत्प्रसादं कृत्वा सर्वांस्तान् शत्रून् व्यापादय।' कौलिक आह—'सुभगे, कियन्मात्रास्त्वेते तव पितुः शत्रवः। तद्विश्वस्ता भव। क्षणेनापि सुदर्शनचक्रेण सर्वांस्तिलशः खण्डयिष्यामि।' अथ गच्छता कालेन सर्वदेशं शत्रुभिरुद्वास्य स राजा प्राकारशेषः कृतः। तथापि वासुदेवरूपधरं कौलिकमजानन् राज नित्यमेव विशेषतः कर्पूरागुरुकस्तूरिकादिपरिमलविशेषान्नानाप्रकारवस्त्रपुष्पभक्ष्यपेयांश्च प्रेषयन्दुहितृमुखेन

वश में कर लूँगा।' इस प्रकार निश्चय कर सीमा प्रान्त के समस्त राजाओं के साथ मर्यादा की सीमा उल्लङ्घन करने (वैर ठानने) लगा। उन लोगों ने, उसकी मर्यादा के उल्लङ्घन की स्थिति को (सन्धि-भङ्ग कर आक्रमण करते) देखकर, एक साथ मिलकर उसके साथ लड़ाई आरम्भ कर दी। इसी बीच उस राजा ने रानी द्वारा उस कन्या के प्रति यह कहलवाया—'हे पुत्री ! तुम्हारी जैसी पुत्री के और भगवान् नारायण जैसे जमाता के होते हुए भी यह समुचित है कि सब राजा मिलकर मेरे साथ लड़ाई करें ? सो तुम आज अपने स्वामी को सूचित करो, जिससे वे मेरे शत्रुओं को मार डालें।' तदनन्तर राजपुत्री ने कौलिक से रात्रि में विनयपूर्वक कहा–'भगवन् ! आप जैसे जमाता के रहते हुए भी मेरे पिता को शत्रुओं द्वारा पराभव प्राप्त हों, यह उचित नहीं है। सो अनुग्रह कर आप उन समस्त शत्रुओं का मार डालिए।' कौलिक ने कहा—'सुलक्षणे! ये सब तुम्हारे पिता के शत्रु हैं ही कितने (अर्थात् अत्यन्त स्वल्प हैं)? इसलिये विश्वास रखो, एक क्षण में सुदर्शन चक्र द्वारा उन समस्त शत्रुओं को तिल के समान टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा।' इसके बाद समय बीतने पर उस राजा के समस्त देश को शत्रुओं ने ध्वंस कर केवल किला मात्र ही अवशेष रहने दिया। तो भी नारायण भगवान् का रूप धारण करने वाले कौलिक को न जान कर राजा प्रतिदिन विशेष प्रकार से कपूर, अगर, चन्दन, कस्तूरी आदि सुवासित द्रव्यों को और विविध प्रकार के वस्त्र, पुष्प, खाद्य पदार्थ (चर्व्य, चोष्य,

तमूचे—'भगवन्, प्रभाते नूनं स्थानभङ्गो भविष्यति। यतो यवसेन्धनक्षयः सञ्जातस्तथा सर्वोऽपि जनः प्रहारैर्जर्जरितदेहः संवृत्तो योद्धुमक्षमः प्रचुरो मृतश्च। तदेवं ज्ञात्वाऽत्र काले यदुचितं भवति तद्विधेयम्' इति। तच्छ्रुत्वा कौलिकोऽप्यचिन्तयत् 'स्थानभङ्गे जाते ममानया सह वियोगो भविष्यति। तस्माद् गरुडमारुह्य सायुधमात्मानमाकाशे दर्शयामि। कदाचिन्मां वासुदेवं मन्यमानास्ते साशङ्का राज्ञो योद्धृभिर्हन्यते। उक्तं च—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा।
विषं भवतु वा माभूत्फणाटोपो भयंकरः॥ २२५॥

अथ यदि मम स्थानार्थमुद्यतस्य मृत्युर्भविष्यति तदपि सुन्दरतरम् उक्तं च—

लेह्य) और पीने वाले दुग्ध आदि पदार्थों को भेजकर कन्या द्वारा उसे सन्देश भेजा—'भगवान्! कल प्रातःकाल अवश्य ही स्थानभङ्ग (शत्रुओं द्वारा किले पर अधिकार) होगा, क्योंकि यवस (अश्वादिकों के आहार आदि) और लकड़ी आदि की कमी हो गई है। इसके अतिरिक्त समस्त सैनिकों के शरीर भी प्रहार (चोट) के कारण जर्जरित हो गए हैं (अर्थात् घायल हो गये हैं) इसलिए वे लड़ाई करने में असमर्थ हैं और अधिक संख्या में मर भी गए हैं। इन सब बातों को समझकर इस समय जैसा उचित हो वैसा कीजिए।' इसे सुनकर कौलिक भी अपने मन में विचारने लगा—'किले पर कब्जा होने पर मेरा इसके साथ वियोग हो जायगा। अतः गरुड़ पर चढ़कर आयुध (शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म) सहित अपने स्वरूप को आकाश में दिखलाऊँ। कदाचित् मुझे नारायण भगवान् समझकर वे सभी भयभीत हो जायँ। और राजा के लड़ाई करने वाले सैनिकों द्वारा मार डाले जायँ।

कहा भी है—विष रहित सर्प को भी बड़ा फन बढ़ाकर फुफकार करना चाहिए। क्योंकि विष हो या न हो, किन्तु फणाटोप (फण का फैलाव) ही भयङ्कर होना चाहिए॥ २२५॥

अथवा यदि इस किले की रक्षा के लिए उद्यत होने पर मेरी मृत्यु भी हो जाय तो भी बहुत अच्छा ही है। कहा भी है—

गवामर्थे ब्राह्मणार्थे स्वाम्यर्थे स्वीकृतेऽथवा।
स्थानार्थे यस्त्यजेत्प्राणांस्तस्य लोकाः सनातनाः॥ २२६॥
चन्द्रे मण्डलसंस्थे विगृह्यते राहुणा दिनाधीशः।
शरणागतेन सार्धं विपदपि तेजस्विना श्लाघ्या'॥ २२७॥

एवं निश्चित्य प्रत्यूषे दन्तधावनं कृत्वा तां प्रोवाच–'सुभगे, समस्तैः शत्रुभिर्हतैरन्नं पानं चास्वादयिष्यामि। किं बहुना त्वयापि सह संगमं ततः करिष्यामि। परं वाच्यस्त्वयात्मपिता यत्प्रभाते प्रभूतेन सैन्येन सह नगरान्निष्क्रम्य योद्धव्यम्। अहं चाकाशस्थित एव सर्वांस्तान्निस्तेजसः करिष्यामि। पश्चात्सुखेन भवता हन्तव्याः यदि पुनरहं तान्स्वयमेव सूदयामि तत्तेषां पापात्मनां वैकुण्ठीया गतिः स्यात्। तस्मात्ते तथा कर्तव्या यथा पलायन्तो हन्यमानाः स्वर्गं न गच्छन्ति।' सापि तदाकर्ण्य पितुः समीपं गत्वा सर्वं वृत्तान्तं न्यवेदयत्। राजापि तस्या वाक्यं श्रद्दधानः प्रत्यूषे समुत्थाय सुसन्नद्धसैन्यो युद्धार्थं निश्चक्राम। कौलिकोऽपि मरणे कृत-

---

गौ के लिए, ब्राह्मण के लिए, प्रभु के लिए अथवा स्त्री के लिए, या स्थान (देश-रक्षा) के लिए, जो लड़कर अपने प्राणों को छोड़ता है उसे सत्यलोक की प्राप्ति होती है॥ २२६॥

अमावस्या के दिन चन्द्रमण्डल में आते ही सूर्य राहु द्वारा ग्रसित हो जाता है। यह युक्तिसंगत ही है। शरणागत की रक्षा के लिए उसके साथ विपत्ति की प्राप्ति भी तेजस्वियों के लिए प्रशंसनीय है॥ २२७॥

इस प्रकार निर्णय कर उषःकाल में दँतुवन करके उसने राजकन्या से कहा–'सुलक्षणे! (आज) समस्त शत्रुओं को मार कर ही अन्न जल ग्रहण करूँगा। अधिक क्या कहूँ, तुम्हारे साथ रमण भी करूँगा। परन्तु तुम भी अपने पिता से कह देना कि प्रातःकाल में अधिक संख्या में सेना लेकर वे नगर से निकल कर लड़ाई करें, और मैं आकाश में स्थित हो उन शत्रुओं को तेजहीन कर दूँगा, पुनः सुलभता से आप मार डालिएगा। यदि मैं उनको स्वयं मारूँ तो उन दुराचारियों को वैकुण्ठ की प्राप्ति हो जाएगी। अतः ऐसा करना चाहिए कि वे भागते हुए मारे जायें जिससे उन्हें स्वर्ग न मिल सके।' राजकन्या ने भी उसे सुन कर, पिता के समीप जाकर सब निवेदन कर दिया। राजा भी उसके वचन पर श्रद्धा रख कर उषःकाल में उठकर सेना सजा कर लड़ाई के लिए निकल पड़ा। कौलिक ने, भी अपने मरने का निर्णय कर हाथ में धनुष लेकर, आकाश

निश्चयश्चापपाणिर्गगनगतिर्गरुडारूढो युद्धाय प्रस्थितः। अत्रान्तरे भगवता नारायणेनातीतानागतवर्तमानवेदिना, स्मृतमात्रो वैनतेयः सम्प्राप्तो विहस्य प्रोक्तः—'भो गरुत्मन्, जानासि त्वं यन्मम रूपेण कौलिको दारुमयगरुडे समारूढो राजकन्यां कामयते।' सोऽब्रवीत्—'देव, सर्वं ज्ञायते तच्चेष्टितम्। तत्किं कुर्मः साम्प्रतम्। श्रीभगवानाह—'अद्य कौलिको मरणे कृतनिश्चयो विहितनियमो युद्धार्थे विनिर्गतः स नूनं प्रधानक्षत्रियैर्मिलित्वा वासुदेवो गरुडश्च निपातितः। ततः परं लोकोऽयमावयोः पूजां न करिष्यति। ततस्त्वं द्रुततरं तत्र दारुमयगरुडे संक्रमणं कुरु। अहमपि कौलिकशरीरे प्रवेशं करिष्यामि। येन स शत्रून् व्यापादयति। ततश्च शत्रुवधादावयोर्माहात्म्यवृद्धिः स्यात्।' अथ गरुडे तथेति प्रतिपन्ने श्रीभगवन्नारायणस्तच्छरीरे सङ्क्रमणमकरोत्। ततो भगवन्माहात्म्येन गगनस्थः स कौलिकः शङ्खचक्रगदाचापचिह्नितः क्षणादेव लीलयैव समस्तानपि प्रधानक्षत्रियान्निस्तेजसश्चकार। ततस्तेन राज्ञा स्वसैन्यपरिवृतेन संग्रामे जिता निहताश्च ते सर्वेऽपि

में गरुड़ पर चढ़कर संग्राम के लिए प्रस्थान किया। इसी बीच भूत भविष्य एवं वर्तमान के जानने वाले भगवान् नारायण (विष्णु) ने गरुड़ का स्मरण किया और उपस्थित हुए गरुड़ से हँस कर कहा—'हे पक्षिराज गरुड़! क्या तुम जानते हो कि मेरा स्वरूप धारण कर, कौलिक लकड़ी के गरुड़ पर चढ़ कर राजकुमारी का उपभोग करता है।' उसने कहा—'देव उसका सब कार्य विदित है। इस समय हम क्या करें? (हमारे लिए क्या आज्ञा है)।' भगवान् ने कहा—'आज कौलिक अपनी मृत्यु का निश्चय कर, प्रतिज्ञा करके निकल पड़ा है। वह अवश्य ही मुख्य-मुख्य क्षत्रियों के बाण से घायल होकर मृत्यु को प्राप्त करेगा। उसके मारे जाने पर सभी जनता कहेगी कि बहुत से क्षत्रियों ने मिलकर विष्णु और गरुड़ को मार डाला है तब यह जगत् हम दोनों की पूजा न करेगा। अतः तुम बहुत शीघ्र जाकर उस काष्ठमय गरुड़ में प्रवेश कर जाओ और मैं भी कौलिक के शरीर में प्रवेश करूँगा। जिससे वह शत्रुओं को मार डालेगा। तब शत्रु के वध से हम दोनों के महात्म्य बढ़ जायँगे।' गरुड़ के 'ऐसा ही हो' इस प्रकार कहने पर, भगवान् नारायण कौलिक के शरीर में प्रवेश कर गये। तब भगवान् की महिमा के कारण, आकाश में स्थित शंख, चक्र, गदा धनुष से चिह्नित उस कौलिक ने क्षण भर में अनायास ही सब मुख्य क्षत्रियों को तेजहीन कर दिया। तदनन्तर वह राजा अपनी सेना के साथ युद्ध में जीत गया,

शत्रवः। जातश्च लोकमध्ये प्रवादो यथा—'अनेन विष्णुजामातृप्रभावेण सर्वे शत्रवो निहता' इति। कौलिकोऽपि तान्हतान्दृष्ट्वा प्रमुदितमना गगनादवतीर्णः सन्, यावद्राजामात्यपौरलोकास्तं नगरवास्तव्यं कौलिकं पश्यन्ति ततः पृष्टः 'किमेतत्' इति। ततः सोऽपि मूलादारभ्य सर्वं प्राग्वृत्तान्तं न्यवेदयत्। ततश्च कौलिकसाहसानुरञ्जितमनसा शत्रुवधादवाप्ततेजसा राज्ञा सा राजकन्या सकलजनप्रत्यक्षं विवाहविधिना तस्मै समर्पिता देशश्च प्रदत्तः। कौलिकोऽपि तया सार्धं पञ्चप्रकारं जीवलोकसारं विषयसुखमनुभवन्कालं निनाय। अतस्तूच्यते 'सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य' इति। तच्छ्रुत्वा करटक आह—'भद्र, अस्त्येवम्। परं तथापि महन्मे भयम्। यतो बुद्धिमान् सञ्जीवको रौद्रश्च सिंहः। यद्यपि ते बुद्धिप्रागल्भ्यं तथापि त्वं पिंगलकात्तं वियोजयितुमसमर्थ एव!' दमनक आह—'भ्रातः, असमर्थोऽपि समर्थ एव। उक्तं च—

'उपायेन हि यत्कुर्यात्तन्न शक्यं पराक्रमैः।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः' ॥ २२८ ॥

और वे सब शत्रु मार दिए गए तथा लोक में इस प्रकार की किंवदन्ती फैल गई कि 'विष्णुरूप जामाता के प्रभाव से इसने समस्त शत्रुओं का वध कर दिया।' कौलिक भी उन शत्रुओं को मरे हुए देखकर, अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो आकाश से उतरा। तब राजा मन्त्री, नागरिकों ने एक साधारण नागरिक रूप में उस कौलिक को देखकर, उससे पूछा—'यह क्या बात है ?' तब उसने आरम्भ से लेकर सब समाचार कह दिया। उसके पश्चात् कौलिक के साहस से हर्षित मनवाले और शत्रु के मारे जाने से प्राप्त तेज वाले राजा ने उस राजपुत्री को समस्त नागरिकों के समक्ष ही विवाहविधि से उसे समर्पण कर, राज्य भी दे दिया। कौलिक भी उसके साथ पञ्चेन्द्रिय के भोगने योग्य, मनुष्य लोक के सार विषय के सुख का अनुभव करता हुआ समय बिताने लगा। इसी से कहा जाता है कि—'भली भाँति छिपाये हुए पाखण्ड के अन्त को''''इत्यादि'। उसे सुनकर करटक ने कहा—भद्र ! यह तो ठीक है किन्तु मुझे बड़ा भारी भय है, क्योंकि सञ्जीवक बुद्धिमान् है और सिंह भी भयङ्कर (प्राणी) है। यद्यपि तुम्हारी बुद्धि प्रगल्भ है, तथापि तुम पिङ्गलक से उसे पृथक् कराने में असमर्थ ही हो। दमनक ने कहा—'भाई ! असमर्थ होने पर भी समर्थ हूँ।

कहा भी है—जो कार्य उपाय द्वारा हो सकता है वह पराक्रम से नहीं हो

करटक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

कथा ६

अस्ति कस्मिंश्चित्प्रदेशे महान्न्यग्रोधपादपः । तत्र वायसदम्पती प्रतिवसतः स्म । अथ तयोः प्रसवकाले वृक्षविवरान्निष्क्रम्य कृष्णसर्पः सदैव तदपत्यानि भक्षयति । ततस्तौ निर्वेदादन्यवृक्षमूलनिवासिनं प्रियसुहृदं शृगालं गत्वोचतुः—'भद्र, किमेवंविधे सञ्जात आवयोः कर्तव्यं भवति । एवं तावद् दुष्टात्मा कृष्णसर्पो वृक्षविवरान्निर्गत्यावयोर्बालकान् भक्षयति । तत्कथ्यतां तद्रक्षार्थं कश्चिदुपायः ।

यस्य क्षेत्रं नदीतीरे भार्या च परसंगता ।
ससर्पे च गृहे वासः कथं स्यात्तस्य निर्वृतिः ॥ २२९ ॥

अन्यच्च—सर्पयुक्ते गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ।
यद्ग्रामान्ते वसेत्सर्पस्तस्य स्यात्प्राणसंशयः ॥ २३० ॥

सकता है । जैसे कौए की मादा ने सोने की लड़ी से काले सर्प को मार डाला था ॥ २२८ ॥

करटक ने कहा—सो कैसे ? वह बोला—

किसी स्थान पर एक बड़ा वटवृक्ष था । उसमें एक कौए का जोड़ा रहता था । उसके प्रसव के समय वृक्ष के खोखले से निकल कर एक काला साँप बराबर उनके बच्चों को खा जाता था । तब वे दोनों परम दुखी हो, दूसरे वृक्ष की जड़ में रहने वाले अपने प्रिय मित्र सियार के पास जाकर बोले—भद्र ! इस प्रकार होने पर हम दोनों का क्या कर्त्तव्य है ? वह दुरात्मा काला साँप इसी प्रकार वृक्ष के खोखले से निकल कर हमारे बच्चों को खा जाता है । इस लिए उनकी रक्षा के लिए कोई उपाय बताओ । क्योंकि—

जिसका खेत नदी के किनारे हो, जिसकी स्त्री परपुरुषगामिनी हो और सर्पयुक्त घर में जिसका रहना हो उसे भला किस प्रकार सुख की प्राप्ति हो सकती है ॥ २२९ ॥

और भी—सर्प युक्त घर में निवास हो तो मृत्यु होने में, कोई सन्देह नहीं है तथा जिस ग्राम की सीमा में सर्प रहता हो वहाँ भी प्राणों का भय है ॥ २३० ॥

अस्माकमपि तत्रस्थितानां प्रतिदिनं प्राणसंशयः'। स आह—'नात्र विषये स्वल्पोऽपि विषादः कार्यः। नूनं स लुब्धो नोपायमन्तरेण वध्यः स्यात्।

उपायेन जयो यादृग् रिपोस्तादृङ् न हेतिभिः।
उपायज्ञोऽल्पकायोऽपि न शूरैः परिभूयते॥ २३१॥

तथा च—भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान्।
अतिलौल्याद् बकः कश्चिन्मृतः कर्कटकग्रहात्'॥ ९३२॥

तावूचतुः—'कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

कथा ७

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनप्रदेशे नानाजलचरसनाथं महत्सरः। तत्र च कृताश्रयो बक एको वृद्धभावमुपागतो मत्स्यान्व्यापादयितुमसमर्थः। ततश्च क्षुत्क्षामकण्ठः सरस्तीर उपविष्टो मुक्ताफलप्रकरसदृशैरश्रुप्रवाहैर्धरातलमभिषिञ्चन् रुरोद। एकः कुलीरको नानाजलचरसमेतः समेत्य तस्य दुःखेन दुःखितः सादरमिदमूचे—माम, किमद्य त्वया नाहारवृत्तिर-

---

वहाँ रहने से हम लोगों को भी प्रतिदिन प्राणों का संशय बना रहता है।' उसने कहा—'इस विषय में थोड़ा भी दुःख मत करो। निश्चय ही वह लोभी साँप उपाय के बिना नहीं मारा जा सकता है। क्योंकि—

उपाय से शत्रु पर जैसी विजय होती है वैसी अस्त्रों से नहीं हो सकती। क्योंकि उपाय को जाननेवाला छोटे शरीरवाला होने पर वीरों द्वारा जीता नहीं जा सकता॥ २३१॥

और भी—अनेक प्रकार की उत्तम, मध्यम और अधम मछलियों को खाकर अति लोभ के कारण कोई बगुला, केकड़े से पकड़े जाने पर मारा गया॥२३२॥

उन दोनों ने कहा—यह किस प्रकार? उसने कहा—

किसी वन में अनेक प्रकार जल जन्तुओं से संयुक्त एक बड़ा सरोवर था। वहाँ एक बगुला रहता था जो बुढ़ापे के कारण मछलियों को मारकर खाने में असमर्थ हो गया था। अतः भूख से सूखे हुए कण्ठवाला वह सरोवर के किनारे बैठा हुआ, मोतियों के समान आंसुओं की धारा से भूतल को सींचता हुआ रो रहा था। (तभी) एक केकड़े ने अनेक प्रकार के जलचरों के साथ वहाँ आकर

नुष्ठीयते। केवलमश्रुपूर्णनेत्राभ्यां सनिःश्वासेन स्थीयते।' स आह–'वत्स, सत्यमुपलक्षितं भवता। मया हि मत्स्यादनं प्रति परमवैराग्यतया साम्प्रतं प्रायोपवेशनं कृतम्, तेनाहं समीपागतानपि मत्स्यान्न भक्षयामि।' कुलीरकस्तच्छ्रुत्वा प्राह—'माम, किं तद्वैराग्यकारणम्।' स प्राह—'वत्स, अहमस्मिन्सरसि जातो वृद्धिं गतश्च। तन्मयैतच्छ्रुतं यद्द्वादशवार्षिक्यनावृष्टिः सम्पद्यते लग्ना।' कुलीरक आह—'कस्मात्तच्छ्रुतम्।' वक आह—दैवज्ञमुखात् एष शनैश्चरो हि रोहिणीशकटं भित्त्वा भौमं शुक्रं च प्रयास्यति। उक्तं च वराहमिहिरेण—

यदि भिन्ते सूर्यसुतो रोहिण्याः शकटमिह लोके।
द्वादश वर्षाणि तदा नहि वर्षति वासवो भूमौ॥ २३३॥

तथा च—प्राजापत्ये शकटे भिन्ने कृत्वैव पातकं वसुधा।
भस्मास्थिशकलाकीर्णा कापालिकमिव व्रतं धत्ते॥ २३४॥

उसके दुःख से दुःखित होकर, आदरपूर्वक इस प्रकार कहा—'मामा! आज आप आप अपने आहार की खोज क्यों नहीं कर रहे हैं? आप तो केवल अश्रुपूर्ण नेत्र लिए लम्बी साँसें खींचते हुए बैठे हैं?' उसने कहा—'वत्स! तुमने ठीक समझा है। मछलियाँ खाने से अत्यधिक वैराग्य हो जाने के कारण अब मैंने मरने का व्रत ले लिया है। अतः पास आई हुई मछलियों को भी मैं नहीं खा रहा हूँ।' यह सुनकर कुलीरक ने कहा—'मामा! आपके इस वैराग्य का क्या कारण है?' उसने उत्तर दिया—'वत्स! मैं इसी सरोवर में उत्पन्न हुआ और यहीं बढ़ा भी। मैंने ऐसा सुना है कि लगातार बारह वर्षों तक अनावृष्टि होगी!' कुलीरक ने कहा—'यह किससे सुना है?' बगुले ने उत्तर दिया—'ज्योतिषियों के मुख से। यह शनि रोहिणी के मण्डल को भेद कर भौम और शुक्र के समीप पहुँच जायगा! वराहमिहिर ने भी कहा है—

यदि सूर्यपुत्र (शनि) रोहिणी के शकट को भेदन करे तो इस लोक में बारह वर्ष तक इन्द्र भूमि पर वर्षा नहीं करता॥ २३३॥

और भी—रोहिणी का शकट शनि से भेदित होने पर मानो पाप करके (उसका प्रायश्चित करने के लिए) भस्म और हड्डी के टुकड़े से व्याप्त हुई पृथ्वी कापालिक (वाममार्गी) की भाँति व्रत को धारण करती है। (हड्डी के टुकड़े और राख ऐसी दिखलाई पड़ती है मानो पृथ्वी अपने पातकों का प्रायश्चित्त करती है)॥ २३४॥

तथा च—रोहिणीशकटमर्कनन्दनश्चेद्भिनत्ति रुधिरोऽथवा शशी ।
किं वदामि तदनिष्टसागरे सर्वलोकमुपयाति संक्षयः ॥ २३५ ॥
रोहिणीशकटमध्यसंस्थिते चन्द्रमस्यशरणीकृता जनाः ।
क्वापि यान्ति शिशुपाचिताशनाः सुर्यतप्तभिदुराम्बुपायिनः ॥ २३६ ॥

तदेतत्सरः स्वल्पतोयं वर्तते । शीघ्रं शोषं यास्यति । अस्मिन् शुष्के यैः सहाहं वृद्धि गतः सदैव क्रीडितश्च ते सर्वे तोयाभावान्नाशं यास्यन्ति । तत्तेषां वियोगं द्रष्टुमहमसमर्थः । तेनैतत्प्रायोपवेशनं कृतम् । साम्प्रतं सर्वेषां स्वल्पजलाशयानां जलचरा गुरुजलाशयेषु स्वस्वजनैर्नीयन्ते । केचिच्च मकरगोधाशिशुमारजलहस्तिप्रभृतयः स्वयमेव गच्छन्ति । अत्र पुनः सरसि ये जलचरास्ते निश्चिन्ताः सन्ति तेनाहं विशेषाद्रोदिमि यद्बीजशेषमात्रमप्यत्र नोद्धरिष्यति ।' ततः स तदाकर्ण्यान्येषामपि जलचराणां तत्तस्य वचनं निवेदयामास । अथ ते सर्वे भयत्रस्तमनसो मत्स्यकच्छपप्रभृतयस्तमभ्युपेत्य पप्रच्छुः—'माम, अस्ति कश्चि-

---

और भी—रोहिणी के शकट को यदि शनि, मङ्गल अथवा चन्द्रमा भेदन करे तो उससे होने वाले अनिष्ट-समुद्र का मैं क्या वर्णन करूँ? उसमें तो समस्त लोकों का विनाश हो जाता है ॥ २३५ ॥

रोहिणी के शकट में चन्द्रमा के संस्थित होने पर, रक्षकहीन होकर मनुष्य अपनी सन्तान को बेचकर या मारकर खाते हैं और सूर्य के ताप से सन्तप्त गरम पानी पीते हुए कहीं भी जाकर अपने प्राण बचाते हैं ॥ २३६ ॥

इस सरोवर में जल थोड़ा-सा है, शीघ्र ही सूख जायगा। इसके सूख जाने पर, जिन प्राणियों के साथ मैं इतना बड़ा हुआ और खेला-कूदा, वे सभी पानी के बिना मर जायेंगे। उनका वियोग देखने में मैं असमर्थ हूँ। अतः मैंने यह प्रायोपवेशन (सङ्कल्पपूर्वक सब कार्यों को छोड़कर बिना खाए-पिए मरने के लिए बैठे रहना) किया है। इस समय छोटे-छोटे जलाशय के प्राणी अपने-अपने सम्बन्धियों द्वारा बड़े-बड़े जलाशयों में ले जायें जा रहे हैं। कोई कोई मगर, गोह, घड़ियाल और जलहाथी आदि तो अपने आप ही चले जा रहे हैं। किन्तु इस जलाशय के जितने जलजन्तु हैं वे चिन्ता-रहित हैं। इसी से मैं विशेष कर रोता हूँ, कि यहाँ एक भी न बचेगा।' यह बात सुनकर उसने अन्य जलचरों से भी उसकी बात कह दी। तब भय से व्याकुल मनवाले मछली, कछुआ आदि उसके पास पहुँचकर पूछने लगे—मामा !

दुपायो येनास्माकं रक्षा भवति।' बक आह—'अस्त्यस्य जलाशयस्य नातिदूरे प्रभूतजलसनाथं सरः पद्मिनीखण्डमण्डितं यच्चतुर्विंशत्यपि वर्षाणामवृष्ट्या न शोषमेष्यति। तद्यदि मम पृष्ठं कश्चिदारोहति तदहं तं तत्र नयामि।' अथ ते तत्र विश्वासमापन्नाः 'तात, मातुल, भ्रातः' इति ब्रुवाणाः 'अहं पूर्वमहं पूर्वम्' इति समन्तात्परितस्थुः। सोऽपि दुष्टाशयः क्रमेण तान्पृष्ठ आरोप्य जलशयस्य नातिदूरे शिलां समासाद्य तस्यामाक्षिप्य स्वेच्छया भक्षयित्वा भूयोऽपि जलाशयं समासाद्य जलचराणां मिथ्यावार्तासन्देशकैर्मनांसि रञ्जयन्नित्यमेवाहारवृत्तिमकरोत्। अन्यस्मिन्दिने च कुलीरकेणोक्तः 'माम, मया सह ते प्रथमः स्नेहसम्भाषः सञ्जातः। तत्किं मां परित्यज्यान्यान्नयसि। तस्मादद्य मे प्राणत्राणं कुरु।' तदाकर्ण्य सोऽपि दुष्टाशयश्चिन्ततवान्—'निर्विण्णोऽहं मत्स्यमांसादनेन तदद्यैनं कुलीरकं व्यञ्जनस्थाने करोमि।' इति विचिन्त्य तं पृष्ठे समारोप्य तां वध्यशिलामुद्दिश्य प्रस्थितः। कुलीरकोऽपि दूरादेवास्थिपर्वतं शिलाश्रयमवलोक्य मत्स्यास्थीनि परिज्ञाय तमपृच्छत्—

क्या ऐसा कोई उपाय है जिससे हम लोगों की रक्षा हो सके?' बगुले ने कहा 'इस जलाशय से थोड़ी दूर पर कमलिनी के समूह से शोभित, अत्यधिक जल से परिपूर्ण एक तालाब है जो चौबीस वर्ष तक की अनावृष्टि में भी नहीं सूखेगा! इसलिए यदि मेरी पीठ पर कोई चढ़े तो मैं उसे वहाँ ले जा सकता हूँ।' इसके बाद वे (जलचर) उसके विश्वास में आकर, 'तात! मामा! भाई!' 'पहले मैं-पहले मैं' इस प्रकार कहते हुए उसके चारों ओर एकत्रित हो गये। वह दुष्टात्मा बगुला भी क्रम से उनको अपनी पीठ पर चढ़ाकर, सरोवर से थोड़ी दूर एक चट्टान पर ले जाकर पटक देता और अपने इच्छानुसार खाकर पुनः उसी जलाशय में आकर असत्य बातों के सन्देह से जल जन्तुओं को प्रसन्न करता हुआ प्रतिदिन भोजन वृत्ति करने लगा। किसी दिन कुलीरक (केकड़े) ने कहा—'मामा! मुझ से आपका पहले पहल स्नेह-सम्भाषण हुआ था अतः मुझे छोड़कर आप दूसरे जलचरों को क्यों ले जाते हैं? इसलिए आज मेरे प्राणों की रक्षा कीजिए।' यह सुनकर उस दुष्टात्मा ने विचार किया कि मछलियों का मांस खाते खाते मैं ऊब गया हूँ इसलिए आज व्यञ्जन (चटनी) के स्थान पर इस केकड़े को खाऊँगा। इस प्रकार विचार कर उसे पीठ पर चढ़ा कर उस वध्य शिला की ओर ले चला। केंकड़े ने दूर ही से शिला के आस-पास

'माम, कियद्दूरे स जलाशयः मदीयभारेणातिश्रान्तस्त्वम्। तत्कथय।' सोऽपि मन्दधीर्जलचरोऽयमिति मत्वा स्थले न प्रभवतीति सस्मितमिदमाह—'कुलीरक, कुतोऽन्यो जलाशयः। मम प्राणयात्रेयम्। तस्मात्स्मर्यतामात्मनोऽभीष्टदेवता। त्वामप्यस्यां शिलायां निक्षिप्य भक्षयिष्यामि।' इत्युक्तवति तस्मिन्स्ववदनदंशद्वयेन मृणालनालधवलायां मृदुग्रीवायां गृहीतो मृतश्च। अथ स तां बकग्रीवां समादाय शनैः शनैस्तज्जलाशयमाससाद। ततः सर्वैरेव जलचरैः पृष्टः—'भोः कुलीरकः किं निवृत्तस्त्वम्। स मातुलोऽपि नायातः। तत्किं चिरयति। वयं सर्वे सोत्सुकाः कृतक्षणास्तिष्ठामः। एवं तैरभिहिते कुलीरकोऽपि विहस्योवाच—'मूर्खाः सर्वे जलचरास्तेन मिथ्यावादिना वञ्चयित्वा नातिदूरे शिलातले प्रक्षिप्य भक्षिताः। तन्ममायुःशेषतया तस्य विश्वासघातकस्याभिप्रायं ज्ञात्वा ग्रीवेयमानीता। तदलं सम्भ्रमेण। अधुना सर्वजलचराणां क्षेमं भविष्यति।' अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्' इति। वायस

हड्डियों का पहाड़ (ढेर) देख कर, मछलियों की हड्डी पहचान कर उससे पूछा—'मामा ! वह सरोवर कितनी दूर है? आप मेरे बोझ से बहुत थक गये हैं, अतः बतलाइए।' उसने भी उसे मन्दबुद्धि समझ कर और यह जानकर कि स्थल पर इसका कोई वश न चलेगा, मुस्कराते हुए कहा—कुलीरक ! दूसरा जलाशय कहाँ है? यह तो मेरी जीविका का साधन है। इसलिए अपने इष्ट देवता का स्मरण करो। तुम्हें भी इस चट्टान पर पटक कर खा जाऊँगा। उसके यह कहते ही कुलीरक ने अपने मुख के दोनों दाँतों से उसकी कमलनाल के समान उजली तथा कोमल गरदन को दबोच लिया और वह मर गया। इसके अनन्तर उस बगुले की गरदन को लेकर वह धीरे धीरे अपने जलाशय पर पहुँचा। तब सब जलचरों ने पूछा—'अरे कुलीरक ! तुम लौट क्यों आये? वह मामा भी नहीं आया? वह देर क्यों कर रहा है? हम लोग बड़े उत्कण्ठित होकर प्रतिक्षण उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।' इस प्रकार उनके कहने पर कुलीरक ने भी हँस कर कहा—'अरे मूर्खो ! वह मिथ्यावादी समस्त जलचरों को ठग कर थोड़ी ही दूर शिलातल पर पटक कर खा गया है। आयु शेष होने के कारण मैं उस विश्वासघाती का अभिप्राय जान कर, उसकी गरदन ले आया हूँ। अब घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। अब सब जलचरों का कल्याण ही होगा। इसीलिये मैं कहता हूँ कि 'बहुत-सी मछलियों को खाकर' इत्यादि। कौए ने कहा

आह—'भद्र तत्कथय कथं स दुष्टसर्पो वधमुपैष्यति।' शृगाल आह—'गच्छतु भवान्कञ्चिन्नगरं राजाधिष्ठानम्। तत्र कस्यापि धनिनो राजामात्यादेः प्रमादिनः कनकसूत्रं हारं वा गृहीत्वा तत्कोटरे प्रक्षिप, येन सर्पस्तद्ग्रहणेन वध्यते।'

अथ तत्क्षणात्काकः काकी च तदाकर्ण्यात्मेच्छयोत्पतितौ। ततश्च काकी किञ्चित्सरः प्राप्य यावत्पश्यति, तावत्तन्मध्ये कस्याचिद्राज्ञोऽन्तःपुरं जलासन्नं न्यस्तकनकसूत्रं मुक्तमुक्ताहारवस्त्राभरणं जलक्रीडां कुरुते। अथ सा वायसी कनकसूत्रमेकमादाय स्वगृहाभिमुखं प्रतस्थे। ततश्च कञ्चुकिनो वर्षवराश्च तन्नीयमानमुपलक्ष्य गृहीतलगुडाः सत्वरमनुययुः। काक्यपि सर्पकोटरे तत्कनकसूत्रं प्रक्षिप्य सुदूरमवस्थिता। अथ यावद्राजपुरुषास्तं वृक्षमारुह्य तत्कोटरमवलोकयन्ति, तावत्कृष्णसर्पः प्रसारितभोगस्तिष्ठति। ततस्तं लगुडप्रहारेण हत्वा कनकसूत्रमादाय यथाभिलषितं स्थानं गताः। वायसदम्पती अपि ततः परं सुखेन वसतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपायेन हि यत्कुर्यात्' इति। तन्न किंचिदिह बुद्धिमतामसाध्यमस्ति।

भद्र! कहो, वह दुष्ट सर्प किस प्रकार मारा जायगा? सियार ने कहा—'आप किसी राजा की राजधानी में चले जाइये। वहाँ किसी असावधान धनी, राजा अथवा मन्त्री की सोने की लड़ या हार लेकर उसके खोखले में डाल दीजिये, जिससे उस आभूषण के ग्रहण करने के कारण सर्प मारा जायगा।'

कौआ और उसकी स्त्री दोनों उसे सुनकर इसके अनन्तर उसी क्षण अपनी इच्छा से उड़ चले। इसके बाद कौए की स्त्री किसी जलाशय में पहुँच कर ज्योंही देखती है त्योंही उसके बीच में किसी राजा के अन्तःपुर की स्त्रियों को जल के निकट सोने की माला रख कर और सुनहले धागे में गुँथे मोतियों के हार, वस्त्र और आभूषण उतार कर जलक्रीडा करते देखा। तब उस कौए की स्त्री ने केवल सोने की माला लेकर अपने घर की ओर प्रस्थान किया। तदनन्तर कञ्चुकी और नपुंसक (हिजड़े) उस माला को ले जाई जाती हुई देख कर, डण्डे लेकर झटपट उसके पीछे-पीछे दौड़े। कौए की स्त्री भी सर्प के खोखले में उस सोने की माला को रखकर स्वयं दूर बैठ गयी। राजपुरुष वृक्ष पर चढ़ कर ज्यों ही उस खोखले की ओर दृष्टि डालते हैं त्यों हो देखते हैं कि एक काला साँफ फन फैलाए बैठा है। तब उसे डण्डे से मार कर, सोने की

उक्तञ्च—यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः' ॥ २३७ ॥

करटक आह—'कथमेतत् ।' स आह—

कथा ८

कस्मिंश्चिद्वने भासुरको नाम सिंहः प्रतिवसति स्म । अथासौ वीर्यातिरेकान्नित्यमेवानेकान्मृगशशकादीन्व्यापादयन्नोपरराम । अथान्येद्युस्तद्वनजाः सर्वे सारङ्गवराहमहिषशशकादयो मिलित्वा तमभ्युपेत्य प्रोचुः—'स्वामिन्, किमनेन सकलमृगवधेन नित्यमेव, यतस्तवैकेनापि मृगेण तृप्तिर्भवति तत्क्रियतामस्माभिः सह समयधर्मः । अद्य प्रभृति तवात्रोपविष्टस्य जातिक्रमेण प्रतिदिनमेको मृगो भक्षणार्थं समेष्यति एवं कृते तव तावत्प्राणयात्रा क्लेशं विनापि भविष्यति, अस्माकं च पुनः सर्वोच्छेदनं न स्यात् । तदेष राजधर्मोऽनुष्ठीयताम्' । उक्तञ्च—

माला लेकर अभीष्ट स्थान को चले गये । कौआ और उसकी स्त्री भी तब से अत्यधिक आनन्दपूर्वक रहने लगे । इसीलिए मैं कहता हूँ—'जो कार्य उपाय द्वारा हो सकता है.....' इत्यादि । अतः इस लोक में बुद्धिमानों के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है ।

कहा भी है—'जिसके पास बुद्धि है, उसी के पास बल भी है, बुद्धिहीन के पास बल कहाँ ? तभी तो बल में मतवाला एक सिंह खरगोश द्वारा मार डाला गया' ॥ २३७ ॥

करटक ने कहा—'यह किस प्रकार की कथा है ?' उसने कहा—

किसी वन में भासुरक नाम का एक सिंह रहता था । वह बल की अधिकता के कारण प्रतिदिन अनेक मृग और शशक (खरहे) आदि को मारकर भी शान्ति नहीं पाता था । किसी दिन उस वन में रहने वाले हरिण, शूकर, भैंसे और शशक आदि सब पशुगण मिलकर उसके पास जाकर कहने लगे—'स्वामिन् ! इस प्रकार सब प्राणियों को मारने से क्या लाभ ? क्योंकि आपकी तृप्ति तो एक ही प्राणी से हो जाती है । अतः हम लोगों से वचन ले लीजिए । आज से घर बैठे ही आपके भोजनार्थं जाति के क्रम से प्रतिदिन एक पशु आया करेगा । ऐसा करने से बिना कष्ट उठाये आपकी जीविका भी चलेगी और हमलोगों का सर्वनाश भी न होगा ? सो आप इस राजधर्म का पालन कीजिए ।' कहा भी है—

'शनैः शनैश्च यो राज्यमुपभुङ्क्ते यथाबलम् ।
रसायनमिव प्राज्ञः स पुष्टिं परमां व्रजेत् ॥ २३८ ॥
विधिना मन्त्रयुक्तेन रूक्षापि मथितापि च ।
प्रयच्छति फलं भूमिररणीव हुताशनम् ॥ २३९ ॥
प्रजानां पालनं शस्यं स्वर्गकोशस्य वर्धनम् ।
पीडनं धर्मनाशाय पापायायशसे स्थितम् ॥ २४० ॥
गोपालेन प्रजाधेनोर्वित्तदुग्धं शनैः शनैः ।
पालनात्पोषणाद् ग्राह्यं न्याय्यां वृत्तिं समाचरेत् ॥ २४१ ॥
अजामिव प्रजां मोहाद्यो हन्यात्पृथिवीपतिः ।
तस्यैका जायते तृप्तिर्न द्वितीया कथंचन ॥ २४२ ॥
फलार्थी नृपतिर्लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः ।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ २४३ ॥

जो बुद्धिमान् अपनी शक्ति के अनुसार रसायन (रोग और बुढ़ापानाशक औषध) सेवन की भाँति धीरे-धीरे राज्य का उपभोग करता है, वह अत्यधिक पुष्ट (धनी) हो जाता है ॥ २३८ ॥

जिस प्रकार विधिपूर्वक (शास्त्रोक्त) मन्त्र जप कर अरणि (यज्ञ में अग्नि निकालने का साधन) मंथन करने पर अग्नि उत्पन्न करती है उसी प्रकार उपाय पूर्वक खेती करने से ऊसर भूमि फल देती है ॥ २३९ ॥

प्रजा-पालन करना राजाओं के लिए प्रशंसनीय और स्वर्गरूपी खजाने को बढ़ाने वाला कहा गया है । किन्तु प्रजा को पीड़ा पहुँचाना धर्म के नाश, पाप और अयश के लिए होता है ॥ २४० ॥

राजा रूपी गोपाल को चाहिए कि वह अपनी प्रजारूपी गाय का पालन-पोषण करते हुए धीरे-धीरे उससे धनरूपी दूध ले और उसके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करे ॥ २४१ ॥

जो राजा मोहवश प्रजा को बकरी के समान मार डालता है, उसे उससे केवल एक बार ही तृप्ति होती है, दूसरी बार नहीं । (उसे हत्या ही हाथ लगती है, धन नहीं) ॥ २४२ ॥

फल चाहने वाले राजा को चाहिए कि जैसे माली अंकुरों को सींचता है वैसे ही वह दान-सम्मान आदि रूपी जल से उद्योगपूर्वक प्रजा का पालन करे ॥ २४३ ॥

नृपदीपो धनस्नेहं प्रजाभ्यः संहरन्नपि।
आन्तरस्थैर्गुणैः शुभ्रैर्लक्ष्यते नैव केनचित् ॥ २४४ ॥
यथा गौर्दुह्यते काले पाल्यते च तथा प्रजाः।
सिच्यते चीयते चैव लता पुष्पफलप्रदा ॥ २४५ ॥
यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाभिरक्षितः।
फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥ २४६ ॥
हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च।
तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्यान्महीपतेः ॥ २४७ ॥
लोकानुग्रहकर्तारः प्रवर्धन्ते नरेश्वराः।
लोकानां संक्षयाच्चैव क्षयं यान्ति न संशयः' ॥ २४८ ॥

अथ तेषां तद्वचनमाकर्ण्य भासुरक आह–'अहो सत्यमभिहितं भवद्भिः। परं यदि ममोपविष्टस्यात्र नित्यमेव नैकः श्वापदः समागमिष्यति, तन्नूनं सर्वानपि भक्षयिष्यामि।' अथ ते तथैव प्रतिज्ञाय निर्वृतिभाजस्तत्रैव वने

राजा रूपी दीपक प्रजा से धनरूपी तेल खींचते हुए भी अन्तःकरण के उत्तम गुणों (बत्ती के उजले तन्तुओं) के कारण किसी की दृष्टि में नहीं आता ॥ २४४ ॥

जैसे गौ समय पर (सायं-प्रातः) दुही और पालन की जाती है, तथा जिस प्रकार फूल और फल देने वाली लता समय पर सींची और चुनी जाती है, उसी प्रकार प्रजा से भी समय पर 'कर' आदि लेना चाहिए और समय पर उसका पालन-पोषण करना चाहिए ॥ २४५ ॥

जैसे प्रयत्नपूर्वक सुरक्षित छोटा-सा बीज का अंकुर समय आने पर फल-देता है, वैसे ही सुरक्षित प्रजा भी गाढ़े समय पर काम आती है ॥ २४६ ॥

सुवर्ण, धान्य, रत्न, विविध प्रकार की सवारियाँ तथा और भी जो कुछ राजा के पास है वह सब उसे प्रजा से ही प्राप्त होता है ॥ २४७ ॥

प्रजा पर कृपा करने वाले राजाओं की वृद्धि होती है और प्रजा को कष्ट देने वाले राजा निस्सन्देह नष्ट हो जाते हैं ॥ २४८ ॥

इसके बाद उन लोगों की बात सुनकर भासुरक ने कहा—'हाँ हाँ ! तुम लोगों ने सत्य कहा। किन्तु यदि मेरे यहाँ बैठे हुए ही प्रतिदिन एक पशु न आवेगा तो पुनः मैं सबों को अवश्य भक्षण कर लूँगा'। तदनन्तर वे वैसी ही प्रतिज्ञा कर, निश्चिन्त हो, उसी वन में निःशंक होकर भ्रमण करने लगे। और

निर्भयाः पर्यटन्ति। एकश्च प्रतिदिनं क्रमेण याति। वृद्धो वा, वैराग्ययुक्तो वा, शोकग्रस्तो वा, पुत्रकलत्रनाशभीतो वा, तेषां मध्यात्तस्य भोजनार्थं मध्याह्नसमय उपतिष्ठते।

अथ कदाचिज्जातिक्रमाच्छशकस्यावसरः समायातः। स समस्तमृगैः प्रेरितोऽनिच्छन्नपि मन्दं मन्दं गत्वा तस्य वधोपायं चिन्तयन्वेलातिक्रमं कृत्वाव्याकुलितहृदयो यावद्गच्छति तावन्मार्गे गच्छता कूपः संदृष्टः। यावत्कूपोपरि याति तावत्कूपमध्य आत्मनः प्रतिबिम्बं ददर्श। दृष्ट्वा च तेन हृदये चिन्तितम्—यद् भव्य उपायोऽस्ति। अहं भासुरकं प्रकोप्य स्वबुद्ध्यास्मिन्कूपे पातयिष्यामि।' अथासौ दिनशेषे भासुरकसमीपं प्राप्तः। सिंहोऽपि वेलातिक्रमेण क्षुत्क्षामकण्ठः कोपाविष्टः सृक्कणी परिलेलिहद् व्यचिन्तयत्—'अहो, प्रातराहाराय निःसत्त्वं वनं मया कर्तव्यम्। एवं चिन्तयतस्तस्य शशको मन्दं मन्दं गत्वा प्रणम्य तस्याग्रे स्थितः। अथ तं प्रज्वलितात्मा भासुरको भर्त्सयन्नाह—'रे शशकाधम एकस्तावत्त्वं लघुः प्राप्तोऽपरतो वेलातिक्रमेण। तदस्मादपराधात्त्वां निपात्य प्रातः सकला-

---

एक जानवर प्रतिदिन क्रम से जाने लगा। चाहे वृद्ध हो, वैरागी हो या दुखी हो, अथवा पुत्र और स्त्री के नाश से भयातुर हो परन्तु उनमें से एक उसके भोजन के लिए मध्याह्न के समय पहुँच जाता था।

इसके बाद किसी समय जाति के क्रम से शशक (खरहे) का अवसर आया। वह समस्त पशुओं द्वारा प्रेरित होकर इच्छा न रहने पर भी धीरे-धीरे जाता हुआ, उसको मारने का उपाय सोचता, समय को बिताकर व्यग्र मन हो जा ही रहा था कि मार्ग में जाते हुए उसने एक कुआँ देखा। जब कुएँ के ऊपर गया तब कुएँ में अपनी परछाँही उसे दिखाई पड़ी। देखकर उसने मन में विचार किया 'यह बहुत सुन्दर उपाय है, मैं भासुरक को क्रुद्ध कर, अपनी बुद्धि से इसी कुएँ में गिराऊँगा। तब यह सायंकाल भासुरक के समीप पहुँचा। सिंह भी समय बीत जाने के कारण, भूख के मारे कण्ठ शुष्क हो जाने से, क्रुद्ध हो ओठों को चाटता हुआ विचार कर रहा था—'अहो! कल प्रातःकल ही भोजन के लिए समस्त वन को मैं जन्तुहीन कर दूँगा।' इस प्रकार यह सोच ही रहा था कि खरहा धीरे-धीरे जा कर, प्रणाम कर उसके आगे खड़ा हो गया। इसके बाद क्रोध के कारण लाल हो भासुरक ने धुड़कते हुए कहा—'क्यों रे नीच शशक! एक तो तू इतना छोटा-सा आया है और दूसरे समय

न्यपि मृगकुलान्युच्छेदयिष्यामि। अथ शशकः सविनयं प्रोवाच—'स्वामिन्, नापराधो मम, न च सत्त्वानाम्—तच्छ्रूयतां कारणम्। सिंह आह—सत्वरं निवेदय यावन्मम दंष्ट्रान्तर्गतो न भवान्भविष्यति' इति। शशक आह—'स्वामिन्, समस्तमृगैरद्य जातिक्रमेण मम लघुतरस्य प्रस्तावं विज्ञाय ततोऽहं पञ्चशशकैः समं प्रेषितः। ततश्चाहमागच्छेन्नन्तराले महता केनचिदपरेण सिंहेन विवरान्निर्गत्याभिहितः—'रे क्व प्रस्थिता यूयम्। अभीष्टदेवतां स्मरत'। ततो मयाभिहितम्—'वयं स्वामिनो भासुरकसिंहस्य सकाशमाहारार्थं समयधर्मेण गच्छामः'। ततस्तेनाभिहितम्—यद्येवं तर्हि मदीयमेतद्वनम्। मया सह समयधर्मेण समस्तैरपि श्वापदैर्वर्त्तितव्यम्। चोररूपी स भासुरकः। अथ यदि सोऽत्र राजा, विश्वासस्थाने चतुरः शशकानत्र धृत्वा तमाहूय द्रुततरमागच्छ। येन यः कश्चिदावयोर्मध्यात्पराक्रमेण राजा भविष्यति स सर्वानेतान्भक्षयिष्यति' इति। ततोऽहं तेनादिष्टः स्वामिसकाशमभ्यागतः। एतद्वेला व्यतिक्रमकारणम्। तदत्र स्वामी

व्यतीत कर। इस अपराध से तुझे मार कर प्रातःकाल समस्त जानवरों का नाश कर दूँगा।' तदनन्तर खरहे ने विनयपूर्वक कहा—'स्वामिन्! इसमें न तो मेरा अपराध है और न दूसरे जानवरों का। इसलिए इसका कारण सुनिये।' सिंह ने कहा—'शीघ्र कहो, जब तक तू मेरी दाढ़ी के अन्दर नहीं आ जाता।' खरहे ने कहा—'स्वामिन्! समस्त जानवरों ने आज जाति के क्रम से मुझे अत्यन्त अल्पकाय जान कर, पाँच खरहों के साथ भेजा। हम लोग आ रहे थे कि—'रास्ते में, एक किसी दूसरे बड़े सिंह ने अपनी माँद से निकल कर कहा—'अरे तुम लोग कहाँ जा रहे हो? अपने इष्टदेव का स्मरण करो? तब हमने उत्तर दिया—'हम लोग स्वामी भासुरक नामक सिंह के निकट, भोजन के लिए प्रतिज्ञानुसार जा रहे हैं।' तदनन्तर उसने कहा—'यदि ऐसी बात है, तो यह वन मेरा है। मेरे साथ प्रतिज्ञानुसार समस्त जन्तुओं को आचरण करना चाहिए। वह भासुरक तो चोर है। यदि वह इस वन का राजा है तो विश्वास के लिए चार खरहों को यहाँ छोड़कर जाओ और उसे बुलाकर शीघ्र आ जाओ। हम दोनों में जो कोई अपने पराक्रम से राजा होगा, वही इन सब पशुओं को खाएगा।' सो मैं उसकी आज्ञा पाने पर आपके पास आया हूँ। समय बीतने का यही कारण है। इस लिए इसमें स्वामी ही प्रमाण हैं। अर्थात् श्रीमान् जैसा

प्रमाणम्।' तच्छ्रुत्वा भासुरक आह—भद्र, यद्येवं तत्सत्वरं दर्शय मे तं चौरसिंहं येनाहं मृगकोपं तस्योपरि क्षिप्त्वा स्वस्थो भवामि। उक्तञ्च—

भूमिर्मित्रं हिरण्यं च विग्रहस्य फलत्रयम्।
नास्त्येकमपि यद्येषां न तं कुर्यात्कथंचन॥ २४९॥

यत्र न स्यात्फलं भूरि यत्र च स्यात्पराभवः।
न तत्र मतिमान्युद्धं समुत्पाद्य समाचरेत्॥ २५०॥

शशक आह—'स्वामिन्, सत्यमिदम्। स्वभूमिहेतोः परिभवाच्च युध्यन्ते क्षत्रियाः। परं स दुर्गाश्रयः दुर्गान्निष्क्रम्य वयं तेन विष्कम्भिताः। ततो दुर्गस्थो दुःसध्यो भवति रिपुः। उक्तञ्च—

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम्।
यत्कृत्यं साध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन सिद्ध्यति॥ २५१॥
शतमेकोऽपि संधत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः।
तस्माद् दुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविचक्षणाः॥ २५२॥

उचित समझें वैसा करें। ऐसा सुन कर भासुरक ने कहा—'भद्र! यदि ऐसा है तो जल्दी उस चोर सिंह को दिखलाओ जिससे जन्तुओं का क्रोध उस पर निकाल कर शान्त हो जाऊँ। कहा भी है—

भूमि, मित्र और सुवर्ण ये तीन विग्रह—लड़ाई के फल हैं। यदि इनमें से एक के भी मिलने की सम्भावना न हो तो वहाँ युद्ध कदापि न करे॥ २४९॥

जहाँ विशेष फल की प्राप्ति न हो और पराजय की आशंका हो वहाँ बुद्धिमान् को चाहिए कि संग्राम का बीजारोपण न करे'॥ २५०॥

खरहे ने कहा—स्वामिन्! यह सत्य बात है। अपनी गई हुई भूमि को पाने के लिए अपमानित होने पर ही क्षत्रियगण संग्राम करते हैं, किन्तु उसने दुर्ग का आश्रय लिया है। दुर्ग से वाहर आकर उसने हम लोगों को रोक लिया था। दुर्ग में रहने वाला शत्रु दुःसाध्य होता है। कहा भी है—

जो कार्य हजारों हाथियों और लाखों घोड़ों से भी सिद्ध नहीं होता, राजाओं का वह कार्य केवल एक दुर्ग से सिद्ध हो जाता है॥ २५१॥

किले में रहने वाला एक धनुर्धारी भी सैंकड़ों पर (अपने बाणों का) निशाना लगा सकता है। इसलिए नीतिशास्त्र के ज्ञाता लोग दुर्ग की प्रशंसा करते हैं॥ २५२॥

पुरा गुरोः समादेशाद्धिरण्यकशिपोर्भयात् ।
शक्रेण विहितं दुर्गं प्रभावाद्विश्वकर्मणः ॥ २५३ ॥
तेनापि च वरो दत्तो यस्य दुर्गं स भूपतिः ।
विजयी स्यात्ततो भूमौ दुर्गाणि स्युः सहस्रशः ॥ २५४ ॥
दंष्ट्राविरहितो नागो मदहीनो यथा गजः ।
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः' ॥ २५५ ॥

तच्छ्रुत्वा भासुरक आह—'भद्र, दुर्गस्थमपि दर्शय तं चौरसिंहं येन व्यापादयामि । उक्तं च—

जातमात्रं न यः शत्रुं रोगं च प्रशमं नयेत् ।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ २५६ ॥

तथा च—उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च ॥ २५७ ॥

अपि च—उपेक्षितः क्षीणबलोऽपि शत्रुः प्रमाददोषात्पुरुषैर्मदान्धैः ।
साध्योऽपि भूत्वा प्रथमं ततोऽसावसाध्यतां व्याधिरिव प्रयाति ॥२५८॥

प्राचीन समय में गुरु (बृहस्पति) के आदेश से और हिरण्यकशिपु के भय से इन्द्र ने विश्वकर्मा की सहायता से दुर्ग का निर्माण कराया था ।। २५३ ।।

और उस विश्वकर्मा ने वर भी दे दिया कि जिसके पास दुर्ग रहेगा वह राजा निश्चय ही विजयी होगा । उसी समय से भूतल पर हजारों दुर्ग बनाये गए ।। २५४ ।।

जिस प्रकार दाँतों के बिना साँप और मद से रहित हाथी—ये दोनों सबके वश में हो जाते हैं, उसी प्रकार दुर्गहीन राजा सबके वश में हो जाता है ।। २५५ ।।

उसे सुन कर भासुरक ने कहा—'भद्र ! दुर्ग में भी रहने वाले उस चोर सिंह को दिखलाओ, जिससे (मैं) मार डालूँ । कहा है—

जो उत्पन्न होते ही शत्रु और रोग को अपने अधीन में नहीं करता, वह महाबली होने पर भी उसकी वृद्धि होने से उससे मारा जाता है ।। २५६ ।।

और भी—अपनी भलाई चाहने वाले मनुष्य को चाहिए कि अपने उठते हुए शत्रु की उपेक्षा न करे । क्योंकि महापुरुष ने कहा है कि बढ़ते हुए शत्रु और रोग दोनों समान रूप से दुःखदायी होते हैं ।। २५७ ।।

और भी—मदान्ध पुरुषों के लापरवाही रूप दोष से, उपेक्षित दुर्बल भी शत्रु पहले साध्य होकर भी बाद में रोग के समान असाध्य हो जाता है ।।२५८।।

तथा च—आत्मनः शक्तिमुद्वीक्ष्य मानोत्साहं च यो व्रजेत्।
बहून् हन्ति स एकोऽपि क्षत्रियान्भार्गवो यथा' ॥ २५९ ॥

शशक आह—'अस्त्येतत्। तथापि बलवान्स मया दृष्टः। तन्न युज्यते स्वामिनस्तस्य सामर्थ्यमविदित्वा गन्तुम्। उक्तञ्च—

अविदित्वात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥ २६० ॥
यो बलात्प्रोन्नतं याति निहन्तुं सबलोऽप्यरिम्।
विमदः स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥ २६१ ॥

भासुरक अहा—'भोः, किं तवानेन व्यापारेण। दर्शय मे तं दुर्गस्थमपि।' अथ शशक आह—'यद्येवं तर्ह्यागच्छतु स्वामी।' एवमुक्त्वाग्रे व्यवस्थितः। ततश्च तेनागच्छता यः कूपो दृष्टोऽभूत्तमेव कूपमासाद्य भासुरकमाह—'स्वामिन्, कस्ते प्रतापं सोढुं समर्थः। त्वां दृष्ट्वा दूरतोऽपि चौरसिंहः प्रविष्टः स्वं दुर्गम्। तदागच्छ येन दर्शयामि' इति। भासुरक

और भी—जो अपनी शक्ति को देखकर मान तथा उत्साह को प्राप्त करता है, वह अकेला होता हुआ भी बहुतों को मारता है, जैसे अकेले परशुराम ने बहुत से क्षत्रियों का संहार किया था ॥ २५९ ॥

शशक ने कहा—'यद्यपि यह ठीक है, तथापि मुझे वह बलवान् दिखाई पड़ता है, अतः उसके सामर्थ्य को जाने बिना स्वामी का वहाँ जाना उचित नहीं है। कहा भी है—

अपनी शक्ति और शत्रु की शक्ति का पता लगाए बिना जो बहुत शीघ्रता में सामने जाता है वह अग्नि के ऊपर गए हुए पतंग के समान नष्ट हो जाता है ॥ २६० ॥

जो सबल प्राणी भी (शत्रु का बल समझे बिना) अपने से प्रबल शत्रु को मारने के लिए जाता है, वह दाँत टूटे हुए हाथी के समान मदहीन (विफल) होकर लौट आता है' ॥ २६१ ॥

भासुरक ने कहा—अरे ! तुझे इस बात के कहने से क्या मतलब ? मुझे 'किले में स्थित भी उसको दिखाओ।' तब खरगोश ने कहा—'स्वामी ! यदि ऐसी बात है तो आइए।' ऐसा कह कर आगे चला। तब उसने आते समय जो कूप देखा था उसी कूप पर पहुँच कर भासुरक से कहा—'स्वामिन् ! आपका तेज सह सकने में कौन समर्थ है ? आपको दूर से ही आते देखकर वह चोर सिंह अपने

आह—'दर्शय मे दुर्गम् ।' तदनु दर्शितस्तेन कूपः। ततः सोऽपि मूर्खः सिंहः कूपमध्य आत्मप्रतिबिम्बं जलमध्यगतं दृष्ट्वा सिंहनादं मुमोच। ततः प्रतिशब्देन कूपमध्याद् द्विगुणतरो नादः समुत्थितः। अथ तेन तं शत्रुं मत्वात्मानं तस्योपरि प्रक्षिप्य प्राणाः परित्यक्ताः। शशकोऽपि हृष्टमनाः सर्वमृगानानन्द्य तैः सह प्रशस्यमानो यथासुखं तत्र वने निवसति स्म। अतोऽहं ब्रवीमि—'यस्य बुद्धिर्बलं तस्य' इति। तद्यदि भवान्कथयति, तत्तत्रैव गत्वा तयोः स्वबुद्धिप्रभावेण मैत्रीभेदं करोमि।' करटक आह—'भद्र, यद्येवं तर्हि गच्छ। शिवास्ते पन्थानः सन्तु। यथाभिप्रेतमनुष्ठीय्ताम् ।'

अथ दमनकः संजीवकवियुक्तं पिङ्गलकमवलोक्य तत्रान्तरे प्रणम्याग्रे समुपविष्टः। पिंगलकोऽपि तमाह—'भद्र, किं चिराद्दृष्टः। दमनक आह—'न कञ्चिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम्, तेनाहं नागच्छामि। तथापि राजप्रयोजनविनाशमवलोक्य संदह्यमानहृदयो व्याकुलतया स्वयमेवाभ्यागतो वक्तुम्। उक्तं च—

किले में घुस गया, आइए मैं दिखाऊँ।' भासुरक ने कहा—'दिखाओ मुझे दुर्ग।' इसके अनन्तर उस खरगोश ने कुआँ दिखला दिया। तब उस मूर्ख सिंह ने भी कुएँ के जल के मध्य अपनी परछाहीं देखकर बड़ी जोर से दहाड़ मारी। तब उसकी प्रतिध्वनि से कुएँ में से द्विगुणित शब्द उत्पन्न हुआ। तब उसने उसे शत्रु समझ कर उसके ऊपर अपने को फेंककर अपने प्राण त्याग दिये। खरगोश भी प्रसन्न होकर, समस्त जानवरों को आनन्दित कर उनके द्वारा प्रशंसित हो, सुखपूर्वक उस वन में रहने लगा। इसी से मैं कहता हूँ—जिसके पास बुद्धि है उसके पास बल है, इत्यादि। अतः यदि आप कहें तो वहाँ जाकर मैं अपनी बुद्धि के प्रभाव से उनमें फूट डाल दूँ। करटक ने कहा—'भद्र! ऐसी बात है तो जाओ, तुम्हारे मार्ग मङ्गलकारी हों। तुम अपना अभिलषित कार्य पूर्ण करो।'

तदनन्तर सञ्जीवक से अलग हुए पिङ्गलक को देखकर दमनक उसी समय प्रणाम कर, उसके आगे बैठ गया। पिङ्गलक ने भी उससे कहा—'भद्र! आप बहुत दिन के बाद दिखाई क्यों पड़े?' दमनक ने कहा—'श्रीमान् के चरणों को मुझसे कुछ प्रयोजन नहीं था, इसलिए मैं नहीं आता था, किन्तु राजकार्य का नाश देखकर व्यथित होकर व्यग्रता के कारण स्वयं ही कहने के लिए आया हूँ। कहा भी है—

प्रियं वा यदि वा द्वेष्यं शुभं वा यदि वाशुभम्।
अपृष्टोऽपि हितं वक्ष्येद्यस्य नेच्छेत्पराभवम्' ॥ २६२ ॥

अथ तस्य साभिप्रायं वचनमाकर्ण्य पिंगलक आह—'किं वक्तुमना भवान्। तत्कथ्यतां यत्कथनीयमस्ति।' स प्राह—'देव संजीवको युष्मत्पादानामुपरि द्रोहबुद्धिरिति। विश्वासगतस्य मम विजने इद-माह—'भो दमनक, दृष्टा मयास्य पिंगलकस्य सारासारता। तदह-मेनं हत्वा सकलमृगाधिपत्यं त्वत्साचिव्यपदवीसमन्वितं करिष्यामि। पिंगलकोऽपि तद्वज्रसारप्रहारसदृशं दारुणं वचः समाकर्ण्य मोहमुपगतो न किंचिदप्युक्तवान्। दमनकोऽपि तस्य तमाकारमालोक्य चिन्तितवान्—'अयं तावत्संजीवकनिबद्धरागः। तन्नूनमनेन मन्त्रिणा राजा विनाश-मवाप्स्यति' इति। उक्तञ्च—

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदाद्दास्येन निर्विद्यते।
निर्विण्णस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणेष्वभिद्रुह्यते ॥ २६३ ॥

जो जिसकी पराजय नहीं चाहता हो उसे चाहिए कि प्रिय अथवा द्वेष संयुक्त अच्छी या बुरी हितकारी बात बिना पूछे ही उससे कह दें ॥ २६२ ॥

इसके बाद गूढ़ अभिप्रायपूर्ण वचनों को सुनकर पिङ्गलक ने कहा—'आप क्या कहना चाहते हैं ? जो कहने योग्य बात हो उसे स्पष्ट कह डालिए।' उसने कहा—'महाराज ! सञ्जीवक आपके चरणों में द्रोहबुद्धि रखता है। उसने मुझ विश्वासपात्र के प्रति एकान्त में ऐसी बात कही है कि—'हे दमनक। मैंने इस पिङ्गलक राजा का बलाबल देख लिया, अतः मैं इसे मार कर समस्त प्राणियों का आधिपत्य ग्रहण करूँगा और तुम्हें मन्त्री के पद से अलङ्कृत करूँगा।' पिङ्गलक उसके वज्र के समान कठोर प्रहारयुक्त दारुण वचन सुनकर, मोह (चेतना रहित) हो जाने के कारण कुछ कह न सका। दमनक भी उसकी मुखाकृति देखकर विचार करने लगा—'यह तो सञ्जीवक के प्रेम में बद्ध है, अतः इस मन्त्री से राजा अवश्य ही विनाश को प्राप्त होगा'। कहा भी है—

राजा जब एक ही मन्त्री को राजकार्यों में प्रामाणिक अधिकारी मानता है तब उस मन्त्री को मोह के कारण अहंकार होता है और वह अहंकार से दासता (राजसेवा) के कारण दुखी होता है। दुखी होने पर उसके हृदय में अपनी

तत्किमत्र युक्तम्' इति। पिङ्गलकोऽपि चेतनां समासाद्य कथमपि तमाह—'संजीवकस्तावत्प्राणसमो भृत्यः। स कथं ममोपरि द्रोहबुद्धिं करोति।' दमनक आह—'देव, भृत्योऽभृत्य इत्यनैकान्तिकमेतत्। उक्तञ्च—

न सोऽस्ति पुरुषो राज्ञां यो न कामयते श्रियम्।
अशक्ता एव सर्वत्र नरेन्द्रं पर्युपासते'॥ २६४॥

पिङ्गलक आह—'भद्र, तथापि मम तस्योपरि चित्तवृत्तिर्न विकृतिं याति। अथवा साध्विदमुच्यते—

अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः।
कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः'॥ २६५॥

दमनक आह—'अत एवायं दोषः। उक्तञ्च—

यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुरारोपयति पार्थिवः।
अकुलीनः कुलीनो वा स श्रिया भाजनं नरः॥ २६६॥

स्वाधीनता के प्रति अभिलाषा जागती है, और उस स्वाधीनेच्छा के कारण वह राजा के प्राणों से द्रोह करता है (अर्थात् राजा को भी मारने की अभिलाषा करता है)॥ २६३॥

तो इस अवसर पर क्या करना चाहिए।' पिंगलक ने किसी प्रकार चैतन्य (होश) में आकर उससे कहा 'दमनक! सञ्जीवक तो मेरा प्राणों के समान प्रिय सेवक है। वह मुझ पर द्रोहबुद्धि कैसे करेगा?' दमनक ने कहा–'महाराज! सेवक सर्वदा सेवक ही रहे, यह निश्चित नहीं है। कहा भी है—

राजा का कोई ऐसा सेवक नहीं मिलेगा जो राज्यश्री की अभिलाषा न करता हो किन्तु एक मात्र असमर्थ मनुष्य ही सब प्रकार से राजा की सेवा करते हैं'॥ २६॥

पिंगलक ने कहा—भद्र! तथापि उसके ऊपर मेरी चित्तवृत्ति विकृत नहीं होती। अथवा यह उचित ही कहा गया है:—

अनेक दोषों से दूषित होने पर भी अपना शरीर किसे प्रिय नहीं है। किन्तु अनेक विरुद्ध आचरण करने पर भी जो प्रिय बना रहता है, वही वास्तव में प्रिय है'॥ २६५॥

दमनक ने कहा—'इसलिए तो यह दोष है। कहा भी है—

राजा जिस व्यक्ति पर अधिक कृपादृष्टि रखता है, वह चाहे अकुलीन अथवा कुलीन हो, किन्तु लक्ष्मी का पात्र अवश्य हो जाता है॥ २६६॥

अपरं केन गणविशेषेण स्वामी सञ्जीवकं निर्गुणकमपि निकटे धारयति। अथ देव, यद्येवं चिन्तयसि महाकायोऽयम्। अनेन रिपून् व्यापादयिष्यामि। तदस्मान्न सिध्यति, यतोऽयं शष्पभोजी। देवपादानां पुनः शत्रवो मांसाशिनः। तद्रिपुसाधनमस्य साहाय्येन न भवति। तस्मादेनं दूषयित्वा हन्यताम्' इति। पिंगलक आह—

उक्तो भवति यः पूर्वं गुणवानिति संसदि।
तस्य दोषो न-वक्तव्यः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा॥ २६७॥

अन्यच्च। मयास्य तव वचनेनाभयप्रदानं दत्तम्। तत्कथं स्वयमेव व्यापादयामि। सर्वथा सञ्जीवकोऽयं सुहृदस्माकम्। न तं प्रति कश्चिन्मन्युरिति। उक्तञ्च—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्॥ २६८॥

आदौ न वा प्रणयिनां प्रणयो विधेयो
दत्तोऽथवा प्रतिदिनं परिपोषणीयः।

फिर स्वामी किस विशेष गुण के कारण गुणहीन सञ्जीवक को अपने निकट रखे हुए हैं? महाराज! यदि आप सोचते हों कि यह महाकाय और बलवान् है, इसके द्वारा मैं शत्रुओं को मार डालूँगा, तो यह भी इससे सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि यह घास खाने वाला है और श्री चरणों (आप) के शत्रु मांसाहारी हैं, अतः इसकी सहायता से शत्रु से बदला नहीं लिया जा सकता। इसलिए इस पर दोष लगाकर आप मार डालिए।' पिंगलक ने कहा—

यदि कोई किसी के लिए सभा में पहले यह कह दे कि 'यह गुणवान् है' तो फिर अपनी प्रतिज्ञा भंग हो जाने की आशङ्का से बाद में उसके दोष को न कहे॥ २६७॥

और भी—मैंने तुम्हारे कहने से ही इसको अभयदान दिया है। फिर स्वयं कैसे इसे मार सकता हूँ। यह सञ्जीवक सब तरह से हमारा मित्र है। अतः उसके प्रति हमें थोड़ा भी क्रोध नहीं है। कहा भी है—

वह तारकासुर मुझसे विभूति प्राप्त कर चुका है, अतः मेरे हाथों वध के योग्य नहीं है, क्योंकि अपने हाथों विषवृक्ष को भी बढ़ाकर फिर उसे स्वयं काटना उचित नहीं है॥ २६८॥

उत्क्षिप्य यत्क्षिपति तत्प्रकरोति लज्जां
भूमौ स्थितस्य पतनाद्भयमेव नास्ति ॥ १६९ ॥
उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥ २७० ॥

तद्द्रोहबुद्धेरपि मयास्य न विरुद्धमाचरणीयम्।' दमनक आह— स्वामिन्, नैष राजधर्मो यद्द्रोहबुद्धिरपि क्षम्यते। उक्तं च—

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मर्मज्ञं व्यवसायिनम्।
अर्धराज्यहरं भृत्यं यो न हन्यात्स हन्यते ॥ २७१ ॥

अपरं त्वयास्य सखित्वात्सर्वोऽपि राजधर्मः परित्यक्तः राजधर्माभावात्सर्वोऽपि परिजनो विरक्तिं गतः। यः सञ्जीवकः शष्पभोजी, भवान्मांसादः, तव प्रकृतयश्च। यत्तवावध्यव्यसायबाह्यं कुतस्तासां

पहले तो प्रेमियों को प्रेम करना ही नहीं चाहिए। यदि प्रेम कर लें तो उसका बराबर पालन करता ही रहे। किसी की बाँह पकड़कर (अर्थात् स्नेह करके) जो छोड़ देता है तो उससे लज्जा होती है, क्योंकि जिस प्रकार पृथ्वी पर बैठने वाले को गिरने की आशङ्का ही नहीं रहती, उसी प्रकार प्रेम-बन्धन में बंधे न रहने से उसके पतन की आशङ्का ही नहीं होती ॥ २६९ ॥

जो उपकार करने वालों के प्रति उपकार करता है तो उसके उपकारीपन में कौन सा गुण हुआ ? जो अपकार करने वालों के प्रति सरल व्यवहार करता है वही यथार्थतः सज्जनों द्वारा साधु कहा गया है ॥ २७० ॥

अतः इसके द्रोह बुद्धि रखने पर भी मैं इसके विरुद्ध आचरण नहीं कर सकता।' दमनक ने कहा—'स्वामिन् ! यह राजधर्म नहीं है कि द्रोह रखनेवाले को भी क्षमा कर दिया जाय। कहा है—

तुल्य धन (राज्य की अभिलाषा) वाले, तुल्य सामर्थ्य वाले रहस्य की बात जाननेवाले, उद्योगी और आधा राज्य हरण कर लेनेवाले सेवक को जो नहीं मारता वह स्वयं उसके हाथों मारा जाता है ॥ २७१ ॥

इसके अतिरिक्त इसकी मैत्री के कारण आपने राज्यधर्म छोड़ दिया है। राज्यधर्म के अभाव से सब सेवक भी आपसे विरक्त हो गये हैं। वह संजीवक घास भक्षण करनेवाला है और आप मांस खानेवाले हैं, और आपके अनुचर भी (मांसाहारी हैं)। जो आपने जीवों को मारना छोड़ दिया है तो उनको मांस

मांसाशनम्। यद्रहितास्तास्त्वां त्यक्त्वा यास्यन्ति। ततोऽपि त्वं विनष्ट एव। अस्य संगत्या पुनस्ते न कदाचिदाखेटके मतिर्भविष्यति।

उक्तं च—यादृशैः सेव्यते भृत्यैर्यादृशांश्चोपसेवते।
कदाचिन्नात्र सन्देहस्तादृग्भवति पूरुषः॥ २७२॥

तथा च—संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वातौ सागरशुक्तिकुक्षिपतितं तज्जायते मौक्तिकं
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संवासतो जायते॥ २७३॥

तथा च—असतां सङ्गदोषेण साधवो यान्ति विक्रियाम्।
दुर्योधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गतः॥ २७४॥

अत एव सन्तो नीचसङ्गं वर्जयन्ति। उक्तं च—
न ह्यविज्ञातशीलस्य प्रदातव्यः प्रतिश्रयः।
मत्कुणस्य च दोषेण हता मन्दविसर्पिणी'॥ २७५॥

भोजन कहाँ से प्राप्त हो सकेगा? जिसके न मिलने के कारण वे आपको छोड़कर चले जायेंगे। इससे भी आपका नाश हो जायगा। इसकी संगति से फिर कभी भी आपकी बुद्धि शिकार में प्रवृत्त नहीं होगी।

कहा भी है—जो मनुष्य जिस प्रकार के सेवकों द्वारा सेवन किया जाता है अथवा जिस प्रकार के सेवकों के संग में रहता है वह मनुष्य वैसा ही हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है॥ २७२॥

और भी—अत्यधिक तपे हुए लोहे पर पड़े हुए जल का नाम तक नहीं मालूम नहीं पड़ता और वही जल कमलिनी के पत्ते पर पड़ा हुआ मोती के समान शोभित होता है, स्वाती नक्षत्र में वही जल समुद्र की सीपी के अन्दर पड़कर मुक्ता (मोती) बन जाता है। अतएव यह ठीक है कि प्रायः संगति से पुरुष में अधम, मध्यम और उत्तम गुण आ जाते हैं॥ २७३॥

और भी—असत् पुरुषों की संगति के दोष से सज्जन लोग भी बिगड़ जाते हैं, जिस प्रकार दुर्योधन के संग में रहने से भीष्मपितामह भी (राजा विराट् की) गौओं को चुराने के लिए गये थे॥ २७४॥

इसीलिये सज्जनगण (अच्छे लोग) नीचों की संगति नहीं करते। कहा भी है—

जिसका स्वभाव ज्ञात न हो तो उसे कदापि आश्रय नहीं देना चाहिये क्योंकि एक खटमल के दोष से मन्दविसर्पिणी जूँ मारी गयी'॥ २७५॥

पिङ्गलक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

कथा ९

अस्ति कस्यचिन्महीपतेः कस्मिंश्चित्स्थाने मनोरमं शयनस्थानम् । तत्र शुक्लतरपटयुगलमध्यसंस्थिता मन्दविसर्पिणी नाम श्वेता यूका प्रतिवसति स्म । सा च तस्य महीपते रक्तमास्वादयन्ती सुखेन कालं नयमाना तिष्ठति । अन्येद्युश्च तत्र शयने क्वचिद् भ्राम्यन्नग्निमुखो नाम मत्कुणः समायातः । अथ तं दृष्ट्वा सा विषण्णवदना प्रोवाच—'भो अग्निमुख, कुतस्त्वमत्रानुचितस्थाने समायातः । तद्यावन्न कश्चिद्वेत्ति, तावच्छीघ्रं गम्यताम्' इति । स आह—'भगवति, गृहागतस्यासाधोरपि नैतद्युज्यते वक्तुम् । उक्तं च—

एह्यागच्छसमाश्वासनमिदं कस्माच्चिराद् दृश्यते
का वार्ता न्वतिदुर्बलोऽसि कुशल प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ।
एवं नीचजनेऽपि युज्यति गृहे प्राप्ते सतां सर्वदा
धर्मोऽयं गृहमेधिनां निगदितः स्मार्तैर्लघुः स्वर्गदः ॥२७६॥

पिंगलक ने पूछा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

किसी राजा के किसी स्थान पर मनोहर शयनागार था । वहाँ अत्यन्त सफेद दुपट्टे के बीच मन्दविसर्पिणी नाम की सफेद जूँ रहती थी । वह उस राजा के रक्त का पान करती हुई आनन्दपूर्वक समय बिताती थी । किसी दूसरे दिन उसी शयनागार में कहीं से घूमता फिरता 'अग्निमुख' नाम का खटमल आया । उसे देख उदास मुँह हो उस दुखित (जूँ) ने कहा—'अरे अग्निमुख ! तुम कहाँ से अपने रहने के अयोग्य स्थान में आ गये ? इसलिए जब तक किसी को पता न चले तब तक शीघ्रता से चले जाओ ।' उसने कहा कि 'हे देवी ! अपने घर पर आये हुए दुर्जन पुरुषों के प्रति भी इस प्रकार कहना उचित नहीं है, क्योंकि कहा है—

आइये, आइये ! यह आसन है, विश्राम कीजिए । आप बहुत दिन में दिखलाई दिये ! क्या समाचार है ! आप शरीर से अत्यधिक दुर्बल हो गये हैं ! कुशलपूर्वक तो है न ? आपके दर्शन से हम प्रसन्न हुए !' इस प्रकार की बात सज्जन पुरुष नीच पुरुषों के भी घर आने के समय बराबर कहा करते हैं । क्योंकि यह गृहस्थों का धर्म है, जो अत्यधिक स्वल्प है और स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला है—ऐसा धर्मशास्त्र के बनानेवालों ने कहा है ॥ २७६ ॥

अपरं मयानेकमानुषाणामनेकविधानि रुधिराण्यास्वादितान्याहारदोषात्कटुतिक्तकषायाम्लरसास्वादानि, न च मया कदाचिन्मधुररक्तं समास्वादितम्। तद्यदि त्वं प्रसादं करोषि, तदस्य नृपतेर्विविधव्यञ्जनान्नपानचोष्यलेह्यस्वाद्याहारवशादस्य शरीरे यन्मिष्टं रक्तं संजातम्, तदास्वादनेन सौख्यं सम्पादयामि जिह्वाया इति। उक्तं च—

रङ्कस्य नृपतेर्वापि जिह्वासौख्यं समं स्मृतम्।
तन्मात्रं च स्मृतं सारं यदर्थं यतते जनः ॥ २७७ ॥
यद्येवं न भवेल्लोके कर्म जिह्वाप्रतुष्टिदम।
तन्नभृत्यो भवेत्कश्चित्कस्यचिद्वशगोऽथवा ॥ २७८ ॥
यदसत्यं वदेन्मर्त्यो यद्वासेव्यं च सेवते।
यद्गच्छति विदेशं च तत्सर्वमुदरार्थतः ॥ २७९ ॥

इसके अतिरिक्त मैंने अनेक प्रकार मनुष्यों के विविध प्रकार के रुधिरों का आस्वादन किया है। उनमें आहार के दोष से कटु (कड़ुवा), तिक्त (तीता), कषाय (कसैला) और अम्ल (खट्टा) रसों का आस्वादन किया है, परन्तु मैंने कभी भी मधुर रक्त का आस्वादन नहीं किया है। इसलिए यदि तुम कृपा करो तो इस राजा के विविध प्रकार के व्यञ्जन (भोजनसामग्री) अन्न-पान, चोष्य (चूस कर खानेवाली चीज), लेह्य (चाटकर खानेवाली चीज) स्वादिष्ट आहार के करने के कारण जो इसके शरीर में 'मीठा रक्त उत्पन्न हो गया है, उसके आस्वादन से अपनी जिह्वा का सौख्य-सम्पादन (तृप्ति) करूँ। क्योंकि कहा है—

गरीब और राजा दोनों के लिए जिह्वा का सौख्य बराबर कहा गया है। यहाँ जिह्वा के सुख के लिए मनुष्य जितना प्रयत्न करता है, बस इस संसार में उतना ही सार है ॥ २७७ ॥

यदि इस संसार में इस प्रकार जिह्वा को सन्तुष्ट करने वाला कोई कर्म न हो तो कोई न किसी का नौकर होता और न वशीभूत ही होता ॥ २७८ ॥

मनुष्य जो असत्य बोलता है अथवा असेवनीय (अधम) पुरुष की सेवा करता है और जो विदेश जाता है—ये सब कर्म केवल पेट के लिए ही किये जाते हैं ॥ २७९ ॥

तन्मया गृहागतेन बुभुक्षया पीड्यमानेन त्वत्सकाशाद् भोजनमर्थं-नीयम्, तन्न त्वयैकाकिन्यास्य भूपते रक्तभोजनं कर्तुं युज्यते।' तच्छ्रुत्वा मन्दविसर्पिण्याह—'भो मत्कुण, अहमस्य नृपतेर्निद्रावशं गतस्य रक्तमास्वादयामि। पुनस्त्वमग्निमुखश्चपलश्च। तद्यदि मया सह रक्तपानं करोषि तत्तिष्ठ। अभीष्टतरं रक्तमास्वादय।' सोऽब्रवीत्—'भगवति, एवं करिष्यामि। यावत्त्वं नास्वादयसि प्रथमं नृपरक्तम्; तावन्मम देवगुरुकृतः शपथः स्यात्, यदि तदास्वादयामि।' एवं तयोः परस्परं वदतोः स राजा तच्छयनमासाद्य प्रसुप्तः। अथासौ मत्कुणो जिह्वालौल्यप्रकृष्टौत्सुक्याज्जाग्रतमपि तं महीपतिमदशत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

> स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा।
> सुतप्तमपि पानीयं पुनर्गच्छति शीतताम्॥ २८०॥
> यदि स्याच्छीतलो वह्निः शीतांशुर्दहनात्मकः।
> न स्वभावेऽत्र मर्त्यानां शक्यते कर्तुमन्यथा॥ २८१॥

तो घर में आये और भूख से व्याकुल प्राणी को (मेरी) तुमसे भोजन की अभिलाषा है। इसलिए इस राजा का तुम्हें अकेले रक्तपान करना उचित नहीं है। इसे सुनकर मन्दविसर्पिणी ने कहा—'अरे खटमल! मैं इस राजा के निद्रा के वशीभूत हो जाने पर रक्त आस्वादन (पान) करती हूँ। फिर तू तो अग्निमुख और चञ्चल है। यदि मेरे साथ रक्तपान करना चाहता है, तो ठहर जा (मेरे पीने के बाद) तू इच्छा भर रक्त का आस्वादन करना।' उसने कहा—'भगवति! ऐसा ही करूँगा। जब तक तू राजा का रक्तपान न कर लेगी तब तक मुझे देव-गुरु की शपथ है यदि मैं रक्तपान करूँगा। इस प्रकार उन दोनों के परस्पर मन्त्रणा करते हुए राजा उस शय्या पर आकर लेट गया। इसके बाद उस खटमल ने जिह्वा की चञ्चलता और अत्यधिक उत्कण्ठा के कारण उस जगते हुए राजा को काट लिया। अथवा सत्य ही कहा है—

उपदेश से किसी के स्वभाव का परिवर्तन नहीं किया जा सकता, क्योंकि अत्यधिक गरम किया हुआ भी पानी फिर ठंडा हो ही जाता है॥ २८०॥

चाहे अग्नि शीतल हो जाय और चन्द्रमा आग उगलने लगे (ये दोनों बातें सम्भव हो सकती हैं) किन्तु मनुष्यों का स्वभाव परिवर्तन कर देना सम्भव नहीं है॥ २८१॥

अथासौ महीपतिः सूच्यग्रविद्ध इव तच्छयनं त्यक्त्वा तत्क्षणादेवोत्थितः—'अहो, ज्ञायतामत्र प्रच्छादनपटे मत्कुणो यूका वा नूनं तिष्ठति, येनाहं दष्टः' इति। अथ ये कञ्चुकिनस्तत्र स्थितास्ते सत्वरं प्रच्छादनपटं गृहीत्वा सूक्ष्मदृष्ट्या वीक्षांचक्रुः। अत्रान्तरे स मत्कुणश्चापल्यात्खट्वान्तं प्रविष्टः। सा मन्दविसर्पिण्यपि वस्त्रसन्ध्यन्तर्गता तैर्दृष्टा, व्यापादिता च। अतोऽहं ब्रवीमि—'न ह्यविज्ञातशीलस्य' इति। एवं ज्ञात्वा त्वयैष वध्यः। नो चेत्त्वां व्यापादयिष्यति। उक्तं च—

'त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन बाह्याश्चाभ्यन्तरीकृताः।
स एव मृत्युमाप्नोति यथा राजा ककुद्द्रुमः' ॥ २८२॥

पिङ्गलक आह—'कथमेतत्'। सोऽब्रवीत्—

कथा १०

कस्मिंश्चिद्वनप्रदेशे चण्डरवो नाम शृगालः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्क्षुधाविष्टो जिह्वालौल्यान्नगरान्तरे प्रविष्टः। अथ तं नगर-

---

तब वह राजा सूई की नोंक से चुभा हुआ सा अपनी शय्या को छोड़ कर उसी समय उठ कर बैठ गया और बोला—'अरे, देखो तो इस चादर में खटमल या जूँ अवश्य है, जिसने मुझे काट लिया है'। इसके अनन्तर जो कञ्चुकिगण वहाँ उपस्थित थे, वे लोग शीघ्रता से चादर को लेकर सूक्ष्म दृष्टि से देखने लगे। तब वह खटमल चञ्चलता के कारण चारपाई के अन्दर घुस गया। वह मन्दविसर्पिणी कपड़े के जोड़ के बीच देखी गई और उन लोगों ने उसे मार डाला। इसी से मैं कहता हूँ—'जिसका स्वभाव न ज्ञात हो' आदि। ऐसा समझ कर तुम्हें मार डालना ही उचित है, नहीं तो यह तुम्हें ही मार डालेगा। कहा भी है—

जिसने अपने अन्तरंग पुरुषों को छोड़ दिया है और बाहरी पुरुषों को उन्नत पद देकर आत्मीय बना लिया है, वह मृत्यु प्राप्त करता है, जैसे राजा ककुद्द्रुम मारा गया ॥ २८२॥

पिंगलक ने कहा—'यह कैसे!' उसने कहा—

किसी वनप्रदेश में 'चण्डरव' नाम का सियार रहता था। वह एक समय भूख से व्याकुल हो, जिह्वा के लालच से नगर के अन्दर घुस गया। तब

वासिनः सारमेया अवलोक्य सर्वतः शब्दायमाना परिधाव्य तीक्ष्ण-दंष्ट्राग्रैर्भक्षितुमारब्धाः। सोऽपि तैर्भक्ष्यमाणः प्राणभयात्प्रत्यासन्नरजकगृहं प्रविष्टः। तत्र च नीलीरसपरिपूर्णमहाभाण्डं सज्जीकृतमासीत्। तत्र सारमेयैराक्रान्तो भाण्डमध्ये पतितः। अथ यावन्निष्क्रान्तस्तावन्नीलीवर्णः सञ्जातः। तत्रापरे सारमेयास्तं शृगालमजानन्तो यथाभीष्टदिशं जग्मुः। चण्डरवोऽपि दूरतरं प्रदेशमासाद्य काननाभिमुखं प्रतस्थे। न च नीलवर्णेन कदाचिन्निजरङ्गस्त्यज्यते। उक्तं च—

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च:
एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपयोर्यथा॥ २८३॥

अथ तं हरगलगरलतमालसमप्रभमपूर्वं सत्त्वमवलोक्य सर्वे सिंह-व्याघ्रद्वीपिवृकप्रभृतयोऽरण्यनिवासिनो भयव्याकुलचित्ताः समन्तात्पलायन-क्रियां कुर्वन्ति। कथयन्ति च—'न ज्ञायतेऽस्य कीदृग्विचेष्टितं पौरुषं च। तद्दूरतरं गच्छामः। उक्तं च—

नगर के रहनेवाले कुत्ते उसे देखकर सब तरफ से भोंकते हुए दौड़े और उन्होंने अपने तीखे दाढ़ों से उसे काटना प्रारम्भ किया। वह भी उनसे काटे जाने पर प्राण के भय से पास वाले एक धोबी के घर में प्रवेश कर गया। वहाँ नीले रङ्ग से भरी हुई नाद रक्खी थी। वह कुत्तों द्वारा अभिभूत होने के कारण उसी पात्र में गिर पड़ा। जब उसमें से निकला तो नीले रङ्ग का हो गया, तब वे कुत्ते उसे सियार न जानकर अपने अपने स्थानों पर चले गये। चण्डरव भी बहुत दूर जाकर जङ्गल की ओर चला। किन्तु नीलवर्ण कभी अपना रङ्ग नहीं छोड़ता। कहा भी है—

वज्रलेप, मूर्ख, स्त्री, कर्कट (केकड़े) और मछली इनकी एवं नील वर्ण और मद्यपान करनेवालों की एक ही अवस्था होती है॥ २८३॥

तब शंकर जी के गले के गरल (विष) और तमाल के समान (गाढ़े नील रङ्गवाले) अपूर्व प्रभावाले जीव को देखकर सब सिंह, बाघ, चीता, भेड़िया आदि वनवासी भय से व्याकुल चित्त हो चारों ओर भागने लगे और कहने लगे— हमलोग नहीं जानते कि इसकी कैसी चेष्टा (आचरण) और बल है, इसलिए दूर चलें। कहा भी है—

न यस्य चेष्टितं विद्यान्न कुलं न पराक्रमम् ।
न तस्य विश्वसेत्प्राज्ञो यदीच्छेच्छ्रियमात्मनः' ॥ २८४ ॥

चण्डरवोऽपि तान्भयव्याकुलितान्विज्ञायेदमाह—'भो भोः श्वापदाः ! किं यूयं मां दृष्ट्वैव सन्त्रस्ता व्रजथ । तन्न भेतव्यम् । अहं ब्रह्मणाद्य स्वयमेव सृष्ट्वाभिहितः—'यच्छ्वापदानां मध्ये कश्चिद्राजा नास्ति । तत्त्वं मयाद्य सर्वश्वापदप्रभुत्वेऽभिषिक्तः ककुद्द्रुमाभिधः । ततो गत्वा क्षितितले तान् सर्वान्परिपालय' इति । ततोऽहमत्रागतः । तन्मम छत्रच्छायायां सर्वैरेव श्वापदैर्वर्तितव्यम् । अहं ककुद्द्रुमो नाम राजा त्रैलोक्येऽपि सञ्जातः । तच्छ्रुत्वा सिंहव्याघ्रपुरःसराः श्वापदाः 'स्वामिन्, प्रभो, समादिश' इति वदन्तस्तं परिवव्रुः । अथ तेन सिंहस्यामात्यपदवी प्रदत्ता । व्याघ्रस्य शय्यापालत्वम् । द्वीपिनस्ताम्बूलाधिकारः । वृकस्य द्वारपालकत्वम् । ये चात्मीयाः शृगालास्तैः सहालापमात्रमपि न करोति । शृगालाः सर्वेऽप्यर्धचन्द्रं दत्त्वा निःसारिताः । एवं तस्य राज्यक्रियायां वर्तमानस्य ते सिंहादयो मृगान्व्यापाद्य तत्पुरतः प्रक्षिपन्ति । सोऽपि प्रभुधर्मेण सर्वेषां तान्

जिसके आचरण, वंश और पराक्रम का पता न हो, उसका अपने मङ्गल की अभिलाषा रखनेवाला विद्वान् विश्वास न करे ॥ २८४ ॥

चण्डरव ने उन सबको भय से व्याकुल हुए जान कर यह कहा—अरे जानवरों ! तुम सब मुझे देखकर ही क्यों डर से भागे जा रहे हो । मत डरो, ब्रह्मा ने आज स्वयं ही मेरा निर्माण कर मुझे कहा है कि—जानवरों में कोई राजा नहीं है । इसलिए मैं सब जानवरों के आधिपत्य पद पर तुम्हारा अभिषेक करता हूँ (तुम्हें वन का राजा बनाता हूँ) तुम्हारा ककुद्द्रुम नाम है, इसलिए पृथ्वी तल में जाकर उन सबका परिपालन करो । इस कारण से आया हूँ । अतः मेरी छत्रच्छाया में रह कर समस्त जानवरों को जीवन व्यतीत करना चाहिए । मैं ककुद्द्रुम नाम वाला समस्त त्रैलोक्य का स्वामी हो गया हूँ ।' उसे सुनकर सिंह, बाघ आदि जानवर 'हे स्वामिन् ! हे प्रभो ! आदेश दीजिए' इस प्रकार कहते हुए उसे चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये । तब उसने सिंह को मन्त्री पद दिया, बाघ को शय्यापालक का अधिकार दिया, चीते को पान लगाने वाला बनाया, भेड़िये को द्वारपाल बनाया और जो अपने वर्ग के सियार थे उनके साथ तो बात भी नहीं करता था । समस्त सियारों को अर्धचन्द्र (गरदनियाँ) देकर बाहर निकलवा दिया । इस प्रकार उसके राजकार्य करने पर वे सिंह आदि

प्रविभज्य प्रयच्छति। एवं गच्छति काले कदाचित्तेन समागतेन दूरदेशे शब्दायमानस्य श्रृगालवृन्दस्य कोलाहलोऽश्रावि। तं शब्दं श्रुत्वा पुलकिततनुरानन्दाश्रुपरिपूर्णनयन उत्थाय तारस्वरेण विरोतुमारब्धवान्। अथ ते सिंहादयस्तं तारस्वरमाकर्ण्य श्रृगालोऽयमिति मत्वा सलज्जमधोमुखाः क्षणमेकं स्थित्वा मिथः प्रोचुः—'भोः! वाहिता वयमनेन क्षुद्रश्रृगालेन। तद्वध्यताम्' इति। सोऽपि तदाकर्ण्य पलायितुमिच्छंस्तत्र स्थान एव सिंहादिभिः खण्डशः कृतो मृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन' इति। तदाकर्ण्य पिङ्गलक आह—'भो दमनक, कः प्रत्ययोऽत्र विषये यत्स ममोपरि दुष्टबुद्धिः।' स आह—'यदद्य ममाग्रे तेन निश्चयः कृतो यत्प्रभाते पिङ्गलकं वधिष्यामि, तदत्रैव प्रत्ययः। प्रभातेऽवसरवेलायामारक्तमुखनयनः स्फुरिताधरो दिशोऽवलोकयन्ननुचितस्थानोपविष्टस्त्वां क्रूरदृष्ट्या विलोकयिष्यति। एवं ज्ञात्वा यदुचितं तत्कर्तव्यम्।' इति कथयित्वा सञ्जीवकसकाशं गतस्तं प्रणम्योपविष्टः सञ्जीवकोऽपि सोद्वेगाकारं

जानवर जीवों को मार कर उसके समक्ष रख देते थे। वह भी राजधर्म के अनुसार उन सबों को बाँट कर देता था। इस प्रकार कुछ समय बीतने पर एक दिन सभा में बैठे हुए उसने दूर देश में चिल्लाते हुए सियारों के झुण्ड का कोलाहल सुना। उस शब्द को सुनकर पुलकितशरीर आनन्द के कारण अश्रुपरिपूर्ण नेत्र हो उठकर उच्चस्वर से चिल्लाना आरम्भ किया। तब वे सिंह आदि उसके उच्च स्वर को सुन कर यह सियार है ऐसा जानकर लज्जा के कारण नीचे मुंह कर एक क्षण ठहर कर बाद में परस्पर कहने लगे—'अरे! इस अधम सियार ने तो हम लोगों से सेवक का काम कराया, सो इसे मार डालो। उसने भी यह सुन कर ज्यों ही भागने की इच्छा की, त्यों ही उसी स्थान पर सिंहादिकों ने उसके टुकड़े टुकड़े कर डाले और वह मर गया। अतः मैं कहता हूँ—'जिसने अपने आत्मीयों को छोड़ दिया है'····इत्यादि। उसे सुन कर पिङ्गलक ने कहा—'हे दमनक! इस विषय में क्या विश्वास करने की बात है कि वह मेरे ऊपर दुष्ट बुद्धि रखता है?' उसने उत्तर दिया 'आज मेरे समक्ष उसने निश्चय किया है कि कल सुबह पिङ्गलक को मारूँगा, यही इसमें प्रमाण है। प्रातःकाल आपके पास आने के समय उसके मुख और नेत्र लाल-लाल रहेंगे, ओठ फरकते रहेंगे दिशाओं की ओर देखता हुआ अनुचित स्थान पर बैठ कर आपकी ओर क्रूर दृष्टि से देखगा इस प्रकार के लक्षणों को जानकर जो उचित समझियेगा उसे

मन्दगत्या समायान्तं तमुद्वीक्ष्य सादरतरमुवाच—'भो मित्र, स्वागतम्। चिराद् दृष्टोऽसि। अपि शिवं भवतः। तत्कथय येनादेयमपि तुभ्यं गृहागताय प्रयच्छामि। उक्तं च—

ते धन्यास्ते विवेकज्ञास्ते सभ्या इह भूतले।
आगच्छन्ति गृहे येषां कार्यार्थं सुहृदो जनाः' ॥ २८५ ॥

दमनक आह—'भोः कथं शिवं सेवकजनस्य।

सम्पत्तयः परायत्ताः सदा चित्तमनिर्वृतम्।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः ॥ २८६ ॥

तथा च—सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम्।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥ २८७ ॥

तावज्जन्मातिदुःखाय ततो दुर्गतता सदा।
तत्रापि सेवया वृत्तिरहो दुःखपरम्परा ॥ २८८ ॥

जीवन्तोऽपि मृताः पञ्च श्रूयन्ते किल भारते।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः ॥ २८९ ॥

कीजिएगा।' ऐसा कह कर सञ्जीवक के निकट गया और उसे प्रणाम कर बैठ गया। सञ्जीवक ने उसके घबराये हुए चेहरे को और धीरे-धीरे आते हुए देखकर आदरपूर्वक कहा—'हे मित्र! आइये आपका स्वागत करता हूँ। बहुत दिन के बाद दिखलाई पड़े। आप कुशलपूर्वक तो हैं न! अतः कहिये, जिससे अदेय वस्तु भी तुम्हें घर पर आये हुए को दूँ। कहा भी है—

इस जगत में वे ही पुरुष धन्य, विचारशील और सभ्य कहे जाते हैं, जिनके घर पर कार्यार्थी मित्रगण आया करते हैं' ॥ २८५ ॥

दमनक ने कहा—'अरे भाई! सेवकों का कुशल कहाँ?

जो राज-सेवक होते हैं उनकी सम्पत्ति पराधीन, चित्त सर्वदा अशान्त और अपने जीवन के सम्बन्ध में भी उनको अविश्वास बना रहता है ॥ २८६ ॥

और भी—सेवा द्वारा धन की अभिलाषा करने वाले सेवकों ने जो किया है, उसे देख लो। उसने जो अपने शरीर की स्वतन्त्रता थी उसे भी मूर्खों ने अपने हाथों नष्ट कर दी ॥ २८७ ॥

पहले जन्म लेना ही अत्यन्त दुःख के लिए होता है, उस पर भी सर्वदा दरिद्रता और फिर उसमें भी सेवा की वृत्ति। अहह! कैसी दुःख की परम्परा है ॥

महाभारत में पाँच प्रकार के जीव जीते हुए भी मरे कहे गये हैं—(एक)

नाश्नाति स्वच्छयोत्सुक्याद्विनिद्रो न प्रबुध्यते ।
न निःशङ्कं वचो ब्रूते सेवकोऽप्यत्र जीवति ॥ २९० ॥
सेवा श्ववृत्तिराख्याता यैस्तैर्मिथ्या प्रजल्पितम् ।
स्वच्छन्दं चरति श्वाऽत्र सेवकः परशासनात् ॥ २९१ ॥
भूशय्या ब्रह्मचर्यं च कृशत्वं लघुभोजनम् ।
सेवकस्य यतेर्यद्वद्विशेषः पापधर्मजः ॥ २९२ ॥
शीतातपादिकष्टानि सहते यानि सेवकः ।
धनाय तानि चाल्पानि यदि धर्मान्न मुच्यते ॥ २९३ ॥
मृदुनापि सुवृत्तेन सुश्लिष्टेनापि हारिणा ।
मोदकेनापि किं तेन निष्पत्तिर्यस्य सेवया ॥ २९४ ॥

दरिद्र, (दूसरा) रोग पीड़ित, (तीसरा) मूर्ख, (चौथा) प्रवासी (विदेश में रहने वाला) और (पाँचवाँ) नित्य सेवा करने वाला ॥ २८९ ॥

इच्छा होने पर भी अपनी अभिलाषा से सेवक नहीं खाता, पूरी निद्रा न होने पर भी जाग जाता है और निर्भय होकर कोई बात नहीं कहता—क्या इतने पर भी सेवक जीवित रहता है ? ॥ २९० ॥

सेवा की वृत्ति (नौकरी) कुत्ते की वृत्ति के समान (जगह-जगह ठोकर खाना, दुर-दुराया जाना) है, इस प्रकार जिन्होंने कहा, उन्होंने व्यर्थ कल्पना की है, क्योंकि कुत्ता तो स्वच्छन्द होकर भ्रमण करता रहता है और सेवक अपने प्रभु का आदेश पाने पर ही कहीं जा सकता है ॥ २९१ ॥

सेवक और यति (संन्यासी) में सब स्थिति बराबर ही होती है, क्योंकि दोनों पृथ्वी तल पर सोते हैं, दोनों ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हैं, दोनों का शरीर दुर्बल रहता है और दोनों थोड़ा भोजन करते हैं। केवल दोनों में अन्तर इतना ही है कि यह सब आचरण सेवक पाप के लिए और संन्यासी धर्म के लिए करता है ॥ २९२ ॥

यदि सेवक धर्म से मुख नहीं मोड़ता तो धन के लिए जो सर्दी और गर्मी के कष्टों को सहन करता है, वह कष्ट अत्यन्त स्वल्प होता है ॥ २९३ ॥

कोमल, गोल, अत्यन्त मधुर और मनोहर उस मोदक (लड्डू) से भी क्या लाभ ? जिसकी निष्पत्ति (प्राप्ति) सेवा करने से होती है ॥ २९४ ॥

सञ्जीवक आह—'अथ भवान् किं वक्तुमनाः।' सोऽब्रवीत्—'मित्र, सचिवानां मन्त्रभेदं कर्तुं न युज्यते। उक्तं च—

योमन्त्रं स्वामिनो भिद्यात्साचिव्ये सन्नियोजितः।
स हत्वा नृपकार्यं तत्स्वयं च नरकं व्रजेत् ॥ २९५ ॥
येन यस्य कृतो भेदः सचिवेन महीपतेः।
तेनाशस्त्रवधस्तस्य कृत इत्याह नारदः ॥ २९६ ॥

तथापि मया तव स्नेहपाशबद्धेन मन्त्रभेदः कृतः। यतस्त्वं मम वचनेनात्र राजकुले विश्वस्तः प्रविष्टश्च। उक्तं च—

विश्रम्भाद्यस्य यो मृत्युमवाप्नोति कथञ्चन।
तस्य हत्या तदुत्था सा प्राहेदं वचनं मनुः ॥ २९७ ॥

तत्तवोपरि पिङ्गलकोऽयं दुष्टबुद्धिः कथितं चाद्यानेन मत्पुरतश्चतुष्कर्णतया—'यत्प्रभाते सञ्जीवकं हत्वा समस्तमृगपरिवारं चिरात् तृप्तिं नेष्यामि।' ततः स मयोक्तः—'स्वामिन्, न युक्तमिदं यन्मित्रद्रोहेण जीवनं क्रियते। उक्तं च—

सञ्जीवक ने कहा—'आप क्या कहना चाहते हैं। उसने कहा—मित्र! मन्त्रियों को मन्त्रभेद करना उचित नहीं है। कहा भी है—

जो मन्त्री के पद पर बैठ कर मन्त्रभेद करता है वह राजा के कार्य को नष्ट कर के स्वयं नरकगामी होता है ॥ २९५ ॥

जिस मन्त्री ने जिस राजा का मन्त्रभेद कर दिया है। उसने बिना किसी शस्त्र के ही उसका वध कर दिया—ऐसा नारद जी ने कहा है ॥ २९७ ॥

तथापि मैंने तुम्हारे स्नेहपाश में बुद्ध होने के कारण मन्त्रभेद कर दिया है। क्योंकि तुम मेरे कहने से इस राजकुल में प्रविष्ट हुए हो। कहा भी है—

जिसका विश्वास करने से जो कोई किसी प्रकार मृत्यु प्राप्त करे तो उसकी हत्या उस मनुष्य को लगती है—ऐसा वचन भगवान् मनु ने कहा है ॥ २९७ ॥

सो तुम्हारे ऊपर यह पिङ्गलक बुरी निगाह रखता है। आज जब मैं और वह दोनों ही एकान्त में थे तब उसने मुझसे कहा कि प्रातःकाल होते ही सञ्जीवक को मारकर समस्त मृग-परिवार को चिरकाल तक के लिए तृप्त करूँगा। तब उससे मैंने कहा—'स्वामिन्! यह ठीक नहीं है कि मित्र-द्रोह करके जीवन व्यतीत किया जाय। कहा भी है—

अपि ब्रह्मवधं कृत्वा प्रायश्चित्तेन शुध्यति।
तदर्हेण विचीर्णेन न कथञ्चित्सुहृद्द्रुहः ॥ २९८ ॥

ततस्तेनाहं समर्षेणोक्तः—'भो दुष्टबुद्धे, सञ्जीवकस्तावच्छष्पभोजी, वयं मांसाशिनः, तदस्माकं स्वाभाविकं वैरम्, इति कथं रिपुरुपेक्ष्यते। तस्मात् सामादिभिरुपायैर्हन्यते। न च हते तस्मिन्दोषः स्यात्। उक्तं च—

दत्त्वाऽपि कन्यकां वैरी निहन्तव्यो विपश्चिता।
अन्योपायैरशक्यो यो हते दोषो न विद्यते ॥ २९९ ॥
कृत्याकृत्यं न मन्येत क्षत्रियो युधि सङ्गतः।
प्रसुप्तो द्रोणपुत्रेण धृष्टद्युम्नः पुरा हतः ॥ ३०० ॥

तदहं तस्य निश्चयं ज्ञात्वा त्वत्सकाशमिहागतः। साम्प्रतं मे नास्ति विश्वासघातकदोषः। मया सुगुप्तमन्त्रस्तव निवेदितः। अथ यत्ते प्रतिभाति तत्कुरुष्व' इति। अथ सञ्जीवकस्तस्य तद्वज्रपातदारुणं वचनं

मनुष्य ब्राह्मण-वध करके प्रायश्चित द्वारा शुद्ध भी हो सकता है परन्तु मित्र द्रोही किसी प्रकार का भी अनुष्ठान करके शुद्ध नहीं हो सकता है ॥२९८॥

तदनन्तर उसने मुझसे क्रोधपूर्वक कहा—'अरे दुष्टबुद्धि! सञ्जीवक तो घास खानेवाला जीव है और हम मांस-भक्षण करनेवाले हैं इसलिए हमारा और उसका स्वाभाविक (प्राकृतिक) विरोध है, अतः शत्रु की उपेक्षा क्यों की जाय? इसीलिए साम, दाम, दण्ड और भेद इन उपायों का अवलम्बन करके उसे मारते हैं। और इस प्रकार उसके मारे जाने में कोई दोष भी नहीं है। कहा भी है—

जब किसी अन्य उपायों द्वारा शत्रु न मारा जाय तब अपनी कन्या देकर भी नीतिज्ञ विद्वान् अपने शत्रु का हनन करे क्योंकि उस शत्रु के मारने में कोई दोष नहीं है ॥ २९९ ॥

युद्ध के लिए तैयार क्षत्रिय को चाहिये कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार न करे, क्योंकि प्राचीन काल में द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने सोते हुए (अपने शत्रु) धृष्टद्युम्न को मार डाला था ॥ ३०० ॥

इसलिए मैं उसका निश्चय जानकर तुम्हारे पास आया हूँ। अब मुझे विश्वासघात करने का कोई दोष नहीं लग सकता। मैंने यह अत्यन्त गुप्त बात तुमसे निवेदन कर दी है, अब जैसा अच्छा लगे वैसा करो।' वज्रपात के समान

श्रुत्वा मोहमुपगतः। अथ चेतनां लब्ध्वा सवैराग्यमिदमाह—' भो साध्विदं-मुच्यते—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणास्नेहवान् भवति राजा।
कृपणानुसारि च धनं मेघो गिरिदुर्गवर्षी च॥ ३०१॥
अहं हि सम्मतो राज्ञो य एवं मन्यते कुधीः।
बलीवर्दः स विज्ञेयो विषाणपरिवर्जितः॥ ३०२॥
वरं वनं वरं भैक्षं वरं भारोपजीवनम्।
वरं व्याधिर्मनुष्याणां नाधिकारेण सम्पदः॥ ३०३॥

तदयुक्तं मया कृतं तदनेन सह मैत्री विहिता। उक्तं च—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः॥ ३०४॥

तथा च—मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेन सख्यम्॥३०५॥

उसकी इस कठोर वाणी को सुनकर सञ्जीवक चेतनारहित (बेहोश) हो गया। इसके बाद चेतना में आकर वासनारहित बातें करने लगा। हे मित्र ! यह ठीक ही कहा गया है—

स्त्रियाँ प्रायः दुर्जनों से प्रीति रखती हैं, राजा प्रायः प्रेमरहित होता है, धन कृपण (कञ्जूस) के पास रहता है, और मेघ पहाड़ और (किले) पर ही बरसते हैं॥ ३०१॥

'राजा मेरा ही विचार मानता है' इस प्रकार जो मूर्ख (अपने को राजा का प्रियपात्र) मानता है, उसे सींगरहित बैल समझना चाहिए॥ ३०२॥

मनुष्यों को वन में रहना अच्छा है, भिक्षा माँगकर भोजन करना अच्छा है, बोझा ढोने की उपजीविका अच्छी है, और रोगयुक्त होना भी अच्छा है, किन्तु सेवावृत्ति से सम्पत्ति प्राप्त करना अच्छा नहीं है॥ ३०३॥

इसलिए मैंने उचित नहीं किया, जो इसके साथ मित्रता की। कहा भी है—

जिन मनुष्यों के पास आपस में तुल्य धन और तुल्य कुल हों उनको ही आपस में मित्रता और विवाह करना ठीक है, क्योंकि पुष्टियुक्तों एव पुष्टिरहित (सबल और निर्बल, धनी और निर्धन) के साथ पारस्परिक (आपसी) सम्बन्ध उचित नहीं होता॥ ३०४॥

तद्यदि गत्वा तं प्रसादयामि, तथापि न प्रसादं यास्यति। उक्तं च—
निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति ध्रुवं स तस्यापगमे प्रशाम्यति।
अकारणद्वेषपरो हि यो भवेत् कथं नरस्तं परितोषयिष्यति॥ ३०६॥
अहो, साधु चेदमुच्यते—
भक्तानामुपकारिणां परहितव्यापारयुक्तात्मनां
सेवासंव्यवहारतत्त्वविदुषां द्रोहच्युतानामपि।
व्यापत्तिः स्खलितान्तरेषु नियता सिद्धिर्भवेद्वा न वा
तस्मादम्बुपतेरिवावनिपतेः सेवा सदा शङ्किनी॥ ३०७॥
तथा च—भावस्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतां याति लोके
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतये चोपयाति।
दुर्ग्राह्यत्वान्नृपतिमनसां नैकभावाश्रयाणां
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥ ३०८॥

मृग मृगों के साथ ही चलते हैं, गायें भी गायों के साथ और घोड़े घोड़ों के साथ ही रहते हैं (उसी प्रकार) मूर्ख मूर्खों के साथ और विद्वान् विद्वानों के साथ (ही मित्रता करते हैं, क्योंकि) मित्रता समान स्वभाव और आदत वालों के साथ होती है॥ ३०५॥

इसलिए यदि मैं जानकर उसको सन्तुष्ट करने का उद्योग भी करूँ तथापि वह सन्तुष्ट न होगा। क्योंकि कहा है—जो मनुष्य जिस कारण क्रुद्ध होता है वह उस (कारण) के नाश होने पर निश्चय ही शान्त हो जाता है। किन्तु जो बिना निमित्त ही द्वेष करने वाला है उसे कोई किस प्रकार सन्तोष प्रदान कर सकता है॥ २०६॥

अरे! यह उचित ही कहा है—उपकारी भक्त, दूसरों के लिए (हितकारी) कार्य करने वाले, सेवा तथा व्यवहार के तत्त्व को जाननेवाला और द्रोह रहित मनुष्यों को भी थोड़ी सी त्रुटि के कारण सङ्कट उठाना पड़ता है चाहे उन्हें सम्पत्ति का लाभ हो या न हो। अतः जिस प्रकार अम्बुपति (समुद्र) की सेवा सर्वदा सन्देहयुक्त है उसी प्रकार अवनिपति (राजा) की सेवा भी सन्देहयुक्त है॥ ३०७॥

और भी—इस संसार में प्रेम-भाव से किया हुआ उपकार भी शत्रुता को प्राप्त होता है, और साक्षात् दूसरों द्वारा किया हुआ अपकार भी प्रसन्नता के लिए हो जाता है। हर समय एकरूप से बने रहनेवाले राजाओं का मन दुर्ग्राह्य

तत्परिज्ञातं मया मत्प्रमादमसहमानैः समीपवर्तिभिरेष पिङ्गलकः प्रकोपितः। तेनायं ममादोषस्याप्येवं वदति। उक्तं च—

प्रभोः प्रसादमन्यस्य न सहन्तीह सेवकाः।
सपत्न्य इव संक्रुद्धाः सपत्न्याः सुकृतैरपि ॥ ३०९ ॥

भवति चैवं यद्गुणवत्सु समीपवर्तिषु गुणहीनानां न प्रसादो भवति। उक्तं च—

गुणवत्तरपात्रेण छाद्यन्ते गुणिनां गुणाः।
रात्रौ दीपशिखाकान्तिर्न भानावुदिते सति ॥ ३१० ॥

दमनक आह—'भो मित्र, यद्येवं तन्नास्ति ते भयम्। प्रकोपितोऽपि स दुर्जनैस्तव वचनरचनया प्रसादं यास्यति।' स आह—'भोः, न युक्तमुक्तं भवता, लघूनामपि दुर्जनानां मध्ये वस्तुं न शक्यते। उपायान्तरं विधाय ते नूनं घ्नन्ति। उक्तं च—

है। इसलिए सेवा-धर्म अत्यन्त कठिन है जो योगियों को भी अगम्य (अबोध्य) होता है ॥ ३०८ ॥

इसलिए मैंने जान लिया कि मेरे ऊपर स्वामी की दया को देख न सकने वाले और समीप में रहने वालों ने इस पिंगलक को क्रुद्ध करा दिया है। अतएव मुझ निर्दोषी को भी यह इस प्रकार कहता है। क्योंकि कहा भी है—

जैसे सौतें एक स्त्री पर अपने पति के प्यार को सहन नहीं कर सकती हैं वैसे ही इस संसार में मालिक की कृपा को दूसरे सेवकगण सहन नहीं कर सकते ॥ ३०९ ॥

इस तरह होता ही है कि गुणवानों के रहते-रहते गुणरहितों के ऊपर (राजाओं की) अनुकम्पा नहीं होती। कहा है—

अधिक गुणी पुरुषों द्वारा साधारण गुणवालों के गुण आच्छादित (ढंक) हो जाते हैं। जैसे रात्रि में ही दीपक की शिखा मनोहर प्रतीत होती है न कि सूर्यनारायण के उदित होने पर ॥ ३१० ॥

दमनक ने कहा—'हे मित्र! यदि ऐसी बात है (अर्थात् तुम दोषी नहीं हो) तो तुम्हें नहीं डरना चाहिए। दुष्टों द्वारा क्रोधित कराये जाने पर भी वह तुम्हारी वचनरचना (लच्छेदार बातों) से प्रसन्न हो जायगा।' उसने कहा—'यह तुमने उचित बात नहीं कही। छोटे दुर्जनों के बीच भी बस (रह) नहीं सकते क्योंकि वे दूसरे उपायों का आश्रयण कर अवश्य ही मार डालते हैं। कहा भी है—

बहवः पण्डिताः क्षुद्राः सर्वे मायोपजीविनः ।
कुर्युः कृत्यमकृत्यं वा उष्ट्रे काकादयो यथा ॥ ३११ ॥

दमनक आह—'कथमेतत् !' सोऽब्रवीत्—

कथा ११

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। तस्य चानुचरा अन्ये द्वीपिवायसगोमायवः सन्ति। अथ कदाचिदितस्ततो भ्रमद्भिः सार्थभ्रष्टः क्रथनको नामोष्ट्रो दृष्टः। अथ सिंह आह—अहो, अपूर्वमिदं सत्त्वम्। तज्ज्ञायतां किमेतदारण्यकं ग्राम्यं वा' इति। तच्छ्रुत्वा वायस आह—'माः स्वामिन्, ग्राम्योऽयमुष्ट्रनामा जीवविशेषस्तव भोज्यः। तद्व्यापाद्यताम्।' सिंह आह—'नाहं गृहमागतं हन्मि। उक्तं च—

गृहे शत्रुमपि प्राप्तं विश्वस्तमकुतोभयम्।
यो हन्यात्तस्य पापं स्याच्छतब्राह्मणघातजम् ॥ ३१२ ॥

तदभयप्रदानं दत्त्वा मत्सकाशमानीयतां येनास्यागमनकारणं पृच्छामि।' अथासौ सर्वैरपि विश्वास्याभयप्रदानं दत्त्वा मदोत्कटसकाशमानीतः

अधिकतर क्षुद्र विचारेवाले विद्वान् करने योग्य और न करने योग्य के कार्यों को माया (कपटनीति) से अपनी जीविका सम्पादन करते हैं। जैसे ऊँट के साथ कौए आदिकों ने किया ॥ ३११ ॥

दमनक ने कहा—यह कथा किस प्रकार है ? उसने कहा—

किसी वन में 'मदोत्कट' नाम का एक सिंह रहता था। उसके अनुचर चीते कौए और गीदड़ थे। एक समय उन्होंने इधर-उधर घूमते-फिरते एक भटका हुआ 'क्रथनक' नाम का ऊँट देखा। तब सिंह ने कहा—'अहो यह बड़ा आश्चर्यकारी जन्तु है। देखो तो यह जङ्गली है या गाँव का रहनेवाला ? यह सुन कर कौए ने कहा—हे स्वामी ! यह गाँव का रहनेवाला 'ऊँट' नाम का जन्तु है और अपने भक्षण करने योग्य है, सो इसे मार डालिए।' सिंह ने कहा—'मैं अपने घर आए हुए को नहीं मारता।' कहा भी है—

अपने घर पर विश्वास करके और भयरहित हो शत्रु भी आवे तो जो व्यक्ति उसे मारता है उसे सौ ब्राह्मणों की हत्या का पाप लगता है ॥ ३१२ ॥

सो तुम लोग उसे अभय-दान देकर मेरे समीप ले आओ, जिससे उसके आने

प्रणम्योपविष्टश्च। ततस्तस्य पृच्छतस्तेनात्मवृत्तान्तः सार्थभ्रंशसमुद्भवो निवेदितः। ततः सिंहेनोक्तम्—'भोः क्रथनक, मा त्वं ग्रामं गत्वा भूयोऽपि भारोद्वहनकष्टभागी भूयाः। तदत्रैवारण्ये निर्विशङ्को मरकत-सदृशानि शष्पाग्राणि भक्षयन्मया सह सदैव वस। सोऽपि 'तथा' इत्युक्त्वा तेषां मध्ये विचरन्न कुतोऽपि भयमिति सुखेनास्ते। तथान्ये-द्युर्मदोत्कटस्य महागजेनाराण्यचारिणा सह युद्धमभवत्। ततस्तस्य दन्तमुसलप्रहारैर्व्यथा सञ्जाता। व्यथितः कथमपि प्राणैर्न वियुक्तः। अथ शरीरासामर्थ्यान्न कुत्रचित्पदमपि चलितुं शक्नोति। तेऽपि सर्वे काका-दयोऽप्रभुत्वेन क्षुधाविष्टाः परं दुःखं भेजुः। अथ तान्सिंहः प्राह—'भोः, अन्विष्यतां कुत्रचित्किंचित्सत्त्वं येनाहमेतामपि दशां प्राप्तस्तद्धत्वा युष्म-द्भोजनं सम्पादयापि।' अथ ते चत्वारोऽपि भ्रमितुमारब्धा यावन्न किंचि-त्सत्त्वं पश्यन्ति तावद्वायसश्रृगालौ परस्परं मन्त्रयतः। श्रृगाल आह—'भो वायस, किं प्रभूतभ्रान्तेन। अयमस्माकं प्रभोः क्रथनको विश्वस्त-

---

का कारण पूछूँ। तब वे सब उसे विश्वास दिलाकर अभय-दान देकर मदोत्कट के पास ले आये और वह प्रणाम कर बैठ गया। उसके प्रश्न करने पर उसने अपने साथियों (सार्थवाह, धनियों) से छूटने का सभी वृत्तान्त कह सुनाया। सिंह ने कहा—हे क्रथनक! अब तुम गाँव में जाकर पुनः बोझ ढोने का क्लेश मत सहो, और इसी वन में भयरहित होकर मरकतमणि के समान तृण (हरी हरी घास) के अग्र भागों का भक्षण करते हुए मेरे साथ ही सर्वदा निवास करो। ऊँट भी अच्छा कहकर निश्चिन्त हो भ्रमण करता हुआ उसके बीच में आनन्दपूर्वक निवास करने लगा। तदनन्तर किसी दूसरे दिन 'मदोत्कट' की किसी जङ्गली बड़े हाथी से लड़ाई छिड़ गई। तब उसके दन्तरूपी मुसल के प्रहार से उसको बड़ी व्यथा हुई। व्यथित होने पर भी किसी प्रकार उसके प्राण बच गये। परन्तु शरीर की असमर्थता के कारण एक पग भी चलने में समर्थ न हो सकता था। वे सब कौए आदि भी प्रभु के शक्तिहीन होने पर भूख से व्यथित होकर अत्यधिक कष्ट पाने लगे। तब उनसे सिंह ने कहा—'अरे! कहीं से किसी प्राणी को ढूँढो, जिससे मैं ऐसी दशा में प्राप्त होने पर भी उसे मार कर तुम सबका भोजन-सम्पादन कर दूँ'। तब वे चारों भी भ्रमण करने लगे, जब किसी भी जीव को न देखा तब कौआ और सियार दोनों आपस में मन्त्रणा करने लगे। सियार ने कहा—'अरे भाई कौआ! बहुत घूमने से क्या प्रयोजन? वह जो हमारे स्वामी का विश्वासपात्र क्रथनक (ऊँट) है, उसी को मार कर

स्तिष्ठति। तदेनं हत्वा प्राणयात्रां कुर्मः। वायस आह—'युक्तमुक्तं भवता। परं स्वामिना तस्याभयप्रदानं दत्तमास्ते न वध्योऽयमिति।' शृगाल आह—'भो वायस, अहं स्वामिनं विज्ञाप्य तथा करिष्ये यथा स्वामी वधं करिष्यति। तत्तिष्ठन्तु भवन्तोऽत्रैव, यावदहं गृहं गत्वा प्रभोराज्ञां गृहीत्वा चागच्छामि!' एवमभिधाय सत्वरं सिंहमुद्दिश्य प्रस्थितः। अथ सिंहमासाद्येदमाह—स्वामिन्, समस्तं वनं भ्रान्त्वा वयमागताः। न किंचित्सत्वमासादितम्। तत्किं कुर्मो वयम्। सम्प्रति वयं बुभुक्षया पदमेकमपि प्रचलितुं न शक्नुमः। देवोऽपि पथ्याशी वर्तते। तद्यदि देवादेशो भवति तत्क्रथनकपिशितेनाद्य पथ्यक्रिया क्रियते।' अथ सिंहस्तस्य तद्दारुणं वचनमाकर्ण्य सकोपमिदमाह–'धिक्पापाधम, यद्येवं भूयाऽपि वदसि, ततस्त्वां तत्क्षणमेव वधिष्यामि। ततो मया तस्याभयं प्रदत्तम्, तत्कथं व्यापादयामि। उक्तं च—

न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं हि तथा प्रधानम्।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्॥ ३१३॥

अपनी जीविका चलावें।' कौए ने कहा—'वाह! आप ने कहा तो बहुत ठीक किन्तु स्वामी ने तो उसे अभयदान दिया है, इसलिए अब वह मारने के योग्य नहीं है।' सियार ने कहा—'मैं स्वामी से निवेदन कर यही करूँगा, जिससे स्वामी उसका वध कर दें। तब तक तुम यहीं ठहरो, जब तक मैं घर जाकर और स्वामी का आदेश पाकर अभी लौट आता हूँ।' इस प्रकार कह कर शीघ्रता से सिंह की ओर प्रस्थान किया। तब उसने सिंह के पास पहुँच कर कहा—'हे स्वामी, हम लोग सारा बन घूम आये किन्तु कहीं भी कोई जन्तु न मिला। सो अब हम लोग क्या करें? इस समय तो भूख के मारे हम सब एक पग भी नहीं चल सकते और आप को भी कुछ पथ्य लेना है। सो यदि महाराज आपका आदेश हो तो क्रथनक के मांस से आज आपके भोजन का प्रबन्ध किया जाय।' उसके कठोर वचन सुनकर सिंह ने क्रोधपूर्वक कहा—'अरे अधम पापी! धिक्कार है तुझे। यदि ऐसा फिर कहेगा तो मैं उसी क्षण तुझे मार डालूँगा। मैंने उसे अभयदान दिया है, तब मैं कैसे उसे स्वयं मारूँ। कहा भी है—

गोदान, भूमिदान और अन्नदान उतने प्रधान (महत्त्वपूर्ण) नहीं हैं

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह—'स्वामिन्, यद्यभयप्रदानं दत्त्वा वधः क्रियते तदैष दोषो भवति। पुनर्यदि देवपादानां भक्त्या स आत्मनो जीवितव्यं प्रयच्छति तन्न दोषः। ततो यदि स स्वयमेवात्मानं वधाय नियोजयति तद्वध्यः। अन्यथास्माकं मध्यादेकतमो वध्य इति। यतो देवपादाः पथ्याशिनः क्षुन्निरोधादन्त्यां दशां यास्यन्ति। तत्किमेतैः प्राणैरस्माकं ये स्वाम्यर्थे न यास्यन्ति। अपरं पश्चादप्यस्माभिर्वह्निप्रवेशः कार्यः, यदि स्वामिपादानां किञ्चिदनिष्टं भविष्यति। उक्तं च—

यस्मिन्कुले यः पुरुषः प्रधानः स सर्वयत्नैः परिरक्षणीयः।
तस्मिन्विनष्टे कुलसारभूते न नाभिभङ्गे ह्यरयो वहन्ति॥ ३१४॥

तदाकर्ण्य मदोत्कट आह—'यद्येवं तत्कुरुष्व यद्रोचते।' तच्छ्रुत्वा स सत्वरं गत्वा तानाह 'भोः, स्वामिनो महत्यवस्था वर्तते। तत्कि

जितना विद्वान् लोग कहा करते हैं कि इस संसार में सब दानों में अभयदान ही श्रेष्ठ दान है॥ ३१३॥

यह सुनकर सियार ने कहा—'हे स्वामी! यदि अभयदान देकर आप उसका वध करेंगे तब आप को दोष (पाप) लगेगा। किन्तु यदि महाराज के चरणों में वह भक्तिवश स्वयं (अपने आप ही) प्राणसमर्पण कर दे तो इसमें दोष (पाप) नहीं लगेगा। सो यदि वह स्वयं ही अपने को वध के निमित्त प्रदान कर दे तो वह मारने के योग्य है, अन्यथा (नहीं तो) हम लोगों में किसी एक को बध कर डालिएगा, क्योंकि यदि महाराज (आप) को भूख से या भूख के रोकने से अन्तिम दशा (मरणावस्था) प्राप्त होगी, तो हम लोगों के इन प्राणों से क्या लाभ है, जो प्राणी स्वामी के काम न आवे। इसके अतिरिक्त यदि स्वामिचरणों को कुछ अनिष्ट (मृत्यु) आदि हो जाय तो पीछे हम लोगों को अग्नि में प्रवेश करना ही होगा। कहा भी है—

जिस कुल में जो पुरुष प्रधान हो, उनकी प्रत्येक उपाय से रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि कुल के प्रधान का नाश होने पर शत्रु लोग सब ओर से धावा बोलकर उसके कुल को पराजित कर देते हैं॥ ३१४॥

यह सुनकर मदोत्कट ने कहा—'यदि ऐसा है तो तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो' यह सुनकर उसने झटपट जाकर उन सब अनुचरों से कहा—'अरे स्वामी की बड़ी विषम दशा हो गयी है (अर्थात् अन्तिम दशा आ गयी है)

पर्यटितेन, तेन विना कोऽत्रास्मान् रक्षयिष्यति। तद्गत्वा तस्य क्षुद्रोगात्परलोकं प्रस्थितस्यात्मशरीरदानं कुर्मः, येन स्वामिप्रसादस्यानृणतां गच्छामः। उक्तं च—

आपदं प्राप्नुयात्स्वामी यस्य भृत्यस्य पश्यतः।
प्राणेषु विद्यमानेषु स भृत्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३१५ ॥

तदनन्तरं ते सर्वे बाष्पपूरितदृशो मदोत्कटं प्रणम्योपविष्टाः। तान्दृष्ट्वा मदोत्कट आह—'भोः, प्राप्तं दृष्टं वा किंचित्सत्त्वम्।' अथ तेषां मध्यात्काकः प्रोवाच—'स्वामिन्, वयं तावत्सर्वत्र पर्यटिताः। परं न किंचित्सत्त्वमासादितं दृष्टं वा। तदद्य मां भक्षयित्वा प्राणान्धारयतु स्वामी, येन देवस्याश्वासनं भवति मम पुनः स्वर्गप्राप्तिरिति। उक्तं च—

स्वाम्यर्थे यस्त्यजेत्प्राणान्भृत्यो भक्तिसमन्वितः।
परं स पदमाप्नोति जरामरणवर्जितम् ॥ ३१६ ॥

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह—'भो, स्वल्पकायो भवान्। तव भक्षणा-

सो अब ऐसे घूमने से क्या लाभ? उनके बिना अब हम लोगों की कौन रक्षा करेगा? इसलिए चलकर क्षुधा के रोग से पीड़ित होकर परलोक जानेवाले प्रभु को अपना शरीर दे दो जिससे प्रभु की प्रसन्नता से अपना-अपना ऋण उतर जाय। कहा भी है—

जिस सेवक के देखते हुए (अर्थात् उसकी आँखों के सामने ही) स्वामी संकट में फँस जाता है और वह अपने प्राणों के रहते हुए भी यदि उसकी रक्षा नहीं करता तो वह सेवक नरक में जाता है ॥ ३१५ ॥

उसके बाद वे सब वहाँ जाकर आँखों में आँसू भर कर मदोत्कट को प्रणाम कर बैठ गये। उन लोगों को देखकर मदोत्कट ने कहा—अरे! कहो कहीं कोई जीव मिला वा देखा कि नहीं? तब उनमें से कौए ने कहा—'हे स्वामी! तब से हम लोग सब जगह घूमते रहे किन्तु कहीं कोई जीव न मिला और न देखा। सो आज मुझे खाकर स्वामी अपने प्राणों को बचावें जिससे स्वामी को आश्वासन (प्राणरक्षा) हो और मुझे भी स्वर्ग मिले। कहा भी है—

जो सेवक भक्ति से परिपूर्ण हो स्वामी के लिए अपने प्राणों को दे देता है वह जरा-मरण रहित परमपद (मोक्ष) को पाता है ॥ ३१६ ॥

यह सुनकर सियार ने कहा—कहो तुम्हारा शरीर बहुत छोटा है। एक तो

त्स्वामिनस्तावत्प्राणयात्रा न भवति। अपरो दोषश्च तावत्समुत्पद्यते। उक्तं च—

काकमांसं शुनोच्छिष्टं स्वल्पं तदपि दुर्लभम्।
भक्षितेनापि किं तेन तृप्तिर्येन न जायते॥ ३१७॥

तद्दर्शिता स्वामिभक्तिर्भवता। गतं चानृण्यं भर्तृपिण्डस्य। प्राप्तश्चोभय-लोके साधुवादः. तदपसराग्रतः, अहं स्वामिनं विज्ञापयामि। तथानुष्ठिते शृगालः सादरं प्रणम्योपविष्टः प्राह—'स्वामिन्, मां भक्षयित्वाद्य प्राणयात्रां विधाय ममोभयलोकप्राप्तिं कुरु। उक्तं च—

स्वाम्यायत्ताः सदा प्राणा भृत्यानामर्जिता धनैः।
यतस्ततो न दोषोऽस्ति तेषां ग्रहणसम्भवः॥ ३१८॥

अथ तच्छ्रुत्वा द्वीप्याह—'भोः, साधूक्तं भवता। पुनर्भवानपि स्वल्प-कायः स्वजातिश्च। नखायुधत्वादभक्ष्य एव। उक्तं च—

तुम्हारे खाने से (हमारे) स्वामी का पेट न भरेगा और दूसरा दोष (कौए के मांस खाने से धर्मशास्त्र ने पाप बताया है, अतः पाप) भी होगा। कहा भी है—

एक तो कौए का मांस और दूसरे कुत्ते की जूठ से बचा हुआ थोड़ा तथा दुष्प्राप्य मांस को खाने से क्या लाभ, जिससे अपनी तृप्ति भी न हो॥ ३१७॥

सो आपने स्वामी के प्रति अपनी भक्ति दिखला दी और स्वामी के ऋण से उऋण भी हो गये। आपने दोनों लोकों में साधुवाद प्राप्त कर लिया। अब आगे से हटिये (जिससे) मैं भी प्रभु से कुछ कहूँ। उसके वैसा करने पर सियार आदर के साथ प्रणाम करके बैठ गया और उसने कहा—'हे स्वामी! मुझे खाकर आज आप अपनी प्राणयात्रा करें (उदरपूर्ति करें) और मुझे दोनों लोक प्राप्त करायें। कहा भी है—

क्योंकि धन देकर स्वामी अपने भृत्यों के प्राण खरीद लेते हैं। अतः वे स्वामी के अधीन रहते हैं। इसलिए इन प्राणों के लेने में किसी प्रकार के दोष की उत्पत्ति नहीं हो सकती॥ ३१८॥

यह सुनकर चीते ने कहा—'हाँ हाँ! तुमने ठीक कहा, परन्तु तुम भी तो स्वल्पकाय और सजातीय हो, नख तुम्हारा शस्त्र का काम करता है, अतः तुम भी खाने के योग्य नहीं हो। (जिन पशुओं का नख आयुध—शस्त्र—का काम करता है उनका भक्षण करना धर्मशास्त्र से निषिद्ध है) कहा भी है—

नाभक्ष्यं भक्षयेत्प्राज्ञः प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
विशेषात्तदपि स्तोकं लोकद्वयविनाशकम् ॥ ३१९ ॥

तद्दर्शितं त्वयात्मनः कौलीन्यम् । अथवा साधु चेदमुच्यते—

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम् ।
आदिमध्यावसानेषु न ते गच्छन्ति विक्रियाम् ॥ ३२० ॥

तदपसराग्रतः, येनाहं स्वामिनं विज्ञापयामि ।' तथानुष्ठिते द्वीपी प्रणम्य मदोत्कटमाह—'स्वामिन्, क्रियतामद्य मम प्राणैः प्राणयात्रा । दीयतामक्षयो वासः स्वर्गे । विस्तार्यतां क्षितितले प्रभूततरं यशः । तन्नात्र विकल्पः कार्यः । उक्तं च—

मृतानां स्वामिनः कार्ये भृत्यानामनुवर्तिनाम् ।
भवेत्स्वर्गेऽक्षयो वासः कीर्तिश्च धरणीतले ॥ ३२१ ॥

तच्छ्रुत्वा क्रथनकश्चिन्तयामास 'एतैस्तावत्सर्वैरपि शोभनानि वाक्यानि

कण्ठ से प्राण (मृत्यु से एक दम समीप) आ जावे तो भी विद्वान् को चाहिए कि अभक्ष्य को भक्षण न करें । उसमें भी विशेष कर उसके स्वल्प शरीर होने से तो दोनों लोक ही बिगड़ जाते हैं ॥ ३१९ ॥

सो तुमने अपनी कुलीनता दिखला दी । अथवा यह ठीक ही कहा जाता है—

इसलिए तो राजा लोग कुलीन (खानदानी) लोगों का संग्रह करते हैं (अपने राजकीय कार्य में रखते हैं) क्योंकि कुलीन लोगों के मन में पहले बीच और अन्तिम अवस्था (संकट काल में) में भी विकार प्राप्त नहीं होता ॥ ३२० ॥

सो आगे हटो, जिससे मैं भी (अपने) मालिक से निवेदन करूँ ।' उसके वैसा करने (हटने) पर चीते ने प्रणाम कर मदोत्कट से कहा—'स्वामी ! आज मेरे प्राणों से आप अपने प्राण बचाइए और मुझे स्वर्ग में सदैव के लिए वास दीजिए । और संसार में मेरा यश फैलाइए तथा आप इसके बारे में कुछ भी विकल्प (संशय) मत कीजिए । कहा भी है—

जो आदेश पालक सेवक स्वामी के लिए अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं वे स्वर्ग में अनन्त काल तक रहते हैं और संसार में उनकी क्षयरहित कीर्ति भी फैलती है ॥ ३२१ ॥

यह सब सुनकर क्रथनक सोचने लगा कि 'इन सबों ने अच्छी-अच्छी बातें

प्रोक्तानि। न चैकोऽपि स्वामिना विनाशितः। तदहमपि प्राप्तकालं विज्ञापयामि। येन मम वचनमेते त्रयोऽपि समर्थयन्ति। इति निश्चित्य प्रोवाच—'भोः, सत्यमुक्तं भवता। परं भवानपि नखायुधः। तत्कथं भवन्तं स्वामी भक्षयति। उक्तं च

मनसापि स्वजात्यानां योऽनिष्टानि प्रचिन्तयेत्।
भवन्ति तस्य तान्येव इह लोके परत्र च॥ ३२२॥

तदपसराग्रतः, येनाहं स्वामिनं विज्ञापयामि।' तथानुष्ठिते क्रथनकोऽग्रे स्थित्वा प्रणम्योवाच—'स्वामिन्, एते तावदभक्ष्या भवताम्। तन्मम प्राणैः प्राणयात्रां विधीयताम्, येन ममोभयलोकप्राप्तिर्भवति। उक्तं च—

न यज्वानोऽपि गच्छन्ति तां गतिं नैव योगिनः।
यां यान्ति प्रोज्झितप्राणाः स्वाम्यर्थे सेवकोत्तमाः॥ ३२३॥

एवमभिहिते ताभ्यां शृगालचित्रकाभ्यां विदारितोभयकुक्षिः क्रथनकः प्राणानत्याक्षीत्। ततश्च तैः क्षुद्रपण्डितैः सर्वैर्भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'बहवः पण्डिताः क्षुद्राः' इति।

कही हैं, किन्तु किसी को भी प्रभु ने मारा नहीं है। सो मैं भी समय पाकर निवेदन करूँ, जिससे ये तीनों मेरी बातों का समर्थन करेंगे। इतना विचार कर उसने कहा—'हाँ तुमने ठीक कहा, किन्तु तुम भी तो नख-आयुध वाले हो, तो स्वामी तुम्हें कैसे खायेंगे? कहा भी है।

जो मन से अपनी जाति का अनिष्ट सोचता है उसका इस लोक एवं परलोक दोनों में अनिष्ट होता है॥ ३२२॥

सो आगे से हट जाओ, जिससे मैं भी स्वामी से निवेदन करूँ। उसके वैसा करने पर क्रथनक ने खड़ा हो प्रणाम कर कहा—'हे स्वामी! ये सभी आपके भक्षण करने योग्य नहीं हैं। सो आप मेरे प्राणों से अपनी जान बचाइए, जिससे मुझे दोनों लोक की प्राप्ति हो। कहा भी है—

न यज्ञ करने वाले और न योगी ही उस गति को प्राप्त करते हैं जिस गति को श्रेष्ठ सेवक अपने मालिक के लिए प्राणों को छोड़कर प्राप्त करते हैं॥ ३२३॥

ऐसा कहने पर सियार और चीते ने उसकी दोनों कोख फाड़ डाली, जिससे क्रथनक ने प्राणों को छोड़ दिया। इसके बाद उन सब क्षुद्र पण्डितों ने उसे खा डाला। इसी से मैं कहता हूँ 'बहुत से क्षुद्र पण्डितों ने' इत्यादि।

तद्भद्र, क्षुद्रपरिवारोऽयं ते राजा मया सम्यग्ज्ञातः। सतामसेव्यश्च। उक्तं च—

अशुद्धप्रकृतौ राज्ञि जनता नानुरज्यते।
यथा गृध्रसमासन्नः कलहंसः समाचरेत् ॥ ३२४ ॥

तथा च—गृध्राकारोऽपि सेव्यः स्याद्धंसाकारैः सभासदैः।
हंसाकारोऽपि सन्त्याज्यो गृध्राकारैः स तैर्नृपः ॥ ३२५ ॥

तन्नूनं ममोपरि केनचिद् दुर्जनेनायं प्रकोपितः, तेनैवं वदति। अथवा भवत्येतत्। उक्तं च—

मृदुना सलिलेन खन्यमानान्यवघृष्यन्ति गिरेरपि स्थलानि।
उपजापविदां च कर्णजापैः किमु चेतांसि मृदूनि मानवानाम् ॥ ३२६ ॥
कर्णविषेण च भग्नः किं किं न करोति बालिशो लोकः।
क्षपणकतामपि धत्ते पिबति सुरां नरकपालेन ॥ ३२७ ॥

इसलिए, हे भद्र ! मैंने अच्छी तरह जान लिया कि तुम्हारे राजा के परिवार में सब नीच ही नीच भरे हैं। अतः सज्जनों को चाहिए कि इसकी सेवा न करें। कहा भी है—

जिस प्रकार गृध्र आदिकों से घिरा हुआ कलहंस (राजहंस) श्रेष्ठ आचरण नहीं कर सकता, उसी प्रकार कलुषित विचार वाले मंत्री आदिकों से परिवेष्टित राजा से भी जनता प्रसन्न नहीं रह सकती है ॥ ३२४ ॥

और भी—यदि गृध्र के समान कठोर आकार वाला राजा हो और हंस के समान मृदुल आकार वाले उसके सभासद हों तो उसकी सेवा करनी चाहिए। परन्तु यदि हंस के समान आकार वाला राजा हो और गृध्र के समान आकार वाले सभासद हों तो उसे त्याग देना चाहिए ॥ ३२५ ॥

इसलिए किसी दुष्ट ने निश्चय ही मुझ पर इसको कुपित करा दिया है, जिससे यह ऐसा कहता है। अथवा यह होता ही है। कहा भी है—

कोमल जल के बराबर आघात से पर्वत-स्थल (पहाड़ की चट्टान, पत्थर) भी घिस जाते हैं, फिर उपजाप (भेद में कुशल मनुष्यों के लगातार कान भरते रहने से मनुष्यों का कोमल चित्त कब तक अडिग रह सकता है ॥ ३२६ ॥

कान भरने के विष से बिगड़े हुए नासमझ मनुष्य क्या नहीं कर डालता ? कोई तो नग्न हो संन्यास भी धारण कर लेता है और कोई नर-कपाल (मनुष्य की खोपड़ी) में मद्यपान भी करने लगता है ॥ ३२७ ॥

अथवा साध्विदमुच्यते—

पादाहतोऽपि दृढदंण्डसमाहतोऽपि
यं दंष्ट्रया स्पृशति तं किल हन्ति सर्पः।
कोऽप्येष एव पिशुनोग्रमनुष्यधर्मः
कर्णे परं स्पृशति हन्ति परं समूलम् ॥ ३२८ ॥

तथा च—अहो खलभुजङ्गस्य विपरीतो वधक्रमः।
कर्णे लगति चैकस्य प्राणैरन्यो वियुज्यते ॥ ३२९ ॥

तदेवं गतेऽपि किं कर्तव्यमित्यहं त्वां सुहृद्भावात्पृच्छामि।' दमनक आह—'तद्देशान्तरगमनं युज्यते। नैवंविधस्य कुस्वामिनः सेवां विधातुम्। उक्तं च—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते' ॥ ३३० ॥

संजीवक आह—'अस्माकमुपरि स्वामिनि कुपिते गन्तुं न शक्यते, न चान्यत्र गतानामपि निर्वृतिर्भवति। उक्तं च—

अथवा ठीक ही कहा है—

चरणों द्वारा कुचले जाने और दृढ़ (मजबूत) दण्डे द्वारा मारे जाने पर सर्प जिसे दाँतों से डँस लेता है उसी की मृत्यु होती है। परन्तु यह पिशुन (चुगलखोर) कैसा असाधारण जीव है जो एक के तो कान में लगता (डँसता) है, किन्तु दूसरे का समूल नाश कर देता है ॥ ३२८ ॥

और भी—अत्यधिक आश्चर्य की बात है कि इस चुगलखोर रूपी सर्प के मारने का उपाय ही विपरीत प्रकार का है। यह एक के कान में लगता (डँसता) है, किन्तु प्राणों से कोई दूसरा ही वियुक्त होता है ॥ ३२९ ॥

इसलिए ऐसा होने पर भी अब क्या करना चाहिए, यह मैं मित्रभाव से तुमसे पूछता हूँ।' दमनक ने कहा—'यहाँ से कहीं दूसरें देश में चले जाना उचित है, परन्तु इस प्रकार के दुष्ट मालिक की सेवा करना उचित नहीं। कहा भी है—

यदि अवलिप्त (उद्धत, मनोन्मत्त) कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को न जानते हुए कुमार्ग-गामी गुरुजन भी हों तो उनका परित्याग कर देना चाहिए' ॥ ३३० ॥

सञ्जीवक ने कहा—'हम स्वामी के क्रुद्ध होने पर भी दूसरी जगह नहीं जा सकते और न हमारा दूसरी जगह जाने पर कल्याण ही हो सकता है।' कहा भी है—

महतां योऽपराध्येत दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू ताभ्यां हिंसति हिंसकम् ॥ ३३१ ॥

तद्युद्धं मुक्त्वा मे नान्यदस्ति श्रेयस्करम् । उक्तं च—

न तान् हि तीर्थैस्तपसा च लोकान् स्वर्गैषिणो दानशतैः सुवृत्तैः ।
क्षणेन यान् यान्ति रणेषु धीराः प्राणान् समुज्झन्ति हि ये सुशीलाः ॥३३२॥

मृतैः सम्प्राप्यते स्वर्गो जीवद्भिः कीर्तिरुत्तमा ।
तदुभावपि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ ३३३ ॥

ललाटदेशे रुधिरं स्रवत्तु शूरस्य यस्य प्रविशेच्च वक्त्रे ।
तत्सोमपानेन समं भवेच्च संग्रामयज्ञे विधिवत्प्रदिष्टम् ॥ ३३४ ॥

तथा च—होमार्थैर्विधिवत्प्रदानविधिना सद्विप्रवृन्दार्चनै-
र्यज्ञैर्भूरिसुदक्षिणैः सुविहितैः सम्प्राप्यते यत्फलम् ।

जो बड़े लोगों का अपराध करता है और दूर भाग कर यह विचार करता है कि 'मैं दूर हूँ वह मेरा कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता' यह गलत है । क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य की भुजाएँ बड़ी लम्बी होती हैं (जो दूरस्थित वस्तु के ग्रहण करने में समर्थ होती हैं) अतः उस अपराधी को पकड़ कर नाश ही कर डालते हैं ॥ ३३१ ॥

सो युद्ध के अतिरिक्त मेरे लिए और कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं रह गया है । कहा भी है—

स्वर्ग अभिलाषा करने वाले मनुष्य तीर्थ, तप, सैकड़ों दान, एवं सुशील आचरण करने पर भी उन लोकों को नहीं पा सकते, जिनको धैर्यवान् और सुशील मनुष्य संग्राम में अपने प्राणों का परित्याग कर पाते हैं ॥ ३३२ ॥

युद्ध में मृत्यु होने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है और उसमें विजय पाकर जीने से उत्तम कीर्ति मिलती है । ये दोनों गुण (स्वर्गप्राप्ति एवं कीर्त्तिप्राप्ति) वीरों के लिए दुर्लभ हैं ॥ ३३३ ॥

जिस वीर पुरुष के माथे से रक्त बहता हुआ उसके मुख में प्रवेश करता है, वह युद्धरूपी यज्ञ में विधिपूर्वक सोमरस पोने के समान है—ऐसा शास्त्रकारों ने कहा है ॥ ३३४ ॥

और भी—विधिपूर्वक होम, प्रकृष्ट दान, विद्वान् ब्राह्मणों की पूजा और बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञों को करने से तथा उत्तम तीर्थ, आश्रमवास, हो-

सत्तीर्थाश्रमवासहोमनियमैश्चान्द्रायणाद्यैः कृतैः
पुम्भिस्तत्फलमाहवे विनिहतैः सम्प्राप्यते तत्क्षणात् ॥ ३३५ ॥

तदाकर्ण्य दमनकश्चिन्तयामास—'युद्धाय कृतनिश्चयोऽयं दृश्यते दुरात्मा। तद्यदि कदाचित्तीक्ष्णशृङ्गाभ्यां स्वामिनं प्रहरिष्यति तन्महाननर्थः सम्पत्स्यते। तदेनं भूयोऽपि स्वबुद्धया प्रबोध्य तथा करोमि यथा देशान्तरगमनं करोति।' आह च—'भो मित्र, सम्यगभिहितं भवता। परं कः स्वामिभृत्ययोः संग्रामः। उक्तं च—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा किलात्मानं प्रगोपयेत्।
बलवद्भिश्च कर्तव्या शरच्चन्द्रप्रकाशता ॥ ३३६ ॥

अन्यच्च—शत्रोर्विक्रममज्ञात्वा वैरमारभते हि यः।
स पराभवमाप्नोति समुद्रष्टिट्टिभाद्यथा ॥ ३३७ ॥

सञ्जीवक आह—'कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

(अग्निहोत्रानुष्ठान), नियम (इन्द्रिय-निग्रहादि) एवं चान्द्रायणादि व्रत-विशेष करने से पुरुषों को जो फल प्राप्त होता है वह फल युद्ध में मरने पर वीरों को उसी क्षण प्राप्त होता है ॥ ३३५ ॥

यह सुनकर दमनक विचारने लगा—'इस दुष्टात्मा ने तो लड़ाई करने का निर्णय कर लिया है, यदि यह कहीं तीखे सींगों से स्वामी पर प्रहार कर बैठा तो बहुत भारी अनर्थ होगा। इसलिए इसको एक बार पुनः अपनी बुद्धि से समझा कर वैसा करूँ, जिससे यह अन्यत्र चला जाय।' यह विचार कर उसने कहा—हे मित्र! तुमने ठीक कहा, परन्तु स्वामी और सेवक की लड़ाई कैसी? कहा भी है—

प्रबल शत्रु को देखकर जैसे हो अपने को भली-भाँति रक्षित कर लेना चाहिए, और स्वयं सबल होने पर शरत्कालीन चन्द्रमा के समान अपना प्रकाश फैलाना चाहिए अर्थात् विधिपूर्वक स्थित रहना चाहिए ॥ ३३६ ॥

और भी—जो अपने शत्रु के पराक्रम को न समझकर विरोध (आन्दोलन) करता है, वह उसी प्रकार पराजय को प्राप्त होता है, जैसे टिट्टिभ से समुद्र ॥ ३३७ ॥

सञ्जीवक ने कहा—यह कैसे? उसने कहा—

कथा १२

कस्मिंश्चित्समुद्रतीरैकदेशे टिट्टिभदम्पती प्रतिवसतः स्म। ततो गच्छति काले ऋतुसमयमासाद्य टिट्टिभी गर्भमाधत्त। अथासन्नप्रसवा सती सा टिट्टिभमूचे—'भोः कान्त, मम प्रसवसमयो वर्तते। तद्विचिन्त्यतां किमपि निरुपद्रवं स्थानम्, येन तत्राहमण्डकविमोक्षणं करोमि।' टिट्टिभः प्राह—'भद्रे, रम्योऽयं समुद्रप्रदेशः। तदत्रैव प्रसवः कार्यः।' साह—'अत्र पूर्णिमादिने समुद्रवेला चरति। सा मत्तगजेन्द्रानपि समाकर्षति। तद्दूरमन्यत्र किञ्चित्स्थानमन्विष्यताम्।' तच्छ्रुत्वा विहस्य टिट्टिभः प्राह—'भद्रे, युक्तमुक्तं भवत्या। का मात्रा समुद्रस्य या मम दूषयिष्यति प्रसूतिम्। किं न श्रुतं भवत्या—

बद्ध्वाम्बरचरमार्गं व्यपगतधूमं सदा महद्भयदम्।
मन्दमतिः कः प्रविशति हुताशनं स्वेच्छया मनुजः॥ ३३८॥

मत्तेभकुम्भविदलनकृतश्रमं सुप्तमन्तकप्रतिमम्।
यमलोकदर्शनेच्छुः सिंहं बोधयति को नाम॥ ३३९॥

किसी समुद्र के एक प्रदेश टिट्टिभ और टिट्टिभी (पति-पत्नी) रहा करते थे। कुछ समय के बीत जाने पर ऋतु-समय को प्राप्त कर, टिट्टिभी ने गर्भ धारण किया। प्रसवकाल के समीप होने पर उसने टिट्टिभ से कहा—'हे प्राणनाथ! मेरे प्रसव का समय निकट आ गया है। अतः कोई उपद्रवरहित स्थान का अन्वेषण कीजिए, जहाँ मैं अण्डे दे सकूँ।' टिट्टिभ ने कहा—कल्याणि! यह समुद्र का तट अत्यधिक रमणीक है, अतः यहीं प्रसव कार्य करो।' उसने कहा—'इस स्थान पर पूर्णिमा के दिन समुद्र में लहर आती है। जो बड़े-बड़े मदोन्मत्त हाथियों को भी (समुद्र–गर्भ में) खींच ले जाती है। सो कहीं दूर दूसरा स्थान खोजो।' यह सुन हँसकर टिट्टिभ ने कहा—'देवी! तुमने कहा तो ठीक है, किन्तु समुद्र की क्या शक्ति जो मेरी सन्तान को दूषित (नष्ट) करे। क्या तुमने यह नहीं सुना है?—

कौन ऐसा मूर्ख मनुष्य होगा जो आकाश में भ्रमण करने वाले पक्षियों का मार्ग अवरुद्ध करेगा और धुआँ से रहित (प्रखर प्रज्वलित) महाभयदायक अग्नि में अपनी अभिलाषा से प्रवेश करेगा? ॥ ३३८॥

यमलोक का दर्शन करने की अभिलाषा रखनेवाला कौन ऐसा व्यक्ति होगा

को गंत्वा यमसंदनं स्वयमन्तकमादिशत्यजातभयः ।
प्राणानपहर मत्तो यदि शक्तिः काचिदस्ति तव ॥ ३४० ॥
प्रालेयलेशमिश्रे मरुति प्राभातिके च वाति जडे ।
गुणदोषज्ञः पुरुषो जलेन कः शीतमपनयति ॥ ३४१ ॥

तस्माद्विश्रब्धात्रैव गर्भं मुञ्च । उक्तं च—

यः पराभवसन्त्रस्तः स्वस्थानं सन्त्यजेन्नरः ।
तेन चेत्पुत्रिणी माता तद्वन्ध्या केन कथ्यते ॥ ३४२ ॥

तच्छ्रुत्वा समुद्रश्चिन्तयामास—'अहो गर्वः पक्षिकीटस्यास्य । अथवा साध्विदमुच्यते—

उत्क्षिप्य टिट्टिभः पादावास्ते भङ्गभयाद्दिवः ।
स्वचित्तकल्पितो गर्वः कस्य नात्रापि विद्यते ॥ ३४३ ॥

तन्मयास्य प्रमाणं कुतूहलादपि द्रष्टव्यम् । किं ममैषोऽण्डापहारे कृते

जो मन्दोन्मत्त हाथियों के गण्डस्थल को फाड़ने का परिश्रम करके काल की मूर्ति के समान सोते हुए सिंह को जगावेगा ? ॥ ३३९ ॥

कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो स्वयं यमलोक जाकर भयरहित हो अन्तक (यमराज) से कहेगा कि 'यदि तुम्हारे में कुछ सामर्थ्य है तो मेरे प्राणों को हरण करो !' ॥ ३४० ॥

कौन ऐसा गुण-दोष को जाननेवाला व्यक्ति होगा जो तुषार से संवलित (बर्फ से मिलित) और अत्यधिक शीतल प्रभातकालीन वायु के बहने पर उस शीत को जल से निवारण करने का उद्योग करेगा ? ॥ ३४१ ॥

इसलिए निःसन्देह होकर यहीं पर गर्भ का त्याग करो । कहा भी है—

जो मनुष्य पराजय के भय से अपने स्थान को छोड़ देता है, ऐसे व्यक्ति के होने से यदि माता पुत्रवती कही जाय तो फिर बन्ध्या कौन कही जायगी ॥३४२॥

इसे सुनकर समुद्र ने विचार किया—'अरे ! इस पक्षि-कीट (कीड़े जैसे तुच्छ पक्षी) को इतना अभिमान है । अथवा ठीक ही कहा है—

'आकाश कहीं हमारे ऊपर टूटकर गिर न पड़े' इस भय से टिट्टिभ अपने पैरों को आकाश की ओर ऊपर उठाकर सोता है । भला इस संसार में किसको अपने चित्त से कल्पना किया हुआ अभिमान नहीं होता ? (अर्थात् सभी छोटे या बड़े प्राणियों में अपने चित्त के अनुसार अहङ्कार होता ही है) ॥ ३४३ ॥

'सो मैं इसके प्रमाण (निदर्शन, उदाहरण अर्थात् शक्ति) को कौतुकवश

करिष्यति।' इति चिन्तयित्वा स्थितः। अथ प्रसवानन्तरं प्राणयात्रार्थं गतायाष्टिट्टिभ्याः समुद्रो वेलाव्याजेनाण्डान्यपजहार। अथायाता सा टिट्टिभी प्रसवस्थानं शून्यमवलोक्य प्रलपन्ती टिट्टिभमूचे—'भो मूर्ख, कथितमासीन्मया ते यत्समुद्रवेलयाण्डानां विनाशो भविष्यति। तद्-दूरतरं व्रजावः। परं मूढतयाहङ्कारमाश्रित्य मम वचनं न करोषि। अथवा साध्विदमुच्यते—

सुहृदां हितकामानां न करोतीह यो वचः।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद् भ्रष्टो विनश्यति' ॥ ३४४ ॥

टिट्टिभ आह—'कथमेतत्।' साऽब्रवीत्—

कथा १३

अस्ति कस्मिंश्चिज्जलाशये कम्बुग्रीवो नाम कच्छपः। तस्य च संकट-विकटनाम्नी मित्रे हंसजातीये परमस्नेहकोटिमाश्रिते नित्यमेव सरस्तीरमा-साद्य तेन सहानेकदेवर्षिमहर्षीणां कथाः कृत्वास्तमयवेलायां स्वनीडासंश्रयं

देखूँगा। मेरे द्वारा अण्डे हरण कर लेने पर देखें यह क्या करेगा? ऐसा सोचकर वह स्थित हो गया और प्रसव (अण्डे उत्पन्न) हो जाने के बाद अपनी प्राण-यात्रा (आहार) के लिए टिट्टिभी के कहीं चले जाने पर समुद्र ने लहर (जल-वृद्धि) के बहाने अण्डों का अपहरण कर लिया। तदनन्तर जब वह टिट्टिभी लौटकर आयी तो प्रसव-स्थान को शून्य देखकर बिलखती हुई टिट्टिभ से कहने लगी—'अरे मूर्ख! मैंने पहले ही तुमसे कहा था कि समुद्र की लहर से अण्डों का नाश हो जायगा, सो यहाँ से दूर चलें, किन्तु मूर्खता के कारण अहङ्कार का अवलम्बन कर तुमने मेरी बातें न मानीं। अथवा ठीक ही कहा है—

इस संसार में जो मनुष्य अपने हित करने वाले मित्रों की बात नहीं सुनता (आज्ञा-पालन नहीं करता) वह दुर्बुद्धि, काठ से गिरे उस कछुए के समान नष्ट हो जाता है ॥ ३४४ ॥

टिट्टिभ ने कहा—'यह कैसे?' वह कहने लगी—

किसी सरोवर (तालाब) में कम्बुग्रीव नाम का एक कछुआ रहता था। उसके सङ्कट और विकट नाम के हंस जाति के परमस्नेह की कोटि के स्वरूप के समान दो मित्र थे जो नित्य जलाशय के तट पर आकर उसके साथ अनेक प्रकार के देवर्षियों एवं महर्षियों की कथा कहते और सन्ध्याकाल के समय अपने

कुरुतः। अथ गच्छता कालेनावृष्टिवशात् सरः शनैः शनैः शोषमगमत्। ततस्तद्दुःखदुःखितौ तावूचतुः—'भो मित्र, जम्बालशेषमेतत्सरः सञ्जातम्। तत्कथं भवान् भविष्यतीति व्याकुलत्वं नो हृदि वर्तते।' तच्छ्रुत्वा कम्बुग्रीव आह—'भोः, साम्प्रतं नास्त्यस्माकं जीवितव्यं जलाभावात्। तथाप्युपायश्चिन्त्यतामिति। उक्तं च—

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले धैर्यात्कदाचिद्गतिमाप्नुयात्सः।
यथा समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे सांयात्रिको वाञ्छति तर्तुमेव॥ ३४५॥

अपरं च—मित्रार्थे बान्धवार्थे च बुद्धिमान् यतते सदा।
जातास्वापत्सु यत्नेन जगादेदं वचो मनुः॥ ३४६॥

तदानीयतां काचिद् दृढरज्जुर्लघुकाष्ठं वा। अन्विष्यतां च प्रभुतजलसनाथं सरः, येन मया मध्यप्रदेशे दन्तैर्गृहीते सति युवां कोटिभागयोस्तत्काष्ठं मया सहितं संगृह्य तत्सरो नयथः।' तावूचतुः—'भो मित्र, एवं

वासस्थान (घोंसला) का आश्रय लेते थे। कुछ दिनों के बाद वृष्टि न होने के कारण जलाशय धीरे-धीरे सूखने लगा। तब उसके दुःख से दुःखित उन दोनों हंसों ने कहा—'हे मित्र! इस सरोवर में अब तो कीचड़ मात्र अवशिष्ट रह गया है सो अब आप इसमें कैसे रहेंगे? इस बात की व्याकुलता हमारे हृदय में हो रही है।' यह सुनकर कम्बुग्रीव ने कहा—'अरे भाई! इस समय जल के न रहने के कारण मैं जीवित नहीं रह सकता। अब कोई उपाय सोचिए। कहा भी है—

भाग्य के प्रतिकूल होने पर भी धैर्य का त्याग न करना चाहिए, क्योंकि कदाचित् धैर्य से कोई मार्ग निकल आवे। जिस प्रकार समुद्र में पोतभङ्ग होने (जहाज टूटने) पर भी पोत-वणिक् धैर्य रखकर तैरने की अभिलाषा करता है॥ ३४५॥

और भी—विपत्ति के उपस्थित होने पर भी मित्र के लिए और बान्धवों के लिए यत्नपूर्वक विद्वान् उद्योग करे। इस वाक्य को मनु भगवान् ने कहा है॥ ३४६॥

सो अधिक जल से युक्त कोई जलाशय ढूँढ़िये और कोई मजबूत रस्सी या हलकी लकड़ी लाइये जिससे मेरे उसके बीच का हिस्सा अपने दाँतों से पकड़ लेने पर आप दोनों उसके कोटिभागों (किनारों) को पकड़ कर मुझे अपने

करिष्यावः । परं भवता मौनव्रतेन स्थातव्यम् । नो चेत्तव काष्ठात्पातो भविष्यति ।' तथानुष्ठिते गच्छता कम्बुग्रीवेणाधोभागव्यवस्थितं किंचित्पुरमालोकितम् । तत्र ये पौरास्ते तथा नीयमानं विलोक्य सविस्मयमिदमूचुः—'अहो, चक्राकारं किमपि पक्षिभ्यां नीयते । पश्यत । पश्यत !' अथ तेषां कोलाहलमाकर्ण्य कम्बुग्रीव आह—'भोः, किमेष कोलाहलः' इति वक्तुमना अर्धोक्ते पतितः पौरैः खण्डशः कृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'सुहृदां हितकामानाम्' इति । तथा च—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥ ३४७ ॥

टिट्टिभ आह—'कथमेतत्' । साब्रवीत्—

साथ उस तालाब में ले चलिए । उन दोनों ने कहा—'हे मित्र ! ऐसा ही किया जायगा । किन्तु आप मौन अवलम्बन किये रहिएगा, ऐसा न करने पर आप लकड़ी से छूटकर नीचे गिर पड़ेंगे !' वैसा करने (अर्थात् हलकी लकड़ी लाने) पर उसको लेकर हँस उड़े । कम्बुग्रीव ने उस समय नीचे की ओर विद्यमान किसी नगर को देखा । वहाँ के नागरिकों ने उसको उस प्रकार लिए जाते हुए देखकर विस्मयपूर्वक कहा—'अरे ! देखो, देखो तो, यह क्या चक्र की आकृति वाली (गोलाकार) वस्तु दो पक्षी लिये जाते हैं । तब उनका कोलाहल सुनकर कम्बुग्रीव ने कहा—'अरे ! यह कैसा कोलाहल है ?' इस प्रकार कहनेवाला ही था कि आधी बात कहते ही नीचे गिर पड़ा और नागरिकों ने उसे टुकड़े-टुकड़े कर डाला । इसलिए मैं कहता हूँ—'भलाई करने वाले मित्रों का' इत्यादि । और भी—

अनागतविधाता (अनुपस्थित कर्म का प्रतिकर्ता अर्थात् भविष्य का विचार कर कर्म करनेवाला), और प्रत्युत्पन्नमति (समयोचित विपत्प्रतीकार में समर्थ अर्थात् विपत्ति उपस्थित होने पर ही उसके प्रतीकार के लिए अच्छी बुद्धि लगाने वाला)—ये दोनों तरह के मनुष्य सुख से वृद्धि को पाते हैं । 'यद्भविष्य' (जो भाग्य में होगा वह होगा—इस तरह भाग्य के ऊपर निर्भर होकर सोचने वाला, विपत्-प्रतीकार से विमुख व्यक्ति) नष्ट हो जाता है ॥ ३४७ ॥

टिट्टिभ ने पूछा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

कथा १४

कस्मिंश्चिज्जलाशयेऽनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिर्यद्भविष्यश्चेति त्रयो मत्स्याः सन्ति। अथ कदाचित्तं जलाशयं दृष्ट्वा गच्छद्भिर्मत्स्यजीविभिरुक्तम्—यदहो, बहुमत्स्योऽयं ह्रदः। कदाचिदपि नास्माभिरन्वेषितः। तदद्य तावदाहारवृत्तिः सञ्जाता। सन्ध्यासमयश्च संवृत्तः। ततः प्रभातेऽत्रागन्तव्यमिति निश्चयः।' अतस्तेषां तत्कुलिशपातोपमं वचः समाकर्ण्यानागतविधाता सर्वान्मत्स्यानाहूयेदमूचे—'अहो, श्रुतं भवद्भिर्यन्मत्स्यजीविभिरभिहितम्। तद्रात्रावपि गम्यतां किंचिन्निकटं सरः। उक्त च—

> अशक्तैर्बलिनः शत्रोः कर्तव्यं प्रपलायनम्।
> संश्रितव्योऽथवा दुर्गो नान्या तेषां गतिर्भवेत् ॥ ३४८ ॥

तन्नूनं प्रभातसमये मत्स्यजीविनोऽत्र समागम्य मत्स्यसंक्षयं करिष्यन्ति। एतन्मम मनसि वर्तते। तन्न युक्तं साम्प्रतं क्षणमप्यत्रावस्थातुम्। उक्तं च—

किसी सरोवर में 'अनागतविधाता', 'प्रत्युत्पन्नमति' और 'यद्भविष्य' नाम की तीन मछलियाँ रहा करती थीं। एक समय मत्स्यजीवियों (मछुओं) ने उस जलाशय को देखकर जाते हुए कहा—'अरे! इस सरोवर में बहुत सी मछलियाँ हैं और हमने कभी इसकी खोज ही नहीं की। सो आज तो भोजन भर मिल चुका और सन्ध्या भी हो गयी है, सो कल प्रातःकाल यहाँ अवश्य आना चाहिए।' तब उनके इस वज्रपात के समान वचन को सुनकर, अनागतविधाता ने सब मछलियों को बुलाकर कहा—'अरे! कुछ सुना तुम लोगों ने, जो मछुवों ने कहा है? सो बस रात ही रात दूसरे नजदीक के किसी सरोवर में चल दो। कहा भी है—

बलवान् शत्रुओं के आक्रमण होने पर असमर्थों को भाग जाना चाहिए, अथवा दुर्ग (गढ़, किला) का अवलम्बन करना चाहिये, क्योंकि उन (असमर्थों) के लिए (भागने और छिपने के सिवाय) अन्य कोई तीसरी गति (उपाय) नहीं है॥ ३४८ ॥

सो निश्चय ही प्रभात समय में मछुये लोग यहाँ आकर मछलियों का नाश करेंगे—यह बात मेरे मन में आती है। सो अब यहाँ क्षणभर भी ठहरना ठीक नहीं है। कहा भी है—

विद्यमाना गतिर्येषामन्यत्रापि सुखावहा ।
ते न पश्यन्ति विद्वांसो देहभङ्गं कुलक्षयम् ॥

तदाकर्ण्य प्रत्युत्पन्नमतिः प्राह—'अहो, सत्यमभिहितं भवता। ममाप्यभीष्टमेतत्। तदन्यत्र गम्यताम्' इति। उक्तं च—

परदेशभयाद् भीता बहुमाया नपुंसकाः ।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ ३५० ॥

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्स्वदेशरागेण हि याति नाशम् ।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षार जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥ ३५१ ॥

अथ तत्समाकर्ण्य प्रोच्चैर्विहस्य यद्भविष्यः प्रोवाच—'अहो, न भवद्भ्यां मन्त्रितं सम्यगेतदिति, यतः किं वाङ्मात्रेणापि तेषां पितृपैतामहिकमेतत्सरस्त्यक्तुं युज्यते। यद्यायुःक्षयोऽस्ति तदन्यत्र गतानामपि मृत्युर्भविष्यत्येव। उक्तं च—

जिन विद्वानों को किसी अन्य स्थान पर सुख से गति (उपाय) मिल जाती है वे विद्वान् अपने शरीर का एवं अपने वंश का क्षय नहीं देख सकते ॥ ३४९ ॥

इसे सुनकर 'प्रत्युत्पन्नमति' ने कहा—हाँ! आपने यह ठीक कहा है, मुझे भी यह अभिलषित है (मैं भी यही चाहता हूँ)। सो कहीं दूसरी जगह चले जाना चाहिये। कहा भी है—

दूसरे देश में किस प्रकार वास करूँगा, इस प्रकार परदेश के भय से सन्त्रस्त हो, बहुमाया वाले (अपने देश के प्रति अत्यधिक ममता रखनेवाले), नपुंसक (असमर्थ), कौए, कायर पुरुष और हिरण ये पाँचों स्वदेश में ही निधन (नाश) प्राप्त करते हैं ॥ ३५० ॥

जिस पुरुष के लिए सर्वत्र गति (उपाय) है वह अपने देश के अनुराग से क्यों नाश होने जाय। 'यह मेरे पिता का बनवाया हुआ कुआँ है' इस प्रकार कहनेवाला कापुरुष (कायर, आलसी) व्यक्ति ही खारा पानी पीता है ॥३५१॥

इसके बाद यह सुनकर उच्चस्वर से (खिलखिलाकर) हँसता हुआ 'यद्भविष्य' ने कहा—'अरे तुम लोगों ने अच्छी तरह विचार नहीं किया। क्या उन मछुओं के कहने से ही यह पितृ-पितामह (बाप दादों) का सरोवर छोड़ देना उचित है ? यदि आयु का क्षय हो चुका है तो अन्यत्र जाने पर भी मृत्यु होगी ही। कहा भी है—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥३५२॥

तदहं न यास्यामि भवद्भ्यां च यत्प्रतिभाति तत्कर्तव्यम्।' अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वानागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिश्च निष्क्रान्तौ सह परिजनेन। अथ प्रभाते तैर्मत्स्यजीविभिर्जालैस्तज्जलाशयमालोड्य यद्भविष्येण सह तत्सरो निर्मत्स्यतां नीतम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतविधाता च' इति।

तच्छ्रुत्वा टिट्टिभ आह—'भद्रे, किं मां यद्भविष्यसदृशं संभावयसि। तत्पश्य मे बुद्धिप्रभावं यावदेनं दुष्टसमुद्रं स्वचञ्च्वा शोषयामि। टिट्टिभ्याह—अहो कस्ते समद्रेण सह विग्रहः। तन्न युक्तमस्योपरि कोपं कर्तुम्। उक्तं च—

पुंसामसमर्थानामुपद्रवायात्मनो भवेत्कोपः।
पिठरं ज्वलदतिमात्रं निजपार्श्वानेव दहतितराम् ॥ ३५३ ॥

अपरिपालित प्राणी भाग्य के सहारे जीवित रहता है, किन्तु यत्न से पालित प्राणी भाग्य से उपेक्षित होकर (अरक्षित होकर) स्थित नहीं रह सकता, क्योंकि वन में छोड़ा हुआ अनाथ व्यक्ति भी जी जाता है, किन्तु लाख यत्न करने पर भी सनाथ घर में नहीं जीता ॥ ३५२ ॥

सो मैं तो (दूसरी जगह) नहीं जाऊँगा, तुम दोनों को जो अच्छा लगे सो करो ?' तदनन्तर उसका ऐसा निश्चय जान कर 'अनागतविधाता' और 'प्रत्युत्पन्नमति' अपने बन्धु-बान्धवों के साथ वहाँ से चल दिये। इसके बाद दूसरे दिन प्रातःकाल धीवरों ने जाल से उस जलाशय को आलोडित कर के 'यद्भविष्य' समेत उस सरोवर को मछली से रहित कर दिया। इसी से मैं कहती हूँ—'अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति' इत्यादि।

यह सुन कर टिट्टिभ ने कहा—हे कल्याणि ! क्या मुझे 'यद्भविष्य' के समान समझती हो ? सो मेरे बुद्धिप्रभाव को तब तक देखते रहना जब तक मैं इस दुष्ट समुद्र को अपनी चोंच से सुखा न डालूँ ? टिट्टिभी ने कहा—'अरे ! समुद्र के साथ तुम्हारी कैसी लड़ाई ? इस पर क्रोध करना ठीक नहीं। कहा भी है—

असमर्थ पुरुषों का क्रोध अपने ही उपद्रव (नाश) के लिए होता है। अत्यधिक जलती हुई भट्ठी अपने निकट की ही वस्तु को जलाती है ॥ ३५३ ॥

तथा च—अविदित्वाऽऽत्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥ ३५४ ॥

टिट्टिभ आह—'प्रिये, मा मैवं वद। येषामुत्साहशक्तिर्भवति ते स्वल्पा अपि गुरून्विक्रमन्ते। उक्तं च—

विशेषात्परिपूर्णस्य याति शत्रोरमर्षणः।
आभिमुख्यं शशाङ्कस्य यथाऽद्यापि विधुन्तुदः॥ ३५५ ॥

तथा च—प्रमाणादधिकस्यापि गण्डश्याममदच्युतेः।
पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः॥ ३५६ ॥

तथा च—बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम्।
तेजसा सह जातानां वयः कुत्रोपयुज्यते॥ ३५७ ॥

हस्ती स्थूलतरः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः।

और भी—जो अपने और शत्रु के सामर्थ्य का विचार किये बिना ही उत्तेजित होकर शत्रु का सामना करता है वह अग्नि में पड़े फतिंगे के समान स्वयं नष्ट हो जाता है॥ ३५४॥

टिट्टिभ ने कहा—'प्रिये ! ऐसा मत कहो' जिनके पास उत्साह-सामर्थ्य (अध्यवसाय) होता है, वे छोटे होने पर भी बड़ों पर आक्रमण कर देते हैं। कहा भी है—

विधुन्तुद (राहु) इस समय भी जिस प्रकार परिपूर्ण (पूर्णिमा के) चन्द्रमा के सम्मुख जाता है (राहु चन्द्रमा पर आक्रमण करता है) उसी प्रकार क्रोध करने वाला मनुष्य भी विशेष कर परिपूर्ण शत्रु के ही सम्मुख जाता है। (शूर पुरुष दुर्बलों के साथ युद्ध नहीं करता)॥ ३५५॥

और भी—अपने शरीर के प्रमाण से अधिक और कपोल स्थल से श्याम-वर्ण का मद च्युत करने वाला मदोन्मत्त हाथी के मस्तक पर ही सिंह चरण रखता है। (उत्साही व्यक्ति अल्प देखने में आने पर भी विशालकाय शत्रु को भी पराजित कर देता है)॥ ३५६॥

और भी—जिस प्रकार नवोदित सूर्य की किरणें (पाद) भूभृतों (पर्वतों) के ऊपर गिरती हैं, उसी प्रकार तेज के साथ उत्पन्न पुरुषों की उम्र नहीं देखी जाती। (सर्वत्र तेज के प्रभाव से ही विजय होती है, केवल विशालकाय रहने से नहीं)॥ ३५७॥

वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरि-
स्तेजो यस्य विराजते स बलवान्स्थूलेषु कः प्रत्ययः ॥ ३५८ ॥

तदनया चञ्च्वाऽस्य सकलं तोयं शुष्कस्थलतां नयामि।' टिट्टिभ्याह— 'भोः कान्त, यत्र जाह्नवी नवनदीशतानि गृहीत्वा नित्यमेव प्रविशति, तथा सिन्धुश्च। तत्कथं त्वमष्टादशनदीशतैः पूर्यमाणं तं विप्रुषवाहिन्या चञ्च्वा शोषयिष्यसि ? तत्किमश्रद्धो येनोक्तेन।' टिट्टिभ आह—'प्रिये—

अनिर्वेदः श्रियो मूलं चञ्चुर्मे लोहसन्निभा।
अहोरात्राणि दीर्घाणि समुद्रः किं न शुष्यति ॥ ३५९ ॥
दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण पौरुषं न कृतम्।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानपि जलदपटलानि ॥ ३६० ॥

हाथी अत्यधिक स्थूलकाय है, किन्तु वह अङ्कुश के अधीन रहता है, तो क्या अङ्कुश हाथी के समान है ? दीपक के प्रज्वलित होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, तो क्या दीपक अन्धकार की तरह व्यापक है, वज्र से सैंकड़ों पर्वत गिर जाते हैं, तो क्या वज्र पर्वत के तुल्य है (अतः यह सिद्ध होता है कि) जिसमें तेज विशेष रूप से विद्यमान है वही बलवान् है, स्थूल आकार वालों का क्या भरोसा ? ॥ ३५८ ॥

'सो इसी (तुच्छ) चोंच से समुद्र का सब जल सुखा डालूँगा।' टिट्टिभी ने कहा—'हे स्वामिन् ! जिसमें नौ सौ नदियों को लेकर गङ्गा नित्य प्रवेश करती है और उसी प्रकार (नौ सौ नदियों को लेकर) सिन्धु नदी भी (प्रवेश करती है), सो किस प्रकार तुम अट्ठारह सौ नदियों द्वारा परिपूर्ण होनेवाले समुद्र को पानी की एक बूँद ले जानेवाली चोंच से सुखा सकोगे ? इसलिए इन अविश्वनीय बातों के कहने से क्या प्रयोजन ? टिट्टिभ ने कहा—'प्रिये !

हताश न होना ही लक्ष्मी का मूल है मेरी चोंच लोहा के समान कठिन है, दिन-रात इतने बड़े होते हैं, क्या (इतने पर भी) समुद्र न सूखेगा ? (अर्थात् उत्साहपूर्वक मैं इस कठिन चोंच से अधिक समय लगाकर समुद्र को अवश्य सुखा डालूँगा) ॥ ३५९ ॥

जब तक मनुष्य पुरुषार्थ नहीं करता, तब तक उत्कर्ष मिलना दुर्लभ है। (जिस प्रकार) तुला राशि में प्राप्त हुआ सूर्य ही मेघ-वृन्दों पर विजय प्राप्त करता है (जब तक पराक्रम प्रकाशित न हो तब तक बड़े व्यक्ति भी पराजय को ही प्राप्त होते हैं) ॥ ३६० ॥

टिट्टिभ्याह—'यदि त्वयाऽवश्यं समुद्रेण सह विग्रहानुष्ठानं कार्यम्, तदन्यानपि विहङ्गमानाहूय सुहृज्जनसहित एवं समाचर। उक्तं च—

बहूनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः।
तृणैरावेष्ट्यते रज्जुर्यया नागोऽपि बद्धयते॥ ३६१॥

तथा च—चटकाकाष्ठकूटेन मक्षिकादर्दुरैस्तथा।
महाजनविरोधेन कुञ्जरः प्रलयं गतः'॥ ३६२॥

टिट्टिभ आह—'कथमेतत् ?' सा प्राह—

कथा १९

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे चटकदम्पती तमालतरुकृतनिलयौ प्रतिवसतः स्म। अथ तयोर्गच्छता कालेन सन्ततिरभवत्। अन्यस्मिन्नहनि प्रमत्तो वनगजः कश्चित्तं तमालवृक्षं घर्मार्तश्छायार्थी समाश्रितः। ततो मदोत्कर्षात्तां तस्य शाखां चटकाश्रितां पुष्कराग्रेणाकृष्य बभञ्ज। तस्या भङ्गेन चटकाण्डानि सर्वाणि विशीर्णानि। आयुःशेषतया च चटकौ कथमपि प्राणैर्न वियुक्तौ। अथ चटका साण्डभङ्गाभिभूता प्रलापान्कुर्वाणा न किंचित्सुख-

---

टिट्टिभी ने कहा—'यदि तुम्हें समुद्र के साथ अवश्य लड़ाई करनी है तो अन्य पक्षियों को बुलाकर मित्रों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करो। कहा भी है—

अधिकतर सारहीन वस्तुओं का समवाय (समूह) अजेय हो जाता है। तृणों से बटकर रस्सी का निर्माण होता है, जिससे हाथी भी बांध लिए जाते हैं॥ ३६१॥

और भी—कठफोरवा और चटका पक्षी, मेढक और मक्खी आदि अनेक जन (व्यक्तियों) के विरोध करने से हाथी का नाश हुआ॥ ३६२॥

टिट्टिभ ने कहा—'यह कैसे' ? उसने कहा—

किसी वन के प्रदेश में चटक पक्षी का एक जोड़ा तमाल वृक्ष में घोंसला बनाकर रहता था। कुछ दिन के अन्दर उन्हें सन्तान उत्पन्न हुई। किसी दिन धूप से व्यथित होकर मतवाला हाथी उसी तमाल वृक्ष के नीचे छाया के निमित्त बैठा। मद के आधिक्य के कारण उसकी शाखा को, जिस पर चटका थी, अपनी सूँड़ के अग्रभाग से खींचकर उसने तोड़ डाला। उसके टूट जाने से चटका के सब अण्डे फूट गये। आयु अवशिष्ट रहने के कारण किसी प्रकार चटक-

माससाद। अत्रान्तरे तस्यास्तान्प्रलापाञ्छ्रुत्वा काष्ठकूटो नाम पक्षी तस्याः परमसुहृत्तद्दुःखदुःखितोऽभ्येत्य तामुवाच—'भगवति, किं वृथा प्रलापेन। उक्तं च—

नष्टं मृतमतिक्रान्तं नानुशोचन्ति पण्डिताः।
पण्डितानां च मूर्खाणां विशेषोऽयं यतः स्मृतः॥ ३६३॥

तथा च—अशोच्यानीह भूतानि यो मूढस्तानि शोचति।
स दुःखे लभते दुःखं द्वावनर्थौ निषेवते॥ ३६४॥

अन्यच्च—श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः।
तस्मान्न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याश्च शक्तितः॥ ३६५॥

चटका प्राह—'अस्त्वेतत्। परं दुष्टगजेन मदान्मम सन्तानक्षयः कृतः। तद्यदि मम त्वं सुहृत्सत्यस्तदस्य गजापसदस्य कोऽपि वधोपायश्चिन्त्यताम्, यस्यानुष्ठानेन मे सन्ततिनाशदुःखमपसरति। उक्तं च—

चटका के प्राण न गये। चटका अपने अण्डों के फूट जाने से किंकर्तव्यविमूढ हो रुदन करने लगी और किसी प्रकार भी उसे शान्ति न मिल सकी। इसी बीच उसके रुदन को सुनकर 'कठफोरवा' नाम का पक्षी जो उसका घनिष्ठ मित्र था उसके क्लेश से क्लेशित होकर उसके निकट आकर उससे कहने लगा—'देवी! व्यर्थ रुदन क्यों करती हो? कहा भी है—

जो नष्ट हो गया, जो मर गया और जो बीत चुका—इन तीन विषयों के लिए विद्वान् लोग शोक नहीं करते, क्योंकि विद्वानों और मूर्खों में तो इतना ही अन्तर कहा गया है॥ ३६३॥

और—जो मूर्ख इस संसार में अशोच्य (शोक न करने योग्य) के प्रति शोक करता है, वह क्लेश में क्लेश पाता है और दो अनर्थों का अनुभव करता है॥ ३६४॥

और भी—प्रेत (मृतात्मा) को विवश (लाचार) होकर (अभिलाषा न रहते हुए भी) अपने कुटुम्बियों द्वारा परित्यक्त श्लेष्माश्रु (कफ और आँसू) का पान करना पड़ता है, अतः मरने पर रोना नहीं चाहिए किन्तु अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रेत की क्रिया (पारलौकिक श्राद्धादि) करनी चाहिए, जिससे प्रेत की सुगति हो जाय॥ ३६५॥

चटका ने कहा—'यह ठीक है परन्तु दुष्ट हाथी ने मद (अहङ्कार) से मेरी सन्तान का नाश कर डाला है। सो यदि तुम मेरे सच्चे मित्र हो तो इस अधम

आपदि येनापकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये॥ ३६६॥

काष्ठकूट आह—'भगवति, सत्यमभिहितं भवत्या। उक्तं च—

स सुहृद्व्यसने यः स्यादन्यजात्युद्भवोऽपि सन्।
वृद्धौ सर्वोऽपि मित्रं स्यात्सर्वेषामेव देहिनाम्॥ ३६७॥
स सुहृद्व्यसने यः स्यात्स पुत्रो यस्तु भक्तिमान्।
स भृत्यो यो विधेयज्ञः सा भार्या यत्र निर्वृतिः॥ ३६८॥

तत्पश्य मे बुद्धिप्रभावम्। परं ममापि सुहृद्भूता वीणारवा नाम मक्षिकाऽस्ति। तत्तामाहूयागच्छामि, येन स दुरात्मा दुष्टगजो वध्यते।' अथासौ चटकया सह मक्षिकामासाद्य प्रोवाच—'भद्रे, ममेष्टेयं चटका केनचिद्दुष्टगजेन पराभूताऽण्डस्फोटनेन। तत्तस्य वधोपायमनुतिष्ठतो मे साहाय्यं कर्तुमर्हसि।' मक्षिकाप्याह—'भद्र, किमुच्यतेऽत्र विषये। उक्तं च—

हाथी को मारने का कोई उपाय सोचो, जिसके (वध करने की युक्ति) करने से बच्चे नष्ट हो जाने से उत्पन्न मेरा क्लेश दूर हो सके। कहा भी है—

सङ्कट काल में जिसने अपना बुरा किया और दुरवस्था में जिसने हँसी उड़ाई उन दोनों का अनिष्ट करनेवाले प्राणी का मैं पुनर्जन्म मानता हूँ॥ ३६६॥

काठफोरवा ने कहा—'देवी! तुमने ठीक कहा। कहा भी है—

दूसरी जाति में जन्म लेकर भी जो सङ्कट में सहायता करे वही मित्र है, (वैसे तो) उन्नति में (अभ्युदय के समय) शरीरधारियों के सब ही मित्र हो जाते हैं॥ ३६७॥

जो दुःख में साथ दे वही मित्र है, जो भक्तिमान् (आज्ञाकारी) हो वही पुत्र है जो अपने कर्तव्य को समझे वही सेवक है और जो सब तरह से निर्वृति (सुख) दे सके वही भार्या है॥ ३६८॥

सो मेरी बुद्धि के प्रभाव को देखो तो सही; किन्तु मेरी मित्र 'वीणारवा' नाम की एक मक्खी है। सो उसको बुलाकर ले आऊँ, जिससे इस दुष्ट हाथी का वध किया जाय। इसके बाद चटका के साथ मक्खी (वीणारवा) के निकट पहुँच कर उसने कहा—'भद्रे! यह मेरी मित्र चटका है। किसी दुरात्मा हाथी ने इसके अण्डे को नष्ट कर इसको व्यथित कर दिया है, सो उसके वध करने के उपाय में तुम्हें मेरा सहयोग करना चाहिये।' मक्खी ने कहा—'भद्र! इस विषय में आप मुझे क्या आज्ञा देते हैं? कहा भी है—

पुनः प्रत्युपकाराय मित्राणां क्रियते प्रियम् ।
यत्पुनर्मित्रमित्रस्य कार्यं मित्रैर्न किं कृतम् ॥ ३६९ ॥

सत्यमेतत् । परं ममापि भेको मेघनादो नाम मित्रं तिष्ठति । तमप्याहूय यथोचितं कुर्मः । उक्तं च—

हितैः साधुसमाचारैः शास्त्रज्ञैर्मतिशालिभिः ।
कथञ्चिन्न विकल्पन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नयाः ॥ ३७० ॥

अथ ते त्रयोऽपि गत्वा मेघनादस्याग्रे समस्तं वृत्तान्तं निवेद्य तस्थुः । अथ स प्रोवाच—'कियन्मात्रोऽसौ वराको गजो महाजनस्य कुपितस्याग्रे । तन्मदीयो मन्त्रः कर्तव्यः । मक्षिके, त्वं गत्वा मध्याह्नसमये तस्य मदोद्धतस्य गजस्य कर्णे वीणारवसदृशं शब्दं कुरु, येन, श्रवणसुखलालसो निमीलितनयनो भवति । ततश्च काष्ठकूटचञ्च्वा स्फोटितनयनोऽन्धीभूतस्तृषार्तो मम गर्ततटाश्रितस्य सपरिकरस्य शब्दं श्रुत्वा जलाशयं मत्वा

यदि लोग उपकार के बदले दूसरा उपकार पाने की आशा से अपने मित्रों का कार्य करते हैं, तो फिर मित्रता का महत्त्व ही क्या रह गया ? और अपने मित्र के मित्र का कार्य तो किसी प्रकार का प्रत्युपकार (बदला) पाने की अभिलाषा न रखकर करना ही चाहिए । सो यदि किसी मित्र ने इसे भी नहीं किया तो फिर कहो मित्र ने क्या किया ? अर्थात् कुछ नहीं (वास्तव में ऐसी मित्रता को मित्रता कह ही नहीं सकते) ॥ ३६९ ॥

यह सत्य है (मैं आपके मित्र का सहयोग करूँगी) परन्तु मेरा 'मेघनाद' नाम का एक मेढ़क मित्र है । इसलिए उसे बुलाकर जो युक्त समझा जाय उसे किया जाय । कहा भी है—

अपना हित करनेवाले, सदाचारी, शास्त्र को जाननेवाले और बुद्धिमान् विद्वान् से सोची गयी कोई नीति, किसी प्रकार से विफल नहीं होती ॥ ३७० ॥

उसके बाद वे तीनों जाकर मेघनाद (मेढक) के समक्ष सब समाचार कहकर बैठ गये । तदनन्तर मेढक ने कहा—क्रोधित हम जीवसमुदाय के समक्ष यह क्षुद्र हाथी क्या चीज है ? सो मेरे विचार से काम करो । हे मक्खी ! तुम कल दोपहर के समय उस मदवाले हाथी के कानों में वीणा की ध्वनि के समान शब्द करो, जिससे श्रवण-सुख पाने की अत्यधिक अभिलाषा से जब वह अपनी आँखों को बन्द कर लेगा तब कठफोरवा जाकर उसकी आँखें फोड़ दे । तदनन्तर अन्धा होकर जब वह प्यास से विह्वल होगा । तब वह

समभ्येति। ततो गर्तमासाद्य पतिष्यति पञ्चत्वं यास्यति चेति। एवं समवायः कर्तव्यो यथा वैरसाधन भवति।' अथ तथाऽनुष्ठिते स मत्तगजो मक्षिका-गेयसुखान्निमीलितनेत्रः काष्ठकूटहृतचक्षुर्मध्याह्नसमये भ्राम्यन्मण्डूकशब्दा-नुसारी गच्छन्महतीं गर्तमासाद्य पतितो मृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'चटका काष्टकूटेन' इति॥

टिट्टिभ आह—'भद्रे, एवं भवतु। सुहृद्वर्गसमुदायेन सह समुद्रं शोष-यिष्यामि।' इति निश्चित्य बकसारसमयूरादीन् समाहूय प्रोवाच—'भोः, पराभूतोऽहं समुद्रेणाण्डकापहरेण। तच्चिन्त्यतामस्य शोषणोपायः।' ते सम्मन्त्र्य प्रोचुः—'अशक्ता वयं समुद्रशोषणे। तत्किं वृथा प्रयासेन। उक्तं च—

> अबलः प्रोन्नतं शत्रुं यो याति मदमोहितः।
> युद्धार्थं स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा॥ ३७१॥

मेरे कुटुम्बियों के साथ गड्ढे के निकट शब्द सुन और उसे तालाब समझकर आवेगा और गड्ढे के निकट पहुँचकर उसमें गिर पड़ेगा और पाञ्चभौतिक शरीर छोड़ देगा। इस प्रकार समवाय (कौशल) करो तो अपकार का बदला निकल सकेगा।' तदनन्तर वैसा (मेघनाद की सम्मति के अनुसार कार्य) करने पर मक्खी के गान सुख से हाथी की आखें बन्द होते ही कठफोरवा ने उसकी आँखें फोड़ दी। तब मध्याह्न (दोपहर) के समय प्यास के मारे इधर-उधर घूमता और मेढकों के शब्द का अनुसरण करता हुआ वह हाथी एक बड़े गड्ढे में पहुँचकर गिर कर मर गया। इसलिए मैं कहती हूँ—चटका और कठफोरवा से·······इत्यादि।

टिट्टिभ ने कहा—'भद्रे! जैसा कहती हो वैसा किया जाएगा। मित्रमण्डली को साथ में लेकर मैं समुद्र को सोख डालूँगा। इस प्रकार निश्चय कर उसने बक, सारस, मोर आदि को बुलाकर कहा—'हे मित्रो! समुद्र ने मेरे अण्डों का अपहरण कर मुझे सन्तप्त कर दिया है, इसलिए आप लोग इसके सुखाने के लिए कोई उपाय कीजिए।' उन्होंने आपस में विचार कर कहा—'हम सब समुद्र को सुखाने में असमर्थ हैं, सो व्यर्थ परिश्रम करने से क्या प्रयोजन! कहा भी है—

जो सामर्थ्यहीन व्यक्ति मदमोहित होकर सामर्थ्यशाली शत्रु के निकट लड़ने के लिए जाता है वह शीर्णदन्त (टूटे दाँत वाले) हाथी के समान पराजित होता है॥ ३७१॥

तदस्माकं स्वामी वैनतेयोऽस्ति। तस्मै सर्वमेतत्परिभवस्थानं निवेद्यताम्, येन स्वजातिपरिभवकुपितो वैरानृण्यं गच्छति। अथवाऽत्रावलेपं करिष्यति तथाऽपि नास्ति वो दुःखम्। उक्तं च—

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे।
स्वामिनि शक्तिसमेते निवेद्य दुःखं सुखी भवति॥ ३७२॥

तद्यामो वैनतेयसकाशं यतोऽसावस्माकं स्वामी।' तथाऽनुष्ठिते सर्वे ते पक्षिणो विषण्णवदना बाष्पपूरितदृशो वैनतेयसकाशमासाद्य करुणस्वरेण फूत्कर्तुमारब्धाः—'अहो, अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम्!! अधुना सदाचारस्य टिट्टिभस्य भवति नाथे सति समुद्रेणाण्डान्यपहृतानि तत्प्रनष्टमधुना पक्षिकुलम्। अन्येऽपि स्वेच्छया समुद्रेण व्यापादयिष्यन्ते। उक्तं च—

क्व कस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम्।
गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः॥ ३७३॥

सो हमलोगों के मालिक गरुड़ हैं, इसलिए उनसे इस सन्ताप का विषय निवेदन कर देना चाहिए जिससे अपनी जाति के अपमान के कारण क्रुद्ध हुए गरुड़ वैरभाव का प्रतिकार करेंगे। अथवा (इसे सुनकर) यदि वे अभिमान करेंगे तो भी दुःखी नहीं होना चाहिए। कहा भी है—

अभिन्न हृदय मित्र से, गुणवान् अनुचर से, अनुरक्तपत्नी से और शक्तिशाली मालिक से अपना कष्ट निवेदन कर प्राणी सुखी होता है॥ ३७२॥

इसलिए हम गरुड़ के निकट चलें क्योंकि वे हम लोगों के मालिक हैं। वैसा करने पर खिन्न मुँह कर आँखों में आँसू भर समस्त पक्षी गरुड़ के समीप पहुँच कर दयनीय स्वर से आर्त्तनाद करने लगे—'अरे रक्षा करो! रक्षा करो! आप जैसे मालिक के रहते हुए भी इस निरपराधी टिट्टिभ के अण्डों को समुद्र ने बहा लिया है। अरे अब पक्षियों का विनाश उपस्थित हो गया? क्योंकि (इस प्रकार मन बढ़ जाने पर) अब तो औरों को भी समुद्र अपनी अभिलाषा से मार डालेगा। कहा भी है—

एक को कुत्सित कर्म करते हुए देखकर दूसरा भी उसी प्रकार करने में प्रवृत्त हो जाता है, ऐसा लोगों का भेड़ियाधसान है, परन्तु पारमार्थिक धर्म होने के लिए वे अनुकरण नहीं करते (तात्पर्य यह है कि समुद्र इसी प्रकार दुष्कर्म कर के भी यदि दण्डभागी नहीं बनेगा तो दूसरे भी इस प्रकार करने लग

चाटुतस्करदुर्वृत्तैस्तथा साहसिकादिभिः ।
पीड्यमानाः प्रजा रक्ष्याः कटूच्छद्मादिभिस्तथा ॥ ३७४ ॥
प्रजानां धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षितुः ।
अधर्मादपि षड्भागो जायते यो न रक्षति ॥ ३७५ ॥
प्रजापीडनसन्तापात्समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः श्रियं कुलं प्राणान्नादग्ध्वा विनिवर्तते ॥ ३७६ ॥
राजा बन्धुरबन्धूनां राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्तिनाम् ॥ ३७७ ॥
फलार्थी पार्थिवो लोकान् पालयेद्यत्नमास्थितः ।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ ३७८ ॥
यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाभिरक्षितः ।
फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥ ३७९ ॥

जायेंगे, कोई भी हिताहित का विवेचन नहीं करेगा और संसार की इससे अत्यधिक हानि होगी) ॥ ३७३ ॥

(मालिक का कर्त्तव्य है कि) चापलूस, चोर, दुराचारी और साहस करके दुष्कर्म करने वालों से पीड़ित प्रजा की रक्षा करे ॥ ३७४ ॥

प्रजा की रक्षा करने से प्रजा के धर्म का छठा हिस्सा राजा को प्राप्त होता है, किन्तु जब वह प्रजा का पालन नहीं करता तब उसे उसके विपरीत अधर्म का छठा हिस्सा प्राप्त होता है ॥ ३७५ ॥

पीड़ित प्रजा के सन्तप से उत्पन्न हुई अग्नि, राजा की लक्ष्मी, बन्धु-बान्धव और प्राणों को नष्ट किये बिना निवृत्त नहीं होती है ॥ ३७६ ॥

राजा ही बन्धुरहितों (अनाथों) का बन्धु (हितकारी मित्र) है, अन्धों का चक्षु (लोचनरूप) है और न्याय के मार्ग से चलनेवाली समस्त प्रजाओं का पिता और माता है ॥ ३७७ ॥

फलों की अभिलाषा करनेवाले राजा को चाहिए कि प्रजा की दान-सम्मानादि रूप जल से उसी प्रकार यत्नपूर्वक रक्षा करे जिस प्रकार फल की अभिलाषा रखनेवाला माली यत्नपूर्वक जलदानादि से अंकुरों (पौधों) की रक्षा करता है ॥ ३७८ ॥

जिस प्रकार यत्नपूर्वक छोटे बीजांकुर की रक्षा करने से समय आने (वृक्ष होने) पर वह फलप्रद होता है, उसी प्रकार सुरक्षित प्रजा भी यथासमय फलप्रद होती है ॥ ३७९ ॥

हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च।
तथाऽन्यदपि यत्किंचित्प्रजाभ्यः स्यान्नृपस्य तत् ॥ ३८० ॥

अथैवं गरुडः समाकर्ण्य तद्दुःखदुःखितः कोपाविष्टश्च व्यचिन्तयत्—'अहो, सत्यमुक्तमेतैः पक्षिभिः। तदद्य गत्वा तं समुद्रं शोषयामः।' एवं चिन्तयतस्तस्य विष्णुदूतः समागत्याह—'भो गुरुत्मन्, भगवता नारायणेनाहं तव पार्श्वे प्रेषितः। देवकार्याय भगवानमरावत्यां यास्यतीति। तत्सत्वरमागम्यताम्। तच्छ्रुत्वा गरुडः साभिमानं प्राह—'भो दूत, किं मया कुभृत्येन भगवान्करिष्यति। तद्गत्वा तं वद यदन्यो भृत्यो वाहनायास्मत्स्थाने क्रियताम्। मदीयो नमस्कारो वाच्यो भगवतः। उक्तं च—

यो न वेत्ति गुणान् यस्य न तं सेवेत पण्डितः।
न हि तस्मात्फलं किञ्चित्सुकृष्टादूषरादिव ॥ ३८१ ॥

दूत आह—भो 'वैनतेय, कदाचिदपि भगवन्तं प्रति त्वया नैतदभिहितमीदृक् तत्कथय किं ते भगवतापमानस्थानं कृतम्।' गरुड आह—'भगवदा-

---

सुवर्ण, धान्य, मणि अनेक प्रकार अश्वादि वाहन और भी जो कुछ है वे सब राजा को प्रजा से प्राप्त होते हैं ॥ ३८० ॥

यह वचन सुनकर गरुड़ उनके दुःख से दुःखित हुए और क्रुद्ध होकर विचार करने लगे—'अरे! ये पक्षी ठीक ही कह रहे हैं। अतः आज ही जाकर उस समुद्र को सुखा दूँगा।' गरुड़ इस प्रकार सोच ही रहे थे कि विष्णुदूत ने आकर कहा—'हे गरुड़! भगवान् नारायण ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। देव-कार्य के लिए भगवान् अमरावती (इन्द्र-नगरी) जावेंगे, सो शीघ्र जाओ। यह सुनकर गरुड़ ने अभिमान के साथ कहा—'हे दूत! मुझ जैसे निन्दित सेवक से भगवान् का क्या कार्य होगा? इसलिए जाकर उनसे कह दो, कि वाहन (सवारी) के लिए किसी दूसरे सेवक को मेरे स्थान पर निश्चित कर लें और भगवान् से मेरा प्रणाम कह देना। कहा भी है—

जो जिसके गुणों को नहीं जानता उसकी सेवा पण्डित (नीति के सारासार को जाननेवाले बुद्धिमान्) को चाहिए कि न करे। क्योंकि उससे कुछ फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसे अच्छी तरह से जोती हुई भी ऊसर भूमि से कुछ फलप्राप्ति नहीं होती ॥ ३८१ ॥

दूत ने कहा—'हे गरुड़! तुमने भगवान् के प्रति इस प्रकार की बातें कभी भी नहीं कही थीं, सो कहो तो सही, भगवान् ने तुम्हारा क्या अपमान किया है।

श्रयभूतेन समुद्रेणास्मट्टिट्टिभाण्डान्यपहृतानि । तद्यदि तस्य निग्रहं न करोति तदहं भगवतो न भृत्य इत्येष निश्चयस्त्वया वाच्यः । तद् द्रुततरं गत्वा भवता भगवतः समीपे वक्तव्यम् ।' अथ दूतमुखेन प्रणयकुपितं वैनतेयं विज्ञाय भगवांश्चिन्तयामास—'अहो, स्थाने कोपो वैनतेयस्य । तत्स्वयमेव गत्वा सम्मानपुरःसरं तमानयामि । उक्तं च—

भक्तं शक्तं कुलीनं च न भृत्यमवमानयेत् ।
पुत्रवल्लालयेन्नित्यं य इच्छेच्छ्रियमात्मनः ॥ ३८२ ॥

अन्यच्च—राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
ते तु सम्मानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ३८३ ॥

इत्येवं सम्प्रधार्य रुक्मपुरे वैनतेयसकाशं सत्वरमगमत् । वैनतेयोऽपि गृहागतं भगवन्तमवलोक्य त्रपाऽधोमुखः प्रणम्योवाच—'भगवन्, त्वदाश्रयोन्मत्तेन समुद्रेण मम भृत्यास्याण्डान्यपहृत्य ममापमानो विहितः । परं

गरुड़ ने कहा—भगवान् के आश्रयस्वरूप समुद्र ने इस टिट्टिभ के अण्डों का हरण कर लिया है, सो यदि वे उसको दण्ड नहीं देंगे तो मैं भी भगवान् का सेवक नहीं रहूँगा, यह मेरा निर्णय भगवान् से कह देना, इसलिए जल्दी से जल्दी जाकर भगवान् के समक्ष सब कह देना ।' तब दूत के मुख से गरुड़ को प्रणय-कुपित (स्नेहयुक्त क्रोधी) जानकर भगवान् सोचने लगे—'अहो ! गरुड़ का क्रोध करना युक्त ही है, इसलिए स्वयं जाकर सम्मानपूर्वक मैं उन्हें लिवा लाऊँ । कहा भी है—

मालिक यदि अपना कल्याण चाहे तो, अनुरक्त (भक्त), समर्थ एवं सत्कुलोत्पन्न सेवक का कभी अपमान न करे, वल्कि उसका अपने पुत्र के समान प्रतिपालन करता रहे ॥ ३८२ ॥

और भी—राजा सेवकों पर सन्तुष्ट होकर केवल धन (पुरस्कार) ही देता है, परन्तु वे सेवक राजा से सम्मानित होने पर राजा के लिए अपने प्राणों तक को लगाकर उपकार करते हैं ॥ ३८३ ॥

इस प्रकार विचार कर भगवान् अतिशीघ्र रुक्मपुर (गरुड़ नगर) में गरुड़ के निकट पहुँच गये । गरुड़ ने भी स्वयं भगवान् को अपने घर आए हुए देखकर लज्जा से नीचा मुँह कर लिया और प्रणाम करके कहा—'भगवन् ! आपका आश्रय (आधार) पा जाने से मतवाला हो समुद्र ने मेरे सेवक के अण्डों का अपहरण कर मेरा अपमान किया है । अतः आपके सङ्कोच के कारण मैंने

भगवल्लज्जया मया विलम्बितम्, नो चेदेनमहं स्थलान्तरमद्यैव नयामि। यतः स्वामिभयाच्छ्वनोऽपि प्रहारो न दीयते। उक्तं च—

येन स्याल्लघुता वाऽथ पीडा चित्ते प्रभोः क्वचित्।
प्राणत्यागेऽपि तत्कर्म न कुर्यात् कुलसेवकः॥ ३८४॥

तच्छ्रुत्वा भगवानाह—'भो वैनतेय, सत्यमभिहितं भवता। उक्तं च—

भृत्यापराधजो दण्डः स्वामिनो जायते यतः।
तेन लज्जाऽपि तस्योत्था न भृत्यस्य तथा पुनः॥ ३८५॥

तदागच्छ येनाण्डानि समुद्रादादाय टिट्टिभं सम्भावयावः। अमरावतीं च गच्छावः।' तथाऽनुष्ठिते समुद्रो भगवता निर्भत्स्याग्नेयं शरं सन्धायाभिहितः—'भो दुरात्मन्, दीयन्तां टिट्टिभाण्डानि। नो चेत्स्थलतां त्वां नयामि।' ततः समुद्रेण सभयेन टिट्टिभाण्डानि तानि प्रदत्तानि। टिट्टिभेनापि भार्यायै समर्पितानि। अतोऽहं ब्रवीमि—'शत्रोर्बलमविज्ञाय' इति।

देर कर दी है। अन्यथा इसे तो मैं आज ही सुखाकर केवल स्थल बना देता। किन्तु स्वामी के भय से कुत्ते पर भी प्रहार नहीं किया जाता। कहा भी है—

जिस कार्य से स्वामी की लघुता (मान-हानि) होती हो या प्रभु के मन में सन्ताप उत्पन्न होता हो तो कुल-सेवक को चाहिए कि वैसा कार्य वह प्राण-त्याग का अवसर आने पर भी न करे॥ ३८४॥

इसे सुनकर भगवान् ने कहा—'हे गरुड़! तुम ठीक कह रहे हो। कहा भी है—

सेवक के अपराध करने पर स्वामी को ही दण्ड भोगना पड़ता है। अतः उस (दण्डजनित) कार्य से जितनी लज्जा प्रभु को होती है, उतनी सेवक को नहीं होती॥ ३८५॥

इसलिए आओ, जिससे समुद्र से अण्डों को लौटाकर टिट्टिभ को सन्त्वना दें और पुनः अमरावती चलें। वैसा करने पर भगवान् ने समुद्र की भर्त्सना की और अग्निबाण को चढ़ाकर कहा—'अरे दुरात्मन्! टिट्टिभ के अण्डों को अभी लौटा दे, नहीं तो मैं तुझे सुखा डालूँगा।' तब समुद्र ने डरकर टिट्टिभ के सभी अण्डे दे दिये और टिट्टिभ ने उन्हें अपनी स्त्री को समर्पण कर दिया। इसी से मैं कहता हूँ—'शत्रु के पराक्रम को बिना समझे……' इत्यादि।

तस्मात् पुरुषेणोद्यमो न त्याज्यः। तदाकर्ण्य सञ्जीवकस्तमेव भूयोऽपि प्रपच्छ—'भो मित्र, कथं ज्ञेयो मयाऽसौ दुष्टबुद्धिरिति। इयन्तं कालं यावदुत्तरोत्तरस्नेहेन प्रसादेन चाहं दृष्टः। न कदाचित्तद्विकृतिर्दृष्टा। तत्कथ्यतां येनाहमात्मरक्षार्थं तद्वधायोद्यमं करोमि। दमनक आह—भद्र किमत्र ज्ञेयम्? एष ते प्रत्ययः। यदि रक्तनेत्रस्त्रिशिखां भ्रुकुटिं दधानः सृक्कणी परिलेलिहन् त्वां दृष्ट्वा भवति, तद्दुष्टबुद्धिः। अन्यथा सुप्रसादश्चेति।' तदाज्ञापय माम्। स्वाश्रयं प्रति गच्छामि। त्वया च यथायं मन्त्रभेदो न भवति तथा कार्यम्। यदि निशामुखं प्राप्य गन्तुं शक्नोषि तद्देशत्यागः कार्यः। यतः—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ३८६ ॥
आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ३८७ ॥

अतः पुरुष उद्यम करना न छोड़े। इसे सुनकर सञ्जीवक ने पुनः पूछा—'हे मित्र ! मैं कैसे जानूँ कि वह दुष्टबुद्धि वाला है। इतने दिनों तक मैंने उसे उत्तरोत्तर बढ़े हुए प्रेम और प्रसन्नता से देखा। कभी भी विकृत नहीं देखा, सो बतलाओ कैसे अपनी रक्षा के निमित्त उनको मारने के लिए उद्योग करूँ।' दमनक ने कहा—'इस विषय को जानने में बातें ही क्या है? यह तुम्हारा विश्वास है (तुम्हें समझने के लिए बतलाता हूँ कि) यदि तुम्हें देखते ही लाल-लाल आँखें, टेढ़ी भौहें किये और ओष्ठ के किनारों को चाटने लगे तो जान लेना कि वह दुष्टबुद्धि है। अथवा (यदि यह लक्षण देखने में न आवे तो समझ लेना कि) प्रसन्न है। अब मुझे आदेश दो, जिससे अपने घर को चला जाऊँ! तुम भी ऐसा ही करना जिससे हम दोनों की इस गोपनीय वार्त्ता का भण्डाफोड़ न हो जाय। यदि जाने में समर्थ हो तो सन्ध्याकाल के समय इस देश को छोड़ देना। क्योंकि—

कुल की रक्षा के लिए एक (व्यक्ति) को छोड़ दे, ग्रामवासियों की रक्षा के लिए कुल को छोड़ दे, देशवासियों की रक्षा के लिए ग्रामवासियों को छोड़ दे और अपने आत्मसम्मान के लिए पृथ्वी को छोड़ दे ॥ ३८६ ॥

विपत्ति से बचने के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए, धन से भी स्त्रियों

बलवताभिभूतस्य विदेशगमनं तदनुप्रवेशों वा नीतिः। तद्देशत्यागः कार्यः। अथवाऽऽत्मा सामादिभिरुपायैराभरक्षणीयः। उक्तं च—

अपि पुत्रकलत्रैर्वा प्राणान् रक्षेत पण्डितः।
विद्यमानैर्यतस्तैः स्यात्सर्वं भूयोऽपि देहिनाम् ॥ ३८८ ॥

तथा च—येन केनाप्युपायेन शुभेनाप्यशुभेन वा।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ३८९ ॥
यो मायां कुरुते मूढः प्राणत्यागे धनादिषु।
तस्य प्राणाः प्रणश्यन्ति तैर्नष्टैर्नष्टमेव तत्' ॥ ३९० ॥

एवमभिधाय दमनकः करटकसकाशमगमत्। करटकोऽपि तमायान्तं दृष्ट्वा प्रोवाच—'भद्र, किं कृतं तत्रभवता।' दमनक आह—'मया ताव-न्नीतिबीजनिर्वापणं कृतम्, परतो दैवविहितायत्तम्। उक्तं च—

की रक्षा करनी चाहिए और धन तथा स्त्री दोनों से सर्वदा अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥ ३८७ ॥

शक्तिशाली व्यक्ति से आक्रान्त होने पर विदेश की यात्रा करे या उसकी अधीनता स्वीकार कर ले—यह नीति है। इसलिए इस समय देश परित्याग करना श्रेयस्कर है। अथवा सामादि उपायों से अपनी रक्षा करनी चाहिए। कहा भी है—

नीति-कुशल विद्वान् को चाहिए कि पुत्र और स्त्री का परित्याग कर भी अपने प्राणों की रक्षा करे। क्योंकि प्राणों के बचे रहने से उसे फिर से (पुत्र-स्त्री, आदि) सब हो जाते हैं ॥ ३८८ ॥

और भी—सङ्कट में पड़े हुए व्यक्ति को चाहिए कि अच्छे या बुरे किसी भी प्रकार के कार्य करने से अपनी रक्षा होती हो तो कर ले, पुनः सामर्थ्ययुक्त होने पर धर्म का अनुष्ठान करे ॥ ३८९ ॥

जो मूढ़ अपने प्राणत्याग होने के समय धनादिकों में ममता रखता है, उसके प्राण तो नष्ट हो ही जाते हैं और प्राणों के विनाश होने पर वे सब धना-दिक भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ३९० ॥

इस प्रकार कह कर दमनक करटक के समीप चला गया। करटक भी उसे आते हुए देखकर कहने लगा—'भद्र! आपने वहाँ क्या किया?' दमनक ने कहा मैंने तो (आपस में फूट) नीति रूपी बीजों को अच्छी तरह बो दिया है, आगे का काम दैव के अधीन है। क्योंकि कहा भी है—

परा‌ङ्मुखेऽपि दैवेऽत्र कृत्यं कार्यं विपश्चिता।
आत्मदोषविनाशाय स्वचित्तस्तम्भनाय च ॥ ३९१ ॥

तथा च—उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥ ३९२ ॥

करटक आह—'तत्कथय कीदृक्त्वया नीतिबीजं निर्वापितम्।' सोऽब्रवीत्। 'मयाऽन्योन्यं ताभ्यां मिथ्याप्रजल्पनेन भेदस्तथा विहितो यथा भूयोऽपि मन्त्रयन्तावेकस्थानस्थितौ न द्रक्ष्यसि।' करटक आह—'अहो, न युक्तं भवता विहितं यत्परस्परं तौ स्नेहार्द्रहृदयौ सुखाश्रयौ कोपसागरे प्रक्षिप्तौ। उक्तं च—

अविरुद्धं सुखस्थं यो दुःखमार्गे नियोजयेत्।
जन्मजन्मान्तरं दुःखी स नरः स्यादसंशयम् ॥ ३९३ ॥

इस संसार में दैव के प्रतिकूल होने पर भी विद्वान् को चाहिए कि अपने दोषों के निवारण करने के लिए और मन को रोकने एवं समझाने (ढाढस बँधाने) के लिए जो उचित कर्तव्य हो उसे करें ॥ ३९१ ॥

और भी—उद्योगी नरश्रेष्ठ के निकट लक्ष्मी स्वयं आती है। 'भाग्य ! भाग्य !' तो कायर पुरुष कहा करते हैं। भाग्य का भरोसा न रखकर अपनी शक्ति के अनुकूल पुरुषार्थ करते रहो। यदि उद्योग करने पर भी इष्टसिद्धि न हो तो इस प्रकार सोचना चाहिए कि मेरे उद्योग में कोई दोष रह गया है ॥ ३९२ ॥

करटक ने पूछा—'अच्छा, कहो तुमने किस प्रकार भेद-नीति का बीज बोया है ?' उसने कहा—'मैंने उन दोनो को आपस में, असत्य वचनों से इस प्रकार मन में भेद (गाँठ) डाल दिया है कि अब फिर उनको एक जगह बैठ कर परामर्श करते हुए तुम नहीं देखोगे।' करटक ने कहा—यह तुमने अच्छा नहीं किया, जो परस्पर स्नेह से आर्द्र हृदय वाले तथा सुख के आश्रय स्वरूप सुख (भोगने) वाले उन दोनों को एक दूसरे के क्रोध-समुद्र में डाल दिया। कहा भी है—

जो अपने से विरोध न रखने वाले और सुखी पुरुष को दुःखमार्ग में डालता

अपरं त्वं यद्भेदमात्रेणापि हृष्टस्तदप्ययुक्तम्, यतः सर्वोऽपि जनो विरूपकरणे समर्थो भवति नोपकर्तुम् । उक्तं च—

घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसादयितुम् ।
पातयितुमस्ति शक्तिर्वायोर्वृक्षं न चोन्नमितुम्' ॥ ३९४ ॥

दमनक आह—'अनभिज्ञो भवान्नीतिशास्त्रस्य, तेनैतद् ब्रवीषि । उक्तं च यतः—

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिं च प्रशमं नयेत् ।
महाबलोऽपि तेनैव बृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ ३९५ ॥

तच्छत्रुभूतोऽयमस्माकं मन्त्रिपदाहरणात् । उक्तं च—

पितृपैतामहं स्थानं यो यस्यात्र जिगीषते ।
स तस्य सहजः शत्रुरुच्छेद्योऽपि प्रिये स्थितः ॥ ३९६ ॥

है वह (पुरुष) जन्म-जन्मान्तर में क्लेश भोगता रहता है—इसमें सन्देह नहीं ॥ ३९३ ॥

और जो तुम उन दोनों में भेद (अन्तर) डाल कर अत्यधिक प्रसन्न हो रहे हो, सो भी समुचित नहीं है । क्योंकि विरोधभाव उत्पन्न करने में तो सभी पुरुष समर्थ होते हैं किन्तु उपकार करने कोई समर्थ नहीं होता । कहा भी है—

अधम पुरुष पराये कार्य को नष्ट करना ही जानता है, किन्तु बनाना नहीं जानता । (जिस प्रकार) वायु की शक्ति वृक्षों को उखाड़ने की ही है किन्तु गिरे हुए वृक्ष को जमाने में नहीं ॥ ३९४ ॥

दमनक ने कहा—'आप नीतिशास्त्र के जानकार नहीं है, इसीलिए ऐसा कहते हैं । क्योंकि कहा भी है—

जो उत्पन्न होते ही अपने शत्रु और अपने रोग को नष्ट नहीं कर देता, वह महाशक्तिशाली होता हुआ भी उनकी वृद्धि पाने पर, उन (शत्रु और व्याधि) से मारा जाता है ॥ ३९५ ॥

सो मन्त्री का पद हरण करने के कारण वह मेरा शत्रु के समान हुआ । कहा भी है—

इस संसार में जो जिसके पितृ-पितामह (बाप-दादे) की जगह (भूमि, अधिकार) की हरण करना चाहता है वह चाहे अपना हितचिन्तक भी क्यों न हो, उसकी जड़ काट देनी चाहिए, क्योंकि वह उसका सहज (स्वाभाविक) शत्रु है ॥ ३९६ ॥

तन्मया स उदासीनतया समानीतोऽभयप्रदानेन यावत्तावदहमपि तेन साचिव्यात् प्रच्यावितः। अथवा साध्विदमुच्यते—

दद्यात्साधुर्यदि निजपदे दुर्जनाय प्रवेशं
तन्नाशाय प्रभवति ततो वाञ्छमानः स्वयं सः।
तस्माद् देयो विपुलमतिभिर्नावकाशोऽधमानां
जारोऽपि स्याद् गृहपतिरिति श्रूयते वाक्यतोऽत्र ॥ ३९७ ॥

तेन मया तस्योपरि वधोपाय एष विरच्यते। देशत्यागाय वा भविष्यति। तच्च त्वां मुक्त्वाऽन्यो न ज्ञास्यति। तद्युक्तमेतत्ते स्वार्थायानुष्ठितम्। उक्तं च—

निस्त्रिंशं हृदयं कृत्वा वाणीमिक्षुरसोपमाम्।
विकल्पोऽत्र न कर्तव्यो हन्यात्तत्रापकारिणम् ॥ ३९८ ॥

अपरं मृतोऽप्यस्माकं भोज्यो भविष्यति। तदेकं तावद्वैरसाधनम्, अपरं

पहले मैं उदासीन (राग-द्वेष रहित) रूप से उसे अभयदान देकर लाया, परन्तु पीछे से उसने मुझे ही मन्त्रिपद से च्युत (पृथक्) कर दिया। यह युक्त ही कहा है—

यदि कोई सज्जन (कोमलहृदय) अपनी जगह (पद) पर किसी दुर्जन को बैठा देता है तो वह उसका ही नाश करके स्वयं ही उस सज्जन के पद ले लेने की अभिलाषा करता है। अतः बुद्धिमानों को चाहिए कि दुर्जनों को प्रवेश होने का ऐसा अवसर ही न आने दें। ऐसा सुना जाता है कि उपपति (जार) भी किसी समय गृहपति (घर का मालिक) बन जाता है ॥ ३९७ ॥

इसलिए मैंने उसके मारने के लिए इस (षड्यन्त्र) की रचना कर दी है। यदि उसका हनन न हुआ तो इस षडयन्त्र से देश-त्याग तो अवश्य होगा। यह बात तुम्हारे सिवाय और किसी को ज्ञात न हो सके। जो कुछ मैंने किया है वह स्वार्थ के लिए उचित ही किया है। क्योंकि कहा भी है—

हृदय को तलवार के समान कठोर और वाणी को गन्ने के रस के समान ('वाणी क्षुरसमोपमाम्' पाठ होने पर छुरे के समान तीक्ष्ण) बनाकर अपने अपकार (शत्रुता) करनेवाले को मार ही डालना चाहिए, इसमें (थोड़ा सा भी) संशय न करे ॥ ३९८ ॥

इसके अतिरिक्त वह (सञ्जीवक) मर कर भी हम लोगों का खाद्य पदार्थ

साचिव्यं च भविष्यति, तृप्तिश्च इति। तद्गुणत्रयेऽस्मिन्नुपस्थिते कस्मान्मां दूषयसि त्वं जाड्यभावात्। उक्तं च—

परस्य पीडनं कुर्वन् स्वार्थसिद्धिं च पण्डितः।
मूढबुद्धिर्न भक्षेत वने चतुरको यथा' ॥ ३९९ ॥

करटक आह—'कथमेतत्।' स आह—

कथा १६

'अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे वज्रदंष्ट्रो नाम सिंहः। तस्य चतुरक-क्रव्यमुखनामानौ शृगालवृकौ भृत्यभूतौ सदैवानुगतौ तत्रैव वने प्रतिवसतः। अथान्यदिने सिंहेन कदाचिदासन्नप्रसवा प्रसववेदनया स्वयूथाद् भ्रष्टोष्ट्रयुपविष्टा कस्मिंश्चिद्वनगहने समासादिता। अथ तां व्यापाद्य यावदुदरं स्फोटयति, तावज्जीवँल्लघुदासेरकशिशुर्निष्क्रान्तः। सिंहोऽपि दासेरक्याः पिशितेन सपरिवारः परां तृप्तिमुपागतः। परं स्नेहाद्बालदासेकं त्यक्तं गृहमानीयेदमुवाच—'भद्र, न तेऽस्ति मृत्योर्भयं मत्तो नान्यस्मादपि। ततः स्वे-

---

होगा। सो एक तो शत्रुता का बदला चुकेगा और दूसरे मन्त्री की पदवी मिलेगी तथा तृप्ति होगी। अतः इन तीन गुणों के उपस्थित रहने पर भी जाड्यभाव (मूर्खता) के कारण मुझे क्यों दोषी ठहराते हो। कहा भी है—

नीति को जाननेवाले विद्वान् लोग दूसरे को पीड़ा देकर भी अपनी स्वार्थसिद्धि कर डालते हैं, मूर्ख मनुष्य तो भोजन प्राप्त करने में भी समर्थ नहीं होता, जिस प्रकार वन में 'चतुरक' नामक सियार ने किया ॥ ३९९ ॥

करटक ने पूछा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

किसी वन में 'वज्रदंष्ट्र' नाम का सिंह रहता था। उसके 'चतुरक' नाम का सियार और 'क्रव्यमुख' नाम का भेड़िया सेवक-भाव से सर्वदा पीछे-पीछे भ्रमण करते हुए उसी वन में रहते थे। किसी दिन सिंह ने प्रसव-समय नजदीक वाली और प्रसव-वेदना के कारण अपने यूथ (झुण्ड) से बिछुड़ी हुई एक ऊँटनी को भयङ्कर जङ्गल में देखा। उस (ऊँटनी) को मार कर ज्यों ही सिंह उसका पेट फाड़ने लगा, त्यों ही एक छोटा सा जीता हुआ बच्चा उसके पेट से निकला। सिंह-परिवार उस ऊँटनी के मांस से तृप्त हो गया। किन्तु स्नेह के कारण उस ऊँटनी के बच्चे को अपने घर ले आकर उसने कहा—आयुष्मन्! तुम्हें न मुझसे और न किसी अन्य जीव से मारे जाने का

च्छयाऽत्र वने भ्राम्यतामिति। यतस्ते शङ्कुसदृशौ कर्णौ, ततः शङ्कुकर्णो नाम भविष्यति।' एवमनुष्ठिते चत्वारोऽपि त एकस्थाने विहारिणः परस्परमनेकप्रकारगोष्ठीसुखमनुभवन्तस्तिष्ठन्ति। शङ्कुकर्णोऽपि यौवनपदवीमारूढः क्षणमपि न तं सिंहं मुञ्चति। अथ कदाचिद्वज्रदंष्ट्रस्य केनचिद्वन्येन मत्तगजेन सह युद्धमभवत्। तेन मदवीर्यात्स दन्तप्रहारैस्तथा क्षतशरीरो विहितो यथा प्रचलितुं न शक्नोति। तदा क्षुत्क्षामकण्ठस्तान्प्रोवाच—'भोः, अन्विष्यतां किञ्चित्सत्त्वं येनाहमेवं स्थितोऽपि तं व्यापाद्यात्मनो युष्माकं च क्षुत्प्रणाशं करोमि।' तच्छ्रुत्वा ते त्रयोऽपि बने सन्ध्याकालं यावद् भ्रान्ताः, पर न किञ्चित्सत्त्वमासादितम्। अथ चतुरकश्चिन्तयामास—'यदि शङ्कुकर्णोऽयं व्यापाद्येत ततः सर्वेषां कतिचिद्दिनानि तृप्तिर्भवति। परं नैनं स्वामी मित्रत्वादाश्रयसमाश्रितत्वाच्च विनाशयिष्यति। अथवा बुद्धिप्रभावेण स्वामिनं प्रतिबोध्य तथा करिष्ये यथा व्यापादयिष्यति। उक्तं च—

मय है। सो अपनी अभिलाषा से (जहाँ मन चाहे) इस वन में परिभ्रमण किया करो। तुम्हारा कान शंकु (कील) के समान है। इसलिए तुम्हारा नाम मैं 'शंकुकर्ण' रखता हूँ। इस प्रकार अभयदान दे देने पर वे चारों एक साथ विहार करते हुए, परस्पर अनेक प्रकार के बात-चीत का सुखानुभव करते हुए रहने लगे। क्रमशः शङ्कुकर्ण भी तरुणावस्था को प्राप्त हुआ। एक क्षण के लिए भी वह उस सिंह का साथ नहीं छोड़ता था। किसी समय वज्रदंष्ट्र का किसी जंगली हाथी के साथ युद्ध हुआ, उस युद्ध में हाथी के दाँतों की चोट से मन्द-पराक्रम उस (सिंह) का शरीर इतना घायल हो गया कि एक पग भी वह चल न सकता था। भूख के कारण रूखे कण्ठ से वह कहने लगा—'अरे! किसी जीव को खोजो, जिससे मैं इस प्रकार बैठा हुआ भी उसे मार कर अपनी और तुम सबों की क्षुधा शान्त कर सकूँ। इस प्रकार सुनकर वे तीनों (चतुरक, क्रव्यमुख और शंकुकर्ण) वन में सन्ध्याकाल तक भ्रमण करते रहे, परन्तु उन्हें कोई भी जीव न प्राप्त हुआ। तव चतुरक ने विचार किया कि यदि यह 'शकुकर्ण' मार डाला जाय तो कई दिनों के लिए सबकी तृप्ति होती रहेगी। किन्तु इसे स्वामी सुहृद्भाव और आश्रित होने के कारण न मारेंगे। फिर भी बुद्धि के प्रभाव से स्वामी को (इधर-उधर) समझा कर इस प्रकार का व्यवहार करूँगा जिससे वे इसे मार डालेंगे। कहा भी है—

अवध्यं चाथवागम्यमकृत्यं नास्ति किञ्चन ।
लोके बुद्धिमतां बुद्धेस्तस्मात्तां विनियोजयेत्' ॥ ४०० ॥

एवं विचिन्त्य शङ्कुकर्णमिदमाह—'भो : शङ्कुकर्ण, स्वामी तावत्पथ्यं विना क्षुधया परिपीड्यते । स्वाम्यभावादस्माकमपि ध्रुवं विनाश एव । ततो वाक्यं किञ्चित्स्वाम्यर्थे वदिष्यामि । तच्छ्रूयताम् ।' शङ्कुकर्ण आह—'भोः, शीघ्रं निवेद्यताम्, येन ते वचन शीघ्रं निर्विकल्पं करोमि । अपरं स्वामिनो हिते कृते मया सुकृतशतं कृतं भविष्यति ।' अथ चतुरक आह—'भो भद्र, आत्मशरीरं द्विगुणलाभेन स्वामिने प्रयच्छ, येन ते द्विगुणं शरीरं भवति, स्वामिनः पुनः प्राणयात्रा भवति ।' तदाकर्ण्य शङ्कुकर्णः प्राह—'भद्र, यद्येवं तन्मदीयप्रयोजनमेतदुच्यताम् । स्वाम्यर्थः क्रियतामिति, परमत्र धर्मः प्रतिभूः ।' इति ते विचिन्त्य सर्वे सिंहसकाशमाजग्मुः । ततश्चतुरक आह—'देव, न किंचित्सत्त्वं प्राप्तम् । भगवानादित्योऽप्यस्तं गतः । तद्यदि स्वामी द्विगुणं शरीरं प्रयच्छति, ततः शङ्कुकर्णोऽयं द्विगुणवृद्धया स्वशरीरं प्रयच्छति धर्मप्रतिभुवा ।' सिंह आह—'भोः, यद्येवं तत्सुन्दरतरम् ।

संसार में ऐसी कोई चीज नहीं है जो बुद्धिमानों की बुद्धि के आगे अवध्य अथवा अलभ्य और अकार्य (करने योग्य न) हो । इसलिए नीति जानने वाले को चाहिए कि बुद्धि का उपयोग करता रहे ॥ ४०० ॥

इस प्रकार विचार कर शङ्कुकर्ण से उसने कहा—'हे शंकुकर्ण ! आहार के बिना स्वामी भूख से व्यथित हो रहे हैं । स्वामी के न रहने पर हम लोगों का मरण अवश्य ही होगा । सो स्वामी की भलाई के लिए जो कुछ मैं निवेदन करूँ, उसे सुनो ।' शङ्कुकर्ण ने कहा—'तुम शीघ्र निवेदन करो, अतिरिक्त स्वामी का हित करने पर मुझे शतगुणित पुण्यलाभ होगा ।' इसके बाद चतुरक ने कहा—'हे सौम्य ! अपने शरीर को दुगुने लाभ (व्याज) पर स्वामी को दे दो, जिससे एक तो तुम्हारा शरीर दूना हो जायगा और स्वामी का भोजन भी हो जायेगा ।' यह सुनकर शङ्कुकर्ण ने कहा—'हे भद्र ! यदि ऐसा है तो मेरा भी यही प्रयोजन (विचार) है । कि 'स्वामी का कार्य किया जाय । परन्तु इसमें धर्म ही साक्षी (गवाह) है ।' वे सब इस तरह विचार कर सिंह के समीप गये । वहाँ चतुरक ने कहा—'स्वामिन् ! कोई जीव नहीं प्राप्त हुआ और भगवान् सूर्य भी अस्त हो गये । सो यदि स्वामी दुगुना शरीर प्रदान कर सकें तो यह शंकुकर्ण द्विगुणवृद्धि (दुगुने व्याज-वृद्धि) पर धर्म को साक्षी

व्यवहारस्यास्य धर्मः प्रतिभूः क्रियताम्' इति। अथ सिंहवचनानन्तरं वृकशृगालाभ्यां विदारितोभयकुक्षिः शङ्कुकर्णः पञ्चत्वमुपागतः। अथ वज्रदंष्ट्रश्चतुरकमाह—'भोश्चतुरक, यावदहं नदीं गत्वा स्नानं देवतार्चनविधिं कृत्वाऽऽगच्छामि, तावत्त्वयाऽत्राप्रमत्तेन भाव्यम्' इत्युक्त्वा नद्यां गतः। अथ तस्मिन् गते चतुरकश्चिन्तयामास—'कथं ममैकाकिनो भोज्योऽयमुष्ट्रो भविष्यति' इति विचिन्त्य क्रव्यमुखमाह—'भोः क्रव्यमुख, क्षुधालुर्भवान्। तद्यावदसौ स्वामी नागच्छति, तावत्त्वमस्योष्ट्रस्य मांसं भक्षय। अहं त्वां स्वामिनो निर्दोषं प्रतिपादयिष्यामि।' सोऽपि तच्छ्रुत्वा यावत्किंचिन्मांसमास्वादयति तावच्चतुरकेणोक्तम्—'भोः क्रव्यमुख, समागच्छति स्वामी। तत्त्यक्त्वैनं दूरे तिष्ठ, येनास्य भक्षणं न विकल्पयति।' तथाऽनुष्ठिते सिंहः समायातो यावदुष्ट्रं पश्यति तावद्रिक्तीकृतहृदयो दासेरकः। ततो भृकुटिं कृत्वा परुषतरमाह—'अहो, केनैष उष्ट्र उच्छिष्टतां नीतो येन तमपि व्यापादयामि।' एवमभिहिते क्रव्यमुखश्चतुरकमुखमवलोकयति।

बनाकर अपना शरीर आपको दे देगा। सिंह ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो बहुत सुन्दर है। यह व्यवहार (ऋणग्रहण) का काम है अतः धर्म को प्रतिभू (गवाह) बना कर यह काम किया जाय।' सिंह के इस प्रकार कहने पर भेड़िए और शृगालों ने उसकी दोनों कुक्षि (कोख) को फाड़ डाला, जिससे शंकुकर्ण पञ्चत्व को प्राप्त हो गया। तदनन्तर वज्रदंष्ट्र ने चतुरक से कहा—हे चतुरक! जब तक मैं नदी में जाकर स्नान और देवपूजन-विधि करके लौट न आऊँ तब तक तुम यहाँ सावधानी (चौकन्ने) से रहना। इस प्रकार कहकर वह नदी में (स्नानादि करने के लिए) चला गया? उसके चले जाने के अनन्तर चतुरक सोचने लगा—'कौन-सा यत्न करूँ कि अकेले मुझे ही यह ऊँट खाने के लिए मिल जाय।' इस प्रकार सोचकर उसने क्रव्यमुख से कहा—'हे क्रव्यमुख! तुम भूखे हो, इसलिए जब तक स्वामी नहीं आ जाय तब तक तुम इस ऊँट के मांस को खाओ। मैं तुम्हें स्वामी के समक्ष निर्दोष सिद्ध दूँगा। उसने भी उसे सुनकर ज्यों ही मांस खाना आरम्भ किया, त्यों ही चतुरक ने कहा—'हे क्रव्यमुख! स्वामी आ रहे हैं मांस छोड़कर तुम दूर हो जाओ, जिससे उनको सन्देह न हो। वैसा करने पर सिंह ने आकर जब ऊँट की ओर देखा तो उसे बिना कलेजा का देखा। तब टेढ़ी भौंहें करके क्रोधपूर्वक बोला—'अरे! इस ऊँट को किसने उच्छिष्ट (जूठा) कर दिया, जिससे मैं उसे

अथ चतुरको विहस्योवाच—'भोः, मामनादृत्य पिशितं भक्षयित्वाऽधुना मन्मुखमवलोकयसि। तदास्वादयास्य दुर्णयतरोः फलम्' इति। तदाकार्ण्य क्रव्यमुखो जीवनाशभयाद् दूरदेशं गतः। एतस्मिन्नन्तरे तेन मार्गेण दासेरकसार्थो भाराक्रान्तः समायातः। तस्याग्रेसरोष्ट्रस्य कण्ठे महती घण्टा बद्धा। तस्याः शब्दं दुरतोऽप्याकर्ण्य सिंहो जम्बुकमाह—'भद्र, ज्ञायतां किमेष रौद्रः शब्दः श्रूयतेऽश्रुतपूर्वः। तच्छ्रुत्वा चतुरकः किञ्चिद्वनान्तरं गत्वा सत्वरमभ्युपेत्य प्रोवाच—'स्वामिन्, गम्यतां गम्यतां यदि शक्नोषि गन्तुम्।' सोऽब्रवीत्—'भद्र, किमेवं मां व्याकुलयसि। तत्कथय किमेतत्?' इति चतुरक आह—'स्वामिन् एष धर्मराजस्तवोपरि कुपितः, यदनेनाकाले दासेरकोऽयं मदीयो व्यापादितः। तत्सहस्रगुणमुष्ट्रमस्य सकाशाद् ग्रहीस्यामि' इति निश्चित्य बृहन्मानमादायाग्रेसरस्योष्ट्रस्य ग्रीवायां घण्टां बद्ध्वा बध्यदासेरकसक्तानपि पितृपितामहानादाय वैरनिर्यातनार्थमायात एव।' सिंहोऽपि तच्छ्रुत्वा

भी मारूँ?' सिंह के इस प्रकार कहने पर क्रव्यमुख चतुरक का मुँह देखने लगा, तब चतुरक ने हँसकर कहा—'अरे क्रव्यमुख! उस समय मेरी अवहेलना कर तूने मांस खा लिया, अब मेरे मुख की ओर क्या देख रहा है? अब उस अविनय (अशिष्टाचरण) वृक्ष का फल आस्वादन कर।' इस प्रकार सुन कर क्रव्यमुख मरण के भय से दूर देश को चला गया (भाग गया)। इसी बीच उस मार्ग से ऊँटों का एक झुण्ड बोझ लदा हुआ आ रहा था। उस झुण्ड के आगे वाले ऊँट के गले में एक बड़ा घंटा बँधा हुआ था उसके शब्द को दूर से ही सुन कर सिंह ने सियार से कहा—'सौम्य! पता तो लगाओ, किसका यह भीषण शब्द सुनने में आता है जैसा कि पहले कभी भी सुना नहीं गया था।' उसे सुनकर चतुरक वन में थोड़ी दूर जाकर शीघ्रता से लौटकर कहने लगा—'देव! भाग जाइए, यदि भाग सकते हों तो भाग जाइए।' उसने कहा—'सौम्य! मुझे क्यों घबराहट में डाल रहे हो, (साफ-साफ) कहो कि यह क्या बात है?' चतुरक ने कहा—'देव! यमराज तुम्हारे ऊपर इसलिए क्रुद्ध हो गए हैं कि इतने हमारे ऊँट को असमय में (मरण-काल के न रहने पर) ही मार डाला है, इसलिए उस ऊँट का हजार गुना बदला सिंह से लूँगा। इस प्रकार निश्चय कर अनेक ऊँटों को लेकर, आगे के ऊँट की गर्दन में बहुत बड़ा घंटा बाँधकर और मरे हुए ऊँट के बाप दादा आदि सम्बन्धियों को लेकर

सर्वतो दूरादेवावलोक्य मृतमुष्ट्रं परित्यज्य प्राणभयात्प्रणष्टः। चतुरकोऽपि शनैः शनैस्तस्यौष्ट्रस्य मांसं भक्षयामास। अतोऽहं ब्रवीमि—'परस्य पीडनं कुर्वन्' इति॥

अथ दमनके गते सञ्जीवकश्चिन्तयामास—अहो किमेतन्मया कृतम्, यच्छष्पादोऽपि मांसाशिनस्तस्यानुगः संवृत्तः। अथवा साध्विदमुच्यते—

अगम्यान् यः पुमान् याति असेव्यांश्च निषेवते।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा॥ ४०१॥

तत्किं करोमि। क्व गच्छामि। कथं मे शान्तिर्भविष्यति। अथवा तमेव पिङ्गलकं गच्छामि। कदाचिन्मां शरणागतं रक्षति। प्राणैर्न वियोजयति। यत उक्तं च—

धर्मार्थं यततामपीह विपदो दैवाद्यदि स्युः क्वचित्
तत्तासामुपशान्तये सुमतिभिः कार्यो विशेषान्नयः।
लोके ख्यातिमुपागताऽत्र सकले लोकोक्तिरेषा यतो
दग्धानां किल वह्निना हितकरः सेकोऽपि तस्योद्भवः॥ ४०२॥

बदला लेने के लिए आ रहे हैं।' सिंह भी यह सुनकर बहुत दूर से ही उन्हें आते देखकर मरे हुए ऊँट को छोड़कर प्राण चले जाने की आशङ्का से भाग गया और चतुरक धीरे-धीरे उस ऊँट के मांस को खा गया। इसलिए मैं कहता हूँ—'शत्रु को पीड़ा देकर.....' इत्यादि।

दमनक के चले जाने के अनन्तर संजीवक ने विचार किया कि 'अरे! यह मैंने क्या किया, जो तृण-भोजी होकर मांसभोजी का अनुगामी हुआ। अथवा उचित ही कहा है—

जो पुरुष अगम्यों (साथ न करनेवाले साथियों) का साथ करता है और सेवा के अयोग्य मनुष्य की सेवा करता है, वह उसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त करता है जिस प्रकार अश्वतरी (खच्चरी) अपनी मृत्यु के लिए गर्भधारण करती है॥ ४०१॥

सो अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किस प्रकार मेरी शान्ति होगी? अथवा उसी पिङ्गलक के समीप जाऊँ। कदाचित् वह मुझ शरणागत की रक्षा कर ले और प्राणों से रहित न करें (वध न करें)। क्योंकि कहा भी है—

इस संसार में धर्म के लिए आचरण करने पर दैववश यदि कुछ सङ्कट आ जाय तो बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि उसकी शान्ति के लिए विशेष रूप से

तथा च—लोकेऽथवा तनुभृतां निजकर्मपाकं
नित्यं समाश्रितवतां सुहितक्रियाणाम्।
भावार्जितं शुभमथाप्यशुभं निकामं
यद्भावि तद् भवति नात्र विचारहेतुः ॥ ४०३ ॥

अपरं चान्यत्र गतस्यापि मे कस्यचिद् दुष्टसत्त्वस्य मांसाशिनः सकाशान्मृत्युर्भविष्यति। तद्वरं सिंहात्। उक्तं च—

महद्भिः स्पर्धमानस्य विपदेव गरीयसी।
दन्तभङ्गेऽपि नागानां श्लाघ्यो गिरिविदारणे ॥ ४०४ ॥

तथा च—महतोऽपि क्षयं लब्ध्वा श्लाघ्यं नीचोऽपि गच्छति।
दानार्थी मधुपो यद्वद् गजकर्णसमाहतः ॥ ४०५ ॥

एवं निश्चित्य स स्खलितगतिर्मन्दं गत्वा सिंहाश्रयं पश्यन्नपठत्, अहो, साध्विदमुच्यते—

सद्व्यवहार करें। क्योंकि इस समस्त जगत् में यह लोकोक्ति (जनश्रुति) भली भाँति प्रसिद्ध हो गयी है कि अग्नि से जले अङ्गों पर उस (अग्नि) से सेंक ही उपकारी होता है ॥ ४०२ ॥

और भी—इस संसार में जीवों को अपने उन कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है जो अपनी क्रिया द्वारा (अच्छा या बुरा) किया गया है। क्योंकि अच्छा या बुरा जो अपने कर्म से उपार्जित है और जो भावी है वह होकर ही रहेगा इसलिए इसमें सोच-विचार की जरूरत नहीं है ॥ ४०३ ॥

और दूसरी जगह जाकर भी यदि किसी मांस खाने वाले दुष्ट-जीव से मेरी मृत्यु होगी ही, तब इस सिंह द्वारा ही मरना श्रेयस्कर है। कहा भी है—

महापुरुषों के साथ संघर्ष करने पर यदि सङ्कट भी आ जाय तो ठीक है, क्योंकि पर्वत विदारण करते (तोड़ते) समय यदि हाथियों का दाँत टूट जाय तो भी वह प्रशंसनीय है ॥ ४०४ ॥

और भी—महापुरुषों के द्वारा यदि (तुच्छ) प्राणी की मृत्यु हो जाय तो वे श्लाघ्य समझे जाते हैं, जिस प्रकार हाथी के मद का इच्छुक भौंरा हाथी के कानों द्वारा आहत होने पर भी सराहना करने योग्य होता है ॥ ४०५ ॥

इस प्रकार निश्चय कर लड़खड़ाता हुआ धीरे-धीरे सिंह के निवासस्थान को देखकर वह (सञ्जीवक) श्लोक पढ़ने लगा। अहो ! ठीक ही कहा जाता है—

अन्तर्लीनभुजङ्गमं गृहमिव व्यालाकुलं वा वनं
ग्राहाकीर्णमिवाभिरामकमलच्छायासनाथं सरः ।
नानादुष्टजनैरसत्यवचनासक्तैरनार्यैर्वृतं
दुःखेन प्रतिगम्यते प्रचकितै राज्ञां गृहं वार्धिवत् ॥ ४०६ ॥

एवं पठन्दमनकोक्ताकारं पिङ्गलकं दृष्ट्वा प्रचकितः संवृतशरीरो दूरतरं प्रणामकृतिं विनाप्युपविष्टः । पिङ्गलकोऽपि तथाविधं तं विलोक्य दमनकवाक्यं श्रद्दधानः कोपात्तस्योपरि पपात । अथ सञ्जीवकः खरनखविकर्तितपृष्ठः शृङ्गाभ्यां तदुदरमुल्लिख्य कथमपि तस्मादपेतः शृङ्गाभ्यां हन्तुमिच्छन् युद्धायावस्थितः । अथ द्वावपि तौ पुष्पितपलाशप्रतिमौ परस्परवधकाङ्क्षिणौ दृष्ट्वा करटको दमनकमाह—'भो मूढमते, अनयोर्विरोधं वितन्वता त्वया साधु न कृतम्, न च त्वं नीतितत्त्वं वेत्सि । नीतिविद्भिरुक्तं च—

जिस प्रकार अन्दर छिपे हुए सर्पयुक्त गृह में, अग्नि की लपट से व्याप्त वन में, अथवा मनोहर कमल की कान्ति से भूषित भी, ग्राह (घड़ियाल) से युक्त रमणीय सरोवर के समीप आशंकित मनुष्य बड़े कष्ट से जाता है, उसी प्रकार अनेक दुर्जनों, असत्य बोलने में आसक्तों और असाधुओं से युक्त होकर राजा के भवनरूपी सागर में सत्पुरुष अत्यधिक दुःख एवं आशंका से युक्त होकर जाते हैं ॥ ४०६ ॥

इस प्रकार पढ़ता हुआ दमनक द्वारा निर्दिष्ट-आकार के पिङ्गलक को देखकर आश्चर्ययुक्त हो गया और अपने शरीर को सँभाल कर नमस्कार किए बिना ही दूर जाकर बैठ गया। पिङ्गलक भी उसे उस प्रकार देखकर दमनक के वचन को सत्य मानकर कोप से उसके ऊपर टूट पड़ा। जब उसके तीक्ष्ण (नोकीले) नख से सञ्जीवक की पीठ फट गयी, तब वह भी सींगों से उसके पेट में प्रहार कर किसी तरह उससे दूर जाकर खड़ा हो गया और पुनः सींगों से मारने की अभिलाषा से युद्ध के निमित्त खड़ा हो गया। उसके बाद उन दोनों को (रक्तस्राव के कारण) पुष्पित पलाश वृक्ष के समान और एक दूसरे का वध करने की इच्छा से उठे हुए देखकर, करटक ने दमनक से कहा—'अरे मूर्ख ! इन दोनों में शत्रुता बढ़ाकर तुमने ठीक नहीं किया, तुम नीतिशास्त्र के मर्म को नहीं जानते हो। नीतिशास्त्र के अभिज्ञों ने ठीक कहा है—

कार्याण्युत्तमदण्डसाहसफलान्यायाससाध्यानि ये
प्रीत्या संशमयन्ति नीतिकुशलाः साम्नैव ते मन्त्रिणः ।
निःसाराल्पफलानि ये त्वविधिना वाञ्छन्ति दण्डोद्यमै-
स्तेषां दुर्णयचेष्टितैर्नरपतेरारोप्यते श्रीस्तुलाम् ॥ ४०७ ॥

तद्यदि स्वाम्यभिघातो भविष्यति तत्किं त्वदीयमन्त्रबुद्ध्या क्रियते । अथ सञ्जीवको न वध्यते तथाप्यभव्यम् । यतः प्राणसन्देहात्तस्य च वधः । तन्मूढ, कथं त्वं मन्त्रिपदमभिलपसि सामसिद्धिं न वेत्सि । तद्वृथा मनोरथोऽयं ते दण्डरुचेः । उक्तं च—

सामादिदण्डपर्यन्तो नयः प्रोक्तः स्वयम्भुवा ।
तेषां दण्डस्तु पापीयांस्तं पश्चाद्विनियोजयेत् ॥ ४०८ ॥

तथा च—साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः ।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति कोऽर्थः पटोलेन ॥ ४०९ ॥

वे ही मन्त्री पद के अधिकारी हैं जो क्लेशसाध्य प्रबल युद्ध साहस और फल सहित कार्यों को स्नेह एवं शान्ति के वचनों से ('साम' तथा 'दान' की नीति से) शमन करते हैं। और जो असार (निरर्थक) एवं थोड़े फलवाले कार्यों के पूर्ण करने की अभिलाषा अन्याय (भेद, आपसी फूट) तथा युद्धोद्योग (दण्डनीति) से करते हैं, उन मन्त्रियों से राज्यक्ष्मी ही सन्देह (खतरे) में पड़ जाती है ॥ ४०७ ॥

इसलिए यदि कहीं स्वामी का विनाश हुआ तो फिर तुम्हारी मन्त्र-बुद्धि से क्या प्रयोजन ? और यदि कहीं बच गया तो भी अशुभ होगा, क्योंकि उसमें (सञ्जीवक के जीवित रहने पर) स्वामी का जीवन प्राण-सन्देह में (सन्दिग्ध) रहेगा, इसलिए उसका वध होना परमावश्यक है। अतः हे मूर्ख ! जब तुम साम-सिद्धि (सन्धि से सिद्ध होने वाले कार्य) को नहीं जानते, तब कैसे मन्त्री के पद की अभिलाषा करते हो। इसलिए तुम्हारे सदृश संग्रामेच्छुक लोगों को यह अभिलाषा करना व्यर्थ है। कहा भी है—

ब्रह्मा ने 'साम' से लेकर (दान, भेद) 'दण्ड' तक जितनी नीति कही है, उनमें दण्ड नीति अत्यन्त अधम है। इसलिए उसे सब सन्धियों के पीछे (साम आदि के व्यर्थ होने पर) काम में लाना चाहिए ॥ ४०८ ॥

और भी—जहाँ साम नीति द्वारा ही इष्टसिद्धि होती हो वहाँ राजनीतिज्ञ

तथा च—आदौ साम प्रयोक्तव्यं पुरुषेण विजानता।
सामसाध्यानि कार्याणि विक्रियां यान्ति न क्वचित्॥ ४१०॥
न चन्द्रेण न चौषध्या न सूर्येण न वह्निना।
साम्नैव विलयं याति विद्वेषप्रभवं तमः॥ ४११॥

तथा यत्त्वं मन्त्रित्वमभिलषसि, तदप्ययुक्तम्। यतस्त्वं मन्त्रिगतिं न वेत्सि। यतः पञ्चविधो मन्त्र। स च कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति। सोऽयं स्वाम्यमात्ययोरेकतमस्य किं वा द्वयोरपि विनिपातः समुत्पद्यते लग्नः। तद्यपि काचिच्छक्तिरस्ति तद्विचिन्त्यतां विनपातप्रतीकारः। भिन्नसन्धाने हि मन्त्रिणां बुद्धिपरीक्षा। तन्मूर्ख, तत्कर्तुमसमर्थस्त्वं यतो विपरीतबुद्धिरसि! उक्तं च—

दण्ड-नीति का प्रयोग न करे क्योंकि यदि शर्करा (चीनी) देने ही से पित्त की शान्ति हो जाय तो पटोल (कसैला परवल) देना व्यर्थ है॥ ४०९॥

और भी—नीतिज्ञ पुरुष को चाहिए कि पहले साम का उपयोग करे, क्योंकि साम-नीति द्वारा सम्पन्न हुआ कार्य कभी भी विकृत नहीं होता॥ ४१०॥

यदि किसी विद्वेष (अस्त्रज) से तिमिर (द्वेष, अन्धकार) उत्पन्न हो जाय तो वह न चन्द्र से, न औषधि (ज्योतिष्मतीलता) से, न सूर्य से और न अग्नि से दूर हो सकता है, परन्तु साम (नीति) से ही दूर हो सकता है॥ ४११॥

और तुम जो मन्त्री पद की इच्छा करते हो वह भी तुम्हारे लिए युक्त नहीं है, क्योंकि तुम मन्त्री के कर्तव्य को नहीं जानते। क्योंकि मन्त्र पाँच प्रकार के होते हैं—(१) किसी अभिलषित कार्य के आरम्भ (उद्योग) में सन्धि, विग्रह आदि का उपाय (कौशल), (२) कर्मचारियों के लिए द्रव्य सम्पत्ति, (३) देश और काल के अनुसार साम, दाम, दण्ड, भेद का प्रयोग, (४) अभिलषित कार्य के पूर्ति के मार्ग में आये हुए विघ्न को दूर करना और (५) अभिलषित कार्यादि को अच्छी तरह पूरा करना। इसलिए स्वामी और अमात्य (पिङ्गलक और सञ्जीवक) इन दोनों में किसी एक का अथवा दोनों का मरण-समय उपस्थित है। अतः यदि तुम्हारे अन्दर कोई सामर्थ्य हो तो इस सङ्कट को दूर करने का प्रयत्न करो। विरोधभाव दूर करने के समय ही

मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातिके ।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डितः ॥ ४१२ ॥

अन्यच्च—घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् ।
पातयितुमेव - शक्तिर्नाखोरुद्धर्तुमन्नपिटकम् ॥ ४१३ ॥

अथवा न ते दोषोऽयम् । स्वामिनो दोषः, यस्ते वाक्यं श्रद्दधाति । उक्तं च—

नराधिपा नीचजनानुवर्तिनो बुधोपदिष्टेन पथा न यान्ति ये ।
विशन्त्यतो दुर्गममार्गनिर्गमं समस्तसम्बाधमनर्थपञ्जरम् ॥ ४१४ ॥

तद्यदि त्वमस्य मन्त्री भविष्यसि तदान्योऽपि कश्चिन्नास्य समीपे साधुजनः समेष्यति । उक्तं च—

गुणालयोऽप्यसन्मन्त्री नृपतिर्नाधिगम्यते ।
प्रसन्नस्वादुसलिलो दुष्टग्राह्यो यथा ह्रदः ॥ ४१५ ॥

मन्त्रियों की बुद्धि की परीक्षा होती है । सो मूर्ख ! तुम उसे करने में असमर्थ हो, क्योंकि तुम विपरीत (उल्टी) बुद्धि वाले हो । कहा भी है—

भिन्न सन्धान (अघटनीय बात के घटने और बिगड़ी बात के बनाने) के समय मन्त्रियों की और सन्निपात (त्रिदोष से उत्पन्न ज्वर रोग) में चिकित्सकों की बुद्धि देखी जाती है । प्रकृतिस्थ (अच्छी दशा) में कौन नहीं पण्डित बनता ॥ ४१२ ॥

और भी—क्षुद्र मनुष्य दूसरे के कार्य को नष्ट करना ही जानता है, न कि सिद्ध करना (बनाना) । अन्नपिटक (अन्न रखने के कोठिला) को गिरा देने का सामर्थ्य चूहे में है किन्तु उसे उठा कर रखने का नहीं ॥ ४१३ ॥

अथवा इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, प्रत्युत यह स्वामी का ही दोष है, जो तुम्हारे वाक्य पर विश्वास करते हैं । कहा भी है—

जो राजा क्षुद्र लोगों की मन्त्रणानुसार काम करने वाले होते हैं वे राजनीति के मर्मज्ञों द्वारा दिखलाए गये मार्ग से नहीं चलते । अतः वे सभी प्रकार की बाधाओं से युक्त उस अनर्थ (दुर्गम संकट) रूपी पिंजरे में प्रवेश करते हैं, जिससे निकलने का कोई मार्ग ही नहीं मिलता ॥ ४१४ ॥

सो यदि तुम इसके मन्त्री होगे तो दूसरा भी कोई सज्जन (राजनीति का मर्मज्ञ विद्वान्) पुरुष इसके निकट न आवेगा । कहा भी है—

(समस्त) गुणों (दया-दाक्षिण्य आदिकों) का आलय राजा भी यदि

तथा च शिष्टजनरहितस्य स्वामिनोऽपि नाशो भविष्यति। उक्तं च—

चित्रास्वादकथैर्भृत्यैरनायासितकार्मुकैः।
ये रमन्ते नृपास्तेषां रमन्ते रिपवः श्रिया॥ ४१६॥

तत्किं मूर्खोपदेशेन। केवलं दोषो न गुणः। उक्तं च—

नानाम्यं नमते दारु नाश्मनि स्यात्क्षुरक्रिया।
सूचीमुखं विजानीहि नाशिष्यायोपदिश्यते॥ ४१७॥

दमनक आह—'कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

कथा १७

अस्ति कस्मिंश्चित्पर्वतैकदेशे वानरयूथम्। तच्च कदाचिद्धेमन्तसमयेऽतिकठोरवातसंस्पर्शवेपमानकलेवरं तुषारवर्षोद्धत प्रवर्षघनधारानिपातसमाहतं न कथञ्चिच्छान्तिमगमत्। अथ केचिद्वानरा वह्निकणसदृशानि

असाधु मन्त्रियों (दुर्मन्त्रियों) से सेवित होता है तो वह मगर से परिपूर्ण स्वच्छ और सुस्वादु जलवाले जलाशय (तालाब) के समान असेवनीय होता है ॥४१५॥

और भी शिष्ट (साधु) जनरहित होने पर स्वामी का भी नाश हो जायेगा। कहा भी है—

जो नानाविध मधुर भाषण (चिकनी चोपड़ी बात) कहते हैं, अवसर आने पर धनुष चलाना नहीं जानते (सामयिक बाणादि सन्धान में असमर्थ होते) हैं, ऐसे अधिकारियों के साथ जो राजा रमण करते (मौज उड़ाते) हैं उनकी राज्य-लक्ष्मी से शत्रु लोग मौज उड़ाया करते हैं (अर्थात् उन्हें संग्राम में हराकर उनकी सम्पत्ति को हरण कर लेते हैं) ॥ ४१६ ॥

सो मूर्ख को उपदेश देने से क्या प्रयोजन ? क्योंकि उसमें केवल दोष ही रहता है, न कि गुण। कहा भी है—

नहीं झुकने वाली लकड़ी टेढ़ी नहीं हो सकती, पत्थर पर क्षुर-क्रिया नहीं होती (क्षुर-अस्तुरा, पत्थर पर कभी नहीं चलता, क्योंकि पत्थर काटने में उसका सामर्थ्य नहीं है) और अयोग्य शिष्य को उपदेश नहीं दिया जा सकता। सूची मुख इसका उदाहरण है ॥ ४१७ ॥

दमनक ने कहा—'यह कैसे।' उसने कहा—

किसी पर्वत के एक प्रदेश में वानरों का एक झुण्ड रहता था। वह वानर-समूह किसी समय हेमन्त ऋतु में अत्युत्कट ठण्डी वायु लगने से कम्पमान शरीर तथा तुषार (पाला) की वर्षा तुल्य बड़ी मुसलाधार जल के बरसने के कारण

गुञ्जाफलान्यवचित्य वह्निवाञ्छया फूत्कुर्वन्तः समन्तात्तस्थुः। अथ सुचीमुखो नाम पक्षी तेषां तं वृथायासमवलोक्य प्रोवाच—'भोः, सर्वे मूर्खा यूयम्। नैते वह्निकणाः गुञ्जाफलानि एतानि। तत्किं वृथा श्रमेण। नैतस्माच्छीतरक्षा भविष्यति। तदन्विष्यतां कश्चिन्निर्वातो वनप्रदेशो गुहा गिरिकन्दरं वा। अद्यापि सटोपा मेघा दृश्यन्ते।' अथ तेषामेकतमो वृद्ध-वानरस्तमुवाच—'भो मूर्ख, किं तावदनेन व्यापारेण। तदगम्यताम्।' उक्तं च—

महुर्विघ्नितकर्माणं द्यूतकारं पराजितम्।
नालापयेद्विवेकज्ञो यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः॥ ४१८॥

तथा च—आखेटकं वृथाक्लेशं मूर्खं व्यसन-संस्थितम्।
आलापयति यो मूढः स गच्छति पराभवम्॥ ४१९॥

सोऽपि तमानादृत्य भूयोऽपि वानराननवरतमाह—'भोः, किं वृथा

पीड़ित होकर किसी तरह भी सुख नहीं पा रहा था तब उनमें से कुछ बन्दर अग्निकण (आग की चिनगारी) के समान गुञ्जाफलों (घुंघुचियों) को एकत्रित कर अग्नि की अभिलाषा से फूँकते हुए उसके चारों तरफ घेरकर बैठ गये। तदनन्तर 'सूचीमुख' नाम के पक्षी ने उनके उस निरर्थक परिश्रम को देखकर कहा—'अरे! तुम सब मूर्ख हो। ये सब आग की चिनगारियाँ नहीं हैं। ये गुञ्जाफल हैं। इसलिये इस निरर्थक परिश्रम से क्या प्रयोजन? इससे शीत की रक्षा नहीं होगी। सो कोई वायु-रहित वन स्थान, गुहा (गुफा) या गिरिकन्दर (पर्वत की खोह) खोजो। इस समय भी बादल की घनघोर घटा (मेघ की गर्जना) देखने में आ रही है।' तब उनमें से एक वृद्ध बन्दर ने कहा—'अरे मूर्ख! तुझे इस काम से क्या प्रयोजन? इसलिये (तू) चला जा।' कहा भी है—

बार-बार किसी कार्य में सफलता न पानेवाले और द्यूत (जुआ) खेलने में पराजित (हार खाये हुए) व्यक्ति से बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि यदि अपनी कुशलता की इच्छा हो तो उनके साथ वार्तालाप न करें॥ ४१८॥

और भी, जो मूढ आखेटक (शिकारी), निरर्थक परिश्रम करनेवाले, मूर्ख और व्यसनी से वार्तालाप करता है, वह पराभव को प्राप्त होता है॥ ४१९॥

वह भी उसके वचन की अवहेलना करता हुआ बार-बार वही बात कहता

क्लेशेन ।' अथ यावदसौ न कथञ्चित्प्रलपन्विरमति तावदेकेन वानरेण व्यर्थश्रमत्वात्कुपितेन पक्षाभ्यां गृहीत्वा शिलायामास्फालित उपरतश्च अतोऽहं ब्रवीमि—'नानम्यं नमते दारु' इत्यादि । तथा च—

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ॥ ४२० ॥

अन्यच्च—उपदेशो न दातव्यो यादृशे तादृशे जने ।
पश्य वानरमूर्खेण सुगृही निगृहीकृतः ॥ ४२१ ॥

दमनक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

कथा १८

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे शमीवृक्षः । तस्य लम्बमानशिखायां कृतावासावरण्यचटकदम्पती वसतः स्म । अथ कदाचित्तयोः सुखसंस्थयोर्हेमन्तमेघो मन्दं मन्दं वर्षितुमारब्धः । अत्रान्तरे कश्चिच्छाखामृगो वातासारसमाहतः प्रोद्धूलितशरीरो दन्तवीणां वादयन्वेपमानस्तच्छमीमूलमासाद्योपविष्टः । अथ तं तदृशमवलोक्य चटका प्राह—'भो भद्र—

ही रहा कि—'अरे ! इस निरर्थक कष्ट से क्या प्रयोजन ?' सो वह जब किसी प्रकार भी अपने कहने से न रुका, तब तक व्यर्थ परिश्रम से क्रुद्ध हुए बन्दर ने उसके पख पकड़ कर शिला (पर्वत की चट्टान) पर पटक दिया जिससे वह मर गया। इसलिए मैं कहता हूँ—'न झुकने वाली लकड़ी नहीं झुकती……' इत्यादि ।

मूर्खों को दिया गया उपदेश उनके क्रोध को बढ़ाने के लिए ही होता है, न कि शान्ति के लिए । जिस प्रकार सर्पों को दूध पिलाने से उनके विष का ही वर्धन होता है ।। ४२० ।।

और भी—जैसे-तैसे व्यक्ति को उपदेश न देना चाहिए । देखो, मूर्ख बन्दर एक उत्तम गृहस्थ को घर से शून्य (बेघर) बना दिया ।। ४२१ ।।

दमनक ने पूछा—'यह कैसे ? उसने कहा—

किसी वन के एक प्रदेश में शमी का एक वृक्ष था। उसकी लम्बी शाखा (डाल) में घोंसला बना कर चटक-चटका (गौरैया और उसकी स्त्री) रहा करते थे। किसी समय जब वे आनन्द से बैठे हुए थे कि हेमन्त ऋतु का बादल धीरे-धीरे बरसने लगा। इसी समय हवा के झकझोर से युक्त वर्षा की

'हस्तपादसमोपेतो दृश्यसे पुरुषाकृतिः।
शीतेन भिद्यसे मूढ, कथं न कुरुषे गृहम्' ॥ ४२२ ॥

एतच्छ्रुत्वा तां वानरः सकोपमाह—'अधमे कस्मान्न त्वं मौनव्रता भवसि। अहो, धार्ष्ट्यमस्याः। अद्य मामुपहसति—

'सूचीमुखी दुराचारा रण्डा पण्डितवादिनी।
नाशङ्कते प्रजाल्पन्ती तत्किमेनां न हन्म्यहम्'' ॥ ४२३ ॥

एवं सञ्चिन्त्य स आह—'मुग्धे! किं मम चिन्तया तव प्रयोजनम्?' उक्तं च—

वाच्यं श्रद्धासमेतस्य पृच्छतेश्च विशेषतः।
प्रोक्तं श्रद्धाविहीनस्य अरण्यरुदितोपमम् ॥ ४२४ ॥

तत्किं बहुना तावत्। कुलायस्थितया तया पुनरप्यभिहितः। स तावत्तां

धारा से ताड़ित (वर्षा के जल से भींगे हुए शरीरवाला), दन्तवीणा (कटकटाते दाँत रूपी वीणा) बजाता हुआ और काँपता हुआ कोई बन्दर उसी शमी वृक्ष के नीचे आकर बैठ गया। उसकी उस प्रकार की दशा देखकर चटका ने कहा—हे सौम्य!

तुम तो हाथ और पैर से युक्त होने के कारण पुरुष के समान देखने में आते हो। तब शीत (ठण्डक) से कष्ट क्यों पा रहे हो, अरे मूर्ख! निवास के लिए घर क्यों नहीं बना लेता? ॥ ४२२ ॥

उसे सुनकर बन्दर ने क्रोधपूर्वक कहा—'अरी अधमे! तू चुप क्यों नहीं रहती? अत्यधिक आश्चर्य की बात है, इसकी धृष्टता (ढिठाई) तो देखो! यह मेरा उपहास कर रही है।

सुई के सदृश मुँहवाली, व्यभिचारिणी, धूर्ता और अपने को विदुषी कहने वाली, बकवाद करती हुई यदि यह नहीं आशंकित होती (डरती) है, तो मैं क्यों न इसे मार डालूँ? ॥ ४२३ ॥

इस प्रकार विचार कर उसने कहा—'अरी मुग्धे (भोली)! मेरी चिन्ता करने से तुझे क्या प्रयोजन?' कहा भी है—

विशेष श्रद्धा से युक्त होकर यदि कोई जानने की इच्छा से पूछे तो उससे बात करनी चाहिए। श्रद्धारहित मनुष्यों से कुछ कहना वन में रोने के समान (निरर्थक) है ॥ ४२४ ॥

सो बहुत कहने से क्या प्रयोजन! ज्यों ही कुलाय (घोंसले) में बैठी हुई

शमीमारुह्य तस्याः कुलायं शतधा खण्डशोऽकरोत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपदेशो न दातव्यः' इति।

तन्मूर्ख, शिक्षापितोऽपि न शिक्षितस्त्वम्। अथवा न ते दोषोऽस्ति, यतः साधोः शिक्षा गुणाय सम्पद्यते, नासाधोः। उक्तं च—

किं करोत्येव पाण्डित्यमस्थाने विनियोजितम्।
अन्धकारप्रतिच्छन्ने घटे दीप इवाहितः॥ ४२५॥

तद्व्यर्थपाण्डित्यमाश्रित्य मम वचनमशृण्वन्नात्मनः शान्तिमपि वेत्सि। तन्नूनमपजातस्त्वम्। उक्तं च—

जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च।
अपजातश्च लोकेऽस्मिन्मन्तव्याः शास्त्रवेदिभिः॥ ४२६॥
मातृतुल्यगुणो जातस्त्वनुजातः पितुः समः।
अतिजातोऽधिकस्तस्मादपजातोऽधमाधमः॥ ४२७॥

उस (चटका) ने पुनः कहा त्यों ही उस शमी वृक्ष पर चढ़कर उसके कुलाय (घोंसले) को सौ टुकड़े कर दिये। इसी से मैं कहता हूँ—'जैसे तैसे व्यक्ति को उपदेश न देना चाहिए' इत्यादि।

सो हे मूर्ख दमनक! उपदेश देने (सिखाने) पर भी तू नहीं सीख सका। अथवा इसमें तेरा दोष नहीं है, क्योंकि सज्जन व्यक्ति में शिक्षा (उपदेश) गुणदायिनी होती है, न कि अशिष्ट (असज्जन व्यक्ति) में। कहा भी है—

अनुचित पात्र में बतलाया गया सदुपदेश क्या कर सकता है। जिस प्रकार अन्धकार से पूर्ण घड़े के ऊपर रखा हुआ दीपक घड़े के भीतर प्रकाश कर सकता है? ॥ ४२५॥

सो व्यर्थ पाण्डित्य ('मैं ज्ञानवान् हूँ' इस प्रकार का झूठा अहङ्कार) का अवलम्बन कर तुमने मेरा वचन नहीं सुना और जो मन की शान्ति थी उसे भी नहीं समझ पाया। सो निश्चय ही तू अपजात (अत्यन्त अधम) है। कहा भी है—

इस संसार में शास्त्र के जाननेवालों को चार प्रकार के पुत्रों को मानना चाहिए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) जात (२) अनुजात (३) अतिजात और (४) अपजात॥ ४२६॥

उन चारों की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं:—माता के समान गुणवाला पुत्र

अप्यात्मनो विनाशं गणयति न खलः परव्यसनहृष्टः।
प्रायो मस्तकनाशे समरमुखे नृत्यति कबन्धः॥ ४२८॥

अहो, साध्विदमुच्यते—

'धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च द्वावेतौ विदितौ मम।
पुत्रेण व्यर्थपाण्डित्यात्पिता धूमेन घातितः'॥ ४२९॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

कथा १९

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने धर्मबुद्धिः पापबुद्धिश्च द्वे मित्रे प्रतिवसतः स्म। अथ कदाचित्पापबुद्धिना चिन्तितम्—'अहं तावन्मुर्खो दारिद्रयोपेतश्च। तदेनं धर्मबुद्धिमादाय देशान्तरं गत्वास्याश्रयेणार्थोपार्जनं कृत्वैनमपि वञ्चयित्वा सुखी भवामि।' अथान्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिर्धर्मबुद्धिं प्राह—'भो मित्र, वार्धकभावे किं त्वमात्मविचेष्टितं स्मरसि, देशान्तरमदृष्ट्वा कां शिशुजनस्य वार्तां कथयिष्यसि ? उक्तं च—

'जात', पिता के समान गुण वाला 'अनुजात', पिता से अधिक गुणवाला पुत्र 'अतिजात' और अत्यन्त अधम पुत्र 'अपजात' कहा जाता है॥ ४२७॥

दुर्जन पुरुष दूसरों के दुःख से प्रसन्न होकर अपने विनाश को नहीं देखता है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि मस्तक के कट जाने पर भी कबन्ध (छिन्न शिर वाला शरीर धड़) युद्ध-भूमि में नृत्य करता रहता है॥ ४२८॥

अहो ! यह ठीक कहा गया है—धर्मबुद्धि और कुबुद्धि इन दोनों को मैंने जान लिया है। पुत्र (कुबुद्धि) ने अपनी निरर्थक पण्डिताई के कारण धुँए से पिता को मार डाला॥ २२९॥

दमनक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

किसी नगर में 'धर्मबुद्धि' और 'पापबुद्धि' नाम के दो मित्र रहते थे। एक दिन पापबुद्धि ने विचार किया कि 'मैं तो मूर्ख और दरिद्र हूँ। सो इस धर्मबुद्धि को साथ लेकर देशान्तर में जाकर इसकी सहायता से धन उपार्जित करूँ (कमाऊँ और उसके बाद) इसे भी ठगकर सुखी हो जाऊँ।' तदनुसार किसी दूसरे दिन पापबुद्धि ने धर्मबुद्धि से कहा—'हे मित्र ! वृद्धावस्था (बुढ़ौती) में तुम अपने अपने कौन से कार्य को स्मरण (याद) करोगे ? दूसरे देश को देखे बिना अपने बालकों से कौन सी बातें कहोगे ? कहा भी है—

देशान्तरेषु बहुविधभाषावेषादि येन न ज्ञातम् ।
भ्रमता धरणीपीठे तस्य फलं जन्मनो व्यर्थम् ॥ ४३० ॥

तथा च—विद्यां वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक् ।
यावद् व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तरं हृष्टः ॥ ४३१ ॥

अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य प्रहृष्टमनास्तेनैव सह गुरुजनानुज्ञातः शुभेऽह्नि देशान्तरं प्रस्थितः। तत्र च धर्मबुद्धिप्रभावेण भ्रमता पापबुद्धिना प्रभूततरं वित्तमासादितम् । ततश्च द्वावपि तौ प्रभूतोपार्जितद्रव्यौ प्रहृष्टौ स्वगृहं प्रत्यौत्सुक्येन निवृत्तौ । उक्तं च—

प्राप्तविद्यार्थशिल्पानां देशान्तरनिवासिनाम् ।
क्रोशमात्रोऽपि भूभागः शतयोजनवद्भवेत् ॥ ४३२ ॥

अथ स्वस्थानसमीपवर्तिना पापबुद्धिना धर्मबुद्धिरभिहितः—'भद्र, न सर्वमेतद्धनं गृहं प्रति नेतुं युज्यते। यतः कुटुम्बिनो बान्धवाश्च प्रार्थयिष्यन्ते । तदत्रैव वनगहने क्वापि भूमौ निक्षिप्य किञ्चिन्मात्रमादाय

जिस व्यक्ति ने दूसने देशों में घूमकर अनेक प्रकार की भाषा और वेष (पोशाक) आदि को नहीं समझा उसका भूतल पर जन्म ग्रहण करना निरर्थक है ॥ ४३० ॥

उसी तरह—कोई भी व्यक्ति भूतल पर विद्या, वित्त (धन), शिल्प (वैज्ञानिक व्यापार, कारीगरी) तब तक अच्छी तरह नहीं प्राप्त करता, जब तक प्रफुल्लित मन से देश-देशान्तर नहीं जाता ॥ ४३१ ॥

इसके बाद उसकी इस तरह की बात को सुनकर धर्मबुद्धि ने प्रसन्नचित्त होकर गुरुजनों (बड़े लोगों) की आज्ञा लेकर उसी के साथ किसी अच्छे दिन में दूर देश की ओर प्रस्थान किया। वहाँ धर्मबुद्धि के प्रभाव से भ्रमण करते हुए पापबुद्धि ने बहुत-सा धन प्राप्त किया। उसके बाद वे दोनों अत्यधिक धनोपार्जन से प्रसन्न हो बड़ी उत्कण्ठा से अपने घर की ओर लौटे। कहा भी है—

विद्या, धन और शिल्प (कारीगरी) प्राप्त करने के बाद देशान्तर में गये हुए व्यक्ति के लिए अपने घर की ओर की एक कोस भर की जमीन सौ योजन (४०० कोस) के तुल्य (अधिक दूरवाली) हो जाती है ॥ ४३२ ॥

इसके बाद जब पापबुद्धि अपने घर के पास पहुँचा तब उसने धर्मबुद्धि से कहा—'सौम्य ! सब धन घर ले जाना ठीक नहीं है, क्योंकि भाई-बिरादर एवं जाति के लोग उसे माँगने लगेंगे। सो इसी घोर जङ्गल में कहीं भूमि में गाड़कर

गृहं प्रविशावः। भूयोऽपि प्रयोजने सञ्जाते तन्मात्रं समेत्यास्मात्स्थानान्नेष्यावः। उक्तं च—

न वित्तं दर्शयेत्प्राज्ञः कस्यचित्स्वल्पमप्यहो।
मुनेरपि यतस्तस्य दर्शनाच्चलते मनः॥ ४३३॥

तथा च—यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान्॥ ४३४॥

तदाकर्ण्य धर्मबुद्धिराह—'भद्र, एवं क्रियताम्।' तथाऽनुष्ठिते द्वावपि तौ स्वगृहं गत्वा सुखेन संस्थितवन्तौ। अथान्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिर्निशीथेऽटव्यां गत्वा तत्सर्वं वित्तं समादाय गर्तं पूरयित्वा स्वभवनं जगाम। अथान्येद्युर्धर्मबुद्धिं समभ्येत्य प्रोवाच—'सखे, बहुकुटुम्बा वयं वित्ताभावात्सीदामः। तद् गत्वा तत्र स्थाने किञ्चिन्मात्रं धनमानयावः।' सोऽब्रवीत्—'भद्र, एवं क्रियताम्'। अथ द्वावपि गत्वा तत्स्थानं यावत्खनतस्तावद्रिक्तं भाण्डं दृष्टवन्तौ। अत्रान्तरे पापबुद्धिः शिरस्ताडयन् प्रोवाच—'भो धर्मबुद्धे, त्वया हृतमेतद्धनम्, नान्येन। यतो भूयोऽपि

और इसमें थोड़ा-सा धन लेकर हम दोनों घर चलें। फिर आवश्यकता पड़ने पर यहाँ आकर हम दोनों शेष धन ले जायँगे। कहा भी है—

बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिए कि अपना थोड़ा धन भी किसी को नहीं दिखलावें। क्योंकि उसके देखने से मुनि लोगों का भी मन चलायमान हो जाता है॥ ४३३॥

और भी—जिस प्रकार मांस जल में मछलियों द्वारा, पृथ्वीपर सिंहादि हिंसक जन्तुओं द्वारा, आकाश में पक्षियों द्वारा खाया जाता है, उसी प्रकार सब जगह धनवान् व्यक्ति खाया जाता है—लुटा जाता है'॥ ४३४॥

यह सुनकर धर्मबुद्धि ने कहा—'सौम्य! ऐसा ही करो।' वैसा करने पर वे दोनों अपने-अपने घर जाकर आनन्द से रहने लगे। इसके बाद किसी दूसरे दिन पापबुद्धि, आधि रात के समय जङ्गल में जाकर, वह सब धन लेकर गड्ढे को भर कर अपने घर चला आया। तदनन्तर दूसरे दिन धर्मबुद्धि के समीप आकर कहा—'हे मित्र! हम लोग बहुत परिवार वाले हैं और धन के अभाव से कष्ट पाते हैं। सो उस जगह पर चलकर कुछ थोड़ा-सा धन ले आवें।' उसने कहा—'सौम्य! ऐसा ही करो।' इसके पश्चात् दोनों ने जाकर जब उस जगह को खोदा तो रिक्त भाण्ड देखा। इतने में पापबुद्धि ने मस्तक पीटते हुए

गर्तापूरणं कृतम्। तत्प्रयच्छ मे तस्यार्धम्। अन्यथाऽहं राजकुले निवेदयिष्यामि।' स आह—'भो दुरात्मन्, मैवं वद। धर्मबुद्धिः खल्वहम्। नैतच्चौरकर्म करोमि। उक्तं च—

मातृवत्परदाराणि परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः' ॥ ४३५ ॥

एवं द्वावपि तौ विवदमानौ धर्माधिकारिणं गतौ? प्रोचतुश्च परस्परं दूषयन्तौ। अथ धर्माधिकरणाधिष्ठितपुरुषैर्दिव्यार्थे यावन्नियोजितौ तावत् पापबुद्धिराह—'अहो, न सम्यग्दृष्टोऽयं न्यायः! उक्तं च—

विवादेऽन्विष्यते पत्रं तदभावेऽपि साक्षिणः।
साक्ष्यभावात्ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४३६ ॥

तदत्र विषये मम वृक्षदेवताः साक्षिभूतास्तिष्ठन्ति। ता अप्यावयोरेकतरं चौरं साधुं वा करिष्यन्ति।' अथ [तैः सर्वैरभिहितम्—'भोः, युक्तमुक्तं भवता। उक्तं च—

कहा—'हे धर्मबुद्धि! तुम्हीं ने इस धन का हरण कर लिया है और दूसरे ने नहीं। धन लेकर तुमने ही गड्ढा भर दिया है। इसलिए मुझे उसका आधा दे दो, नहीं तो मैं राज-दरबार में जाकर निवेदन करूँगा।' उसने कहा—'अरे दुष्ट! ऐसा मत कह, क्योंकि मैं धर्मबुद्धि हूँ। ऐसा चोर का कर्म मैं नहीं कर सकता। कहा भी है—

जिनकी बुद्धि सत्कर्म में रहती है ऐसे धार्मिक लोग परायी स्त्री को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और समस्त जीवों को अपनी आत्मा के समान देखते हैं' ॥ ४३५ ॥

इस प्रकार वे दोनों विवाद करते हुए धर्माधिकारी के समीप जाकर एक दूसरे को दोष लगाते हुए कहने लगे। इसके बाद जब धर्माधिकारी से नियुक्त राजपुरुषों ने शपथ-ग्रहण के लिए कहा, तब पापबुद्धि ने कहा—'अहो! यह न्याय तो उचित नहीं देखने में आता। कहा भी है—

विवाद कर्म में पहले लेख-पत्र का अन्वेषण किया जाता है, उसके न मिलने पर साक्षी खोजे जाते हैं, साक्षी के अभाव में शपथग्रहण कराया जाता है—इस प्रकार राजनियम के अभिज्ञ लोग कहते हैं ॥ ४३६ ॥

सो इस विषय में हमारे साक्षी वनदेवता हैं। वे ही हम दोनों में से एक

अन्त्यजोऽपि यदा साक्षी विवादे सम्प्रजायते ।
न तत्र विद्यते दिव्यं किं पुनर्यत्र देवताः ॥ ४३७ ॥

तदस्माकमप्यत्र विषये महत्कौतूहलं वर्तते। प्रत्यूषसमये युवाभ्यामप्यस्माभिः सह तत्र वनोद्देशे गन्तव्यम्' इति । एतस्मिन्नन्तरे पापबुद्धिः स्वगृहं गत्वा स्वजनकमुवाच—'तात, प्रभूतोऽयं मयार्थो धर्मबुद्धेश्चोरितः । स च तव वचनेन परिणतिं गच्छति । अन्यथाऽस्माकं प्राणैः सह यास्यति' । स आह—'वत्स, द्रुतं वद येन प्रोच्य तद्द्रव्यं स्थिरतां नयामि ।' पापबुद्धिराह—'तात, अस्ति तत्प्रदेशे महाशमी । तस्यां महत्कोटरमस्ति । तत्र त्वं साम्प्रतमेव प्रविश । ततः प्रभाते यदाहं सत्यश्रावणं करोमि, तदा त्वया वाच्यं यद्धर्मबुद्धिश्चौर इति ।' तथानुष्ठिते प्रत्यूषे स्नात्वा पापबुद्धिर्धर्मबुद्धिपुरःसरो धर्माधिकरणकैः सह तां शमीमभ्येत्य तारस्वरेण प्रोवाच—

को चोर या साधु बतावेंगे !' उसके बाद उन सबों ने कहा—'हाँ, हाँ ! तुमने बहुत ठीक कहा । कहा भी है—

विवाद में यदि अन्त्यज भी साक्षी होता है तो वहाँ शपथ की जरूरत नहीं समझी जाती, फिर जहाँ देवता साक्षी हों तो क्या पूछने की बात है ? ॥ ४३७ ॥

सो हम लोगों को भी इस विषय में अत्यन्त कौतुक है । सो तुम दोनों को प्रातःकाल हम लोगों के साथ उस वन में जाना होगा । इसी बीच में पापबुद्धि ने अपने घर जाकर अपने पिता से कहा—'हे पिताजी ! मैंने धर्मबुद्धि का प्रभूत धन चुरा लिया है, और तुम्हारे कहने से वह पच जायगा । नहीं तो मेरे प्राणों के साथ वह धन भी चला जायगा ।' उसने कहा—'वत्स ! जल्दी बताओ, जो मैं उसे कहकर उस द्रव्य को स्थिर कर दूँ ।' पापबुद्धि ने कहा—'हे पिता जी ! उस स्थान पर एक बहुत बड़ा शमी का वृक्ष है । उसमें एक बहुत बड़ा कोटर है । उसमें तुम इस समय ही जा घुसो । उसके बाद प्रातःकाल जब मैं सत्य कहने को कहूँगा तब तुम कहना कि धर्मबुद्धि चोर है ।' ऐसा करने पर योजनानुसार प्रभातकाल 'पापबुद्धि' ने स्नानकर धुले हुए कपड़े पहनकर, धर्मबुद्धि को आगे कर, धर्माधिकारियों के साथ उस शमी वृक्ष के निकट पहुँचकर ऊँचे स्वर से कहा—

'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम् ॥४३८॥

भगवति वनदेवते, आवयोर्मध्ये-यश्चौरस्तं कथय।' अथ पापबुद्धि-पिता शमीकोटरस्थः प्रोवाच—'भो, शृणुत शृणुत। धर्मबुद्धिना हृत-मेतद्धनम्'। तदाकर्ण्य सर्वे ते राजपुरुषा विस्मयोत्फुल्ललोचना यावद्धर्म-बुद्धेर्वित्तहरणोचितं निग्रहं शास्त्रदृष्ट्याऽवलोकयन्ति तावद्धर्मबुद्धिना तच्छमी-कोटरं बह्निभोज्यद्रव्यैः परिवेष्ट्य वह्निना सन्दीपितम्। अथ ज्वलति तस्मिन् शमीकोटरेऽर्धदग्धशरीरः स्फुटितेक्षणः करुणं परिदेवयन्पापबुद्धि-पिता निश्चक्राम। ततश्च तैः सर्वैः पृष्टः—'भोः किमिदम्।' इत्युक्ते 'इदं सर्वं कुकृत्यं पापबुद्धेः कारणाद् जातम्' इत्युक्त्वा मृतः। ततस्ते राज-पुरुषाः पापबुद्धिं शमीशाखायां प्रतिलम्ब्य धर्मबुद्धिं प्रशंस्येदमूचुः—'अहो, साध्विदमुच्यते—

उपायं चिन्तयेत्प्राज्ञस्तथापायं च चिन्तयेत्।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलेन हृता बकाः॥ ४३९॥

'सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल, हृदय, यमराज, दिन-रात दोनों सन्ध्याएँ और धर्म—ये मनुष्यों के चरित्र को जानते हैं॥ ४३८॥

मातः वनदेवते! हम दोनों में जो चोर हो उसे तुम कहो।' इसके बाद शमी के खोखले में बैठा हुआ पापबुद्धि का पिता कहने लगा—'अहो! तुम सब सुनो, यह सब धन धर्मबुद्धि ने चुराया है।' यह सुनकर उन सब राजपुरुषों की आँखें आश्चर्य से खुल गयीं और जब वे धर्मबुद्धि के धन-हरण के योग्य दण्ड को शास्त्र की दृष्टि से विचारने में तत्पर हो गये, तब धर्मबुद्धि ने उस शमी वृक्ष के खोखले में घास-पात भर कर आग लगा दी। उस कोटर के जलने पर उससे आधा शरीर जला हुआ, फूटे नेत्र वाला, करुण स्वर से चिल्लाता हुआ पापबुद्धि का पिता निकला। उसके बाद उन अधिकारियों ने पूछा—'अरे, यह क्या हो गया?' इस प्रकार कहने पर 'यह सब कुकृत्य पापबुद्धि के कारण हुआ' यह निवेदन कर वह मर गया। तदनन्तर उन राजपुरुषों ने पापबुद्धि को शमीवृक्ष की शाखा में लटकाकर धर्मबुद्धि की प्रशंसा करते हुए कहा—अहो! यह ठीक ही कहा है—

बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है कि उपाय के साथ-साथ अपाय की भी चिन्ता करे। क्योंकि मूर्ख बगुले के देखते-देखते नकुल ने उसके सभी बच्चे खा लिये'॥ ४३९॥

धर्मबुद्धिः प्राह—'कथमेतत् ।' ते प्रोचुः—

कथा २०

'अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे बहुबकसनाथो वटपादपः। तस्य कोटरे कृष्णसर्पः प्रतिवसति स्म। स च बकबालकानजातपक्षानपि सदैव भक्षयन्कालं नयति। अथैको बकस्तेन भक्षितान्यपत्यानि दृष्ट्वा शिशुवैराग्यात्सरस्तीरमासाद्य बांष्पपूरितनयनोऽधोमुखस्तिष्ठति। तं च तादृक्चेष्टितमवलोक्य कुलीरकः प्रोवाच—'मातुल, किमेवं रुद्यते भवताऽद्य।' स आह—'भद्र, किं करोमि। मम मन्दभाग्यस्य बालकाः कोटरनिवासिना सर्पेण भक्षिताः। तद्दुःखदुःखितोऽहं रोदिमि। तत्कथय मे यद्यस्ति कश्चिदुपायस्तद्विनाशाय।' तदाकर्ण्य कुलीरकश्चिन्तयामास—'अयं तावदस्मज्जातिसहजवैरी। तथोपदेशं प्रयच्छामि सत्यानृतं यथान्येऽपि बकाः सर्वे संक्षयमायान्ति। उक्तं च—

> नवनीतसमां वाणीं कृत्वा चित्तं तु निर्दयम्।
> तथा प्रबोध्यते शत्रुः सान्वयो म्रियते यथा ॥ ४४० ॥

धर्मबुद्धि ने कहा—'यह कैसे ?' राजपुरुषों ने कहा—

किसी वन में अनेक बगुलों से युक्त एक वट का वृक्ष था। उसके कोटर में एक काला साँप रहता था। वह पंख न निकले हुए बगुलों के बच्चों का भक्षण करता हुआ अपना समय बिता रहा था। तदनन्तर एक बगुला उसके द्वारा अपने बच्चों को भक्षण किये हुए देखकर बच्चों के मरण के शोक में जलाशय के किनारे आकर अश्रुधारा परिपूर्ण आँखों से नीचे की ओर मुँह किए हुए बैठा था। उसे उस अवस्था में देखकर एक कुलीरक ने पूछा—'मामा ! आज आप इस तरह क्यों रो रहे हैं ?' उसने कहा—'सौम्य ! क्या करूँ ? मुझ भाग्यहीन के सभी बालकों को खोखले में रहनेवाले काले साँप ने भक्षण कर लिया है। सो उसी के दुःख से दुःखित होकर मैं रो रहा हूँ। यदि उस साँप के नाश का कोई उपाय हो तो मुझसे कहो।' यह सुनकर कुलीरक ने विचार किया कि 'यह तो मेरी जाति का सहज वैरी है, अतः इस प्रकार सत्य और असत्य से मिश्रित उपदेश दूँ कि दूसरे सभी बगुले भी नष्ट हो जायँ। कहा भी है—

वाणी को मक्खन के समान कोमल और चित्त को निष्ठुर करके शत्रु को इस प्रकार समझावे कि जिससे वह कुल-सहित विनाश को प्राप्त हो जाय' ॥ ४४० ॥

आह च—'माम, यद्येवं तन्मत्स्यमांसखण्डानि नकुलस्य बिलद्वारात्सर्पकोटरं यावत्प्रक्षिप यथा नकुलस्तन्मार्गेण गत्वा तं दुष्टसर्पं विनाशयति!' अथ तथानुष्ठिते मत्स्यमांसानुसारिणा नकुलेन तं कृष्णसर्पं निहत्य तेऽपि तद्वृक्षाश्रयाः सर्वे बकाश्च शनैः शनैर्भक्षिताः। अतो वयं ब्रूमः—'उपायं चिन्तयेद्' इति।

तदनेन पापबुद्धिना उपायश्चिन्तितो नापायः। ततस्तत्फलं प्राप्तम्।' अतोऽहं ब्रवीमि—'धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च' इति।

एवं मूढ, त्वयाप्यपायश्चिन्तितो नोपायः पापबुद्धिवत्। तन्न भवसि त्वं सज्जनः, केवलं पापबुद्धिरसि। ज्ञातो मया स्वामिनः प्राणसन्देहानयनात्। प्रकटीकृतं त्वया स्वयमेवात्मनो दुष्टत्वं कौटिल्यं च। अथवा साध्विदमुच्यते—

यत्नादपि कः पश्येच्छिखिनामाहारनिःसरणमार्गम्।
यदि जलदध्वनिमुदितास्त एव मूढा न नृत्येयुः॥ ४४१॥

उसने कहा—'मामा! यदि ऐसा है तो मछलियों के मांस के टुकड़े लेकर नेवले के बिल के छेद से लेकर सांप के खोखले तक डाल दो, जिससें नेवला उस मार्ग से जाकर उस दुष्ट साँप को मार डालेगा।' इस प्रकार करने पर मछलियों के मांस का अनुसरण करनेवाले नेवले ने उस काले साँप को मारकर उस वृक्ष पर रहनेवाले सभी बगुलों को धीरे-धीरे खा लिया। इसीलिए हम कहते हैं—'उपाय की चिन्ता करके·····' इत्यादि।

सो इस पापबुद्धि ने उपाय का तो विचार किया किन्तु साथ ही साथ अपाय (विनाश) का विचार नहीं किया इसी से उसका फल पाया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि—'धर्मबुद्धि और पापबुद्धि इन दोनों को मैंने समझ लिया' इत्यादि।

इसी प्रकार ओ मूढ! तुमने भी अपाय का चिन्तन किया किन्तु पापबुद्धि के समान उपाय का नहीं। सो तुम सज्जन नहीं हो, केवल पापबुद्धि हो। स्वामी पिङ्गलक के प्राणों को सङ्कट में डाल देने से ही मुझे यह मालूम हो गया है। इससे तुमने अपने आप ही अपनी दुष्टता और कुटिलता स्पष्ट कर दी। अथवा यह ठीक ही कहा है—

यदि मेघों की ध्वनि से प्रसन्न होकर वे नादान (मयूर) अपने आप नाचने न लग जायें तो कौन यत्न करके भी मयूरों के आहार निकलने का मार्ग (गुदा) को देख सकता है? ॥ ४४१॥

यदि त्वं स्वामिनमेनां दशां नयसि तदस्मद्विधस्य का गणना। तस्मान्ममासन्नेन भवता न भाव्यम्। उक्तं च—

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषकाः।
राजंस्तत्र हरेच्छ्येनो बालकं नात्र संशयः॥ ४४२॥

दमनक आह—'कथमेतत्?' सोऽब्रवीत्—

कथा २१

'अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने जीर्णधनो नाम वणिक्पुत्रः। स च विभवक्षयाद् देशान्तरगमनमना व्यचिन्तयत्—

'यत्र देशेऽथवा स्थाने भोगान्भुक्त्वा स्ववीर्यतः।
तस्मिन्विभवहीनो यो वसेत्स पुरुषाधमः॥ ४३३॥

तथा च—येनाहंकारयुक्तेन चिरं विलसितं पुरा।
दीन वदति तत्रैव यः परेषां स निन्दितः॥ ४४४॥

तस्य च गृहे सहस्रलोहभारघटिता पूर्वपुरुषोपार्जिता तुलाऽऽसीत्। तां च

जब तुम अपने मालिक को ऐसी अवस्था में पहुँचा सकते हो, तो पुनः हमारे सदृश लोगों की क्या गणना है। इसलिए मेरे निकट तेरा रहना उचित नहीं। कहा भी है—

जब एक हज़ार पल लोहे की तुला को चूहे खा जाते हैं, तो हे राजन्! यदि बालक को बाज पक्षी भी उड़ा ले जाय तो, इसमें सन्देह करना उचित नहीं है॥ ४४२॥

दमनक ने पूछा—'यह कैसे?' उसने कहा—

किसी नगर में 'जीर्णधन' नामक बनिए का लड़का रहता था। धन नष्ट हो जाने से वह विदेश में जाने की अभिलाषा से सोचने लगा—

'जिस देश अथवा स्थान में अपने पराक्रम से अनेक प्रकार के भोगों को भोग चुके, उसी देश अथवा स्थान में विभवहीन होकर रहने वाला मनुष्य पुरुषों में नीच है॥ ४४३॥

और भी— जिसने किसी स्थान पर अभिमान के साथ पहले बहुत समय तक सुख-विलास किया हो और पुनः उसी स्थान में रहते हुए उसे अन्य लोगों के आगे दीन वचन कहना पड़े तो वह निन्दा का पात्र है'॥ ४४४॥

उसके घर में पूर्व पुरुषों से उपार्जित एक हजार पल की लोहरचित एक

कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो गृहे निक्षेपभूतां कृत्वा देशान्तरं प्रस्थितः। ततः सुचिरं कालं देशान्तरं यथेच्छया भ्रान्त्वा पुनः स्वपुरमागत्य तं श्रेष्ठिनमुवाच—'भोः श्रेष्ठिन्, दीयतां मे सा निक्षेपतुला।' स आह—'भोः, नास्ति सा त्वदीया तुला। मूषकैर्भक्षिता।' जीर्णधन आह—'भोः, श्रेष्ठिन्, नास्ति दोषस्ते यदि मूषकैर्भक्षितेति। ईदृगेवायं संसारः न किञ्चिदत्र शाश्वतमस्ति। परमहं नद्यां स्नानार्थं गमिष्यामि। तत्त्वमात्मीयं शिशुमेनं धनदेवनामानं मया सह स्नानोपकरणहस्तं प्रेषय' इति। सोऽपि चौर्यभयात्तस्य शङ्कितः स्वपुत्रमुवाच—'वत्स, पितृव्योऽयं तव स्नानार्थं नद्यां यास्यति। तद् गम्यतामनेन साधं स्नानोपकरणमादाय' इति। अहो, साध्विदमुच्यते—

न भक्त्या कस्यचित्कोऽपि प्रियं प्रकुरुते नरः।
मुक्त्वा भयं प्रलोभं वा कार्यकारणमेव वा ॥ ४४५ ॥

तथा च—अत्यादरो भवेद्यत्र कार्यकारणवर्जितः।
तत्र शङ्का प्रकर्तव्या परिणामेऽसुखावहा ॥ ४४६ ॥

तराजू थी। उस तराजू को किसी सेठ के घर में धरोहर रखकर वह परदेश चला गया। उसके बाद दीर्घकाल तक परदेश में अपनी इच्छा से भ्रमण कर पुनः अपने नगर में आकर उस सेठ से उसने कहा—'सेठ जी! मेरी उस अमानत रखी हुई तराजू को दे दीजिए।' उसने उत्तर दिया—'हे भाई! तुम्हारी तराजू तो नहीं है, उसे चूहों ने खा डाला।' जीर्णधन ने कहा—'हे सेठ जी! यदि उसे चूहे खा गये तो इसमें आपका क्या दोष? इसी प्रकार का यह संसार है। कुछ भी इस संसार में अविनाशी नहीं है। किन्तु मैं अब नदी में स्नान करने के लिए जाऊँगा। सो अपने इस धनदेव नामक पुत्र को मेरे साथ स्नान के योग्य सामग्रियाँ देकर भेज दीजिए।' उसने भी चोरी लगने की आशङ्का से उससे भयभीत हो अपने पुत्र से कहा—'हे पुत्र! यह तुम्हारे चाचा नदी में नहाने के लिए जा रहे हैं सो तुम नहाने की सामग्री लेकर उनके साथ जाओ।' अहो! यह ठीक ही कहा है—

भय के निमित्त, प्रलोभन या कार्य-कारण (प्रयोजन) इन तीनों को छोड़ कर भक्ति से कोई मनुष्य किसी का प्रिय नहीं करता ॥ ४४५ ॥

और भी—जहाँ बिना किसी प्रयोजन के ही अत्यधिक आदर हो वहाँ निश्चय ही संशय करना चाहिए। क्योंकि इसका परिणाम अत्यधिक क्लेशदायी होता है ॥ ४४६ ॥

अथासौ वणिक्शिशुः स्नानोपकरणमादाय प्रहृष्टमनास्तेनाभ्यागतेन सह प्रस्थितः। तथाऽनुष्ठिते वणिक्स्नात्वा तं शिशुं नदीगुहायां प्रक्षिप्य तद्द्वारं बृहच्छिलयाऽऽच्छाद्य सत्वरं गृहमागतः पृष्टश्च तेन वणिजा— 'भो अभ्यागत, कथ्यतां कुत्र मे शिशुर्यस्त्वया सह नदीं गतः' इति। स आह—'नदीतटात्स श्येनेन हृतः' इति। श्रेष्ठ्याह—'मिथ्यावादिन्, किं क्वचिच्छ्येनो बालं हर्तुं शक्नोति। तत्समर्पय मे सुतम्। अन्यथा राजकुले निवेदयिष्यामि' इति। स आह—'भोः सत्यवादिन्, यथा श्येनो बालं न नयति तथा मूषका अपि सहस्रलोहभारघटितां तुलां न भक्षयन्ति। तदर्पय मे तुलाम्, यदि दारकेण प्रयोजनम्। एवं तौ विवदमानौ द्वावपि राजकुलं गतौ। तत्र श्रेष्ठी तारस्वरेण प्रोवाच—'भोः, अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम्। मम शिशुरनेन चौरेणापहृतः'। अथ धर्माधिकारिणस्तमूचुः—'भोः, समर्प्यतां श्रेष्ठिसुतः।' स आह—'किं करोमि। पश्यतो मे नदीतटाच्छ्येनेनापहृतः शिशुः।' तच्छ्रुत्वा ते प्रोचुः—'भोः, न सत्यमभिहितं भवता। किं श्येनः शिशुं हर्तुं समर्थो भवति।' स आह—'भोः भोः श्रूयतां मद्वचः।

इसके बाद वह सेठ का लड़का स्नान की सामग्री लेकर प्रसन्न-चित्त हो अतिथि के साथ चला गया। अभ्यागत बनिया स्नान कर के उस सेठ के लड़के को नदी के एक गुहा में रखकर और उसके द्वार को एक बड़ी शिला से ढँक कर अतिशीघ्र घर लौट आया। तब उस सेठ ने पूछा—'हे अभ्यागत! कहो, वह मेरा बालक कहाँ है जो तुम्हारे साथ नदी में स्नान करने के लिए गया था। उसने उत्तर दिया—'नदी के किनारे से उसे बाज उठा ले गया।' सेठ ने कहा—'अरे असत्यवादी! क्या कोई बाज भी लड़के को उठा ले जा सकता है। तुम मेरे पुत्र को समर्पण कर दो, नहीं तो राजकुल में जाकर निवेदन कर दूँगा।' वह बोला—'अरे सत्यवादी! जिस तरह बालक को बाज नहीं ले जा सकता, उसी तरह चूहे भी सहस्र पल की बनायी हुई तराजू को नहीं खा सकते। अतः यदि बालक का प्रयोजन है तो मेरी तराजू दे दो।' इस प्रकार दोनों वाद-विवाद करते हुए न्यायालय में चले गये। वहाँ सेठ ने ऊँचे स्वर से कहा—'हे धर्माधिकारियो! बड़ा अन्याय है, बड़ा अन्याय है। इस चोर ने मेरे पुत्र को चुरा लिया है!' तब धर्माधिकारियों ने उससे कहा—'अरे! सेठ के बालक को दे दो।' उसने कहा—'मैं क्या करूँ? मेरे देखते-देखते नदी के किनारे

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषकाः।
राजंस्तत्र हरेच्छ्येनो बालकं नात्र संशयः' ॥ ४४७ ॥

ते प्रोचुः—'कथमेतत् ।' ततः श्रेष्ठिः सभ्यानामग्रे आदितः सर्वं वृत्तान्तं निवेदयामास। ततस्तैर्विहस्य द्वावपि तौ परस्परं सम्बोध्य तुला-शिशुप्रदानेन सन्तोषितौ । अतोऽहं ब्रवीमि—'तुलां लोहसहस्रस्य' इति ।

तन्मूर्ख सञ्जीवकप्रसादमसहमानेन त्वयैतत्कृतम् । अहो, साध्विदमुच्यते—

प्रायेणात्र कुलान्वितं कुकुलजाः श्रीवल्लभं दुर्भगा
दातारं कृपणा ऋजूननृजवो वित्ते स्थितं निर्धनाः।
वैरूप्योपहताश्च कान्तवपुषं धर्माश्रयं पापिनो
नानाशास्त्रविचक्षणं च पुरुषं निन्दन्ति मूर्खाः सदा ॥ ४४८ ॥

तथा च—मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या निर्धनानां महाधनाः।
व्रतिनः पापशीलानामसतीनां कुलस्त्रियः ॥ ४४९ ॥

से लड़के को बाज उठाकर ले गया' यह सुनकर उन्होंने कहा—'अरे तुमने सत्य वचन नहीं कहा, क्या बाज लड़के को हरण करने में समर्थ हो सकता है ?' उसने कहा—'आप लोग मेरी बात तो सुनें ।

यदि सहस्र पल की बनी हुई तराजू को चूहे खा सकते हैं तो हे राजन् ! बाज लड़के को उठा ले जाय तो इसमें सन्देह करने की कौन-सी बात है ?' ॥४४७॥

उन्होंने पूछा—'यह अभियोग किस प्रकार का है ? तब सेठ ने सभासदों के आगे आरम्भ से सब समाचार को निवेदन कर दिया। उसके बाद वे सब हँसने लगे और उन दोनों को आपस में समझा-बुझाकर तराजू और बालक दिलवाकर सन्तुष्ट किया । इसी से मैं कहता हूँ—'हजार लौह भार की तराजू' इत्यादि ।

इसलिये हे नादान ! सञ्जीवक के राजकीय अनुग्रह को न सह सकने के निमित्त ही तुमने इस प्रकार कार्य किया । अहो ! उचित ही कहा है—

प्रायः उस संसार में नीच कुल में उत्पन्न लोग सत्कुलीन व्यक्ति की भाग्यरहित लोग भाग्यवान् की, कृपण लोग दाताओं की, कुटिल मनुष्य सीधे-साधे व्यक्ति की, निर्धन लोग धनियों की, कुरूप लोग सुन्दर स्वरूपवालों की, पापी लोग धार्मिकों की और मूर्ख लोग विविध शास्त्रों के विशेषज्ञ पुरुष की निन्दा सदा किया करते हैं ॥ ४४८ ॥

इसी प्रकार मूर्खों के लिए विद्वान्, धनहीनों के लिए धनी, पापियों के लिए तपस्वी और कुलटाओं के लिए कुलस्त्रियाँ निन्दा के पात्र हैं ॥ ४४९ ॥

तन्मूर्ख, त्वया हितमप्यहितं कृतम् । उक्तं च—

पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः ।
वानरेण हतो राजा विप्राश्चौरेण रक्षिताः ॥ ४५० ॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

कथा २२

'कस्यचिद्राज्ञो नित्यं वानरोऽतिभक्तिपरोऽङ्गसेवकोऽन्तःपुरेऽप्यप्रतिषिद्धप्रसरोऽतिविश्वासस्थानमभूत् । एकदा राज्ञो निद्रां गतस्य वानरे व्यजनं नीत्वा वायुं विदधति राज्ञो वक्षःस्थलोपरि मक्षिकोपविष्टा । व्यजनेन मुहुर्मुहुर्निषिध्यमानापि पुनःपुनस्तत्रैवोपविशति । ततस्तेन स्वभावचपलेन मूर्खेण वानरेण क्रुद्धेन सता तीक्ष्ण खड्गमादाय तस्या उपरि प्रहारो विहितः । ततो मक्षिकोड्डीय गता । तेन शितधारेणासिना राज्ञो वक्षो द्विधा जातं राजा मृतश्च । तस्माच्चिरायुरिच्छता नृपेण मूर्खोऽनुचरो न रक्षणीयः ।

अपरमेकस्मिन्नगरे कोऽपि विप्रो महाविद्वान्परं पूर्वजन्मयोगेन चौरो

सो हे मूर्ख ! तुमने हित को भी अनहित कर दिया । कहा भी है—

यदि विद्वान् अपना शत्रु भी हो तो अच्छा, किन्तु मूर्ख हितकारी भी हो तो वह ठीक नहीं । क्योंकि हितकारी वानर के द्वारा राजा मारा गया और चोर से ब्राह्मण के प्राण बचे ॥ ४५० ॥

दमनक ने पूछा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

किसी राजा के यहाँ अत्यन्त भक्त, शरीरपरिचारक, अन्तःपुर में बिना रोक टोक के जाने आनेवाला और राजा का अत्यधिक विश्वासपात्र एक बन्दर था । एक समय राजा के सो जाने पर बन्दर पंखा लेकर हवा झल रहा था कि राजा की छाती पर एक मक्खी बैठ गयी । पंखे से बारम्बार उड़ाने पर भी वह फिर भी वहीं आकर बैठ जाया करती थी । उसके बाद स्वभाव से चञ्चल तथा मूर्ख बन्दर ने क्रुद्ध होकर एक तीक्ष्ण खड्ग लेकर उसपर प्रहार कर दिया । तब मक्खी तो उड़ गयी, किन्तु उस तीक्ष्णधार वाली तलवार से राजा का उरःस्थल दो टुकड़ा हो गया और तदनन्तर राजा मर गया । अतः चिर आयु की अभिलाषा करनेवाले को चाहिए कि मूर्ख अनुचर न रखे ।

दूसरी कथा ऐसी है—किसी नगर में कोई बड़ा विद्वान् ब्राह्मण रहता

वर्तते। स तस्मिन्पुरेऽन्यदेशादागतांश्चतुरो विप्रान्बहूनि वस्तूनि विक्रीणतो दृष्ट्वा चिन्तितवान्—'अहो, केनोपायेनैषां धनं लभे।' इति विचिन्त्य तेषां पुरोऽनेकानि शास्त्रोक्तानि सुभाषितानि चातिप्रयाणि मधुराणि वचनानि जल्पता तेषां मनसि विश्वासमुत्पाद्य सेवा कर्तुमारब्धा। अथवा साध्विदमुच्यते—

असती भवति सलज्जा क्षारं नीरं च शीतलं भवति।
दम्भी भवति विवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्तजनः॥ ४५१॥

अथ तस्मिन् सेवां कुर्वति तैर्विप्रैः सर्ववस्तूनि विक्रीय बहुमूल्यानि रत्नानि क्रीतानि। ततस्तानि जङ्घामध्ये तत्समक्षं प्रक्षिप्य स्वदेशं प्रति गन्तुमुद्यमो विहितः। ततः स धूर्तविप्रस्तान्विप्रान्गन्तुमुद्यतान्प्रेक्ष्य चिन्ताव्याकुलितमनाः सञ्जातः—'अहो, धनमेतन्न किञ्चिन्मम चटितम्। अथैभिः सह यामि। पथि क्वापि विषं दत्त्वैतान्निहत्य सर्वरत्नानि गृह्णामि।' इति विचिन्त्य तेषामग्रे सकरुणं विलप्येदमाह—'भो मित्राणि, यूयं मामेकाकिनं मुक्त्वा गन्तुमुद्यताः। तन्मे मनो भवद्भिः सह स्नेह-

---

था, जो पहले जन्म के संस्कार के कारण चोर बन गया था। उसने उस नगर में दूसरे देशों से आए हुए चार ब्राह्मणों को बहुत सी वस्तुएँ बेचते हुए देखकर विचार किया—अहो! किस उपाय से इनका धन मैं ले लूँ? 'इस प्रकार विचार कर उन (ब्राह्मणों) के सामने अनेक शास्त्र में कहे हुए सुभाषितपूर्ण अतिशय प्रिय मधुर वचन को कहकर उसके मन में विश्वास उत्पन्न कर दिया और उनकी सेवा करना भी प्रारम्भ कर दिया। अथवा यह ठीक ही कहा है—

कुलटा स्त्री बनावटी लाज करती है, खारा पानी ठंडा होता है, दम्भी ज्ञानी होते हैं, और धूर्त्त मनुष्य ही मनोहर बात करनेवाला होता है॥ ४५१॥

तदनन्तर उसके सेवा करने पर उन ब्राह्मणों ने सब वस्तुओं को बेचकर बहुमूल्य रत्न खरीदे और उस धूर्त्त ब्राह्मण के सामने ही उन रत्नों को जंघा में रखकर अपने देश के प्रति जाने लिए उद्यत हुए। तब वह धूर्त्त उन ब्राह्मणों को जाने के लिए तैयार देखकर मन में बहुत चिन्तित तथा व्यग्र हुआ—'अहो! यह धन कुछ भी मेरे हाथ नहीं लगा। सो अब मैं इनके साथ जाकर रास्ते में कहीं विष दे इन्हें मार कर सब रत्नों को अपने हाथ में ले लूँ।' इस प्रकार विचार कर उनके आगे करुणापूर्वक विलाप करता हुआ उसने ऐसा कहा—'ओ मित्रो! आप लोग मुझे अकेले छोड़कर जाने के लिए उद्यत हो

पाशेन बद्धं भवद्भिरहनाम्नैवाकुलं सञ्जातं यथा धृतिं क्वापि न धत्ते। यूयमनुग्रहं विधाय सहायभूतं मामपि सहैव नयत।' तद्वचः श्रुत्वा ते करुणार्द्रचित्तास्तेन सममेव स्वदेशं प्रति प्रस्थिताः। अथाध्वनि तेषां पञ्चानामपि पल्लीपुरमध्ये व्रजतां ध्वाङ्क्षाः कथयितुमारब्धाः—'रे किराताः, धावत धावत। सपादलक्षधनिनो यान्ति। एतान्निहत्य धनं नयत।' ततः किरातैर्ध्वाङ्क्षवचनमाकर्ण्य सत्वरं गत्वा ते विप्रा लगुड-प्रहारैर्जर्जरीकृत्य वस्त्राणि मोचयित्वा विलोकिताः। परं धनं किञ्चिन्न लब्धम्। तदा तैः किरातैरभिहितम्—'भोः पान्थाः, पुरा कदापि ध्वाङ्क्षवचनमनृतं नासीत्। ततो भवतां सन्निधौ क्वापि धनं विद्यते। तदर्पयत। अन्यथा सर्वेषामपि वधं विधाय चर्म विदार्य प्रत्यङ्गं प्रेक्ष्य धनं नेष्यामः।' तदा तेषामीदृशं वचनमाकर्ण्य चौरविप्रेण मनसि चिन्तितम्—'यदेषां विप्राणां वधं विधायाङ्गं विलोक्य रत्नानि नेष्यन्ति, तदापि मां वधिष्यन्ति। ततोऽहं पूर्वमेवात्मानमरत्नं समर्प्यैतान्मुञ्चामि। उक्तं च—

गए हैं। सो मेरा मन आप लोगों के स्नेह-पाश में बँधा होने के कारण आपके वियोग नाम ही से सन्तप्त हो गया है जिससे मैं किसी प्रकार धैर्य नहीं धारण कर सकता। आप लोग दया कर मुझे सहयोगी समझ कर अपने साथ ले चलिए।' उसके वचन सुनकर उन्होंने करुणा से आर्द्रचित्त होकर उसको साथ में लेकर अपने देश की ओर प्रस्थान किया। तब रास्ते में पल्लीपुर जाते हुए उन पाँचों को देखकर कौओं ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—'अरे अरे! भीलो! दौड़ो, दौड़ो, सवालाख के धनी जा रहे हैं। इनको मार कर सब छीन लो।' उसके बाद भीलों ने डण्डों की मार से उन्हें जर्जर कर कपड़े उतार कर देखा। किन्तु कुछ भी धन न मिला। तब उन भीलों ने कहा—'ओ मुसाफिरो! पहले कभी भी कौओं के वचन झूठ नहीं हुए थे। इसलिए तुम लोगों के निकट जो धन हो उसे रख दो। नहीं तो सबको मार कर चमड़ा फाड़कर समस्त अङ्गों को देखकर हम लोग धन ले लेंगे।' तब उसकी इस तरह की बात को सुनकर धूर्त्त ब्राह्मण ने मन में विचार किया कि 'यदि इन ब्राह्मणों को मार कर और शरीर फाड़कर रत्नों को ले लेंगे, तो उसके पीछे मुझे भी मार डालेंगे। सो मैं ही पहिले रत्नरहित शरीर को समर्पित कर इन ब्राह्मणों को छुड़ा दूँ। कहा भी है—

मृत्योर्बिभेषि किं बाल न स भीतं विमुञ्चति।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ ४५२ ॥

तथा च—गवार्थे ब्राह्मणार्थे च प्राणत्यागं करोति यः।
सूर्यस्य मण्डलं भित्त्वा स याति परमां गतिम् ॥ ४५३ ॥

इति निश्चित्याभिहितम्—'भोः किराताः, यद्येवं ततो मां पूर्वं निहत्य विलोकयत।' ततस्तैस्तथाऽनुष्ठिते तं धनरहितमवलोक्यापरे चत्वारोऽपि मुक्ताः। अतोऽहं ब्रवीमि—'पण्डितोऽपि वरं शत्रुः' इति।

अथैवं संवदतोस्तयोः सञ्जीवकः क्षणमेकं पिङ्गलकेन सह युद्धं कृत्वा तस्य खरनखरप्रहाराभिहतो गतासुर्वसुन्धरापीठे निपपात। अथ तं गतासुमवलोक्य पिङ्गलकस्तद्गुणस्मरणार्द्रहृदयः प्रोवाच—'भोः, अयुक्तं मया पापेन कृतं सञ्जीवकं व्यापादयता। यतो विश्वासघातादान्यन्नास्ति पापतरं कर्म। उक्तं च—

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः।
ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ४५४ ॥

अरे नादान! तू मृत्यु से क्यों डरता है? वह डरे हुए लोगों को नहीं छोड़ती, क्योंकि आज या सौ वर्ष में प्राणियों की मृत्यु होती तो अवश्य है ॥ ४५२ ॥

और भी—जो पुरुष गौ और ब्राह्मणों की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों को छोड़ देता है, वह सूर्यमण्डल को भेदन कर परम गति को प्राप्त करता है ॥४५३॥

इस प्रकार निश्चय कर उसने कहा—'हे भीलो! यदि ऐसी बात है तो मुझे पहले मार कर देख लो।' तब उन्होंने वैसा ही करके उसे धनहीन देखकर अवशिष्ट चारों को भी छोड़ दिया, इसीलिए मैं कहता हूँ—'विद्वान् शत्रु भी अच्छा है···'इत्यादि।

तदनन्तर वे दोनों ऐसा कह ही रहे थे कि संजीवक एक क्षण तक पिङ्गलक के साथ युद्ध कर उसके तीक्ष्ण नख के प्रहार से आहत हो गया और प्राणहीन होकर भूतल पर गिर पड़ा। तब उसे मरा हुआ देखकर पिङ्गलक उसके गुणों को स्मरण कर आर्द्र हृदय होकर कहने लगा—'अहो! संजीवक को मार कर मैंने बहुत बड़ा पाप-कर्म किया। क्योंकि विश्वासघात से बढ़कर और कोई दूसरा अनुचित कर्म नहीं है। कहा भी है—

जो मित्र द्रोही, कृतघ्न और विश्वासघात करने वाले हैं, वे मनुष्य जब तक सूर्य और चन्द्र विद्यमान हैं तब तक नरक में जाकर पड़े रहते हैं ॥ ४५४ ॥

भूमिक्षये राजविनाश एव भृत्यस्य वा बुद्धिमतो विनाशे।
नो युक्तमुक्तं ह्यनयोः समत्वं नष्टापि भूमिः सुलभा न भृत्याः ॥

तथा मया सभामध्ये स सदैव प्रशंसितः। तत्किं कथयिष्यामि तेषामग्रतः। उक्तं च—

उक्तो भवति यः पूर्वं गुणवानिति संसदि।
न तस्य दोषो वक्तव्यः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ॥ ४५६ ॥

एवंविधं प्रलपन्तं दमनकः समेत्य सहर्षमिदमाह—'देव, कातरतमस्तवैष न्यायो यद्द्रोहकारिणं शष्पभुजं हत्वेत्थं शोचसि। तन्नैतदुपपन्नं भूभुजाम्। उक्तं च—

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो भार्याऽथवा सुहृत्।
प्राणद्रोहं यदा गच्छेद्धन्तव्यो नास्ति पातकम् ॥ ४५७ ॥

तथा च—राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षी स्त्री चात्रपा दुष्टमतिः सहायः।
प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी त्याज्या अमी यश्च कृतं न वेत्ति ॥ ४५८ ॥

भूमि (राज्य) चले जाने पर तथा बुद्धिमान् सेवक के विनाश होने पर राजा का नाश होता है। परन्तु इन दोनों को समान कहना उचित नहीं क्योंकि गया हुआ राज्य फिर से प्राप्त हो सकता है, किन्तु अच्छे अनुचर फिर नहीं मिल सकते ॥ ४५५ ॥

और मैं भी उसकी सभा में हर समय प्रशंसा ही किया करता था। तो अब उन लोगों के सामने मैं क्या कहूँगा। कहा भी है—

यदि कोई किसी के लिए सभा में पहले यह कह दे कि 'यह गुणवान् है' तो पुनः अपने पहले वचन को झूठ होने के सन्देह से बाद में उसके दोष को नहीं कहे।

दमनक ने इस तरह विलाप करते हुए पिङ्गलक के निकट जाकर प्रसन्न चित्त होकर कहा—'महाराज ! आपकी यह नीति कातरतम है जो द्रोह करने वाले तृण-भक्षी बैल को मारकर इस तरह सोच कर रहे हैं, सो राजाओं के लिए यह न्यायसङ्गत नहीं है। कहा भी है—

चाहे पिता, भाई, पुत्र, स्त्री या मित्र हो, इनमें से कोई भी यदि प्राण लेने की अभिलाषा करे तो उसे मार डालना चाहिए। इसमें कोई पाप नहीं लगता ॥ ४५७ ॥

और भी—घृणी (दयालु) राजा, सर्व-भक्षी ब्राह्मण, निर्लज्ज स्त्री, नीच

अपि च—सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
भूरिव्यथा प्रचुरवित्तसमागमा च
वेश्याङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ४५९ ॥

अपि च—अकृतोपद्रवः कश्चिन्महानपि न पूज्यते।
पूजयन्ति नरा नागान्न तार्क्ष्यं नागघातिनम् ॥ ४६० ॥

तथा च—अशोच्यानन्वशोचँस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ४६१ ॥

एवं तेन सम्बोधितः पिङ्गलकः सञ्जीवकशोकं त्यक्त्वा दमनकसाचिव्येन राज्यमकरोत्।

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रभेदो नाम प्रथमं तन्त्रम्।

बुद्धिवाला सहायक, प्रतिकूल आचरण करनेवाला अनुचर, प्रमादी अध्यक्ष, और जो किए हुए उपकार को नहीं समझता ये सब त्याग देने योग्य हैं ॥ ४५८ ॥

और भी—जिस तरह वेश्या विविध प्रकार का रूप धारण करती है—सत्य के तुल्य प्रतीत होने पर यथार्थ में असत्य भाषिणी होती है, मधुर भाषिणी होने पर भी कठोर होती है, दयामयी होने पर भी हिंसा से पूर्ण होती है, धन की लोभी होने पर भी उदार प्रतीत होती है, बहुत धन खींचने पर भी बहुत खर्च करनेवाली प्रतीत होती है। उसी तरह राजा की नीति भी बहुरूपिणी होती है ॥ ४५९ ॥

और भी—बिना उपद्रव किए कोई बड़ा मनुष्य भी पूजित नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्य सर्पों की पूजा करते हैं; किन्तु सर्पघाती गरुड़ की पूजा नहीं करते ॥ ४६० ॥

उसी प्रकार जिनका सोच नहीं करना चाहिए उसी के लिए तुम सोच कर रहे हो बुद्धिमानों के समान वचन बोल रहे हो? क्योंकि जो विद्वान् होते हैं वे मरने और जीनेवालों के लिए सोच नहीं करते ॥ ४६१ ॥

इस तरह उसके समझाने पर पिङ्गलक सञ्जीवक के शोक को छोड़कर, दमनक के मन्त्रित्व से राज्य करने लगा।

इस प्रकार पञ्चतन्त्र के मित्रभेद नामक प्रथमतन्त्र का
भाषानुवाद समाप्त हुआ।

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१७

श्रीविष्णुशर्मप्रणीतं

पञ्चतन्त्रम्

मित्रसम्प्राप्ति (द्वितीयतन्त्र)

टीकाकारौ

स्व० गोकुलदास गुप्त बी० ए०

एवं

डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

सम्पादकः

पं० रामचन्द्र झा व्याकरणाचार्यः

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

पुनर्मुद्रित संस्करण

१९८८

मूल्य ७-५०

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ५५३५७

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

पोस्ट बाक्स नं० २११३

३८ यू. ए., जवाहर नगर, बंगलो रोड,

दिल्ली-११०००७

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

॥ श्रीः ॥

पञ्चतन्त्रम्

अथ मित्रसम्प्राप्तिः

(द्वितीयं तन्त्रम्)

अथेदमारभ्यते मित्रसम्प्राप्तिर्नाम द्वितीयं तन्त्रम् । यस्यायमाद्यः श्लोकः—

मित्रसम्प्राप्ति नामक द्वितीय तन्त्र प्रारम्भ किया जाता है, जिसका यह प्रथम श्लोक है—

असाधना अपि प्राज्ञा बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ।
साधयन्त्याशु कार्याणि काकाखुमृगकूर्मवत् ॥ १ ॥

संसार-व्यवहार में निपुण, बुद्धिमान् पुरुष साधनरहित होने पर भी, कौवे, मृग, चूहे और कछुवे के समान अपने कार्य शीघ्र ही सिद्ध कर लेते हैं ॥ १ ॥

तद्यथानुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य नातिदूरस्थो महोच्छ्रायवान्नानाविहङ्गोपभुक्तफलः कीटैरावृतकोटरश्छायाश्वासितपथिकजनसमूहो न्यग्रोधपादपो महान् ।

सुना जाता है कि दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का एक नगर है । उसके समीप ही बड़ा ऊंचा एक विशाल वटवृक्ष है । उसके फलों को सैकड़ों पक्षी काम में लाते हैं, कीड़ों से खोखले भरे हुए हैं और वह अपनी छाया से राहगीरों को आराम पहुँचाता है ।

अथवा युक्तम्—

छायासुप्तमृगः शकुन्तनिवहैर्विष्वग्विलुप्तच्छदः
कीटैरावृतकोटरः कपिकुलैः स्कन्धे कृतप्रश्रयः ।

विश्रब्धं मधुपैर्निपीतकुसुमः श्लाघ्यः स एव द्रुमः
सर्वाङ्गैर्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूभारभूतोऽपरः ॥ २ ॥

यह ठीक ही है—

जिसकी छाया में मृग-गण सोते हों, जिसके पत्ते पक्षिसमूहों द्वारा चारों ओर से ढंके हों, जिसके कोटर कीड़ों से भरे हों, जिसकी शाखाओं पर बन्दर बैठे हों, जिसका पुष्प-रस भौंरे निःशंक होकर पी रहे हों और जो अपने सम्पूर्ण अंगों से बहुतेरे जीवों को सुख दे रहा हो, वह वृक्ष श्लाघनीय होता है। इसके अतिरिक्त सभी वृक्ष पृथिवी के भारभूत होते हैं ॥ २ ॥

तत्र च लघुपतनको नाम वायसः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्प्राण-यात्रार्थं पुरमुद्दिश्य प्रचलितो यावत्पश्यति, तावज्जालहस्तोऽतिकृष्ण-तनुः स्फुटितचरण ऊर्ध्वकेशो यमकिंकराकारो नरः संमुखो बभूव। अथ तं दृष्ट्वा शङ्कितमना व्यचिन्तयत्—'यदयं दुरात्माऽद्य ममाश्रयवट-पादपसम्मुखोऽभ्येति। तन्न ज्ञायते किमद्य वटवासिनां विहङ्गमानां संक्षयो भविष्यति न वा।' एवं बहुविधं विचिन्त्य तत्क्षणान्निवृत्य तमेव वटपादपं गत्वा सर्वान्विहङ्गमान्प्रोवाच—'भोः! अयं दुरात्मा लुब्धको जालतण्डुलहस्तः समभ्येति। तत्सर्वथा तस्य न विश्वसनीयम्। एष जालं प्रसार्य तण्डुलान्प्रक्षेप्स्यति। ते तण्डुला भवद्भिः सर्वैरपि काल-कूटसदृशा द्रष्टव्याः।' एवं वदतस्तस्य स लुब्धकस्तत्र वटतल आगत्य जालं प्रसार्य सिन्दुवारसदृशांस्तण्डुलान्प्रक्षिप्य नातिदूरं गत्वा निभृतः स्थितः। अथ ये पक्षिणस्तत्र स्थितास्ते लघुपतनकवाक्यार्गलया निवा-रितास्तांस्तण्डुलान्हालाहलाङ्कुरानिव वीक्षमाणा निभृतास्तस्थुः। अत्रान्तरे चित्रग्रीवो नाम कपोतराजः सहस्रपरिवारः प्राणयात्रार्थं परिभ्रमँस्तांस्तण्डुलान्दूरतोऽपि पश्यल्लघुपतनकेन निवार्यमाणोऽपि जिह्वालौल्याद्भक्षणार्थमपतत्। सपरिवारो निबद्धश्च। अथवा साध्विदमुच्यते—

उस वृक्ष पर लघुपतनक नाम का एक कौवा रहता था। एक समय वह भोजन की तलाश में शहर की ओर चला कि उसी समय हाथ में जाल लिये हुए, अत्यन्त काले शरीर वाला, कटे पैर वाला, जिसके बाल ऊपर को खड़े हुए थे, (वेणीरूप में बँधे हुए बालवाला), यमदूत के समान भयंकर एक मनुष्य उसके सामने आता हुआ दिखाई दिया। उसको देखकर, भयभीत हो सोचने लगा कि—यह दुष्ट, आज मेरे निवासस्थान वट-वृक्ष के तरफ आ रहा है।

इससे समझ में नहीं आता है कि आज वट पर रहने वाले पक्षियों का नाश तो न हो जायगा ? इस तरह बहुत प्रकार से सोचकर, उसी समय लौटकर, उसी वट वृक्ष के पास पहुँच सब पक्षियों से बोला—'हे पक्षियो ! यह दुष्ट व्याध (शिकारी) हाथ में जाल और चावल लिये हुए आ रहा है । इसपर बिलकुल विश्वास न करना । यह जाल फैलाकर चावल बिखेरेगा । उन चावलों को आप लोग हालाहल विष के समान समझें ।' जब वह ऐसा कह ही रहा था कि उसी समय वह शिकारी वट के नीचे पहुँच कर, जाल फैला कर और सिन्दुवार के फूलों के समान चावल बिखेर कर कुछ ही दूर जाकर छिप कर बैठ गया । उस वृक्ष पर रहने वाले पक्षी लघुपतनक की वाक्यरूपी अर्गला से रोके जाकर, उन चावलों को हालाहल के अङ्कुरों के समान समझते हुए चुपचाप बैठे रहे । इसी समय चित्रग्रीव नामक कबूतरों का राजा साथ में हजारों कबूतर लिये हुए भोजन की तलाश में घूमता हुआ (वहाँ आया) उन चावलों को दूर से ही देखकर लघुपतनक के रोकने पर भी जिह्वा की चपलता से खाने के लिये उनपर उतर पड़ा और परिवार सहित जाल में फँस गया । अथवा, यह ठीक ही कहा है—

जिह्वालौल्यप्रसक्तानां जलमध्यनिवासिनाम् ।
अचिन्तितो वधोऽज्ञानां मीनानामिव जायते ॥ ३ ॥

जीभ की चपलता से फँसी हुई, जल के बीच में रहने वाली मछलियों के समान मूर्ख पुरुषों को अचानक मृत्यु उपस्थित हो जाती है ॥ ३ ॥

अथवा दैवप्रतिकूलतया भवत्येवम् । न तस्य दोषोऽस्ति । उक्तं च–

अथवा भाग्य की प्रतिकूलता से यह सब होता है । उसका दोष नहीं है । कहा भी है—

पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवान्
रामेणापि कथं न हेमहरिणस्यासंभवो लक्षितः ।
अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थः कथं
प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ॥ ४ ॥

रावण ने दूसरे की स्त्री को हरण करने में क्यों न बुराई समझी, राम ने भी सोने के हिरन की असम्भवता क्यों न समझी, युधिष्ठिर ने भी जुआ खेलकर अकस्मात् वनवास रूप अनर्थ क्यों पाया । (भविष्य में) शीघ्र आने वाली विपत्ति से जिनका मन भ्रान्त हो गया है ऐसे पुरुषों की बुद्धि प्रायः नष्ट हो जाती है ॥ ४ ॥

तथा च—

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम् ।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥ ५ ॥

और देखो—यम के पास में बँधे हुए और दैव ने जिनका विवेक नष्ट कर दिया है ऐसे महापुरुषों की भी बुद्धियाँ कुमार्ग में प्रवृत्त हो जाती हैं ॥ ५ ॥

अत्रान्तरे लुब्धकस्तान् बद्धान्विज्ञाय प्रहृष्टमनाः प्रोद्यतयष्टिस्तद्वधार्थं प्रधावितः । चित्रग्रीवोऽप्यात्मानं सपरिवारं बद्धं मत्वा लुब्धकमायान्तं दृष्ट्वा तान्कपोतानूचे—'अहो, न भेतव्यम् । उक्तं च—

तब शिकारी, उनको बँधा हुआ समझकर प्रसन्न मन से लट्ठ उठा कर उनको मारने के लिये दौड़ा । चित्रग्रीव ने परिवार सहित अपने को बँधा हुआ समझ तथा शिकारी को आता हुआ देखकर उन कबूतरों से कहा—डरना नहीं चाहिए । कहा भी है—

व्यसनेष्वेव सर्वेषु यस्य बुद्धिर्न हीयते ।
स तेषां पारमभ्येति तत्प्रभावादसंशयम् ॥ ६ ॥

जिस पुरुष की बुद्धि सब तरह की विपत्तियाँ उपस्थित होने पर भी भ्रष्ट नहीं होती, वह पुरुष उस बुद्धि के प्रभाव से उन व्यसनों को पार कर जाता है ॥ ६ ॥

सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।
उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा ॥ ७ ॥

संपत्ति और विपत्ति के समय महान् पुरुष समान भाव से रहते हैं । जैसे कि सूर्य उदय और अस्त दोनों समय रक्तवर्ण रहता है ॥ ७ ॥

तत्सर्वे वयं हेलयोड्डीय सपाशजाला अस्यादर्शनं गत्वा मुक्तिं प्राप्नुमः । नो चेद्भयविक्लवाः सन्तो हेलया समुत्पात न करिष्यथ । ततो मृत्युमवाप्स्यथ । उक्त च—

इसलिये हम सब इस जाल के सहित आसानी से उड़ जावें और इसकी आँखों से परे होकर छुटकारा पावें; नहीं तो डर से घबड़ाकर यदि न उड़ेंगे तो मृत्यु को प्राप्त होंगे । कहा भी है—

तन्तवोऽप्यायता नित्यं तन्तवो बहुलाः समाः ।
बहून्बहुत्वादायासान्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ८ ॥

तन्तु सूक्ष्म (पतले) और लम्बे होने पर भी यदि बहुत और बराबर हों, तो. वे बहुत होने के कारण बहुत से झटकों (अथवा बोझ) को सह लेते हैं; यही सज्जनों के लिए दृष्टान्त है, अर्थात् अच्छे मनुष्य निर्बल होने पर भी यदि दूसरों के साथ मिलकर काम करें तो क्लेशों को पारकर सफलता प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥

तथाऽनुष्ठिते लुब्धको जालमादायाकाशे गच्छतां तेषां पृष्ठतो भूमिस्थोऽपि पर्यधावत् । तत ऊर्ध्वाननः श्लोकमेनमपठत्—

ऐसा करने पर (जाल लेकर उड़ जाने पर) शिकारी जमीन पर ही जाल लेकर आकाश में उड़ते हुए उन पक्षियों के पीछे दौड़ा । तब ऊपर—आकाश की ओर मुख करके यह श्लोक पढ़ने लगा—

जालमादाय गच्छन्ति संहताः पक्षिणोऽप्यमी ।
यावच्च विवदिष्यन्ते पतिष्यन्ति न संशयः ॥ ९ ॥

ये पक्षी केवल मिले होने के कारण जाल लेकर चले जा रहे हैं । इसमें सन्देह नहीं कि जब ये आपस में झगड़ा करेंगे तब गिरेंगे ॥ ९ ॥

लघुपतनकोऽपि प्राणयात्राक्रियां त्यक्त्वा किमत्र भविष्यतीति कुतूहलात्तत्पृष्ठतोऽनुसरति । अथ दृष्टेरगोचरतां गतान्विज्ञाय लुब्धको निराशः श्लोकमपठन्निवृत्तश्च ।—

लघुपतनक भी भोजन की तलाश छोड़कर 'देखें इसमें अब क्या होता है', इस कुतूहल से उनके पीछे-पीछे जाने लगा । अनन्तर शिकारी उनको अदृश्य जानकर निराश हो गया और यह श्लोक पढ़ता हुआ लौट गया ।—

नहि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति ॥ १० ॥

जो नहीं होना है वह कभी नहीं होगा और होनहार बिना यत्न के भी होकर ही रहेगा । जिस वस्तु का होना (भाग्य में) नहीं बदा है वह हाथ में आने पर भी नष्ट हो जाती है ॥ १० ॥

तथा च—

पराङ्मुखे विधौ चेत्स्यात्कथंचिद्द्रविणोदयः ।
तत्सोऽन्यदपि संगृह्य याति शङ्खनिधिर्यथा ॥ ११ ॥

भाग्य के प्रतिकूल होने पर, यदि किसी प्रकार कुछ धन मिल भी जाय तो वह पूर्वसंचित को भी लेकर शङ्खनिधि के समान नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

तदास्तां तावद्विहङ्गामिषलोभो यावत्कुटुम्बवर्तनोपायभूतं जाल-मपि मे नष्टम् । चित्रग्रीवोऽपि लुब्धकमदर्शनीभूतं ज्ञात्वा तानुवाच—'भोः, निवृत्तः स दुरात्मा लुब्धकः । तत्सर्वैरपि स्वस्थैर्गम्यतां महिला-रोप्यस्य प्रागुत्तरदिग्भागे । तत्र मम सुहृद्धिरण्यको नाम मूषकः सर्वेषां पाशच्छेदं करिष्यति । उक्तं च—

पक्षियों के मांस की प्राप्ति तो जाने दो (कैसा दुर्भाग्य है कि) मेरे कुटुम्ब के पालन का साधन मेरा जाल भी जाता रहा है । चित्रग्रीव ने शिकारी को पीछे छूटा जानकर उन कबूतरों से कहा—वह दुष्ट व्याध लौट गया, इसलिए सब निडर होकर महिलारोप्य नगर के पूर्वोत्तर दिशा में चलो । वहाँ मेरा मित्र हिरण्यक नाम का चूहा रहता है । वह सबके बन्धन काट देगा । कहा भी है—

सर्वेषामेव मर्त्यानां व्यसने समुपस्थिते ।
वाङ्मात्रेणापि साहाय्यं मित्रादन्यो न संदधे ॥ १२ ॥

सभी मनुष्यों को व्यसन–विपत्ति पढ़ने पर, मित्र के सिवाय कोई दूसरा मनुष्य वाणीमात्र से भी सहायता नहीं करता ॥ १२ ॥

एवं ते कपोताश्चित्रग्रीवेण संबोधिता महिलारोप्ये नगरे हिरण्यक-बिलदुर्गं प्रापुः । हिरण्यकोऽपि सहस्रमुखबिलदुर्गं प्रविष्टः सन्नकुतो-भयः सुखेनास्ते । अथवा साध्विदमुच्यते—

चित्रग्रीव के इस प्रकार कहने पर वे कबूतर महिलारोप्य नगर में हिरण्यक के बिल के पास पहुँचे । वहाँ हिरण्यक हजार मुखवाले बिलरूपी दुर्ग में प्रविष्ट हुआ सब तरह से निर्भय हो सुख से रहता था । ठीक ही कहा है—

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः ।
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः ॥ १३ ॥

जिस प्रकार दाँतरहित साँप और मदरहित हाथी सबके वश में हो जाता है वैसे ही दुर्गरहित राजा सबके वश में हो जाता है ॥ १३ ॥

तथा च—

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम् ।
तत्कर्म सिध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन यद्रणे ॥ १४ ॥

और भी—युद्ध में राजाओं का एक किले से जो काम निकलता है वह हजार हाथियों और लाखों घोड़ों से भी नहीं सिद्ध हो सकता ॥ १४ ॥

शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
तस्माद्दुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविदो जनाः ।। १५ ।।

किले की दीवार पर खड़ा हुआ अकेला धनुर्धारी सैकड़ों के साथ युद्ध कर सकता है । इसलिए नीतिशास्त्रवेत्ता पुरुष किले को अच्छा समझते हैं ।।१५।।

अथ चित्रग्रीवो बिलमासाद्य तारस्वरेण प्रोवाच—'भो भो मित्र हिरण्यक, सत्वरमागच्छ । महती मे व्यसनावस्था वर्तते' । तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि बिलदुर्गान्तर्गतः सन्प्रोवाच—'भोः, को भवान् । किमर्थमायातः । किं कारणम् । कीदृक्ते व्यसनावस्थानाम् । तत्कथ्यताम्' इति । तच्छ्रुत्वा चित्रग्रीव आह—'भोः, चित्रग्रीवो नाम कपोतराजोऽहं ते सुहृत् । तत्सत्वरमागच्छ । गुरुतरं प्रयोजनमस्ति ।' तदाकर्ण्य पुलकिततनुः प्रहृष्टात्मा स्थिरमनास्त्वरमाणो निष्क्रान्तः ।

अथवा साध्विदमुच्यते—

चित्रगीव ने बिल के पास पहुँच कर जोर से पुकारा—हे मित्र हिरण्यक ! जल्दी आओ । मैं बड़ी विपत्ति में पड़ा हूँ । यह सुनकर हिरण्यक बिलरूपी किले के अन्दर से ही बोला—'आप कौन हैं ? क्यों आये हैं ? क्या कारण है ? आपकी विपत्ति कैसी है ? (उसका स्वरूप क्या है ?) यह सब बताइये ।' यह सुनकर चित्रगीव ने कहा—'हे (मूषक) ! कबूतरों का राजा, तेरा मित्र, मैं चित्रग्रीव हूँ । इसलिये जल्दी आओ । बड़ा भारी काम है ।' यह सुन कर हिरण्यक के (आनन्द से) रोम खड़े हो गये और वह प्रसन्न चित्त होकर निर्भय मन से जल्दी-जल्दी बाहर निकाला । ठीक ही कहा है—

सुहृदः स्नेहसम्पन्ना लोचनानन्ददायिनः ।
गृहे गृहवतां नित्यं नागच्छन्ति महात्मनाम् ।। १६ ।।

स्नेहपूर्ण, नेत्रोंको आनन्द देने वाले (जिनको देखकर नेत्रों को आनन्द प्राप्त हो) मित्र गृहस्थ पुरुषों के घर सर्वदा नहीं आते ।। १६ ।।

आदित्यस्योदयं तात ताम्बूलं भारती कथा ।
इष्टा भार्या सुमित्रं च अपूर्वाणि दिने दिने ।। १७ ।।

सूर्योदय, पान का बीड़ा, महाभारत की कथा, पतिव्रता पत्नी और सच्चा मित्र ये सब नित्य नया सुख देने वाले होते हैं ।। १७ ।।

सुहृदो भवने यस्य समागच्छन्ति नित्यशः ।
चित्ते च तस्य सौख्यस्य न किञ्चित्प्रतिमं सुखम् ।। १८ ।।

जिस पुरुष के घर मित्र नित्य ही आते रहते हैं उसके चित्त में जो सुख होता है वह स्वर्ग में भी नहीं मिल सकता ।। १८ ।।

अथ चित्रग्रीवं सपरिवारं पाशबद्धमालोक्य हिरण्यकः सविषादमिदमाह—'भोः, किमेतत् ।' स आह—भोः, जानन्नपि किं पृच्छसि । उक्तं च यतः—

अनन्तर चित्रगीव को परिवारसहित बँधा हुआ देखकर हिरण्यक दुःखपूर्वक बोला—'यह क्या (हालत) है !' वह बोला—जानते हुए भी क्यों पूछते हो ? क्योंकि कहा भी है—

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तदा च तथा च तच्च
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति ।। १९ ।।

भाग्यवश पुरुष (पूर्वजन्म में किये हुए) अपने अच्छे या बुरे कर्मों का उसी स्थान से, उसी कारण से, उसी समय, उसी प्रकार, वही और उतना ही फल पाता है, जिस स्थान से, जिस कारण से, जिस समय, जिस प्रकार जो और जितना उसे प्राप्त है ।। १९ ।।

तत्प्राप्तं मयैतद्बन्धनं जिह्वालौल्यात् । साम्प्रतं त्वं सत्वरं पाशविमोक्षं कुरु । तदाकर्ण्य हिरण्यकः प्राहः—

इसलिये मैंने जिह्वा की चपलता से यह बन्धन पाया, अब तुम जल्दी बन्धन से छुड़ाओ । यह सुनकर हिरण्यक बोला—

'अर्धार्धाद्योजनशतादामिषं वीक्षते खगः ।
सोऽपि पार्श्वस्थितं दैवाद्बन्धनं न च पश्यति ।। २० ।।

पक्षी ५०–५० योजन से अपनी भोग्य वस्तु को देख लेता है, लेकिन दुर्भाग्य से वही पक्षी पास में स्थित बन्धन को नहीं देख पाता ।। २० ।।

तथा च—

रविनिशाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनम् ।
मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ।।२१।।

और भी—सूर्य और चन्द्रमा के राहु से ग्रसे जाने; हाथी, साँप और पक्षियों के बन्धन और बुद्धिमानों की दरिद्रता देखकर मेरा विचार होता है कि भाग्य अत्यन्त बलवान् है । यह बड़े आश्चर्य की बात है ।। २१ ।।

तथा च—

व्योमैकान्तविचारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मीनाः समुद्रादपि ।
दुर्नीतं किमिहास्ति किं च सुकृतं कः स्थानलाभे गुणः
कालः सर्वजनान्प्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥२२॥

और भी—आकाश के एक हिस्से में उड़नेवाले भी पक्षी विपद को प्राप्त होते हैं, निपुण मनुष्यों द्वारा अथाह समुद्र से भी मछलियाँ पकड़ ली जाती हैं। इस संसार में पाप और पुण्य क्या है? गौरवान्वित पदवी (अथवा उत्तम स्थान) पाने से ही क्या लाभ? काल हाथ फैलाकर सर्व प्राणियों को दूर से ही खींच लेता है ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वा चित्रग्रीवस्य पाशं छेत्तुमुद्यतं स तमाह—'भद्र, मा मैवं कुरु। प्रथमं मम भृत्यानां पाशच्छेदं कुरु। तदनु ममापि च।' तच्छ्रुत्वा कुपितो हिरण्यकः प्राह—'भोः, न युक्तमुक्तं भवता। यतः स्वामिनोऽनन्तरं भृत्याः।' स आह—भद्र, मा मैवं वद। मदाश्रयाः सर्वे एते वराकाः। अपरं स्वकुटुम्बं परित्यज्य समागताः। तत्कथमेतावन्मात्रमपि संमानं न करोमि। उक्तं च—

यह कहकर चित्रगीव का बन्धन काटने के लिये उद्यत हुए उससे (हिरण्यक से) उसने कहा—भद्र! ऐसा मत करो, पहिले मेरे भृत्यों का बन्धन काटो, उसके बाद मेरा भी (काटना)। यह सुनकर हिरण्यक ने गुस्से में कहा—तुमने ठीक नहीं कहा, स्वामी के बाद नौकर होते हैं—पहिले स्वामी का काम करके पीछे नौकरों का काम किया जाता है। उसने कहा—भद्र! ऐसा मत कहो। बेचारे वे सब कबूतर मेरे आश्रित हैं, दूसरे अपने कुटुम्ब को छोड़कर आये हैं तो क्यों मैं इतना भी सम्मान न करूँ? कहा भी है—

यः संमानं सदा धत्ते भृत्यानां क्षितिपोऽधिकम् ।
वित्ताभावेऽपि तं दृष्ट्वा ते त्यजन्ति न कर्हिचित् ॥ २३ ॥

जो राजा हमेशा भृत्यों का अधिक सम्मान करता है, उसका भृत्य धन के न होने पर भी अपने सम्मान का स्मरण कर उस राजा को कभी नहीं छोड़ते ॥ २३ ॥

तथा च—

विश्वासः सम्पदां मूलं तेन यूथपतिर्गजः ।
सिंहो मृगाधिपत्येऽपि न मृगैः परिवार्यते ॥ २४ ॥

क्योंकि--विश्वास ही अभ्युदय का कारण है, उसी विश्वास से हाथी यूथपति होता है—अन्य हाथी उसे घेरे रहते हैं। किन्तु सिंह को मृगों का राजा होने पर भी उसे पशु नहीं घेरते ॥ २४ ॥

अपरं मम कदाचित्पाशच्छेदं कुर्वतस्ते दन्तभङ्गो भवति। अथवा दुरात्मा लुब्धकः समभ्येति। तन्नूनं मम नरकपात एव। उक्तं च—

दूसरी बात यह भी है कि—मेरा बन्धन काटते हुए कभी तुम्हारा दाँत टूट जाय अथवा दुष्ट व्याध ही आ जाय तो निश्चय ही मुझे नरक मिलेगा।

सदाचारेषु भृत्येषु संसीदत्सु च यः प्रभुः।
सुखी स्यान्नरकं याति परत्रेह च सीदति ॥ २५ ॥

जो स्वामी अनुरक्त भृत्यों की दुःखावस्था में सुखी निश्चिन्त रहता है, वह परलोक में नरक को प्राप्त होता है और इस लोक में कष्ट पाता है ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो हिरण्यकः प्राह—'भोः, वेद्म्यहं राजधर्मम्। परं मया तव परीक्षा कृता। तत्सर्वेषां पूर्वं पाशच्छेदं करिष्यामि। भवानप्यनेन विधिना बहुकपोतपरिवारो भविष्यति। उक्तं च—

यह सुनकर प्रसन्न हुए हिरण्यक ने कहा—हे (चित्रग्रीव) मैं राजकर्त्तव्य को समझता हूँ। लेकिन मैंने तुम्हारी परीक्षा की थी। इसलिये प्रथम मैं सब के बन्धन काटूँगा। आपका भी इस रीति से कबूतरों का परिवार बढ़ जायगा।

कारुण्यं संविभागश्च यस्य भृत्येषु सर्वदा।
सम्भवेत्स महीपालस्त्रैलोक्यस्यापि रक्षणे ॥ २६ ॥

कहा भी है—जिस राजा की अपने भृत्यों पर सदा दया रहती है वह राजा तीनों लोकों की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है ॥ २६ ॥

एवमुक्त्वा सर्वेषां पाशच्छेदं कृत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवमाह—'मित्र, गम्यतामधुना स्वाश्रयं प्रति। भूयोऽपि व्यसने प्राप्ते समागन्तव्यम्।' इति तान्संप्रेष्य पुनरपि दुर्गं प्रविष्टः। चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारः स्वाश्रयमगमत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

यह कह और सबके बन्धन काट कर हिरण्यक ने चित्रग्रीव से कहा—'मित्र, अब अपने स्थान को जाओ। विपत्ति पड़ने पर फिर भी आना।' इस प्रकार उनको विदा करके फिर भी दुर्ग-बिल में घुस गया। चित्रग्रीव भी परिवारसहित अपने स्थान को चला गया। यह ठीक ही कहा है—

मित्रवान्साधयत्यर्थान्दुःसाध्यानपि वै यतः ।
तस्मान्मित्राणि कुर्वीत समानान्येव चात्मनः ।। २७ ।।

चूंकि मित्रवान् पुरुष कठिन कार्यों को भी सिद्ध कर लेता है । इसलिये (मनुष्य को चाहिए कि) अपने अनुरूप मित्र बनावे ।। २७ ।।

लघुपतनकोऽपि वायसः सर्वं तं चित्रग्रीवबन्धमोक्षमवलोक्य विस्मितमना व्यचिन्तयत्—अहो बुद्धिरस्य हिरण्यकस्य शक्तिश्च दुर्गसामग्री च । तदीदृगेव विधिविहङ्गानां बन्धनमोक्षात्मकः । अहं च न कस्यचिद्विश्वसिमि चलप्रकृतिश्च । तथाप्येनं मित्रं करोमि । उक्तं च—

लघुपतनक उन सब चित्रग्रीव के बन्धन छुटकारे (छूटने के प्रकार) को देखकर आश्चर्यान्वित हो सोचने लगा—ओः, इस हिरण्यक की बुद्धि कैसी तीव्र है, इसकी शक्ति और दुर्ग की रचना कैसी अद्भुत है । पक्षियों के बन्धन से छूटने के लिये यही रीति है (ऐसा ही मित्रों का होना ऐसे समय में काम आता है) इधर मैं किसी पर विश्वास नहीं करता, स्वभाव से भी चञ्चल हूँ । तो भी इसको मित्र बनाऊँ । कहा भी है—

अपि संपूर्णतायुक्तैः कर्तव्याः सुहृदो बुधैः ।
नदीशः परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयमपेक्षते ।। २८ ।।

धनधान्य पूर्ण रहते हुए भी समझदार मनुष्यों को मित्र बनाना चाहिए । देखो–(जल से) परिपूर्ण भी समुद्र चन्द्रमा के उदय की प्रतीक्षा करता है ।२८।

एवं संप्रधार्य पादपादवतीर्य बिलद्वारमाश्रित्य चित्रग्रीववच्छब्देन हिरण्यकं समाहूतवान्—'एह्येहि भो हिरण्यक, एहि ।' तच्छब्दं श्रुत्वा हिरण्यको व्यचिन्तयत्—'किमन्योऽपि कश्चित्कपोतो बन्धनशेषस्तिष्ठति येन मां व्याहरति ।' आह च—'भोः, को भवान् ।' स आह–'अहं लघुपतनको नाम वायसः ।' तच्छ्रुत्वा विशेषादन्तर्लीनो हिरण्यक आह—'भोः, द्रुतं गम्यतामस्मात्स्थानात् ।' वायस आह—'अहं तव पार्श्वे गुरुकार्येण समागतः । तत्किं न क्रियते मया सह दर्शनम् ।' हिरण्यक आह—'न मेऽस्ति त्वया सह संगमेन प्रयोजनम्' इति । स आह—'भोः, चित्रग्रीवस्य मया तव सकाशात्पाशमोक्षणं दृष्टम् । तेन मम महती प्रीतिः संजाता । तत्कदाचिन्ममापि बन्धने जाते तव पार्श्वान्मुक्तिर्भविष्यति । तत्क्रियतां मया सह मैत्री ।' हिरण्यक आह–

'अहो, त्वं भोक्ता। अहं ते भोज्यभूतः। तत्का त्वया सह मम मैत्री। तद्गम्यताम्। मैत्री विरोधभावात्कथम्। उक्तं च—

ऐसा निश्चय कर और वृक्ष से उतर कर वह बिल के दरवाजे पर पहुँचा और उसने चित्रग्रीव की तरह आवाज से हिरण्यक को पुकारा—'आओ, आओ हे हिरण्यक! आओ।' उस (के) शब्द को सुनकर हिरण्यक ने विचारा—'क्या कोई और भी कबूतर छूटने से बाकी रह गया है जो मुझे बुलाता है?'' और कहा—'तुम कौन हो?'' वह बोला—'मैं लघुपतनक नामक कौवा हूँ' वह सुनकर और भी अन्दर घुसकर हिरण्यक ने कहा 'इस स्थान से जल्दी चले जाओ।' कौवा बोला—'मैं तुम्हारे पास बड़े काम से आया हूँ फिर मेरे साथ मिलते क्यों नहीं?' हिरण्यक ने कहा—'तुझसे मिलने का मेरा कोई काम नहीं।' वह बोला—'मैंने तेरे पाससे (तेरे द्वारा) चित्रग्रीव का बन्धन से छुटकारा देखा है इससे मुझे बड़ी प्रीति उत्पन्न हुई है। कभी मेरे भी बन्धन में पड़ने पर तेरे द्वारा मेरी भी मुक्ति हो जाय; इसलिये मेरे साथ मित्रता कर लो।' हिरण्यक ने कहा—'तुम खाने वाले और मैं (तुम्हारा) भोजन हूँ, फिर तुम्हारे साथ मेरी मित्रता कैसी? इसलिये मैत्री के साथ विरोध होने से तुम्हारे साथ हमारी मित्रता स्वभावविरुद्ध है इसलिये तुम चले जाओ। कहा भी है—

यथोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः॥ २९॥

जिनका धन समान हो, जिनका खानदान समान हो उन्हीं का परस्पर विवाह और मित्रता ठीक है—न्यूनाधिक की नहीं॥ २९॥

तथा च—

यो मित्रं कुरुते मूढ आत्मनोऽसदृशं कुधीः।
हीनं वाप्यधिकं वापि हास्यतां यात्यसौ जनः॥ ३०॥

क्योंकि—जो अज्ञानी, दुर्बुद्धि अपने से छोटे या बड़े अर्थात् असमान के साथ मित्रता करता है वह हंसी को प्राप्त होता है॥ ३०॥

तद्गम्यताम्' इति। वायस आह—'भो हिरण्यक! एषोऽहं तव दुर्गद्वार उपविष्टः। यदि त्वं मैत्रीं न करोषि ततोऽहं प्राणमोक्षणं तवाग्रे करिष्यामि। अथवा प्रायोपवेशनं मे स्यात्' इति। हिरण्यक आह—'भोः, त्वया वैरिणा सह कथं मैत्रीं करोमि। उक्तं च—

इसलिए कहता हूँ 'चले जाओ।' कौवा बोला—'हे हिरण्यक! यह मैं तेरे बिल के दरवाजे पर बैठा हूँ, अब अगर तू मित्रता नहीं करेगा तो मैं तेरे सामने में ही प्राणत्याग कर दूँगा। अथवा अन्न-जल त्याग कर यहीं बैठा रहूँगा। हिरण्यक बोला—तुझ शत्रु के साथ मैं मित्रता कैसे करूँ। कहा भी है—

वैरिणा न हि संदध्यात्सुश्लिष्टेनापि संधिना।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम्॥ ३१॥

अच्छी प्रकार सन्धि करनेवाले भी अथवा सन्धि के द्वारा भी शत्रु के साथ मेल न करे। देखो, पानी अत्यन्त गरम होने पर भी अग्नि को बुझा ही देता है॥ ३१॥

वायस आह—भोः, त्वया सह दर्शनमपि नास्ति। कुतो वैरम्। तत्किमनुचितं वदसि। हिरण्यक आह—द्विविधं वैरं भवति। सहजं कृत्रिमं च। तत्सहजवैरी त्वमस्मकम्। उक्तं च—

कौवा बोला—मैंने तुम्हें कभी देखा भी नहीं फिर बैर कैसा? क्यों अनुचित बात कहते हो। हिरण्यक बोला—वैर दो प्रकार का होता है, स्वाभाविक और कारणोत्पन्न, तू हमारा स्वाभाविक वैरी है। कहा भी है—

कृत्रिमं नाशमभ्येति वैरं द्राक्कृत्रिमैर्गुणैः।
प्राणदानं विना वैरं सहजं याति न क्षयम्॥ ३२॥

कृत्रिम वैर शीघ्र ही उपकारादि अन्य साधनों से नष्ट हो जाता है। परन्तु स्वाभाविक वैर प्राणदान किये विना नष्ट नहीं होता॥ ३२॥

वायस आह—'भोः, द्विविधस्य वैरस्य लक्षणं श्रोतुमिच्छामि। तत्कथ्यताम्।' हिरण्यक आह—'भोः, कारणेन निवृतं कृत्रिमम्। तत्तदर्होपकारकरणाद्गच्छति। स्वाभाविकं पुनः कथमपि न गच्छति। तद्यथा—नकुलसर्पाणाम्, शष्पभुङ्नखायुधानाम्, जलवह्न्योः, देवदैत्यानाम्, सारमेयमार्जाराणाम्, ईश्वरदरिद्राणाम्, सपत्नीनाम्, सिंहगजानाम्, लुब्धकहरिणानाम्, श्रोत्रियभ्रष्टक्रियाणाम्, मूर्खपण्डितानाम्, पतिव्रताकुलटानाम्, सज्जनदुर्जनानाम्। न कश्चित्केनापि व्यापादितः तथापि प्राणान्सन्तापयन्ति।' वायस आह—'भोः, अकारणमेतत्। श्रूयतां मे वचनम्—

कौवा बोला—मैं उन दोनों प्रकार के वैर का लक्षण सुनना चाहता हूँ इसलिये कहिये। हिरण्यक ने कहा—हे वायस! कारण से उत्पन्न हुआ जो

कृत्रिम वैर कहाता है, वह उसके योग्य उपकारादि करने से चला जाता है, परन्तु स्वाभाविक (वैर) किसी प्रकार भी नहीं जाता जैसे—नकुल और साँप का, घास खाने वाले तथा नखायुध (सिंह आदि) का, जल अग्नि का, देव और दैत्यों का, कुत्ते बिल्लियों का, अमीर गरीबों का, सिंह तथा हाथियों का, व्याध और हरिणों का, धर्मात्मा और अधर्मात्माओं का, मूर्ख तथा तथा पण्डितों का; पतिव्रता तथा व्यभिचारिणी स्त्रियों का, सज्जन और दुर्जनों का—इसमें से किसी ने किसी को नहीं मारा तो भी प्राणों को कष्ट देते ही हैं। कौवे ने कहा—यह कारण ठीक नहीं है। मेरी बात सुनो—

कारणान्मित्रतां यति कारणादेति शत्रुताम् ।
तस्मान्मित्रत्वमेवात्र योज्यं वैरं न धीमता ।। ३३ ।।

(मनुष्य उपकारादि) कारण से मित्रता को प्राप्त होता तथा (अपकारादि) कारण से ही शत्रुता को प्राप्त होता है। इसलिये इस संसार में बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह मित्रता ही करे, न कि शत्रुता ।। ३३ ।।

तस्मात् कुरु मया सह समागमं मित्रधर्मार्थिम् ।'

इसलिये मित्रता के कार्य करने के लिये मेरे साथ मिलिये।

हिरण्यक आह—भो, श्रूयतां नीतिसर्वस्वम्—

सकृद्दुष्टमपीष्टं यः पुनः संधातुमिच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ।। ३४ ।।

हिरण्यक ने कहा—नीति का सारांश सुनो—जो मित्र को एक भी बार दुष्टता करने पर फिर मिलाना चाहता है—फिर उसके साथ मित्रता करना चाहता है मानो वह मृत्यु को ही ग्रहण करता है। जैसे कि खचरी गर्भधारण कर मृत्यु को ही ग्रहण करती है,।। ३४ ।।

अथवा गुणवानहम्, न मे कश्चिद्वैरयातनां करिष्यति, एतदपि न संभाव्यम्। उक्त च—

अथवा—मैं गुणवान् हूँ, मुझसे कोई वैर न चुकायेगा (अथवा शत्रुता करके पीड़ा न देगा) यह भी सम्भव नहीं। क्यों कि कहा भी है—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान्प्रियान्पाणिने-
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम् ।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गल-
मज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ।।३५।।

सिंह ने व्याकरणशास्त्रप्रणेता पाणिनि मुनि के प्यारे प्राण हर लिये, हाथी ने मीमांसा के रचयिता जैमिनि मुनि को अकस्मात् मार डाला। मकर ने समुद्र के किनारे छन्दःशास्त्र के खजाने (अद्वितीय वेत्ता) पिङ्गल को मार डाला। अतएव मूर्खता से जिनका अन्तःकरण भरा हुआ है, अत्यन्त क्रोधी पशुपक्षियों को (दुष्ट पुरुषों को) मनुष्यों के गुणों से क्या प्रयोजन? वे किसी के गुण-अवगुण का विचार नहीं करते॥ ३५॥

वायस आह—अस्त्येतत्। यथापि श्रूयताम्—

कौवे ने कहा—यह ठीक है, तो भी सुनिये—

उपकाराच्च लोकानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम्।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां मैत्री स्याद्दर्शनात्सताम्॥ ३६॥

मनुष्य की मित्रता एक दूसरे के उपकार करने से ही होती है, पशुपक्षियों की किसी कारण से, मूर्खों की भय और लोभ से और सज्जनों की मित्रता एक दूसरे के देखने से ही होती है॥ ३६॥

मृद्घट इव सुखभेद्यो दुःसंधानश्च दुर्जनो भवति।
सुजनस्तु कनकघट इव दुर्भेदः सुकरसंधिश्च॥ ३७॥

दुष्ट पुरुष, मिट्टी के घड़े के समान, आसानी से टूट सकता है और कठिनता से जोड़ा जा सकता है (आसानी से उसकी मित्रता नष्ट हो जाती है और फिर मुश्किल से सन्धि होती है) और सज्जन पुरुष सोने के घड़े की तरह कठिनता से टूटता और आसानी से जुड़ सकता है॥ ३७॥

इक्षोरग्रात्क्रमशः पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः।
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानां तु विपरीता॥ ३८॥

जिस प्रकार गन्ने की पोई में ऊपर से नीचे की तरफ़ रस अधिक होता है उसी प्रकार सज्जनों की मित्रता होती है तथा दुष्टों की इससे उलटी होती है॥ ३८॥

तथा च—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्॥ ३९॥

दुष्टों और सज्जनों की मित्रता दिन के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध की छाया के समान पृथक्-पृथक् होती है जैसे कि—दुष्टों की मैत्री प्रातःकालीन छाया के समान प्रारम्भ में बड़ी और धीरे-धीरे घटनेवाली होती है तथा सज्जनों की

मित्रता मध्याह्नवर्ती छाया के तुल्य प्रारम्भ में छोटी और पीछे धीरे-धीरे बढ़ने वाली होती है ॥ ३९ ॥

तत्साधुरहम् । अपरं त्वां शपथादिभिर्निर्भयं करिष्यामि ।

मैं सज्जन हूँ और तुम को शपथादि से निर्भय कर दूँगा ।

स आह—'न मेऽस्ति ते शपथैः प्रत्ययः । उक्तं च—

उसने कहा—मुझे तेरी शपथों पर विश्वास नहीं है । कहा भी है—

शपथैः संधितस्यापि न विश्वासं व्रजेद्रिपोः ।
श्रूयते शपथं कृत्वा वृत्रः शक्रेण सूदितः ॥ ४० ॥

शपथों द्वारा मेल को प्राप्त हुए शत्रु का विश्वास न करे, सुना जाता है कि शपथ करके ही इन्द्र ने वृत्रासुर को मार डाला ॥ ४० ॥

न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिध्यति ।
विश्वासात्त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः ॥ ४१ ॥

विश्वास उत्पन्न किये बिना शत्रु देवताओं के वश में भी नहीं आ सकता, विश्वास के द्वारा ही इन्द्र ने दिति के गर्भ को खण्डित कर दिया ॥ ४१ ॥

अन्यच्च—

बृहस्पतेरपि प्राज्ञस्तस्मान्नैवात्र विश्वसेत् ।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥ ४२ ॥

इसलिये—जो बुद्धिमान् पुरुष अपनी उन्नति, लम्बी आयु और सुख चाहे वह बृहस्पति का भी विश्वास न करे ॥ ४२ ॥

तथा च—

सुसूक्ष्मेणापि रन्ध्रेण प्रविश्याभ्यन्तरं रिपुः ।
नाशयेच्च शनैः पश्चात्प्लवं सलिलपूरवत् ॥ ४३ ॥

छोटे से छिद्र के द्वारा शत्रु अन्दर घुसकर नष्ट कर देता है जैसे कि जल का प्रवाह छोटे से छिद्र के द्वारा नौका में घुसकर उसको नष्ट कर देता है ॥४३॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ४४ ॥

विश्वास के अयोग्य पुरुष का कभी विश्वास न करे तथा विश्वस्त आदमी का भी अधिक विश्वास न करना चाहिए, क्योंकि विश्वास के द्वारा उत्पन्न हुआ भय जड़ों को भी काट देता है—सर्वथा नष्ट कर देता है ॥ ४४ ॥

न वध्यते ह्यविश्वस्तो दुर्बलोऽपि बलोत्कटैः ।
विश्वस्ताश्चाशु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ ४५ ॥

विश्वास न करनेवाला दुर्बल पुरुश भी बलवानों से नहीं मारा जाता किन्तु विश्वास करनेवाले बलवान पुरुष भी दुर्बलों से मारे जाते हैं ॥ ४५ ॥

सुकृत्यं विष्णुगुप्तस्य मित्राप्तिर्भार्गवस्य च ।
बृहस्पतेरविश्वासो नीतिसन्धिस्त्रिधा स्थितः ॥ ४६ ॥

चाणक्य के मतानुसार 'अच्छे प्रकार कार्य करना', शुक्राचार्य के मत से 'मित्रसंग्रह करना' और बृहस्पति के मतानुसार 'विश्वास न करना' नीति है । इस प्रकार नीति-सिद्धान्त तीन प्रकार का है ॥ ४६ ॥

तथा च—

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु सुविरक्तासु तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य, अधिक धन पाकर, शत्रुओं पर तथा विरक्त अपनी स्त्रियों पर विश्वास करता है, उसका जीवन वहीं तक है, वह उस विश्वास से ही मारा जाता है ॥ ४७ ॥

तच्छ्रुत्वा लघुपतनकोऽपि निरुत्तरश्चिन्तयामास—'अहो, बुद्धिप्रागल्भ्यमस्य नीतिविषये । अथवा स एवास्योपरि मैत्रीपक्षपातः ।' स आह—'भो हिरण्यक,

यह सुनकर लघुपतनक को कोई जवाब न सूझ पड़ा और वह सोचने लगा—अहो नीति के विषय में इसका कितना अधिक ज्ञान है ? इसीलिये मैं इससे मित्रता करना चाहता हूँ । तब जाहिर बोला—हे हिरण्यक !—

सतां साप्तपदं मैत्रमित्याहुर्विबुधा जनाः ।
तस्मात्त्वं मित्रतां प्राप्तो वचनं मम तच्छृणु ॥ ४८ ॥

विद्वान् लोग सात पद उच्चारण करने अथवा सात पैर साथ-साथ चलने से सज्जनों की मित्रता बताते हैं, इसलिए तू मेरा मित्र हो गया (क्योंकि तेरे साथ मेरा काफी वार्तालाप हो चुका है) अतएव मेरी बात सुन ॥ ४८ ॥

दुर्गस्थेनाऽपि त्वया मया सह नित्यमेवालापो गुणदोषसुभाषितगोष्ठीकथाः सर्वदा कर्तव्याः यद्येवं न विश्वसिषि ।' तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि व्यचिन्तयत्—'विदग्धवचनोऽयं दृश्यते लघुपतनको सत्यवाक्यश्च

तद्युक्तमनेन मैत्रीकरणम्। परं कदाचिन्मम दुर्गे चरणपातोऽपि न कार्यः। उक्तं च—

अगर तुम विश्वास नहीं करते हो तो बिल में रहते हुए भी तुम मेरे साथ नित्य ही वार्तालाप तथा गुण-दोष-विवेचना और सुभाषित उत्तम-उत्तम-वचन-सम्बन्धी गोष्ठी तथा कथायें किया करो। यह सुनकर हिरण्यक ने सोचा—यह लघुपतनक विद्वान् और सत्यवादी मालूम पड़ता है, इसलिये इसके साथ मित्रता करना उचित है (प्रकाश में बोला) अच्छा, परन्तु मेरे बिल में कभी पैर भी न रखना। कहा भी है—

भीतभीतैः पुरा शत्रुर्मन्दं मन्दं विसर्पति।
भूमौ प्रहेलया पश्चाज्जारहस्तोऽङ्गनास्विव॥ ४९॥

शत्रु पहले तो डरते-डरते और धीरे-धीरे शत्रु के नगर में प्रवेश करता है, तत्पश्चात् वह वैसे ही ढीठ और निर्भय होकर आगे बढ़ने लगता है जैसे जारों के हाथ पराई स्त्रियों का स्पर्श करने के लिये सरलता से आगे बढ़ते हैं॥४९॥

तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भद्र, एवं भवतु।' ततः प्रभृति तौ द्वावपि सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तौ तिष्ठतः। परस्परं कृतोपकारौ कालं नयतः। लघुपतनकोऽपि मांसशकलानि मेध्यानि बलिशेषाण्यन्यानि वात्सल्याहृतानि पक्वान्नविशेषाणि हिरण्यकार्थमानयति। हिरण्यकोऽपि तण्डुलानन्यांश्च भक्ष्यविशेषाल्लघुपतनकार्थं रात्रावाहृत्य तत्कालायातस्यार्पयति। अथवा युज्यते द्वयोरप्येतत्। उक्तं च—

यह सुनकर कौआ बोला—'भद्र! ऐसा ही हो।' तब से वे दोनों सुभाषित गोष्ठी का सुख भोगते हुए रहने लगे और एक दूसरे का उपकार करते हुए समय बिताने लगे। लघुपतनक हिरण्यक के लिए मांस के टुकड़े, पवित्र बलि-शेष और अन्य प्रेम से एकत्रित किये हुए पक्वान्न आदि लाता था। हिरण्यक भी चावल तथा अन्य खाने योग्य वस्तु रात्रि में एकत्रित करके समय पर आये हुए लघुपतनक को देता था। दोनों के लिये यह ठीक ही था। कहा भी है—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥ ५०॥

देना, लेना, गोप्य बातें पूछना-कहना, खाना और खिलाना ये ६ प्रीति के चिह्न हैं॥ ५०॥

नोपकारं विना प्रीतिः कथंचित्कस्यचिद्भवेत् ।
उपयाचितदानेन यतो देवा अभीष्टदाः ॥ ५१ ॥

उपकार के बिना किसी प्रकार प्रीति नहीं होती, देवता लोग भी उपयाचित वस्तु के देने से मनोरथ पूर्ण करते हैं ॥ ५१ ॥

तावत्प्रीतिर्भवेल्लोके यावद्दानं प्रदीयते ।
वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परित्यजति मातरम् ॥ ५२ ॥

संसार में तभी तक प्रीति स्थिर रहती है, जब तक दान दिया जाता रहता है। देखो, बछड़ा भी दूध का ह्रास देखकर माता को छोड़ देता है ॥ ५२ ॥

पश्य दानस्य माहात्म्यं सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
यत्प्रभावादपि द्वेषो मित्रतां याति तत्क्षणात् ॥ ५३ ॥

तुरन्त विश्वास दिलाने वाली दान की महिमा देखो, जिसके प्रभाव से शत्रु भी दान देते ही मित्र हो जाता है ॥ ५३ ॥

पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानं
मन्ये पशोरपि विवेकविवर्जितस्य ।
दत्ते खले तु निखिलं खलु येन दुग्धं
नित्यं ददाति महिषी ससुतापि पश्य ॥ ५४ ॥

मैं समझता हूँ विवेकरहित पशु को भी पुत्र से प्यारा दान होता है। देखो—खली देने पर बच्चा रहते हुए भी भैंस सारा दूध रोज दे देती है ॥५४॥

किं बहुना—

प्रीतिं निरन्तरां कृत्वा दुर्भेद्यां नखमांसवत् ।
मूषको वायसश्चैव गतौ कृत्रिममित्रताम् ॥ ५५ ॥

अधिक क्या ! नख और मांस के समान अटूट और कभी नष्ट न होने वाली प्रीति करके चूहा तथा कौआ कृत्रिम मित्रता को प्राप्त हुए ॥ ५५ ॥

एवं स मूषकस्तदुपकाररञ्जितस्तथा विश्वस्तो यथा तस्य पक्षमध्ये प्रविष्टस्तेन सह सर्वदैव गोष्ठीं करोति। अथान्यस्मिन्नहनि वायसोऽश्रुपूर्णनयनः समभ्येत्य सगद्गदं तमुवाच—'भद्र हिरण्यक, विरक्तिः संजाता मे सांप्रतं देशस्यास्योपरि तदन्यत्र यास्यामि।' हिरण्यक आह—'भद्र, किं विरक्तेः कारणम् ।' स आह—'भद्र, श्रूयताम् । अत्र देशे महत्यानावृष्ट्या दुर्भिक्षं संजातम् । दुर्भिक्षत्वाज्जनो बुभुक्षापीडितः कोऽपि बलिमात्रमपि न प्रयच्छति । अपरं गृहे गृहे बुभुक्षितजनैर्विह-

ङ्गानां बन्धनाय पाशाः प्रगुणीकृताः सन्ति। अहमप्यायुःशेषतया पाशेन बद्ध उद्धरितोऽस्मि। एतद्विरक्तेः कारणम्। तेनाऽहं विदेशं चलित इति बाष्पमोक्षं करोमि।' हिरण्यक आह—'अथ भवान् क्व प्रस्थितः।' स आह—'अस्ति दक्षिणापथे वनगहनमध्ये महासरः। तत्र त्वत्तोऽधिकः परमसुहृत्कूर्मो मन्थरको नाम। स च मे मत्स्यमांसखण्डानि दास्यति। तद्भक्षणात्तेन सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्सुखेन कालं नेष्यामि। नाहमत्र विहङ्गानां पाशबन्धनेन क्षयं द्रष्टुमिच्छामि। उक्तं च—

उस (कौवे) के उपकारों से प्रसन्न वह चूहा इतना विश्वास करने लगा कि उसके पंखों के नीचे बैठकर हमेशा उसके साथ बात-चीत किया करता था। अनन्तर किसी दिन कौवा आँखों में आँसू भरे हुए आकर गद्गद कण्ठ से बोला—'भद्र हिरण्यक! अब मुझे इस देश के ऊपर विरक्ति हो गई—अब मुझे यह स्थान अच्छा नहीं लगता, इसलिये और कहीं जाऊँगा।' हिरण्यक ने कहा—'भद्र, विरक्ति का कारण क्या है?' उसने कहा—'भद्र! सुनो, इस देश में बड़ी भारी अनावृष्टि से बहुत दिनों तक वर्षा न पड़ने से अकाल पड़ गया है। दुर्भिक्ष होने के कारण भूख से पीड़ित मनुष्य बलिमात्र भी नहीं देते। इसके अतिरिक्त घर-घर भूखे लोगों ने पक्षियों के पकड़ने के लिये जाल फैला रक्खे हैं। मैं भी फाँसे में बँध गया था परन्तु जीवनशेष होने से किसी प्रकार बच गया हूँ। यही विरक्ति का कारण है। इसीलिये मैं विदेश को जा रहा हूँ। और आँसू बहा रहा हूँ।' हिरण्यक ने कहा—'अच्छा आप कहाँ जा रहे हैं?' वह बोला—'दक्षिण देश में घने जङ्गल के बीच एक बड़ा तालाब है, वहाँ तुमसे भी अधिक परम मित्र मन्थरक नाम का कछुआ रहता है। वह मुझे मछलियों के माँस के टुकड़े देगा। उन्हें खाकर उसके साथ सुभाषित गोष्ठी का सुख भोगते हुए आराम से समय बिताऊँगा। मैं यहाँ रहकर पाशों के द्वारा पक्षियों का नाश देखना नहीं चाहता। कहा भी है—

अनावृष्टिहते देशे शस्ये च प्रलयं गते।
धन्यास्तात न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम्॥ ५६॥

वर्षा के न होने से, देश के उजड़ जाने तथा अन्न नष्ट हो जाने पर, हे प्रिय! जो मनुष्य देश और वंश का नाश नहीं देखते वे बड़े भाग्यशाली होते हैं॥५६॥

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्॥ ५७॥

समर्थ पुरुषों को कठिन कार्य क्या है ? उद्योगी पुरुषों को दूर क्या है ? विद्वान् पुरुषों को विदेश क्या है ? मधुरभाषी पुरुषों का पराया कौन है ? अर्थात् कोई भी नहीं ? ॥ ५७ ॥

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान्सर्वत्र पूज्यते ॥ ५८ ॥

विद्वत्ता और राजत्व कभी भी समान नहीं हो सकते क्योंकि राजा अपने ही देश में आदर पाता है परन्तु विद्वान् का सब जगह सत्कार होता है ॥५८॥

हिरण्यक आह—'यद्येवं तदहमपि त्वया सह गमिष्यामि । ममापि महद् दुःखं वर्तते ।' वायस आह—'भोः, तव किं दुःखम् । तत्कथय ।' हिरण्यक आह—'भोः, बहु वक्तव्यमस्त्यत्र विषये । तत्रैव गत्वा सर्वं सविस्तरं कथयिष्यामि ।' वायस आह—'अहं तावदाकाशगतिः । तत्कथं भवतो मया सह गमनम् ।' स आह—'यदि मे प्राणान्रक्षसि तदा स्वपृष्ठमारोप्य मां तत्र प्रापयिष्यसि । नान्यथा मम गतिरस्ति ।' तच्छ्रुत्वा सानन्दं वायस आह—'यद्येवं तद्धन्योऽहं यद्भवताऽपि सह तत्र कालं नयामि । अहं सम्पातादिकानष्टावुड्डीनगतिविशेषान्वेद्मि । तत्समारोह मम पृष्ठम्, येन सुखेन त्वां तत्सरः प्रापयामि ।' हिरण्यक आह—'उड्डीनानां नामानि श्रोतुमिच्छामि ।' स आह—

हिरण्यक ने कहा—'अगर यह बात है तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगा मुझे बड़ा दुःख है ।' कौवे ने कहा—तुम्हें क्या दुःख है सो बताओ । हिरण्यक ने कहा—'इस विषय में बहुत कुछ कहना है । वहीं जाकर विस्तारपूर्वक कहूँगा । कौवे ने कहा—मैं तो आकाश में चलने वाला हूँ फिर तुम मेरे साथ कैसे चल सकते हो ? उसने कहा—यदि तुम मेरे प्राण बचाना चाहो तो अपनी पीठ पर चढ़ाकर मुझे वहाँ पहुँचाओ और किसी प्रकार मैं नहीं जा सकता । यह सुन कौवा आनन्द से बोला—तब तो मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ क्योंकि आपके भी साथ समय बिता सकूंगा । मैं सम्पात आदि आठ प्रकार की उड़ने की चालें जानता हूँ । मेरी पीठ पर चढ़ जाओ, मैं आराम से उस तालाब पर पहुँचा दूंगा । हिरण्यक ने कहा—उन चालों के नाम सुनना चाहता हूँ । वह बोला—

'संपातं विप्रपातं च महापातं निपातनम् ।
वक्रं तिर्यक्तथा चोर्ध्वमष्टमं लघुसंज्ञकम्' ॥ ५९ ॥

सम्पात—समानभाव से उड़ना जिसमें पंख न हिलें। विप्रपात—पंख हिलाकर उड़ना, महापात—ऊँचे उठकर तेजी से उड़ना, निपात—नीचे-नीचे उड़ना, वक्र—तिरछा उड़ना; तिर्यक्—तिरछे होकर (करवट से) उड़ना; ऊर्ध्व—कुछ ऊपर होकर उड़ना, आठवाँ लघुसंज्ञक—तेजी से उड़ना ये आठ प्रकार की चालें हैं ॥ ५९ ॥

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकस्तत्क्षणादेव तदुपरि समारूढः। सोऽपि शनैः-शनैस्तमादाय सम्पातोड्डीनप्रस्थितः क्रमेण तत्सरः प्राप्तः। ततो लघुपतनकं मूषकाधिष्ठितं विलोक्य दूरतोऽपि देशकालविदसामान्यकाकोऽयमिति ज्ञात्वा सत्वरं मन्थरको जले प्रविष्टः। लघुपतनकोऽपि तीरस्थतरुकोटरे हिरण्यकं मुक्त्वा शाखाग्रमारुह्य तारस्वरेण प्रोवाच—'भो मन्थरक, आगच्छागच्छ। तव मित्रमहं लघुपतनको नाम वायसश्चिरात्सोत्कण्ठः समायातः। तदागत्यालिङ्गय माम्। उक्तं च—

यह सुनकर हिरण्यक उसी समय उसके ऊपर चढ़ गया। वह भी, उसको लेकर, सम्पात नामक उड्डीन से रवाना हो धीरे-धीरे उस तालाब के पास पहुँच गया। तब दूर से ही पीठ पर चढ़ा हुआ है मूषक जिसके ऐसे लघुपतनक को देखकर देशकालज्ञ मन्थरक 'यह कोई मामूली कौवा नहीं है, ऐसे समझकर जल में घुस गया। लघुपतनक भी किनारे पर स्थित पेड़ के खोखले में हिरण्यक को रखकर शाखा के अग्रभाग पर बैठ जोर से बोला—भो मन्थरक ! आओ आओ, मैं तुम्हारा मित्र लघुपतनक नाम का कौआ चिरकाल से तुम्हारे दर्शनों की लालसा से आया हूँ। इसलिए आकर मुझे आलिङ्गन करो। कहा भी है—

किं चन्दनैः सकर्पूरैस्तुहिनैः किं च शीतलैः।
सर्वे ते मित्रगात्रस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ६० ॥

कपूर मिले हुए चन्दन तथा हिमकणों से क्या लाभ ? ये सब मित्र के शरीर के १६वें भाग का भी बराबरी नहीं कर सकते ॥ ६० ॥

तथा च—

केनामृतमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्।
आपदां च परित्राणं शोकसंतापभेषजम् ॥ ६१ ॥

विपत्तियों से बचाने का साधन, शोक और मानसिक ताप का औषध अमृत तुल्य 'मित्र' ये दो अक्षर किसने बनाये हैं। अथवा प्रजापति ने बनाये हैं ॥६१॥

तच्छ्रुत्वा निपुणतरं परिज्ञाय सत्वरं सलिलान्निष्क्रम्य पुलकिततनुरानन्दाश्रुपूरितनयनो मन्थरकः प्रोवाच—'एह्येहि मित्र, आलिङ्गय माम्। चिरकालान्मया त्वं न सम्यक्परिज्ञातः। तेनाहं सलिलान्तः-प्रविष्टः। उक्तं च—

यह सुन और अच्छी तरह पहचान कर मन्थरक जल्दी से बाहर निकल आया। उसका शरीर रोमांचित हो गया और वह आँखों में प्रेमाश्रु भरे हुए बोला—आओ आओ मित्र, मुझे आलिङ्गन करो। तुम्हारे दर्शन किये बहुत दिन हो गये, अतः मैं तुमको पहचान न सका और इसीलिये मैं जल में घुस गया था। कहा भी है—

यस्य न ज्ञायते वीर्यं न कुलं न विचेष्टितम्।
न तेन सङ्गतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः॥ ६२॥

जिसका सामर्थ्य, वंश और कार्य न मालूम हो उसके साथ मेल न करे यह बृहस्पति ने कहा है॥ ६२॥

एवमुक्ते लघुपतनको वृक्षादवतीर्यं तमालिङ्गितवान्। अथवा साध्विदमुच्यते—

यह कहे जाने पर वृक्ष से उतर कर लघुपतनक ने उसे आलिङ्गन किया। यह ठीक ही कहा है—

अमृतस्य प्रवाहैः किं कायक्षालनसम्भवैः।
चिरान्मित्रपरिष्वङ्गो योऽसौ मूल्यविवर्जितः॥ ६३॥

शरीर धोने मात्र के उपयोग में आनेवाली जल-धाराओं से क्या लाभ? चिरकाल के पश्चात् मित्र का आलिङ्गन अमूल्य होता है॥ ६३॥

एवं द्वावपि तौ विहितालिङ्गनौ परस्परं पुलकितशरीरौ वृक्षादधः समुपविष्टौ प्रोचतुरात्मचरित्रवृत्तान्तम्। हिरण्यकोऽपि मन्थरकस्य प्रणामं कृत्वा वायसाभ्याशे समुपविष्टः। अथ तं समालोक्य मन्थरको लघुपतनकमाह—'भोः, कोऽयं मूषकः। कस्मात्त्वया भक्ष्यभूतोऽपि पृष्ठमारोप्यानीतः। तन्नात्र स्वल्पकारणेन भाव्यम्। तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—'भोः हिरण्यको नाम मूषकोऽयम्। मम सुहृद्द्वितीयमिव जीवितम्।' तत्किं बहुना।—

इस प्रकार वे दोनों परस्पर आलिङ्गन कर रोमाञ्चित शरीर हो वृक्ष के नीचे बैठ गये और अपना-अपना चरित्र-वृत्तान्त कहने लगे। हिरण्यक भी

मन्थरक को प्रणाम कर कौवे के पास बैठ गया। उसको देखकर मन्थरक लघुपतनक से बोला—यह चूहा कौन है और किस कारण से तू इसे अपना भक्ष्य होते हुए भी पीठ पर चढ़ाकर लाया? इसका कोई साधारण कारण नहीं हो सकता। यह सुन लघुपतनक ने कहा—हिरण्यक नाम का यह चूहा मेरा परम मित्र है, (केवल मित्र ही नहीं, अपितु) दूसरा प्राण ही है। अधिक कहने से क्या लाभ।

पर्जन्यस्य यथा धारा यथा च दिवि तारकाः।
सिकता-रेणवो यद्वत्संख्यया परिवर्जिताः॥ ६४॥
गुणाः संख्यापरित्यक्तास्तद्वदस्य महात्मनः।
परं निर्वेदमापन्नः संप्राप्तोऽयं तवान्तिकम्'॥ ६५॥

जिस प्रकार मेघ की धाराएँ, आकाश में तारे और बालू के कण संख्यातीत हैं उसी प्रकार इस महात्मा के गुण भी संख्यातीत हैं, यह बड़े वैराग्य को प्राप्त हो तुम्हारे पास आया है॥ ६४–६५॥

मन्थरक आह—'किमस्य वैराग्यकारणम्।' वायस आह—'पृष्टो मया। परमनेनाभिहितम्, यद् बहु वक्तव्यमिति। तत्तत्रैव गतः कथयिष्यामि। ममापि न निवेदितम्। तद्भद्र हिरण्यक, इदानीं निवेद्यतामुभयोरप्यावयोस्तदात्मनो वैराग्यकारणम्।' सोऽब्रवीत्—

मन्थर बोला—इसके वैराग्य का कारण क्या है? कौवे ने कहा—मैंने पूछा था, परन्तु वह 'इस विषय में बहुत कुछ कहना है, यहीं आकर कहूँगा' यह कहकर चुप हो गया। भद्र हिरण्यक! अब तुम हम दोनों से अपने वैराग्य के कारण कहो? वह बोला—

कथा १

'अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तस्य नातिदूरे मठायतनं भगवतः श्रीमहादेवस्य। तत्र च ताम्रचूडो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति स्म। स च नगरे भिक्षाटनं कृत्वा प्राणयात्रां समाचरति। भिक्षाशेषं च तत्रैव भिक्षापात्रे निधाय तद्भिक्षापात्रं नागदन्तेऽवलम्ब्य पश्चाद्रात्रौ स्वपिति। प्रत्यूषे च तदन्नं कर्मकराणां दत्त्वा सम्यक् तत्रैव देवतायतने संमार्जनोपलेपनमण्डनादिकं समाज्ञापयति। अन्यस्मिन्नहनि मम बान्धवैर्निवेदितम्—'स्वामिन्, मठायतने

सिद्धमन्नं मूषकभयात्तत्रैव भिक्षापात्रे निहितं नागदन्तेऽवलम्बितं तिष्ठति सदैव । तद्वयं भक्षयितुं न शक्नुमः । स्वामिनः पुनरगम्यं किमपि नास्ति । तत्किं वृथाटनेनान्यत्र । अद्य तत्र गत्वा यथेच्छं भुञ्जामहे तव प्रसादात् ।' तदाकर्ण्याहं सकलयूथपरिवृतस्तत्क्षणादेव तत्र गतः । उत्पत्य च तस्मिन्भिक्षापात्रे समारूढः । तत्र भक्ष्यविशेषाणि सेवकेभ्यो दत्त्वा पश्चात्स्वयमेव भक्षयामि । सर्वेषां तृप्तौ जातायां भूयः स्वगृहं गच्छामि । एवं नित्यमेव तदन्नं भक्षयामि । परिव्राजकोऽपि यथाशक्ति रक्षति । परं यदैव निद्रान्तरितो भवति, तदाहं तत्रारुह्यात्मकृत्यं करोमि । अथ कदाचित्तेन मम रक्षणार्थं महान् यत्नः कृतः, जर्जरवंशः समानीतः । तेन सुप्तोऽपि मम भयाद्भिक्षापात्रं ताडयति । अहमप्यभक्षितेऽप्यन्ने प्रहारभयादपसर्पामि । एवं तेन सह सकलां रात्रिं विग्रहपरस्य कालो व्रजति । अथान्यस्मिन्नहनि तस्य मठे बृहत्स्फिङ्नामा परिव्राजकस्तस्य सुहृत्तीर्थयात्राप्रसङ्गेन पान्थः प्राघुणिकः समायातः । तं दृष्ट्वा प्रत्युत्थानविधिना सम्भाव्य प्रतिपत्तिपूर्वकमभ्यागतक्रियया नियोजितः । ततश्च रात्रावेकत्र कुशसंस्तरे द्वावपि प्रसुप्तौ धर्मकथां कथयितुरमारब्धौ । अथ बृहत्स्फिक्कथागोष्ठीषु स ताम्रचूडो मूषकत्रासार्थं व्याक्षिप्तमना जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयंस्तस्य शून्यं प्रतिवचनं प्रयच्छति । तन्मयो न किञ्चिदुदाहरति । अथासावभ्यागतः परं कोपमुपागतस्तमुवाच—'भोस्ताम्रचूड, परिज्ञातः न त्वं सम्यक् सुहृत् । तेन मया सह साह्लादं न जल्पसि । तद्रात्रावपि त्वदीयं मठं त्यक्त्वाऽन्यत्र मठे यास्यामि । उक्तं च—

दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का नगर है । उसके पास ही भगवान् श्री महादेवजी का मन्दिर है । वहाँ ताम्रचूड़ नामक संन्यासी रहता था; वह शहर में भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करता था, बचे हुए भिक्षान्न को वहीं भिक्षापात्र में रख और उस भिक्षापात्र को खूँटी पर लटकाता और पीछे सोता था । प्रातःकाल, वह अन्न नौकरों को देकर उनसे झाड़ू-बुहारी, लिपवाना और रंगीन रेखाओं से (मन्दिर भूमि को) भूषित कराता था । एक दिन मेरे बन्धुओं ने मुझसे कहा—स्वामिन् ! इस मन्दिर में तैयार अन्न, चूहों के डर से भिक्षापात्र में रक्खा हुआ हमेशा ही खूँटी पर लटका रहता है । हम उसे खा नहीं सकते, आपके लिये कुछ भी अलभ्य नहीं है, फिर और जगह

व्यर्थ घूमने से क्या लाभ ? आज हम लोग आपकी कृपासे वहाँ जाकर इच्छानुकूल खायें। यह सुनकर मैं सब सेवकों के साथ उसी समय वहाँ पहुँचा और कूदकर उस भिक्षापात्र पर चढ़ गया। वहाँ तरह-तरह के भोज्य पदार्थ सेवकों को देकर पीछे खुद भी खाता। सबके तृप्त होने पर फिर घर को चला जाता। इस प्रकार रोज मैं उस अन्न को खाता था। संन्यासी भी यथाशक्ति रक्षा करता परन्तु जैसे ही वह सोता कि उस पर चढ़ कर मैं अपना काम कर लेता था। इसके बाद उसने मुझसे अन्न बचाने के लिये बड़ा यत्न किया। एक पुराना बाँस लाया। सोते हुए भी, मेरे डर से, उस बाँस से भिक्षापात्र को पीटा करता। मैं भी बिना अन्न खाये ही चोट के डर से अलग हट जाता था। इस प्रकार उसके सारी रात युद्ध करते ही समय बीतता था। अनन्तर एक दिन उस मठ में ताम्रचूड का मित्र बृहत्स्फिक् नामक संन्यासी तीर्थयात्रा के लिये भ्रमण करता हुआ अतिथि रूप से आया। उसको देखकर (प्रथम उसने उसका) अगवानी से सत्कार किया फिर आदरपूर्वक सेवा की। अनन्तर रात्रि में दोनों एक ही कुशा के बिछौने पर लेटकर धर्मकथा कहने लगे। बृहत्स्फिक् के साथ वार्तालाप करते हुए वह ताम्रचूड, मूषक को डराने के लिए पुराने बाँस से भिक्षापात्र को बजाता रहा और अन्यमनस्क होने के कारण निरर्थक जवाब देता रहा। उसका ध्यान चूहे में ही था अतएव वह स्वयं कुछ भी न बोलता था, इससे वह अतिथि अत्यन्त क्रुद्ध हो बोला—हे ताम्रचूड ! मैंने तुझे पहचान लिया। तू अच्छा मित्र नहीं इसीलिए मेरे साथ प्रेमपूर्वक नहीं बोलता; इस कारण रात में ही तेरे मठ को छोड़ दूसरे मठ मे चला जाऊँगा। कहा भी है—

> एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदं कस्माच्चिराद् दृश्यसे
> का वार्ता ह्यतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्।
> एवं ये समुपागतान्प्रणयिनः प्रह्लादयन्त्यादरा-
> त्तेषां युक्तसशङ्कितेन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा॥ ६६॥

आइये आइये, (कृपाकर) इस आसन पर बैठिए, इतने दिनों के बाद क्यों दिखाई पड़े; क्या समाचार लाये हो ? बहुत दुर्बल दिखाई पड़ते हो, कुशल तो है ? आपके दर्शन से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई—जो मनुष्य इस तरह घर पर आये मित्रों को आदर से प्रसन्न करते हैं, उन्हीं के घर निःशङ्क मन से जाना उचित है॥ ६६॥

गृही यत्रागतं दृष्ट्वा दिशो वीक्षेत वाप्यधः ।
तत्र ये सदने यान्ति ते शृङ्गरहिता वृषाः ॥६७॥

जिस घर में गृहस्वामी मित्र को आता हुआ देखकर इधर-उधर या नीचे देखता है ऐसे घर में जो मनुष्य जाते हैं वे बिना सींग के बैल हैं ॥ ६७ ॥

साभ्युत्थानक्रिया यत्र नालापा मधुराक्षराः ।
गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्यं न गम्यते ॥६८॥

जहाँ न तो अभ्युत्थान हो, न मीठे-मीठे वचन हों और न गुण-दोष-चर्चा हो, उस घर में नहीं जाना चाहिये ॥ ६८ ॥

तदेकमठप्राप्त्यापि त्वं गर्वितः। त्यक्तः सुहृत्स्नेहः। नैतद्वेत्सि यत्त्वया मठाश्रयव्याजेन नरकोपार्जनं कृतम् । उक्तं च—

तू एक ही मठ पाने से अहङ्कारी हो गया है। तूने मित्र का स्नेह भी छोड़ दिया । तू यह नहीं समझता कि तूने मठप्राप्ति के छल से नरक कमाया है । कहा भी है—

नरकाय मतिस्ते चेत्पौरोहित्यं समाचार ।
वर्षं यावत्किमन्येन मठचिन्तां दिनत्रयम् ॥६९॥

अगर तेरी नरक जाने की इच्छा है तो वर्ष भर पुरोहिताई कर अथवा और कुछ करने से क्या प्रयोजन, सिर्फ तीन दिन मठ की चिन्ता कर ले (वही नरक पहुँचाने के लिए काफी है) ॥ ६९ ॥

तन्मूर्ख, 'शोचितव्यस्त्वं गर्वं गतः । तदहं त्वदीयं मठं परित्यज्य यास्यामि ।' अथ तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तमनास्ताम्रचूडस्तमुवाच—'भो भगवन्, मैवं वद । न त्वत्समोऽन्यो मम सुहृत्कश्चिदस्ति । परं तच्छ्रूयतां गोष्ठीशैथिल्यकारणम् । एष दुरात्मा मूषकः प्रोन्नतस्थाने धृतमपि भिक्षापात्रमुत्प्लुत्यारोहति, भिक्षाशेषं च तत्रस्थं भक्षयति । तदभावादेव मठे मार्जनक्रियापि न भवति । तन्मूषकत्रासार्थमेतेन वंशेन भिक्षापात्रं मुहुर्मुहुस्ताडयामि । नान्यत्कारणमिति । अपरमेतत्कुतूहलं पश्यास्य दुरात्मनो यन्मार्जारमर्कटादयोऽपि तिरस्कृता अस्योत्पतनेन ।' बृहत्स्फिगाह—'अथ ज्ञायते तस्य बिलं कस्मिंश्चित्प्रदेशे' । ताम्रचूड आह—'भगवन् न वेद्मि सम्यक् ।' स आह --'नूनं निधानस्योपरि तस्य बिलम् । निधानोष्मणा प्रकूर्दते । उक्तं च—

रे मूर्ख ! तू शोक के, दया के योग्य है, लेकिन तू अहङ्कार करता है। इसलिए मैं तेरे मठ को छोड़कर जाता हूँ। यह सुनकर, भयभीत हो ताम्रचूड उससे बोला—हे भगवन् ! ऐसा मत कहो, तुम्हारे समान मेरा कोई दूसरा मित्र नहीं, लेकिन वार्तालाप में शिथिलता का कारण और है। सो सुनो—यह दुष्ट चूहा ऊँचे स्थान पर भी रक्खे हुए भिक्षापात्र पर कूदकर चढ़ जाता है और उसमें रक्खे हुए भिक्षा के (खाने से) बचे हुए अन्न को खा जाता है। भिक्षा-शेष न होने की वजह से ही मन्दिर में झाड़ू आदि भी नहीं लगती। इसलिए चूहे को डराने के लिए इस बाँस से बार-बार भिक्षापात्र को पीटता हूँ, और कोई कारण नहीं है। इस दुष्ट का और भी तमाशा देखो—इसने कूदने में बिल्ली और बन्दर आदि को भी मात कर दिया। वृहत्स्फिक् ने कहा—मालूम है उसका बिल किस स्थान में है ? ताम्रचूड ने कहा—भगवन् ! ठीक नहीं मालूम। वह बोला—इसमें सन्देह नहीं कि इसका बिल रत्नादि के निधान के ऊपर है। यह निधान की गरमी से ही कूदता है। कहा भी है—

ऊष्मापि वित्तजो वृद्धिं तेजो नयति देहिनाम्।
किं पुनस्तस्य सम्भोगस्त्यागकर्मसमन्वितः ॥७०॥

धन की गरमी भी प्राणियों के तेज को बढ़ा देती है, दानादि से युक्त उसके भोग को तो कहना ही क्या है ? ॥ ७० ॥

तथा च—

'नाकस्माच्छाण्डिली मातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान्।
लुञ्चितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति' ॥७१॥

हे मातः! यह शाण्डिली बिना ही कारण साफ किये हुए तिलों से बिना साफ किये तिलों को नहीं बदल सकती, इसमें कोई कारण अवश्य होगा ॥ ७१ ॥

ताम्रचूड आह—'कथमेतत्।' स आह—

ताम्रचूड बोला यह कैसे ? वह बोला—

कथा २

यदाहं कस्मिंश्चित्स्थाने प्रावृट्काले व्रतग्रहणनिमित्तं कञ्चिद् ब्राह्मणं वासार्थं प्रार्थितवान्। ततश्च तद्वचनात्तेनापि शुश्रूषितः सुखेन देवार्चनपरस्तिष्ठामि। अथान्यस्मिन्नहनि प्रत्यूषे प्रबुद्धोऽहं ब्राह्मण-ब्राह्मणीसंवादे दत्तावधानः शृणोमि। तत्र ब्राह्मण आह—'ब्राह्मणि,

प्रभाते दक्षिणायनसंक्रान्तिरनन्तदानफलदा भविष्यति। तदहं प्रतिग्रहार्थं ग्रामान्तरं यास्यामि। त्वया ब्राह्मणस्यैकस्य भगवतः सूर्यस्योद्देशेन किञ्चिद्भोजनं दातव्यम्' इति। अथ तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी परुषतरवचनैस्तं भर्त्सयमाना प्राह—'कुतस्ते दारिद्र्योपहतस्य भोजनप्राप्तिः। तत्किं न लज्जस एवं ब्रुवाणः। अपि च न मया तव हस्तलग्नया क्वचिदपि लब्धं सुखम्। न मिष्ठान्नस्यास्वादनम्, न च हस्तपादकण्ठादिभूषणम्।' तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तोऽपि विप्रो मन्दं मन्दं प्राह—'ब्राह्मणि, नैतद्युज्यते वक्तुम्।' उक्तं च—

किसी समय वर्षाकाल में किसी नियम का अनुष्ठान करने के लिये मैंने किसी ब्राह्मण से (उसके घर) रहने की प्रार्थना की। तब उसके कहने से उससे भी सत्कार पा, आराम से देवपूजा करता हुआ रहने लगा। दूसरे दिन प्रातःकाल जब मैं जागा तब ब्राह्मण और ब्राह्मणी की बातचीत में ध्यान देते हुए सुना। ब्राह्मण बोला—हे ब्राह्मणी ! प्रातःकाल अनन्तदानफल देनेवाली दक्षिणायन संक्रान्ति होगी। इसलिये मैं दान लेने के लिये दूसरे ग्राम जाऊँगा। तू सूर्य भगवान् के उद्देश्य से किसी ब्राह्मण को कुछ भोजन करा देना। यह सुनकर ब्राह्मणी कठोर वचनों से उसे धमकाती हुई बोली—दरिद्रता के मारे हुए तेरे घर (किसी को) भोजन कैसे मिल सकता है। ऐसा कहते हुए तुझे शरम नहीं आती। तेरे हाथ में पड़कर मैंने किसी भी बात का सुख नहीं पाया, न तो मिष्ठान्न खाने को मिले और न हाथ, पैर, गले आदि के भूषण ही मिले। यह सुन भयभीत हुए ब्राह्मण ने धीरे-धीरे कहा—ब्राह्मणि ! यह कहना ठीक नहीं। कहा भी है—

ग्रासादपि तदर्धं च कस्मान्नो दीयतेऽर्थिषु।
इच्छाऽनुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ॥७२॥

ग्रास का आधा भी हिस्सा याचकों को क्यों नहीं देते। इच्छानुकूल ऐश्वर्य कब किसको मिलेगा ॥ ७२ ॥

ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फलं किल।
दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुयादिति नः श्रुतिः ॥७३॥

हमने सुना है कि धनी लोग बहुत कुछ देने से जो फल पाते हैं, दरिद्र लोग एक कौड़ी देने से वही फल पाते हैं ॥ ७३ ॥

दाता लघुरपि सेव्यो भवति न कृपणो महानपि समृद्ध्या ।
कूपोऽन्तःस्वादुजलः प्रीत्यै लोकस्य न समुद्रः ॥७४॥

मनुष्य दानी निर्धन की भी सेवा करते हैं परन्तु कृपण समृद्धिशाली की भी नहीं; स्वादुजल से परिपूर्ण कुआँ छोटा होने पर भी लोगों को प्रिय होता है, पर समुद्र बड़ा होने पर भी नहीं ॥ ७४ ॥

तथा च—

अकृतत्यागमहिम्ना मिथ्या किं राजराजशब्देन ।
गोप्तारं न निधीनां कथयन्ति महेश्वरं विबुधाः ॥७५॥

जिसमें त्याग—दान की महिमा नहीं ऐसे मिथ्या महाराज अथवा कुवेर शब्द से क्या लाभ ? निधियों की रक्षा करनेवाले कुवेर को विद्वान् लोग महेश्वर नहीं कहते ॥ ७५ ॥

अपि च—

सदा दानपरिक्षीणः शस्त एव करीश्वरः ।
अदानः पीनगात्रोऽपि निन्द्य एव हि गर्दभः ॥७६॥

हमेशा मदजल से तथा दान देने से कृशशरीर और निर्धन हुआ गजेन्द्र तथा धनहीन पुरुष प्रशंसा के योग्य होता है । परन्तु मदजलरहित और दान न करने वाला गदहा तथा कृपण पुरुष स्थूलशरीर और प्रचुर धनवान् होने पर भी निन्दनीय होता है ॥ ७६ ॥

सुशीलोऽपि सुवृत्तोऽपि यात्यदानादधो घटः ।
पुनः कुब्जापि काणापि दानादुपरि कर्कटी ॥७७॥

अच्छी प्रकार बना हुआ और गोल भी घड़ा जल न देने से नीचे जाता है—पानी में डूबता है लेकिन कुबड़ी और कानी भी केकड़ी देने से ऊपर को जाती है ॥ ७७ ॥

यच्छञ्जलमपि जलदो वल्लभतामेति सकललोकस्य ।
नित्यं प्रसारितकरो मित्रोऽपि न वीक्षितुं शक्यः ॥७८॥

मेघ जल (मामूली चीज) भी देता हुआ सबका प्रिय होता है । हमेशा हाथ फैलानेवाला बन्धु तथा हमेशा किरणें फैलाने वाला सूर्य नहीं देखा जा सकता ॥ ७८ ॥

एवं ज्ञात्वा दरिद्र्याभिभूतैरपि स्वल्पात्स्वल्पतरं काले पात्रे च देयम् । उक्तं च—

यह समझ कर दरिद्र पुरुषों को भी थोड़ा-बहुत समय पर योग्य पात्र को देना चाहिए। कहा भी है—

सत्पात्रं महती श्रद्धा देशे काले यथोचिते।
यद्दीयते विवेकज्ञैस्तदनन्ताय कल्पते ॥७९॥

उत्तम दान योग्य पात्र, महती श्रद्धा और उचित स्थान तथा समय होने पर विवेकी पुरुषों से जो दिया जाता है वह मोक्ष का साधक होता है अथवा अक्षय फल होता है ॥ ७९ ॥

तथा च—

अतितृष्णा न कर्तव्या तृष्णां नैव परित्यजेत्।
अतितृष्णाभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके ॥८०॥

तृष्णा अधिक न करनी चाहिए और तृष्णा को सर्वथा छोड़ना भी न चाहिए, अत्यन्त तृष्णा में पड़े हुए के मस्तक पर शिखा होती है ॥ ८० ॥

ब्राह्मण्याह—'कथमेतत्' स आह—

ब्राह्मणी ने कहा—यह कैसे ? वह बोला—

कथा ३

'अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे कश्चित्पुलिन्दः। स च पापर्द्धिं कर्तुं वनं प्रति प्रस्थितः। अथ तेन प्रसर्पता महानञ्जनपर्वतशिखराकारः क्रोडः समासादितः। तं दृष्ट्वा कर्णान्ताकृष्टनिशितसायकेन समाहतः। तेनापि कोपाविष्टेन चेतसा बालेन्दुद्युतिना दंष्ट्राग्रेण पाटितोदरः पुलिन्दो गतासुर्भूतलेऽपतत्। अथ लुब्धकं व्यापाद्य शूकरोऽपि शरप्रहार-वेदनया पञ्चत्वं गतः। एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदासन्नमृत्युः शृगाल इतस्ततो निराहारतया पीडितः परिभ्रमंस्तं प्रदेशमाजगाम। यावद्वराहपुलिन्दौ द्वावपि पश्यति तावत्प्रहृष्टो व्यचिन्तयत्—भोः, सानुकूलो मे विधिः। तेनैतदप्यचिन्तितं भोजनमुपस्थितम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

किसी वनभाग में कोई भील रहता था, एक समय वह शिकार के लिये वन को गया। अनन्तर उसने घूमते हुए अञ्जन पर्वत के शिखर के समान आकारवाला कोई सूअर पाया (देखा)। उसे देखकर कान पर्यन्त खींचे हुए तेज बाण से उसे मारा। उसने भी क्रोध से भरे हुए चित्त से चन्द्रकला के समान कान्तिवाले अपने दाढ़ के अग्रभाग से उस शिकारी का पेट चीर दिया।

वह मरकर भूमि पर गिर पड़ा। इसके बाद शिकारी को मारकर सूअर भी बाण की चोट की पीड़ा से मर गया। इसी समय मरणासन्न कोई शृगाल भोजन न मिलने से पीडित इधर-उधर घूमता हुआ उस स्थान पर पहुँचा। सूअर तथा भील को देखकर वह प्रसन्न मन से सोचने लगा—मेरा भाग्य अनुकूल है अथवा परमात्मा की मेरे ऊपर बड़ी दया है इसलिए यह अकस्मात् ही भोजन मिल गया। अथवा यह ठीक ही कहा है—

अकृतेऽप्युद्यमे पुंसामन्यजन्मकृतं फलम्।
शुभाऽशुभं समभ्येति विधिना संनियोजितम् ॥८१॥

परिश्रम न करने पर भी, पूर्वजन्म में किये हुए अच्छे बुरे कर्मों का फल, मनुष्यों को विधि की प्रेरणा से मिल जाता है ॥ ८१ ॥

तथा च—

यस्मिन् देशे च काले च वयसा यादृशेन च।
कृतं शुभाशुभं कर्म तत्तथा तेन भुज्यते ॥८२॥

जिस स्थान, जिस समय और जैसी आयु में (मनुष्य ने पूर्व जन्म में) शुभाशुभ कर्म किया है वह उसको उसी तरह (उसी स्थान, उसी समय और उसी आयु में) भोगना पड़ता है ॥ ८२ ॥

तदहं तथा भक्षयामि यथा बहून्यहानि मे प्राणयात्रा भवति। तत्तावदेनं स्नायुपाशं धनुष्कोटिगतं भक्षयामि। उक्तं च—

इसलिये मैं इस रीति से खाऊँ कि बहुत दिनों तक मेरी जीवनयात्रा चल सके। इसलिये प्रथम इस धनुष के अग्रभाग में लगी हुई ताँत की बनी हुई रस्सी को खाऊँ। कहा भी है—

शनैः शनैश्च भोक्तव्यं स्वयं वित्तमुपार्जितम्।
रसायनमिव प्राज्ञैर्हेलया न कदाचन ॥८३॥

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि यह स्वयं कमाये हुए धन का रसायन के समान धीरे-धीरे भोग करे, अनादर—बेपरवाही से कभी न भोगे ॥८३॥

इत्येवं मनसा निश्चित्य चापघटितकोटिं मुखमध्ये प्रक्षिप्य स्नायुं भक्षितुं प्रवृत्तः। ततश्च त्रुटिते पाशे तालुदेशं विदार्य चापकोटिर्मस्तकमध्येन निष्क्रान्ता। सोऽपि तद्वेदनया तत्क्षणान्मृतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अतितृष्णा न कर्तव्या' इति। स पुनरप्याह—'ब्राह्मणि, न श्रुतं भवत्या।'

इस प्रकार, उसने मन में निश्चय कर स्नायुपाश से बँधे हुए धनुष के अग्रभाग को मुख में डाल तांत खाना प्रारम्भ किया। अनन्तर रस्सी (तांत) के टूट जाने पर तालुदेश को छेदकर धनुष का अग्रभाग मस्तक से बाहर निकल गया। वह भी उसकी पीड़ा से उसी क्षण मर गया। इसलिये मैं कहता हूँ—'अतितृष्णा न कर्तव्या' इत्यादि। उसने फिर कहा—हे ब्राह्मणी, तुमने यह नहीं सुना—

'आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः' ॥८४॥

आयु, काम, धन, विद्या और मृत्यु ये पाँच गर्भ में स्थित ही प्राणी के निश्चित कर दिये जाते हैं ॥ ८४ ॥

अथैवं सा तेन प्रबोधिता ब्राह्मण्याह—'यद्येवं तदस्ति मे गृहे स्तोकस्तिलराशिः। ततस्तिलांल्लुञ्चित्वा तिलचूर्णेन ब्राह्मणं भोजयिष्यामि' इति। ततस्तद्वचनं श्रुत्वा ब्राह्मणो ग्रामं गतः। साऽपि तिलानुष्णोदकेन सम्मर्द्य कुटित्वा सूर्यातपे दत्तवती। अत्रान्तरे तस्या गृहकर्मव्यग्रायास्तिलानां मध्ये कश्चित्सारमेयो मूत्रोत्सर्गं चकार। तं दृष्ट्वा सा चिन्तितवती—'अहो नैपुण्यं पश्य पराङ्मुखीभूतस्य विधेः, यदेते तिला अभोज्याः कृताः। तदहमेतान्समादाय कस्यचित् गृहं गत्वा लुञ्चितैरलुञ्चितानानयामि। सर्वोऽपि जनोऽनेन विधिना प्रदास्यति' इति।

इस प्रकार उस (ब्राह्मण) से समझाये जाने पर ब्राह्मणी ने कहा—अगर यह बात है, दान का इतना पुण्यफल है—तो मेरे घर में थोड़े से तिल हैं। उन तिलों को साफ कर तिलचूर्ण से ब्राह्मण को भोजन कराऊँगी। उसकी यह बात सुन ब्राह्मण ग्राम को चला गया। उसने भी तिलों को गरम जल से मल और कूट कर धूप में सुखाने के लिये रख दिया। इसी समय ब्राह्मणी के गृहकार्य में लग जाने पर किसी कुत्ते ने तिलों पर पेशाब कर दी। यह देख उसने सोचा—प्रतिकूल हुए भाग्य की विडम्बना देखो, ये तिल अभोज्य कर दिये। मैं इनको लेकर किसी के घर जा साफ किये हुए से बगैर साफ किये हुए तिल बदल आऊँगी। इस रीति से हर कोई मुझे बदल देगा।

अथ यस्मिन्गृहेऽहं भिक्षार्थं प्रविष्टस्तत्र गृहे साऽपि तिलानादाय प्रविष्टा विक्रयं कर्तुम्। आह च—'गृह्णातु कश्चिदलुञ्चितैर्लुञ्चितांस्तिलान्।' अथ तद्गृहगृहिणीगृहं प्रविष्टा यावदलुञ्चितैर्लुञ्चितान्गृह्णाति,

तावदस्याः पुत्रेण कामन्दकीशास्त्रं दृष्ट्वा व्याहृतम्—'मातः, अग्राह्याः खल्विमे तिलाः। नास्या अलुञ्चितैर्लुञ्चिता ग्राह्याः। कारणं किञ्चिद्भविष्यति। तेनैषाऽलुञ्चितैर्लुञ्चितान्प्रयच्छति'। तच्छ्रुत्वा तया परित्यक्तास्ते तिलाः। अतोऽहं ब्रवीमि—'नाकस्माच्छाण्डिलीमातः' इति।

जिस घर में भिक्षा के लिये मैं गया था, वह भी तिल लेकर उसी घर में बदलने के लिये आई और बोली—कोई साफ किये हुए से बगैर साफ किये हुए तिल बदल ले। अनन्तर ज्यों ही उस घर की मालकिन बिना साफ किये हुए तिलों से साफ किये हुए तिल बदलने के लिये घर में घुसी त्योंही उसके पुत्र ने कामन्दकी नीतिशास्त्र देख कर कहा—हे मातः! इन तिलों को मत लो, इसके धुले तिलों के बदले अपने बेधुले तिल नहीं देने चाहिए। इसमें कोई कारण होगा। इसलिये यह धुले तिल देकर बेधुले तिल लेती है। यह सुन उसने वह तिल छोड़ दिये—नहीं लिये इसलिये मैं कहता हूँ। 'नाकस्माच्छाण्डिलीमातः' इति।

एतदुक्त्वा स भूयोऽपि प्राह—'अथ ज्ञायते तस्य क्रमणमार्गः।' ताम्रचूड आह—'भगवन्' ज्ञायते। यत एकाकी न समागच्छति। किंत्वसंख्ययूथपरिवृतः पश्यतो मे परिभ्रमन्नितस्ततः सर्वजनेन सहागच्छति याति च।' अभ्यागत आह—'अस्ति किञ्चित्खनित्रकम्।' स आह—'बाढमस्ति। एषा सर्वलोहमयी स्वहस्तिका।' अभ्यागत आह—'तर्हि प्रत्यूषे त्वया मया सह स्थातव्यम्, येन द्वावपि जनचरणमलिनायां भूमौ तत्पदानुसारेण गच्छावः।' मयाऽपि तद्वचनमाकर्ण्य चिन्तितम्—'अहो, विनष्टोऽस्मि, यतोऽस्य साभिप्रायवचांसि श्रूयन्ते। नूनं यथा निधानं ज्ञातं तथा दुर्गमप्यस्माकं ज्ञास्यति। एतदभिप्रायादेव ज्ञायते। उक्तं च—

यह कहकर इसने फिर कहा—क्या उसके जाने-आने का रास्ता मालूम है? ताम्रचूड़ ने कहा—भगवन्! मालूम है, क्योंकि वह अकेला नहीं आता किन्तु असंख्य परिवार के साथ आता है। मेरे देखते ही इधर-उधर घूमता हुआ सबके साथ आता और चला जाता है। अतिथि ने कहा—खोदने की कोई चीज है? उसने कहा—हाँ है, यह लोहे की कुदाल है। अभ्यागत ने कहा—तो प्रातःकाल तुम मेरे साथ जागना जिससे हम दोनों, मनुष्यों के चरणों द्वारा भूमि के मलिन होने से पूर्व ही अर्थात् जब तक मनुष्यों के पदों से चूहे के पदचिह्न न मिट जाँय, उससे पूर्व ही उसके पदचिह्न के अनुसार चलेंगे। मैंने उसके वचन सुनकर विचार किया—अहो नाश हो गया, क्योंकि

इसके वचन मतलब भरे सुनाई पड़ते हैं। जिस तरह इसने निधान जान लिया उसी तरह हमारे बिल का भी पता लगा लेगा। यह इसकी बात से ही मालूम पड़ता है। कहा भी है—

सकृदपि दृष्ट्वा पुरुषं विबुधा जानन्ति सारतां तस्य।
हस्ततुलयाऽपि निपुणाः पलप्रमाणं विजानन्ति॥८५॥

विद्वान् लोग, पुरुष को एक ही बार देखकर उसकी सारता—गुण, सामर्थ्य आदि को जान लेते हैं। चतुर लोग हाथ से ही तौलकर पल के प्रमाण को जान लेते हैं। (१ पल=४ कर्ष, १ कर्ष =¾ तोला—पौन तोला) ॥ ८५ ॥

वाञ्छैव सूचयति पूर्वतरं भविष्यं
पुंसां यदन्यतनुजं त्वशुभं शुभं वा।
विज्ञायते शिशुरजातकलापचिह्नः
प्रत्युद्गतैरपसरन्सरलः कलापी॥८६॥

मनुष्यों की इच्छा ही उनके जन्मान्तर के कर्मानुसार बने हुए अच्छे-बुरे भविष्य को बहुत पहिले ही सूचित कर देती है। जैसे कि—कलापरूपी चिह्न उत्पन्न न होने पर भी मोर का बच्चा, शानदार कदमों से जलाशय से लौटता हुआ यह मयूर है ऐसा जान लिया जाता है॥ ८६ ॥

ततोऽहं भयत्रस्तमनाः सपरिवारो दुर्गमार्गं परित्यज्यान्यमार्गेण गन्तुं प्रवृत्तः। सपरिजनो यावदग्रतो गच्छामि तावत्सम्मुखो बृहत्कायो मार्जारः समायाति। स च मूषकवृन्दमवलोक्य तन्मध्ये सहसोत्पपात। अथ ते मूषका मां कुमार्गगामिनमवलोक्य गर्हयन्तो हतशेषा रुधिरप्लावितवसुन्धरास्तमेव दुर्गं प्रविष्टाः। अथवा साध्विदमुच्यते—

तब मैं, भयभीत मन से परिवार सहित दुर्ग-मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग से जाने लगा। परिवार सहित ज्यों ही मैं आगे बढ़ा त्यों ही स्थूलशरीर एक बिलाव सामने आया। वह चूहों के झुण्ड को देखकर एक दम उसमें कूद पड़ा। अनन्तर, मरने से बचे हुए वे चूहे, मुझ को कुमार्गगामी देख कर मेरी निन्दा करते हुए और खून से भूमि को भिगोते हुए उसी बिल में घुस गये। ठीक ही कहा है—

छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद्वागुरां
पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूरं वनात्।

व्याधानां शरगोचरादपि जवेनोत्पत्यधावन्मृगः
कूपान्तःपतितः करोतु विधुरे किं वा विधौ पौरुषम् ॥८७॥

जाल काटकर, बाँधने के यन्त्रविशेष को पार कर, बलपूर्वक जाल विशेष को तोड़कर, सीमाप्रदेश—किनारों पर अग्निशाखाओं के समूह से दुर्गम वन से दूर पहुँच कर, शिकारियों की भी बाणों की पहुँच से बाहर होकर वेग से दौड़ता हुआ मृग कुएँ में गिर पड़ा। बेचारा दैव के प्रतिकूल होने पर क्या पुरुषार्थ करे॥ ८७॥

अथाहमेकोऽन्यत्र गतः। शेषा मूढतया तत्रैव दुर्गे प्रविष्टाः। अत्रान्तरे स दुष्टपरिव्राजको रुधिरबिन्दुचर्चितां भूमिमवलोक्य तेनैव दुर्गमार्गेणागत्योपस्थितः। ततश्च स्वहस्तिकया खनितुमारब्धः। अथ तेन खनता प्राप्तं तन्निधानं यस्योपरि सदैवाऽहं कृतवसतिर्यस्योष्मणा महादुर्गमपि गच्छामि। ततो हृष्टमनास्ताम्रचूडमिदमूचेऽभ्यागतः—'भो भगवन्, इदानीं स्वपिहि निःशङ्कः। अस्योष्मणा मूषकस्ते जागरणं सम्पादयति।' एवमुक्त्वा निधानमादाय मठाभिमुखं प्रस्थितौ द्वावपि। अहमपि यावन्निधानरहित स्थानमागच्छामि, तावदरमणीयमुद्वेगकारकं तत्स्थानं वीक्षितुमपि न शक्नोमि। अचिन्तयं च—'किं करोमि। क्व गच्छामि। कथं मे स्यान्मनसः प्रशान्तिः।' एवं चिन्तयतो महाकष्टेन स दिवसो व्यतिक्रान्तः। अथास्तमितेऽर्के सोद्वेगो निरुत्साहस्तस्मिन्मठे सपरिवारः प्रविष्टः।

मैं अकेला और तरफ चला गया। शेष मूर्खता से उसी बिल में घुस गये। इसी बीच में वह दुष्ट संन्यासी रुधिर की बूँदों से चिह्नित पृथ्वी को देखकर उसी बिलमार्ग से आ पहुँचा और कुदाल से खोदने लगा। खोदते-खोदते उसने वह रत्न पा लिया जिसके ऊपर मैं हमेशा रहता था और जिसके प्रभाव से दुर्गम जगहों पर भी पहुँच जाता था। तब अभ्यागत प्रसन्न मन से ताम्रचूड से बोला—भगवन् ! अब निःशङ्क होकर सोओ। इसी की गरमी से चूहा तुम्हें रात भर जगाता था। यह कह और रत्न लेकर दोनों मठ की तरफ चले गये। मैं भी जब निधानरहित स्थान पर पहुँचा तब अरमणीय मन को क्षुब्ध करने वाले उस स्थान को देख भी न सकता था। मैं सोचने लगा—क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? मेरे मन को शान्ति कैसे हो ? इस प्रकार सोचते-सोचते बड़े कष्ट

से वह दिन बीत गया । अनन्तर सूर्यास्त होने पर उद्विग्न, उत्साहहीन हुआ मैं, परिवारसहित उस मठ में घुसा ।

अथास्मत्परिग्रहशब्दमाकर्ण्य ताम्रचूडोऽपि भूयो भिक्षापात्रं जर्जरवंशेन ताडयितुं प्रवृत्तः । अथासावभ्यागतः प्राह—'सखे, किमद्यापि निःशङ्को न निद्रां गच्छसि ।' स आह—'भगवन्, भूयोऽपि समायातः सपरिवारः स दुष्टात्मा मूषकः । तद्भयाज्जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयामि ।' ततो विहस्याभ्यागतः प्राह—'सखे, मा भैषीः । वित्तेन सह गतोऽस्य कूर्दनोत्साहः । सर्वेषामपि जन्तूनामियमेव स्थितिः । उक्तं च—

हमारे परिजनों के शब्द को सुनकर, ताम्रचूड, फिर पुराने बाँस से भिक्षापात्र को पीटने लगा । तब अभ्यागत ने कहा—मित्र ! अब भी निःशङ्क हो क्यों नहीं सोते ? वह बोला—भगवन् ! वह दुष्ट चूहा फिर परिवारसहित आ पहुँचा, उसके डर से भिक्षापात्र को बाँस से बजाता हूँ । तब हँसकर अभ्यागत ने कहा—मित्र ! मत डरो, धन के साथ इसके कूदने का उत्साह भी चला गया, सब मनुष्यों का यही नियम हैं । कहा भी है—

यदुत्साही सदा मर्त्यः पराभवति यज्जनान् ।
यदुद्धतं वदेद्वाक्यं तत्सर्वं वित्तजं बलम्' ॥८८॥

मनुष्य जो हमेशा उत्साही होता, जो मनुष्यों को तिरस्कृत करता और जो कठोर बात कहता है वह, सब धन का बल है ॥ ८८ ॥

अथाहं तच्छ्रुत्वा कोपाविष्टो भिक्षापात्रमुद्दिश्य विशेषादुत्कूर्दितोऽप्राप्त एव भूमौ निपतितः । तच्छ्रुत्वाऽसौ मे शत्रुर्विहस्य ताम्रचूडमुवाच—'भोः, पश्य पश्य कौतूहलम् ।' आह च—

यह सुनकर मैं क्रुद्ध हो भिक्षापात्र की तरफ सारी शक्ति लगाकर कूदा, परन्तु वहाँ न पहुँचकर भूमि पर गिर पड़ा । यह देखकर वह मेरा शत्रु हंसकर ताम्रचूड से बोला—देखो तमाशा देखो, फिर कहने लगा—

'अर्थेन बलवान्सर्वोऽप्यर्थयुक्तः स पण्डितः
पश्यैनं मूषकं व्यर्थं सजातेः समतां मतम्' ॥८९॥

सब मनुष्य धन से बलवान् होते हैं, जो धनवान् है वही पण्डित है, देखो—धनरहित यह चूहा अपनी जातिवालों के समान हो गया ॥ ८९ ॥

तत्स्वपिहि त्वं गतशङ्कः । यदस्योत्पतनकारणं तदावयोर्हस्तगतं जातम् । अथवा साध्विदमुच्यते—

इसलिये तुम निःशङ्क सोओ। इसके कूदने का कारण हम दोनों के हाथ में आ गया है। ठीक ही कहा है—

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः।
तथाऽर्थेन विहीनोऽत्र पुरुषो नामधारकः' ॥९०॥

जिस प्रकार टूटे दाँतवाला साँप और मदरहित हाथी इस संसार में केवल नामधारी होते हैं, उसी प्रकार धन से रहित पुरुष भी नामधारी होता है ॥ ९० ॥

तच्छ्रुत्वाऽहं मनसा विचिन्तितवान्—'यतोऽङ्गुलिमात्रमपि कूर्दन-शक्तिर्नास्ति, तद्धिगर्थहीनस्य पुरुषस्य जीवितम्। उक्तं च—

यह सुनकर मैं सोचने लगा—मुझमें अंगुल भर कूदने की शक्ति नहीं रही, इसलिए धनहीन पुरुष के जीवन को धिक्कार है। कहा भी है—

अर्थेन च विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
उच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥९१॥

धनहीन अतएव मन्दबुद्धि पुरुष के सब कार्य, गरमी में छोटी-नदियों के समान नष्ट हो जाते हैं ॥ ९१ ॥

यथा काकयवाः प्रोक्ता यथाऽरण्यभवास्तिलाः।
नाममात्रा न सिद्धौ हि धनहीनास्तथा नराः ॥९२॥

जैसे काकयव—एक प्रकार का साररहित अन्न और जङ्गली तिल नाम-मात्र के ही होते हैं। उनसे कोई सिद्धि नहीं होती। उसी प्रकार धनहीन पुरुष भी होते हैं ॥ ९२ ॥

सन्तोऽपि न हि राजन्ते दरिद्रस्येतरे गुणाः।
आदित्य इव भूतानां श्रीर्गुणानां प्रकाशिनी ॥९३॥

दरिद्र व्यक्ति के सभी गुण धन के अभाव में प्रकाशित नहीं होते। क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सकल पदार्थों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार सकल गुणों की प्रकाशिका लक्ष्मी ही है ॥ ९३ ॥

न तथा बाध्यते लोके प्रकृत्या निर्धनो जनः।
यथा द्रव्याणि संप्राप्य तैर्विहीनोऽसुखे स्थितः ॥९४॥

जो व्यक्ति प्रकृति से ही निर्धन है उसे उतना कष्ट नहीं होता जितना कि पहले धन प्राप्त कर बाद में उससे रहित हो दुःख में रहने वाले व्यक्ति को होता है ॥ ९४ ॥

शुष्कस्य कीटखातस्य वह्निदग्धस्य सर्वतः।
तरोरप्यूषरस्थस्य वरं जन्म न चार्थिनः ॥९५॥

सूखे, कीड़ों से खाये, चारों ओर से जले तथा ऊसर भूमि में स्थित वृक्ष का जन्म याचक के जन्म की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है ॥ ९५ ॥

शङ्कनीया हि सर्वत्र निष्प्रतापा दरिद्रता।
उपकर्तुमपि हि प्राप्तं निःस्वं सन्त्यज्य गच्छति ॥९६॥

अकीर्तिकारिणी दरिद्रता से सदा-सर्वदा सावधान रहना चाहिये। क्योंकि उपकार करने के लिये भी आये हुए निर्धन को मनुष्य छोड़ देता है ॥ ९६ ॥

उन्नम्योन्नम्य तत्रैव निर्धनानां मनोरथाः।
हृदयेष्वेव लीयन्ते विधवास्त्रीस्तनाविव ॥९७॥

विधवा स्त्री के स्तन के समान निर्धन मनुष्य की अभिलाषाएँ भी हृदय में उठ-उठकर वहीं नष्ट हो जाती हैं ॥ ९७ ॥

व्यक्तेऽपि वासरे नित्यं दौर्गत्यतमसावृतः।
अग्रतोऽपि स्थितो यत्नान्न केनापीह दृश्यते' ॥९८॥

इस संसार में दुर्गति (दरिद्रता) रूप अन्धकार से ढका हुआ मनुष्य दिन के प्रकाश में आगे रहता हुआ भी प्रयत्न करने पर भी किसी से नहीं देखा जाता॥

एवं विलप्याहं भग्नोत्साहस्तन्निधानं गण्डोपधानीकृतं दृष्ट्वा स्वं दुर्गं प्रभाते गतः। ततश्च मद्भृत्याः प्रभाते गच्छन्तो मिथो जल्पन्ति— 'अहो, असमर्थोऽयमुदरपूरणेऽस्माकम्। केवलमस्य पृष्ठलग्नानां बिडालादिविपत्तयः तत्किमनेनाराधितेन।' उक्तं च—

इस प्रकार विलाप कर मैं उत्साहरहित हो उस धन को कन्धे के नीचे (सिरहाने में) रखा देख प्रातःकाल अपने दुर्ग (बिल) में चला गया। तब मेरे सेवक प्रातःकाल जाते हुए आपस में कहने लगे—यह हमारा पेट भरने में असमर्थ है, इसके पीछे फिरते हुए (साथ रहनेमें) बिल्ली आदि की विपत्तियाँ ही प्राप्त होंगी, अतः इसकी सेवा करने से क्या लाभ। कहा भी है—

'यत्सकाशान्न लाभाः स्यात्केवलाः स्युर्विपत्तयः।
स स्वामी दूरतस्त्याज्यो विशेषादनुजीविभिः ॥९९॥

जिससे कोई लाभ न हो और केवल विपत्तियाँ ही प्राप्त हों ऐसे मालिक को विशेषकर अनुचर दूर से ही छोड़ देवें ॥ ९९ ॥

एवं तेषां वचांसि श्रुत्वा स्वदुर्गं प्रविष्टोऽहम्। यावन्न कश्चिन्मम संमुखेऽभ्येति तावन्मया चिन्तितम्—'धिगियं दरिद्रता।' अथवा साध्विदमुच्यते—

उनके यह वचन सुनकर मैं अपने दुर्ग में घुस गया। जब मेरे पास कोई न आया। तब मैंने सोचा—इस दरिद्रता को धिक्कार है। अथवा ठीक ही कहा है—

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं मैथुनमप्रजम्।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः' ॥१००॥

दरिद्र मनुष्य, सन्तान पैदा करने में असमर्थ मैथुन, वेदज्ञ ब्राह्मण रहित श्राद्ध और दक्षिणारहित यज्ञ निष्फल हैं ॥ १०० ॥

एवं मे चिन्तयतस्ते भृत्या मम शत्रूणां सेवका जाताः। ते च मामेकाकिनं दृष्ट्वा बिडम्बनां कुर्वन्ति। अथ मयैकाकिना योगनिद्रां गतेन भूयो विचिन्तिम्—'यत्तस्य कुतपस्विनः समाश्रयं गत्वा तद्गण्डोपधानवर्तिकृतां वित्तपेटां शनैः शनैर्विदार्य तस्य निद्रावशं गतस्य स्वदुर्गे तद्वित्तमानयामि, येन भूयोऽपि मे वित्तप्रभावेणाधिपत्यं पूर्ववद्भविष्यति। उक्तं च—

जब कि मैं इस तरह सोच रहा था (उसी समय) मेरे सेवक, मेरे शत्रुओं के अनुचर हो गये। वे लोग मुझे अकेला देखकर मेरी हँसी करने लगे। तब मैंने अकेले ही अपनी हालत पर विचार करते हुए सोचा कि उस दुष्ट तपस्वी के स्थान पर जा, उसके सोते हुए ही तकिये के नीचे रखी हुई धन की पिटारी को धीरे-धीरे काटकर वह धन अपने बिल में ले जाऊँ। जिससे धन के प्रभाव से पहिले की तरह ही मेरा आधिपत्य हो जाय। कहा भी है—

व्यथयन्ति परं चेतो मनोरथशतैर्जनाः।
नानुष्ठानैर्धनैर्हीनाः कुलजा विधवा इव ॥१०१॥

निर्धन मनुष्य कुलीन विधवाओं के समान सैकड़ों इच्छाओं के द्वारा केवल अपने मन को क्लेश ही दिया करते हैं। वे अपनी इच्छाओं को पूर्ण करके मन को आनन्दित नहीं कर सकते ॥ १०१ ॥

दौर्गत्यं देहिनां दुःखमपमानकरं परम्।
येन स्वैरपि मन्यन्ते जीवन्तोऽपि मृता इव ॥१०२॥

दरिद्रता प्राणियों के लिये महान् दुःख और अत्यन्त अपमान करनेवाली होती है। जिससे अपने कुटुम्बी भी जिन्दों को भी मुर्दा ही समझते हैं ॥१०२॥

दैन्यस्य पात्रतामेति पराभूतेः परं पदम् ।
विपदामाश्रयः शश्वद्दौर्गत्यकलुषीकृतः ॥१०३॥

दरिद्रता से मलिन हुआ पुरुष, हमेशा दीनता का पात्र होता है-तथा तिरस्कार का मुख्य स्थान और विपत्तियों का घर होता है ॥ १०३ ॥

लज्जन्ते बान्धवास्तेन सम्बन्धं गोपयन्ति च ।
मित्राण्यमित्रतां यान्ति यस्य न स्युः कपर्दकाः ॥१०४॥

जिसके पास धन न हो, उससे कुटुम्बी लोग लज्जित होते हैं और उसके साथ अपना सम्बन्ध छिपाते हैं। (केवल इतना ही नहीं किन्तु) मित्र भी शत्रु हो जाते हैं ॥ १०४ ॥

मूर्तं लाघवमेवैतदपायानामिदं गृहम् ।
पर्यायो मरणस्यायं निर्धनत्वं शरीरिणाम् ॥१०५॥

यह दरिद्रता प्राणियों के लिये मूर्तिमती लघुता, विपत्तियों का घर और मृत्यु का नामान्तर है—यह दूसरी मृत्यु ही है ॥ १०५ ॥

अजाधूलिरिव त्रस्तैर्मार्जनीरेणुवज्जनैः ।
दीपखट्वोत्थछायेव त्यज्यते निर्धनो जनैः ॥१०६॥

बकरी के पैर से उठी हुई धूलि के समान झाड़ू से उड़ाई हुई गर्द की तरह और दीपक द्वारा पड़ी हुई खाट की परछाईं की तरह निर्धन मनुष्य लोगों से छोड़ दिया जाता है ॥ १०६ ॥

शौचावशिष्टयाऽप्यस्ति किञ्चित्कार्यं क्वचिन्मृदा ।
निर्धनेन जनेनैव न तु किञ्चित्प्रयोजनम् ॥१०७॥

शौच के बाद अंग साफ करने से बची हुई मिट्टी का भी कहीं कोई काम निकल सकता है, परन्तु निर्धन मनुष्य से कहीं कुछ काम नहीं हो सकता—वह उससे भी गया बीता है ॥ १०७ ॥

अधनो दातुकामोऽपि सम्प्राप्तो धनिनां गृहम् ।
मन्यते याचकोऽयं धिग्दारिद्र्यं खलु देहिनाम् ॥१०८॥

निर्धन मनुष्य (कुछ) देने की इच्छा रखता हुआ भी जब धनवानों के घर जाता है तब लोग उसे याचक ही समझते हैं, इसलिये प्राणियों की इस दरिद्रता को धिक्कार है ॥ १०८ ॥

अतो वित्तापहारं विदधतो यदि मे मृत्युः स्यात्तथापि शोभनम् । उक्तं च—

यदि उस धन को लाने के उद्योग में मेरी मृत्यु भी हो जाय, तो अच्छा है। कहा भी है—

स्ववित्तहरणं दृष्ट्वा यो हि रक्षात्यसून्नरः।
पितरोऽपि न गृह्णन्ति तद्दत्तं सलिलाञ्जलिम् ॥१०९॥

जो मनुष्य अपने धन का अपहरण देखकर प्राणों की रक्षा करता है। उसके दिये हुए तर्पण जल को पितर लोग भी ग्रहण नहीं करते ॥ १०९ ॥

तथा च—

गवार्थे ब्राह्मणार्थे च स्त्रीवित्तहरणे तथा।
प्राणांस्त्यजति यो युद्धे तस्य लोकाः सनातनाः' ॥११०॥

जो मनुष्य गौ और ब्राह्मणों की रक्षा के लिये तथा स्त्री और धन के हरण होने पर (उनको वापिस लाने में) युद्ध में प्राण छोड़ता है उसे अक्षय लोक प्राप्त होते हैं—वह स्वर्ग को जाता है ॥ ११० ॥

एवं निश्चित्य रात्रौ तत्र गत्वा निद्रावशमुपागतस्य पेटायां मया छिद्रं कृतं यावत्, तावत्प्रबुद्धो दुष्टतापसः। ततश्च जर्जरवंशप्रहारेण शिरसि ताडितः कथञ्चिदायुःशेषतया निर्गतोऽहम्, न मृतश्च। उक्तं च—

ऐसा निश्चय कर रात में वहाँ जाकर जब तक मैंने (तपस्वी के) सोते हुए पिटारी में छेद किया उसी समय वह दुष्ट तपस्वी जाग गया। तब (उसने) कटे बाँस से मेरे सिर पर मारा। (मैं) किसी प्रकार आयु शेष होने के कारण वहाँ से निकल आया और मरा नहीं। कहा भी है—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥१११॥

मनुष्य पाने योग्य (भाग्य में लिखी हुई) वस्तु को पाता ही है, दैव भी उसे रोक नहीं सकता; इसलिये न तो मैं शोक करता हूँ और न मुझे आश्चर्य ही है, क्योंकि जो वस्तु हमारी है वह दूसरों की नहीं हो सकती ॥ १११ ॥

काककूर्मौ पृच्छतः—'कथमेतत्।' हिरण्यक आह—

कौवे और कछुए ने पूछा—'यह कैसे?' हिरण्यक बोला—

कथा ४

'अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे सागरदत्तो नाम वणिक्। तत्सूनुना रूपकशतेन विक्रीयमाणं पुस्तकं गृहीतम्। तस्मिंश्च लिखितमस्ति—

किसी नगर में सागरदत्त नामका बनिया रहता था। उसके पुत्र ने सौ रुपये में बिकती हुई एक पुस्तक खरीदी। उसमें लिखा था—

(प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥)

'मनुष्य पाने योग्य वस्तु को पाता है' इत्यादि। (देखें श्लोक १११) ॥

तद्दृष्ट्वा सागरदत्तेन तनुजः पृष्टः—'पुत्र, कियता मूल्येनैतत् पुस्तकं गृहीतम्।' सोऽब्रवीत्—'रूपकशतेन'। तच्छ्रुत्वा सागरदत्तोऽब्रवीत्—'धिङ्मूर्ख, त्वं लिखितैकश्लोकं रूपकशतेन यद्गृह्णासि, एतया बुद्ध्या कथं द्रव्योपार्जनं करिष्यसि। तदद्यप्रभृति त्वया मे गृहे न प्रवेष्टव्यम्।' एवं निर्भर्त्स्य गृहान्निःसारितः। स च तेन निर्वेदेन विप्रकृष्टं देशान्तरं गत्वा किमपि नगरमासाद्यावस्थितः। अथ कतिपयदिवसैस्तन्नगरनिवासिना केनचिदसौ पृष्टः—'कुतो भवानागतः। किं नामधेयो वा' इति। असावब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' अथान्येनापि पृष्टेनानेन तथैवोत्तरं दत्तम्। एव च तस्य नगरस्य मध्ये प्राप्तव्यमर्थं इति तस्य प्रसिद्ध नाम जातम्। अथ राजकन्या चन्द्रवती नामाभिनवरूपयौवनसम्पन्ना सखीद्वितीयैकस्मिन्महोत्सवदिवसे नगरं निरीक्षमाणाऽस्ति। तत्रैव च कश्चिद्राजपुत्रोऽतीवरूपसम्पन्नो मनोरमश्च कथमपि तस्या दृष्टिगोचरे गतः। तद्दर्शनसमकालमेव कुसुमबाणाहतया तया निजसख्यभिहिता—'सखि' यथा किलानेन सह समागमो भवति तथाऽद्य त्वया यतितव्यम्।' एवं च श्रुत्वा सा सखी तत्सकाशं गत्वा शीघ्रमब्रवीत्—'यदहं चन्द्रवत्या तवान्तिकं प्रेषिता। भणितं च त्वां प्रति तया, यन्मम त्वद्दर्शनान्मनोभवेन पश्चिमावस्था कृता। तद्यदि शीघ्रमेव मदन्तिके न समेष्यसि तदा मे मरणं शरणम्।' इति श्रुत्वा तेनाभिहितम्—'यद्यवश्यं मया तत्रागन्तव्यं तत्कथय केनोपायेन प्रवेष्टव्यम्।' अथ सख्याभिहितम्—'रात्रौ सौधावलम्बितया दृढवरत्रया त्वया तत्रारोढव्यम्।' सोऽब्रवीत्—'यद्येवं निश्चयो भवत्यास्तदहमेवं करिष्यामि।' इति निश्चित्य सखी चन्द्रवतीसकाशं गता।

उसे देखकर सागरदत्त ने पुत्र से पूछा—पुत्र! कितने मूल्य में यह पुस्तक खरीदी है? उसने कहा—सौ रुपये में। यह सुनकर सागरदत्त बोला—मूर्ख! तुझे धिक्कार है। जब तू एक श्लोकवाली पुस्तक सौ रुपये में खरीदता है

तब ऐसी समझ से (धन को इतना तुच्छ समझकर) कैसे धन कमायेगा; इसलिये आज से तू मेरे घर में न घुसना। इस प्रकार धमकाकर घर से उसे निकाल दिया। वह भी इस अपमान से (दुःखी हो) दूर देश में जाकर किसी नगर में रहने लगा। कुछ दिनों बाद वहाँ के किसी निवासी ने पूछा—आप कहाँ से आये हैं और आपका क्या नाम है ? इसने कहा, 'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' किसी दूसरे के पूछने पर भी इसने यही जवाब दिया। इस तरह उस शहर में उसका 'प्राप्तव्यमर्थं' नाम प्रसिद्ध हो गया। (किसी समय उत्सव के दिन) अपूर्वसुन्दरी और युवती चन्द्रवती नामक राजकन्या सखी के साथ नगर देख रही थी। उसी समय, मन को लुभाने वाला अत्यन्त सुन्दर कोई राजकुमार किसी तरह (अकस्मात्) उसकी दृष्टि में पड़ा। उसके देखते ही काम से पीड़ित हो राजकन्या ने सखी से कहा—सखि ! ऐसा यत्न करो जिससे आज इसके साथ समागम हो जाय। यह सुनकर सखी जल्दी से उसके पास जाकर कहने लगी—मुझे चन्द्रवती ने तुम्हारे पास भेजा है और उसने तुमसे यह कहा है कि तुम्हारे दर्शन से ही काम ने मेरी अन्तिम दशा कर दी है, इसलिये अगर तुम शीघ्र ही मेरे पास न आओगे, तो मृत्यु ही मेरी रक्षक होगी—मैं मर जाऊँगी। यह सुन, उसने कहा—अगर मुझे निश्चय ही वहाँ जाना है तो बताओ किस उपाय से वहाँ प्रविष्ट हो सकूँगा। तब सखी ने कहा—रात में महल से लटकती हुई मजबूत रस्सी पकड़ कर चढ़ आना। उसने कहा—अगर आपका यह निश्चय है तो मैं ऐसा ही करूँगा। इस प्रकार तै करके सखी चन्द्रवती के पास चली गई।

अथागतायां रजन्यां स राजपुत्रः स्वचेतसा व्यचिन्तयत्—'अहो, महदकृत्यमेतत्। उक्तं च—

रात्रि आने पर राजपुत्र ने मन में विचार किया कि यह बड़ा अनुचित काम है। कहा भी है—

गुरोः सुतां मित्रभार्यां स्वामिसेवकगेहिनीम्।
यो गच्छति पुमांल्लोके तमाहुर्ब्रह्मघातिनम् ॥११२॥

जो मनुष्य गुरुपुत्री, मित्र, स्वामी और भृत्य की स्त्री से समागम करता है संसार में उसे ब्रह्मघाती—ब्रह्महत्या करनेवाला, कहते हैं अर्थात् ब्रह्महत्या में जो पाप होता है वही पाप उसे होता है ॥ ११२ ॥

अपरं च—

अयशः प्राप्यते येन येन चापगतिर्भवेत् ।
स्वर्गाच्च भ्रश्यते येन तत्कर्म न समाचरेत्' ॥११३॥

और भी—जिस काम से दुष्कीर्ति प्राप्त हो, जिससे नीच योनि मिले और जिस काम से स्वर्ग से गिरना पड़े, वह काम कभी न करे ॥ ११३ ॥

इति सम्यग्विचार्य तत्सकाशं न जगाम । अथ प्राप्तव्यमर्थः पर्यटन्धवलगृहपार्श्वे रात्राववलम्बितवरत्रां दृष्ट्वा कौतुकाविष्टहृदयस्तामालम्ब्याधिरूढः । तया च राजपुत्र्या स एवायमित्याश्वस्तचित्तया स्नानखादनपानाच्छादनादिना सम्मान्य तेन सह शयनतलमाश्रितया तदङ्गसंस्पर्शसंजातहर्षरोमाञ्चितगात्रयोक्तम्—'युष्मद्दर्शनमात्रानुरक्तया मयात्मा प्रदत्तोऽयम् । त्वद्वर्जमन्यो भर्ता मनस्यपि मे न भविष्यति इति । तत्कस्मान्मया सह न ब्रवीषि ।' सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः ।' इत्युक्ते तयाऽन्योऽयमिति मत्वा धवलगृहादुत्तार्य मुक्तः । स तु खण्डदेवकुले गत्वा सुप्तः । अथ तत्र कयाचित्स्वैरिण्या दत्तसंकेतको यावद्दण्डपाशकः प्राप्तः, तावदसौ पूर्वसुप्तस्तेन दृष्टो रहस्यसंरक्षणार्थमभिहितश्च—'को भवान्' । सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः ।' इति श्रुत्वा दण्डपाशकेनाभिहितम्—'यच्छून्यं देवगृहमिदम् । तदत्र मदीयस्थाने गत्वा स्वपिहि ।' तथा प्रतिपद्य स मतिविपर्यासादन्यशयने सुप्तः । अथ तस्य रक्षकस्य कन्या विनयवती नाम रूपयौवनसम्पन्ना कस्यापि पुरुषस्यानुरक्ता संकेतं दत्त्वा तत्र शयने सुप्ताऽऽसीत् । अथ सा तमायातं दृष्ट्वा स एवायमस्मद्वल्लभ इति रात्रौ घनतरान्धकारव्यामोहितोत्थाय भोजनाच्छादनादिक्रियां कारयित्वा गान्धर्वविवाहेनात्मानं विवाहयित्वा तेन समं शयने स्थिता विकसितवदनकमला तमाह—'किमद्यापि मया सह विश्रब्धं भवान्न ब्रवीति ।' सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः ।' इति श्रुत्वा तया चिन्तितम्—'यत्कार्यमसमीक्षितं क्रियते तस्येदृक्फलविपाको भवति' इति । एवं विमृश्य सविषादया तया निःसारितोऽसौ । स च यावद्वीथीमार्गेण गच्छति तावदन्यविषयवासी वरकीर्तिर्नाम वरो महता वाद्यशब्देनागच्छति । प्राप्तव्यमर्थोऽपि तैः समं गन्तुमारब्धः । अथ यावत्प्रत्यासन्ने लग्नसमये राजमार्गासन्नश्रेष्ठिगृहद्वारे रचितमण्डपवेदिकायां कृतकौतुकमङ्गल-

वेशा वणिक्सुतास्ति, तावन्मदमत्तो हस्त्यारोहकं हत्वा प्रणश्यज्जन-कोलाहलेन लोकमाकुलयंस्तमेवोद्देशं प्राप्तः। तं च दृष्ट्वा सर्वे वरानुयायिनो वरेण सह प्रणश्य दिशो जग्मुः। अथास्मिन्नवसरे भयतरल-लोचनामेकाकिनीं कन्यामवलोक्य 'मा भैषीः, अहं परित्राता' इति सुधीरं स्थिरीकृत्य दक्षिणपाणौ संगृह्य महासाहसिकतया प्राप्तव्यमर्थः परुषवाक्यैर्हस्तिनं निर्भर्त्सितवान्। ततः कथमपि दैवयोगादपाये हस्तिनि ससुहृद्बान्धवेनातिक्रान्तलग्नसमये वरकीर्तिनागत्य तावत्तां कन्यामन्यहस्तगतां दृष्ट्वाऽभिहितम्—'भोः श्वशुर, विरुद्धमिदं त्वयाऽनुष्ठितं यन्मह्यं प्रदाय कन्यान्यस्मै प्रदत्ता' इति। सोऽब्रवीत्—'भोः, अहमपि हस्तिभयपलायितो भवद्भिः सहायातो न जाने किमिदं वृतम्।' इत्यभिधाय दुहितरं प्रष्टुमारब्धः—'वत्से, न त्वया सुन्दरं कृतम्। तत्कथ्यतां कोऽयं वृत्तान्तः।' साऽब्रवीत्—'यदहमनेन प्राण-संशयाद्रक्षिता, तदेनं मुक्त्वा मम जीवन्त्या नान्यः पाणिं ग्रहीष्यति' इति। अनेन वार्ताव्यतिकरेण रजनी व्युष्टा। अथ प्रातस्तत्र संजाते महाजनसमवाये वार्ताव्यतिकरं श्रुत्वा राजदुहिता तमुद्देशमागता। कर्णपरम्परया श्रुत्वा दण्डपाशकसुतापि तत्रैवागता। अथ तं महाजन-समवायं श्रुत्वा राजाऽपि तत्रवाजगाम। प्राप्तव्यमर्थं प्राह—'भोः, विश्रब्धं कथय। कीदृशोऽसौ वृत्तान्तः।' अथ सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति। राजकन्या स्मृत्वा प्राह—'देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः' इति। ततो दण्डपाशकसुताऽब्रवीत्—'तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे' इति। तमखिललोकवृत्तान्तमाकर्ण्य वणिक्सुताऽब्रवीत्—'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्' इति। ततः अभयदानं दत्त्वा राजा पृथक्पृथग्वृत्तान्ताञ्ज्ञात्वावगततत्त्वस्तस्मै प्राप्तव्यमर्थाय स्वदुहितरं सबहुमानं ग्रामसहस्रेण समं सर्वालंकारपरिवारयुतां दत्त्वा त्वं मे पुत्रोऽसीति नगरविदितं तं यौवराज्येऽभिषिक्तवान्। दण्डपासकेनापि स्वदुहिता स्वशक्त्या वस्त्रदानादिना संभाव्य प्राप्तव्यमर्थाय प्रदत्ता।

इस प्रकार अच्छी तरह सोचकर उसके पास नहीं गया। रात्रि में घूमते हुए 'प्राप्तव्यमर्थ' ने राजमहल में लटकती हुई रस्सी देखी, उसे देखकर उसका हृदय कुतूहल (रस्सी लटकने का कारण जानने की इच्छा) से भर गया और वह उसे पकड़ ऊपर चढ़ गया। वह राजपुत्री यह समझकर कि यह वही है बड़ी प्रसन्न हुई। वह स्नान, भोजन, पान और वस्त्रादि से उसका सत्कार कर उसके

साथ शय्या पर स्थित होकर उसके स्पर्श से पुलकित होती हुई बोली— आपके दर्शनमात्र से ही अनुरक्त होकर मैंने यह शरीर आपको अर्पण कर दिया है, आपके अतिरिक्त कोई पुरुष मन में भी मेरा पति न होगा, फिर आप मुझसे क्यों नहीं बोलते। उसने कहा—प्रातव्य वस्तु मनुष्य पा ही लेता है। ऐसा कहने पर 'यह कोई और है' यह समझ कर उसने उसे उतार कर छोड़ दिया। वह भी टूटे हुए मन्दिर में (अथवा 'खण्डोवा'[1] नामक देवताविशेष के मन्दिर में) जाकर सो रहा। इसके बाद शहर का कोतवाल किसी स्वेच्छा-चारिणी का संकेत पाकर वहाँ आया। उसने पहिले से सोये हुए इसे (प्राप्त-व्यमर्थं को) देखा और अपना गुप्तभेद छिपाने के लिये कहा—आप कौन हैं? उसने कहा, 'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः'। यह सुन दण्डपाशक ने कहा— यह देवालय सूना है इसलिये मेरे स्थान पर जाकर सो रहो। वह स्वीकार कर (चला गया परन्तु) धोखे से दूसरी चारपाई पर सो गया। (इधर) उस कोतवाल की सुन्दरी और युवती लड़की विनयवती किसी पुरुष में अनुरक्त हो (उसे) संकेत देकर उस चारपाई पर सोई हुई थी, उसने अपना प्रिय समझ लिया, (इसलिए) उठकर भोजनाच्छादनादि क्रियायें कराई और गान्धर्व विवाह के द्वारा उसके साथ विवाह कर लिया। तब उसके साथ शय्या पर स्थित होकर कमल के समान सुन्दर मुख से मुस्कराती हुई बोली— 'अब भी आप, मेरे साथ खुले दिल से क्यों नहीं बोलते।' उसने कहा— 'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' यह सुन वह सोचने लगी—जो कार्य बिना सोचे-समझे किया जाता है उसका ऐसा ही परिणाम होता है। यह सोचकर उसने दुःखी हो उसे निकाल दिया। वह जिस समय सड़क पर जा रहा था उसी समय दूसरे देश (शहर) का रहनेवाला वरकीर्ति नामक वर, बड़े गाजे-बाजे के साथ आ रहा था। प्राप्तव्यमर्थं भी उसके साथियों के साथ चल दिया। (इधर जब) विवाह लग्न से कुछ ही पूर्व सड़क के पास वाले एक सेठ के घर के दरवाजे पर मण्डप के नीचे बनी हुई वेदी पर हाथ में कलावा (मङ्गल कार्यों में काम आने वाला लाल डोरा) बाँधे और विवाह के वस्त्रादि धारण

---

१. दक्षिण में पूना से २५ मील पर जेनुरी नामक पर्वत पर 'खण्डोवा' नामक देवता की चैत्र पूर्णिमा में पूजा होती है। इस देवता की पूजा मुख्यतः गड़रिये लोग करते हैं।

किये हुए बनिये की लड़की बैठी हुई थी उसी समय एक मतवाला हाथी पील-वान को मार कर भागते हुए मनुष्यों के शोर से लोगों को भयभीत करता हुआ उसी स्थान पर आ पहुँचा । उसे देखकर वर और उसके साथी इधर-उधर भाग गये । इसी मौके पर प्राप्तव्यमर्थं ने डर के कारण चञ्चल नेत्रवाली उस लड़की को अकेली देखकर बहादुरी के साथ 'मत डरो, मैं तुम्हारा रक्षक हूँ' (कहकर) धीरज दिया और उसे दाहिने हाथ में पकड़कर (लड़की का दाहिना हाथ पकड़कर) बड़े साहसपूर्वक कठोर शब्दों से हाथी को धमकाया । तब किसी प्रकार भाग्यवश हाथी के चले जाने और विवाह मुहूर्त के भी निकल जाने पर वरकीर्ति बन्धु-बान्धवों सहित वहाँ आया । उसने लड़की को दूसरे के हाथ में (कब्जे में) देखकर कहा—हे श्वशुर ! अपने यह काम अनुचित किया कि मुझे लड़की देकर (देने का वायदा करके) दूसरे को दे दी । उसने कहा—मैं भी हाथी के डर से भागकर आप लोगों के साथ ही आया हूँ, नहीं मालूम यह क्या बात हो गई । यह कहकर लड़की से पूछने लगा—पुत्रि ! तुमने यह ठीक नहीं किया, कहो, यह क्या बात है ? वह बोली—चूँकि इसने खतरे से मेरी जान बचाई है इसलिए मेरे जीवित रहते हुए इसे छोड़कर कोई दूसरा मेरा हाथ नहीं पकड़ सकता (मेरे साथ विवाह नहीं कर सकता)। इसी बातचीत में रात व्यतीत हो गई । अनन्तर प्रातःकाल वहाँ बहुत से मनुष्यों के इकट्ठा हो जाने पर इस समाचार को सुन राजकुमारी वहीं आयी और कर्णपरम्परा (एक दूसरे से यह घटना) सुन कोतवाल की लड़की भी वहाँ आ गई । राजा भी यह सुनकर कि 'वहाँ बहुत मनुष्य एकत्रित हैं' उसी स्थल पर आ गया । (उसने) प्राप्तव्यमर्थं से पूछा—भद्र ! निडर होकर कहो, यह क्या वृत्तान्त है । उसने कहा—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' । राजकन्या ने सोचकर कहा—'विधाता भी उसे रोक नहीं सकता ।' तब कोतवाल की पुत्री बोली—'इसलिये न तो मैं शोक ही करती हूँ और न मुझे आश्चर्य ही है ।' यह समस्त लोकसमाचार सुन कर वैश्यपुत्री बोली—'जो हमारा है वह दूसरों का नहीं हो सकता ।' तब अभय दान देकर राजा ने पृथक्-पृथक् समाचार मालूम किये और सब बात ठीक-ठीक जानकर उस प्राप्तव्यमर्थं को सब तरह के भूषणों से सुशोभित कर दास-दासियों के साथ अपनी पुत्री को आदरपूर्वक दे दी । साथ ही एक सहस्र ग्राम भी दिये । तथा—'तुम मेरे पुत्र हो' ऐसा लोक में प्रसिद्ध कर उसे युवराज पद पर

अभिषिक्त किया। दण्डेशक ने भी शक्त्यानुसार वस्त्र आदि से सम्मानित कर अपनी पुत्री प्राप्तव्यमर्थ को दे दी।

अथ प्राप्तव्यमर्थेनापि स्वीयपितृमातरौ समस्तकुटुम्बावृतौ तस्मिन्नगरे सम्मानपुरःसरं समानीतौ। अथ सोऽपि स्वगोत्रेण सह विविधभोगानुपभुञ्जानः सुखेनावस्थितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति।

अनन्तर प्राप्तव्यमर्थ ने सब कुटुम्बियों के साथ अपने माता-पिता को आदरपूर्वक उसी नगर में बुला लिया। वह प्राप्तव्यमर्थ, अपने परिवार के साथ तरह-तरह के सुख-भोग भोगता हुआ आनन्द से रहने लगा। इसलिए मैं कहता हूँ 'प्राप्तव्य वस्तु मनुष्य पा ही लेता है।' इत्यादि।

तदेतत्सकलं सुखदुःखमनुभूय परं विषादमुपागतोऽनेन मित्रेण त्वत्सकाशमानीतः। तदेतन्मे वैराग्यकारणम्। मन्थरक आह—'भद्र, भवति सुहृदयमसन्दिग्धं यः क्षुत्क्षामोऽपि शत्रुभूतं त्वां भक्ष्यस्थाने स्थितमेवं पृष्ठमारोप्यानयति न मार्गेऽपि भक्षयति। उक्तं च यतः—

यह सब सुख-दुख भोगकर मैं अत्यन्त दुःखी हुआ, अब यह मित्र मुझे तुम्हारे पास लाया है; मेरा वैराग्य का यही कारण है। मन्थरक बोला—भद्र! निस्सन्देह यह मित्र है जो भूखा होने पर भी अपने भोजनस्वरूप तुझ शत्रु को भी अपनी पीठ पर चढ़ाकर लाता है, रास्ते में भी खाता नहीं। कहा भी है—

विकारं याति नो चित्तं वित्ते यस्य कदाचन।
मित्रं स्यात्सर्वकाले च कारयेन्मित्रमुत्तमम् ॥११४॥

जिसका मन ऐश्वर्य पाकर विकार को प्राप्त नहीं होता अर्थात् बदलता नहीं और जो सब अवस्थाओं में सच्चा मित्र रहे उस उत्तम पुरुष को मित्र बनाना चाहिए ॥ ११४ ॥

विद्वद्भिः सुहृदामत्र चिह्नैरेतैरसंशयम्।
परीक्षाकरणं प्रोक्तं होमाग्नेरिव पण्डितैः ॥११५॥

इन चिह्नों से विद्वान् के लिए होमाग्नि की तरह मित्रों की परीक्षा अवश्य कही गयी है ॥ ११५ ॥

तथा च—

आपत्काले तु संप्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु संप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद्भवेत् ॥११६॥

विपत्ति का समय आने पर जो मित्र रहे वही मित्र कहलाने योग्य है (क्योंकि) बढ़ती के समय तो दुष्ट भी मित्र बन जाते हैं ॥ ११६ ॥

तन्ममाप्यद्यास्य विषये विश्वासः समुत्पन्नो यतो नीतिविरुद्धेयं मैत्री मांसाशिभिर्वायसैः सह जलचराणाम् । अथवा साध्विदमुच्यते—

इसलिए आज मुझे भी इसके विषय में विश्वास हो गया है क्योंकि मांसाहारी कौवों के साथ जल में रहनेवालों की यह मित्रता नीतिविरुद्ध है । अथवा यह ठीक ही कहा है—

मित्रं कोऽपि न कस्यापि नितान्तं न च वैरकृत् ।
दृश्यते मित्रविध्वस्तात्कार्याद्वैरी परीक्षितः ॥११७॥

न तो कोई सर्वथा किसी का मित्र ही है और न सर्वथा शत्रु ही होता है क्योंकि कार्यवश मित्र से मारे जाते हुए और शत्रु से रक्षा किये जाते हुए पुरुष देखे जाते हैं ॥ ११७ ॥

तत्स्वागतं भवतः । स्वगृहवदास्यतामत्र सरस्तीरे । यच्च वित्तनाशो विदेशवासश्च ते संजातस्तत्र विषये सन्तापो न कर्तव्यः । उक्तं च—

आपका स्वागत है । इस तालाब के किनारे पर अपने घर के समान रहिये । और जो आपके धन का नाश तथा विदेश में वास हो गया है इस विषय में दुःख न करना चाहिये । कहा भी है—

अभ्रच्छाया खलप्रीतिः सिद्धमन्नं च योषितः ।
किंचित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥११८॥

मेघ की छाया, दुष्टों की प्रीति, पका हुआ अन्न (भात आदि), स्त्रियाँ, जवानी और धन ये सब वस्तु थोड़े काल तक ही भोगने योग्य होती हैं अर्थात् ये देर तक नहीं ठहरतीं ॥ ११८ ॥

अतएव विवेकिनो जितात्मानो धनस्पृहां न कुर्वन्ति । उक्तं च—

इसीलिए विवेकी जितेन्द्रिय पुरुष धन की इच्छा नहीं करते । कहा भी है—

सुसंचितैर्जीवनवत्सुरक्षितै-
र्निजेऽपि देहे न वियोजितैः क्वचित् ।
पुंसो यमान्तं व्रजतोऽपि निष्ठुरै-
रेतैर्धनैः पञ्चपदी न दीयते ॥११९॥

अच्छी प्रकार (कष्ट सहकर भी) संग्रह किये हुए, प्राणों के समान रक्षा किये हुए, अपने शरीर के लिये भी खर्च नहीं किये गये ऐसे ये निष्ठुर धन

यम के समीप भी जाते हुए (मरते हुए) पुरुष के पीछे पाँच पैर भी नहीं जाते ॥ ११९ ॥

अन्यच्च—

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥१२०॥

और भी—जैसे मांस को पानी में मछलियाँ, पृथिवी पर हिंसक जन्तु और आकाश में पक्षी खाते हैं उसी प्रकार धनवान् सर्वत्र खाया जाता है ॥ १२० ॥

निर्दोषमपि वित्ताढ्य दोषैर्योजयते नृपः ।
निर्धनः प्राप्तदोषोऽपि सर्वत्र निरुपद्रवः ॥१२१॥

राजा निरपराध भी धनी पुरुष को अपराधी सिद्ध करता है (दोष लगाकर धन वसूल करता है) । निर्धन पुरुष अपराध करके भी सब जगह निर्दोष ही रहता है ॥ १२१ ॥

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्कष्टसंश्रयान् ॥१२२॥

धन के कमाने और उसकी रक्षा करने में कष्ट होता है । उसके नाश होने तथा खर्च करने में भी दुःख होता है, इन केवल दुःख देने वाले धनों को धिक्कार है ॥ १२२ ॥

अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः ।
शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥१२३॥

मूर्ख मनुष्य, धन कमाने में जो दुःख सहता है उसका सौवाँ भाग भी यदि सहन करे तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है ॥ १२३ ॥

अपरं विदेशवासजमपि वैराग्यं त्वया न कार्यम् । यतः—

और विदेशवास से उत्पन्न खेद को भी तुम्हें मन में नहीं लाना चाहिए; क्योंकि—

को धीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतो
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणैः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ॥१२४॥

स्थिरचित्त महामना मनुष्य के लिये क्या स्वदेश और क्या विदेश ! सब ही उसके लिए समान है । वह जिस देश में रहता है उसी को भुजबल से

अपने अधीन कर लेता है। (जैसे कि) दांत, नाखून और पूँछरूपी अस्त्रधारी सिंह जिस वन में प्रविष्ट होता है उसी में बड़े-बड़े हाथियों को मारकर उनके खून से अपनी प्यास बुझाता है ॥ १२४ ॥

अर्थहीनः परे देशे गतोऽपि यः प्रज्ञावान्भवति स कथंचिदपि न सीदति। उक्तं च—

परदेश में गया हुआ निर्धन भी यदि बुद्धिमान् हो तो वह दुःखी नहीं होता। कहा भी है—

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥१२५॥

समर्थ के लिए अतिभार क्या है? व्यापारियों के लिए दूर कौन-सा स्थान है? विद्वानों के लिए विदेश क्या है? प्रियवादियों के लिये गैर कौन है? ॥ १२५ ॥

तत्प्रज्ञानिधिर्भवान्न प्राकृतपुरुषतुल्यः। अथवा—

आप महाबुद्धिमान् हैं, साधारण पुरुष के समान नहीं हैं। अथवा—

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च लक्ष्मीः स्वयं मार्गति वासहेतोः ॥१२६॥

उद्योगी, कार्य में देर न लगानेवाले, (कार्यों के) सिद्धान्त तथा निर्माण पद्धति को जाननेवाले, मद्यपानादि बुरे व्यसनों से पृथक्, बहादुर उपकार मानने वाले और स्थिर मित्रता वाले पुरुष को लक्ष्मी स्वयं अपने निवास के लिये तलाश कर लेती है ॥ १२६ ॥

अपरं प्राप्तोऽप्यर्थः कर्मप्राप्त्या नश्यति। तदेतावन्ति दिनानि त्वदीयमासीत्। मुहूर्तमप्यनात्मीयं भोक्तुं न लभ्यते। स्वयमागतमपि विधिनाऽपह्रियते।

और प्राप्त हुआ भी धन कर्मानुसार नष्ट हो जाता है। इतने दिनों तक (यह धन) तुम्हारा रहा। क्षण भर भी उस वस्तु को नहीं भोग सकते जो अपनी नहीं है। स्वयं प्राप्त भी (ऐसी वस्तु को) विधाता (भाग्य) हर लेता है।

अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते।
अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमिलको यथा ॥१२७॥

मनुष्य बड़े जङ्गल में पहुँचकर घबड़ाये हुए (मूढ़) सोमिलक के समान धन कमा कर भी (भाग्य के प्रतिकूल होने पर) उसको भोग नहीं सकता ॥१२७॥

हिरण्यक आह—'कथमेतत्' । स आह—

हिरण्यक ने कहा—यह कैसे ? यह बोला—

कथा ५

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने सोमिलको नाम कौलिको वसति स्म । स चानेकविधपट्टरचनारञ्जितानि पार्थिवोचितानि सदैव वस्त्राण्युत्पादयति । परं तस्य चानेकविधपट्टरचनानिपुणस्यापि न भोजनाच्छादनाभ्यधिकं कथमप्यर्थमात्रं सम्पद्यते । अथान्ये यत्र सामान्यकौलिकाः स्थूलवस्त्रसम्पादनविज्ञानिनो महर्द्धिसम्पन्नाः । तानवलोक्य स स्वभार्यामाह—'प्रिये, पश्यैतान्स्थूलपट्टकारकान्धनकनकसमृद्धान् । तदधारणकं ममैतत्स्थानम् । तदन्यत्रोपार्जनाय गच्छामि ।' सा प्राह—'भोः प्रियतम, मिथ्याप्रलपितमेतद्यदन्यत्र गतानां धनं भवति स्वस्थाने न भवतीति । उक्तं च—

किसी स्थान में सोमिलक नाम का जुलाहा रहता था । वह तरह-तरह की बुनावट से मनोहर, राजाओं के (पहिनने) योग्य वस्त्र बुना करता था । यद्यपि वह अनेक प्रकार के वस्त्र बनाने में चतुर था तथापि भोजन-वस्त्रादि से अधिक थोड़ा भी धन उसे नहीं मिलता था । और वहाँ मामूली जुलाहे मोटा (साधारण) कपड़ा बनाना जानने वाले बड़े सम्पन्न थे । उनको देखकर वह पत्नी से बोला—प्रिये ! इन मामूली कपड़ा बनाने वालों को देखो, ये कैसे मालदार (धन और सोने से सम्पन्न) हैं । मेरे लिये यह स्थान उपयुक्त नहीं, मुझे इस स्थान पर लाभ न होगा, इसलिये मैं कमाने के लिये और जगह जाऊँगा । वह बोली—प्रियतम ! यह बात मिथ्या है कि दूसरे स्थान पर जानेवालों को धन मिलता है । कहा भी है—

उत्पतन्ति यदाकाशे निपतन्ति महीतले ।
पक्षिणां तदपि प्राप्त्या नादत्तमुपतिष्ठति ॥१२८॥

पक्षी जो आकाश में उड़ते और पृथ्वी पर उतरते हैं यह सब उनके पूर्वजन्म में किये हुये कर्मों के फल के कारण है, बगैर दी हुई कोई वस्तु नहीं मिलती ॥ १२८ ॥

तथा च—

न हि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥१२९॥

और भी—जो होनेवाला नहीं है, वह नहीं होता। जो होनेवाला है वह बिना किसी यत्न के ही पूरा हो जाता है। जो प्राप्त नहीं होने वाला है वह हाथ में आकर भी नष्ट हो जाता है ॥ १२९ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पुराकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥१३०॥

जिस प्रकार बछड़ा हजारों गायों में अपनी माता को पा लेता है (पहिचान कर उसके पास चला जाता है)। इसी तरह पूर्व जन्म में किया हुआ कर्म करने वाले के पीछे-पीछे जाता है ॥ १३० ॥

शेते सह शयानेन गच्छन्तमनुगच्छति।
नराणां प्राक्तनं कर्म तिष्ठेत्त्वथ सहात्मना ॥१३१॥

मनुष्यों का पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म, सोते हुए मनुष्य के साथ सोता और चलते हुए के पीछे चलता है। (हमेशा) आत्मा के साथ रहता है ॥ १३१ ॥

यथा छायातपौ नित्यं सुसंबद्धौ परस्परम्।
एवं कर्म च कर्ता च संश्लिष्टावितरेतरम् ॥१३२॥

जिस प्रकार छाया और धूप आपस में सदा सम्बद्ध रहते हैं इसी तरह कर्म और कर्ता एक दूसरे से बँधे रहते हैं ॥ १३२ ॥

'तस्मादत्रैव व्यवसायपरो भव।' कौलिक आह—'प्रिये, न सम्यगभिहितं भवत्या। व्यवसायं बिना कर्म न फलति। उक्तं च—

इसीलिये यहीं व्यापार करो। जुलाहा बोला—प्रिये, तुमने ठीक नहीं कहा, क्योंकि व्यवसाय के बिना कर्म फलीभूत नहीं होता। कहा भी गया है—

यथैकेन न हस्तेन तालिका संप्रपद्यते।
तथोद्यमपरित्यक्तं न फलं कर्मणः स्मृतम् ॥१३३॥

जिस तरह एक हाथ से ताली नहीं बजती, इसी तरह उद्योग के बिना कर्म (भाग्य) फल नहीं दे सकता ॥ १३३ ॥

पश्य कर्मवशात्प्राप्तं भोज्यकालेऽपि भोजनम्।
हस्तोद्यमं बिना वक्त्रे प्रविशेन्न कथञ्चन ॥१३४॥

देखो—भोजन के समय पूर्व कर्म के कारण प्राप्त हुआ भी भोजन, हाथ की चेष्टा के बिना मुख में प्रविष्ट नहीं हो सकता ॥ १३४ ॥

तथा च—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ १३५ ॥

जैसे उद्योगी पुरुष-सिंह को लक्ष्मी प्राप्त होती है। कायर पुरुष दैव-दैव पुकारते हैं। दैव को छोड़कर शक्तिभर पुरुषार्थ करके यत्न करने पर भी यदि सिद्धि की प्राप्ति न हो तो समझना चाहिए कि यत्न करने में त्रुटि रह गई है पुनः-पुनः पूर्ण प्रयत्नशील होना चाहिए ॥ १३५ ॥

तथा च—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ १३६ ॥

कार्य उद्योग से ही सफल होते हैं केवल मनोरथों से नहीं, सोते हुए सिंह के मुख में पशु नहीं घुसते ॥ १३६ ॥

उद्यमेन विना राजन्न सिद्ध्यन्ति मनोरथाः।
कातरा इति जल्पन्ति यद्भाव्यं तद्भविष्यति ॥ १३७ ॥

हे राजन्! यत्न के बिना इच्छायें सिद्ध नहीं होतीं, आलसी पुरुष ही कहा करते हैं कि 'जो होना होगा सो हो जायगा' ॥ १३७ ॥

स्वशक्त्या कुर्वतः कर्म न चेत्सिद्धिं प्रयच्छति।
नोपालभ्यः पुमांस्तत्र दैवान्तरितपौरुषः ॥ १३८ ॥

अपनी शक्त्यनुसार काम करते हुए पुरुष को यदि (काम करना रूप) पुरुषार्थ फल नहीं देता तो इसमें पुरुष निन्दनीय नहीं है क्योंकि उसका यत्न भाग्य से नष्ट कर दिया गया है ॥ १३८ ॥

तन्मयाऽवश्यं देशान्तरं गन्तव्यम्।' इति निश्चित्य वर्धमानपुरं गतः। तत्र च वर्षत्रयं स्थित्वा सुवर्णशतत्रयोपार्जनं कृत्वा भूयः स्वगृहं प्रस्थितः। अथार्धपथे गच्छतस्तस्य कदाचिदटव्यां पर्यटतो भगवान् रविरस्तमुपागतः। तदासौ व्यालभयात्स्थूलतरवटस्कन्धमारुह्य यावत्प्रसुप्तस्तावन्निशीथे स्वप्ने द्वौ पुरुषौ रौद्राकारौ परस्परं प्रजल्पन्तावशृणोत्। तत्रैकं आह—'भोः कर्तः, त्वं किं सम्यङ्न वेत्सि यदस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छादनाभ्यधिका समृद्धिर्नास्ति। तत्किं त्वयास्य

सुवर्णशतत्रयं प्रदत्तम्।' स आह—'भोः कर्मन्, मयावश्यं दातव्यं व्यवसायिनाम्। तत्र च तस्य परिणितिस्त्वदायत्ता' इति। अथ यावदसौ कौलिकः प्रबुद्धः सुवर्णग्रन्थिमवलोकयति तावद्रिक्तं पश्यति। ततः साक्षेपं चिन्तयामास—'अहो, किमेतत् महता कष्टेनोपार्जितं वित्तं हेलया क्वापि गतम्। तद्व्यर्थश्रमोऽकिंचनः कथं स्वपत्न्या मित्राणां च मुखं दर्शयिष्यामि।' इति निश्चित्य तदेव पत्तनं गतः। तत्र च वर्षमात्रेणापि सुवर्णशतपञ्चकमुपार्ज्य भूयोऽपि स्वस्थानं प्रति प्रस्थितः। यावदर्धपथे भूयोऽटवीगतस्य भगवान्भानुरस्तं जगाम। अथ सुवर्णनाशभयात्सुश्रान्तोऽपि न विश्राम्यति। केवलं कृतगृहोत्कण्ठः सत्वरं व्रजति। अत्रान्तरे द्वौ पुरुषौ तादृशौ दृष्टिदेशे समागच्छन्तौ जल्पन्तौ चाश्रृणोत्। तत्रैकः प्राह—'भोः कर्तः, किं त्वयैतस्य सुवर्णशतपञ्चकं प्रदत्तम्। तत्किं न वेत्सि, यद्भोजनाच्छादनाभ्यधिकमस्य किंचिन्नास्ति।' स आह—'भोः कर्मन्, मयावश्यं देयं व्यवसायिनाम्। तस्य परिणामस्त्वदायत्तः। तत्किं मामुपालभ्यसि।' तच्छ्रुत्वा सोमिलको यावद् ग्रन्थिमवलोकयति तावत्सुवर्णं नास्ति। ततः परं दुःखमापन्नो व्यचिन्तयत्—'अहो, किं मम धनरहितस्य जीवितेन। तदत्र वटवृक्ष आत्मानमुद्बध्य प्राणांस्त्यजामि।' एवं निश्चित्य दर्भमयीं रज्जुं विधाय स्वकण्ठे पाशं नियोज्य शाखायामात्मानं निबध्य यावत्प्रक्षिपति तावदेकः पुमानाकाशस्थ एवेदमाह—'भो भोः सोमिलक, मैवं साहसं कुरु। अहं ते वित्तापहारकः। न ते भोजनाच्छादनाभ्यधिकां वराटिकामपि सहामि। तद्गच्छ स्वगृहं प्रति। अन्यच्च भवदीयसाहसेनाहं तुष्टः। तथा मे न स्याद्व्यर्थं दर्शनम्। तत्प्रार्थ्यतामभीष्टो वरः कश्चित्।' सोमिलक आह—'यद्येवं तद्देहि मे प्रभूत धनम्।' स आह—'भोः, किं करिष्यसि भोगरहितेन धनेन, यतस्तव भोजनाच्छादनाभ्यधिका प्राप्तिरपि नास्ति। उक्तं च—

इसलिये मैं अवश्य विदेश को जाऊँगा। ऐसा निश्चय कर वर्धमानपुर गया। वहाँ तीन वर्ष रहकर और तीन सौ मोहर (सोने के सिक्के) कमाकर फिर अपने घर को रवाना हुआ। अनन्तर, जब कि वह आधी दूर ही पहुँचा था (आधा मार्ग ही पार किया था) कि जंगल में उसके घूमते हुए भगवान् सूर्य अस्त हो गये। तब वह हिंसक जन्तुओं के भय से बड़ के एक मोटे गुद्दे (स्कन्ध) पर चढ़कर सो गया। आधी रात के समय, उसने स्वप्न में भयङ्कर

आकृति के दो पुरुष आपस में बातचीत करते हुए सुने। उनमें से एक बोला—हे कर्तः! क्यां तुम्हें ठीक-ठीक नहीं मालूम कि इस सोमिलक के (भाग्य में) खाने-पहिरने से अधिक सम्पत्ति नहीं है; फिर क्यों तुमने इसे तीन सौ मुहर दी?' उसने कहा—'हे कर्मन्! (कर्माधिष्ठान देव!) मैं उद्योगी पुरुषों को अवश्य दूँगा. उसकी स्थिति (उसके पास रहना या न रहना) तुम्हारे अधीन है।' अनन्तर जब जुलाहा जागा और उसने अपनी सोने की गाँठ देखी तो उसे खाली पाया, तब वह, भाग्य को कोसता हुआ सोचने लगा। यह क्या बात है? बड़े कष्ट से कमाया हुआ धन अचानक कहीं चला गया। मेरा परिश्रम व्यर्थ हो गया, मेरे पास कुछ भी न रहा। (ऐसी दशा में) मैं अपनी पत्नी और मित्रों को कैसे मुख दिखाऊँगा। यह निश्चय कर उसी नगर को (लौटा) गया। वहाँ, एक ही वर्ष में ५०० मोहरें कमाकर फिर भी अपने घर को चला। फिर रास्ते में जंगल में पहुँचने पर सूर्य अस्त हो गया। (परन्तु) धन नष्ट होने के भय से, थकने पर भी उसने विश्राम नहीं किया। केवल घर जाने की उत्कण्ठा से जल्दी-जल्दी चलता रहा। इसी समय उसी प्रकार के (जैसे पहिले स्वप्न में देखे थे) दो आदमी सामने से आते हुए और बातचीत करते हुए सुने। उनमें से एक बोला—'हे कर्तः! तूने इसे ५०० मोहरें क्यों दीं? क्या तुझे नहीं मालूम कि खाने-पहिरने से अधिक इसके भाग्य में कुछ नहीं है।' उसने कहा—'हे कर्मन्! मुझे उद्योगी पुरुषों को अवश्य देना है, उसका परिणाम (फल) तुम्हारे अधीन है; मुझे क्यों दोष देते हो। यह सुनकर सोमिलक ने जब गाँठ (पोटली) देखी तो उसे खाली पाया। तब अत्यन्त दुःखी हो सोचने लगा—मुझ निर्धन के जीने से क्या लाभ? इसलिये इस बड़ के पेड़ में फांसी लगाकर प्राण छोड़े देता हूँ। यह निश्चय कर, कुशा की रस्सी बना अपने गले में फांसी लगाकर और शाखा में अपने को बांधकर ज्यों ही फन्दा खींचना चाहता था त्यों ही एक पुरुष ने, आकाश में स्थित हुए ही यह कहा—हे सोमिलक! ऐसा साहस मत कर, तेरा धन चुराने वाला मैं हूँ। मैं भोजन वस्त्रादि से अधिक तेरे पास कौड़ी भी सहन नहीं कर सकता; इसलिये अपने घर को चला जा। दूसरी बात यह है कि मैं तुम्हारे साहस से प्रसन्न हूँ तथा मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं हो सकता इसलिये अपना मनचाहा कोई वर मांगो। सोमिलक ने कहा—अगर यह बात है तो मुझे बहुत सा धन दो। उसने कहा—भोग रहित (काम में न आने वाले)

धन को क्या करेगा ? क्योंकि तुझे भोजन वस्त्रादि से अधिक मिलना नहीं है। कहा भी है—

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥१३९॥

उस लक्ष्मी सें क्या लाभ जो केवल पत्नी के समान है। (एक पुरुष की ही भोग्य हो) और जो वेश्या के समान सर्वसाधारण पथिकों के काम में न आवे ॥ १३९ ॥

सोमिलक आह—'यद्यपि तस्य धनस्य भोगो नास्ति, तथापि तद्भवतु। उक्तं च—

सोमिलक ने कहा—यद्यपि भाग्य में भोग नहीं लिखा है। तथापि मैं चाहता हूँ मुझे धन हो। कहा भी है—

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि सज्जनैर्वर्जितः सदा।
सेव्यते स नरो लोके यस्य स्याद्वित्तसञ्चयः ॥१४०॥

जिस पुरुष के पास धन की राशि है वह कञ्जूस, नीच कुल में पैदा हुआ तथा भले आदमियों से परित्यक्त ही क्यों न हो, लोग उसकी सेवा करते हैं।

तथा च—

शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा।
निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च' ॥१४१॥

हे भद्रे! मैंने पन्द्रह वर्ष तक लटकते हुए (परन्तु) मजबूती से जुड़े हुए (वृषण) देखे (यह देखने के लिए कि) ये गिरते हैं वा नहीं ? ॥१४१॥

पुरुष आह—'किमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

पुरुष ने कहा—यह क्या बात है ? वह बोला—

कथा ६

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने तीक्ष्णविषाणो नाम महावृषभः प्रतिवसति स्म। स च मदातिरेकात्परित्यक्तनिजयूथः शृङ्गाभ्यां नदीतटानि विदारयन्स्वेच्छया मरकतसदृशानि शष्पाणि भक्षयन्नरण्यचरो बभूव। अथ तत्रैव वने प्रलोभको नाम शृगालः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्स्वभार्यया सह नदीतीरे सुखोपविष्टस्तिष्ठति। अत्रान्तरे स तीक्ष्णविषाणो जलार्थं तदेव पुलिनमवतीर्णः। ततश्च तस्य लम्बमानौ वृष-

णाववलोक्य शृगाल्या शृगालोऽभिहितः—'स्वामिन्, पश्यास्य वृषभस्य मांसपिण्डौ लम्बमानौ यथा स्थितौ। तदेतौ क्षणेन प्रहरेण वा पतिष्यतः। एवं ज्ञात्वा भवता पृष्ठानुयायिना भाव्यम्।' शृगाल आह—'प्रिये, न ज्ञायते कदाचिदेतयोः पतनं भविष्यति वा न वा। तत्किं वृथा श्रमाय मां नियोजयसि। अत्रस्थस्तावज्जलार्थमागतान्मूषकान्भक्षयिष्यामि समं त्वया, मार्गोऽयं यतस्तेषाम्। अपरं यदि त्वां मुक्त्वास्य तीक्ष्णविषाणस्य वृषभस्य पृष्ठे गमिष्यामि, तदागत्यान्यः कश्चिदेतत्स्थानं समाश्रयिष्यति। नैतद्युज्यते कर्तुम्। उक्तं च—

किसी स्थान में तीक्ष्णविषाण (तेज पैने सींग वाला) नाम का एक बड़ा बैल रहता था। उसने बल के घमण्ड से अपने साथियों (झुण्ड) को छोड़ दिया और सींगों से नदी के किनारे गिराता हुआ इच्छानुकूल मरकतमणि के समान हरी-हरी घास खाता हुआ जंगल में ही रहने लगा। उसी वन में प्रलोभक का नाम का शृगाल रहता था। किसी समय वह पत्नी के साथ नदी के किनारे पर आराम से बैठा हुआ था। उसी समय तीक्ष्ण विषाण पानी (पीने) के लिए उसी बालू के स्थान पर आया। उसके लटकते हुए अण्डकोश देखकर शृगाली न शृगाल से कहा—स्वामिन्! देखो, इस बैल के ये मांसपिण्ड लटक रहे हैं, ये क्षण भर में या एक पहर (३ घण्टे) में गिर पड़ेंगे। यह समझकर आप इसके पीछे लग जायँ। शृगाल ने कहा—'प्रिये! नहीं मालूम, ये कभी गिरेंगे वा नहीं? इसलिये व्यर्थ मेहनत के लिए मुझे क्यों प्रेरित करती हो, यहाँ पर बैठा हुआ मैं तेरे साथ जल के लिये आये हुए चूहों को खाऊँगा। क्योंकि (उनके आने का) यही रास्ता है। और यदि तुमको छोड़कर इस तीक्ष्णविषाण बैल क पीछे आऊँगा तो कोई दूसरा आकर इस स्थान को घेर लेगा। इसलिये यह करना ठीक नहीं है। कहा भी है—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च' ॥१४२॥

जो मनुष्य निश्चित (जिनके मिलने में सन्देह नहीं) वस्तुओं को छोड़कर सन्दिग्ध वस्तुओं को खोजता है—उनके पीछे-पीछे घूमता है उसकी निश्चित वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं—हाथ से जाती रहती हैं (उनको प्राप्त करने के लिये यत्न न करने से) और अनिश्चित तो (पहिले से ही) नष्ट थी (मिलती नहीं थीं)

शृगाल्याह—'भोः, कापुरुषस्त्वम्। यत्किञ्चित्प्राप्तं तेनापि सन्तोषं करोषि। उक्तं च—

शृगाली ने कहा—तू नीच आदमी है, क्योंकि जो कुछ मिल गया उसी में सन्तुष्ट हो जाता है। कहा भी है—

सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः।
ससन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥१४३॥

छोटी नदी आसानी से भर जाती है, चूहे की अञ्जलि थोड़े में ही भर जाती है। इसी तरह साधारण मनुष्य भी थोड़े से ही प्रसन्न हो जाता है।

तस्मात्पुरुषेण सदैवोत्साहवता भाव्यम्। उक्तं च—

इसलिये पुरुष को हमेशा उत्साही होना चाहिए। कहा भी है—

यत्रोत्साहसमारम्भो यत्रालस्यविहीनता।
नयविक्रमसंयोगस्तत्र श्रीरचला ध्रुवम् ॥१४४॥

सम्पत्ति वहीं अचल होकर वास करती है जहाँ उत्साह के साथ काम किये जाते हैं, जहाँ आलस्य का परित्याग है और नीति (कार्यकुशलता) तथा पुरुषार्थ का मेल हो—वहाँ इन दोनों से काम लिया जाता है ॥ १४४ ॥

तद्दैवमिति सञ्चिन्त्य त्यजेन्नोद्योगमात्मनः।
अनुयोगं विना तैलं तिलानां नोपजायते ॥१४५॥

यह भाग्य ही है (जो काम करता है) यह सोचकर (मनुष्य को) अपना पुरुषार्थ न छोड़ना चाहिये (यन्त्र चलाने रूप) पुरुष-व्यापार के बिना तिलों का तेल नहीं बनता ॥ १४५ ॥

अन्यच्च—

यः स्तोकेनापि सन्तोषं कुरुते मन्दधीर्जनः।
तस्य भाग्यविहीनस्य दत्ता श्रीरपि मार्ज्यते ॥१४६॥

जो मूढ़ थोड़े से ही सन्तुष्ट हो जाता है उस भाग्यहीन पुरुष की पाई हुई भी लक्ष्मी नष्ट हो जाती है ॥ १४६ ॥

यच्च त्वं वदसि, एतौ पतिष्यतो न वेत्ति, तदप्ययुक्तम्। उक्तं च—

और जो तुम कहते हो कि ये गिरेंगे या नहीं, सो ठीक नहीं। क्योंकि कहा भी है—

कृतनिश्चयिनो वन्द्यास्तुङ्गिमा न प्रशस्यते।
चातकः को वराकोऽयं यस्येन्द्रो वारिवाहकः ॥१४७॥

अपने सङ्कल्प से न हटने वाले दृढ़सङ्कल्प पुरुष प्रशंसा के योग्य हैं, ऊँचा पद किसी काम में नहीं आता (पाठान्तर में दृढ़सङ्कल्प पुरुष की प्रशंसनीय उच्चाकांक्षा हमें भली मालूम होती है) बेचारे चातक पक्षी की क्या गणना, (परन्तु दृढ़ता के कारण) इन्द्र भी उसको जल देता है ।। १४७ ।।

अपरं मूषकमांसस्य निर्विण्णाहम् । एतौ च मांसपिण्डौ पतनप्रायौ दृश्येते । तत्सर्वथा नान्यथा कर्तव्यम्' इति । अथासौ तदाकर्ण्य मूषकप्राप्तिस्थानं परित्यज्य तीक्ष्णविषाणस्य पृष्ठमन्वगच्छत् । अथवा साध्विदमुच्यते—

और चूहों के मांस से मैं विरक्त हो गई हूँ—मुझे अरुचि हो गई है । तथा ये मांसपिण्ड गिरने ही वाले हैं । इसलिये अब और कुछ न करो (केवल बैल के पीछे लगो) ।' अनन्तर शृगाल यह सुनकर चूहों के मिलने के स्थान को छोड़कर तीक्ष्णविषाण के पीछे घूमने लगा । यह ठीक ही कहा है—

तावत्स्यात्सर्वकृत्येषु पुरुषोऽत्र स्वयं प्रभुः ।
स्त्रीवाक्याङ्कुशविक्षुण्णो यावन्नोद्ध्रियते बलात् ।। १४८ ।।

इस संसार में मनुष्य तभी तक सब कार्यों में स्वाधीन है जब तक स्त्री के वचनरूपी अंकुश से ताडित होकर रोका नहीं जाता (उनके वश में नहीं होता) ।। १४८ ।।

अकृत्यं मन्यते कृत्यमगम्यं मन्यते सुगम् ।
अभक्ष्यं मन्यते भक्ष्यं स्त्रीवाक्यप्रेरितो नरः ।। १४९ ।।

स्त्री के वचन से प्रेरित हुआ मनुष्य अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य, अगम्य को सुगम और अभक्ष्य को भक्ष्य समझता है ।। १४९ ।।

एवं स तस्य पृष्ठतः सभार्यः परिभ्रमंश्चिरकालमनयत् । न च तयोः पतनमभूत् । ततश्च निर्वेदात्पञ्चदशे वर्षे शृगालः स्वभार्यामाह–'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इत्यादि ।

इस प्रकार वह पत्नी सहित उसके पीछे बहुत दिनों तक घूमता रहा । परन्तु वे गिरे नहीं । तब पन्द्रहवें वर्ष में शृगाल घबड़ा कर अपनी पत्नी से बोला—'शिथिलौ' इत्यादि ।

तयोस्तत्पश्चादपि पातो न भविष्यति । तत्तदेव स्वस्थानं गच्छावः' । अतोऽहं ब्रवीमि—'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इति । (दे० पृ० ५८)

ये दोनों अण्डकोष पीछे (इसके बाद भी) न गिरेंगे। इसलिये अपने उसी स्थान पर चलें। इसलिये मैं कहता हूँ 'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इति।

पुरुष आह—'यद्येव तद्गच्छ भूयोऽपि वर्धमानपुरम्। तत्र द्वौ वणिक्पुत्रौ वसतः। एको गुप्तधनः, द्वितीय उपभुक्तधनः। ततस्तयोः स्वरूपं बुद्ध्वैकस्य वरः प्रार्थनीयः। यदि ते धनेन प्रयोजनमभक्षितेन, ततस्त्वामपि गुप्तधनं करोमि। अथवा दत्तभोग्येन धनेन ते प्रयोजनं तदुपभुक्तधनं करोमि' इति। एवमुक्त्वाऽदर्शनं गतः। सोमिलकोऽपि विस्मितमना भूयोऽपि वर्धमानपुरं गतः। अथ सन्ध्यासमये श्रान्तः कथमपि तत्पुरं प्राप्तो गुप्तधनगृहं पृच्छन्कृच्छ्राल्लब्ध्वास्तमितसूर्ये प्रविष्टः। अथासौ भार्यापुत्रसमेतेन गुप्तधनेन निर्भर्त्स्यमानो हठाद् गृहं प्रविश्योपवष्टिः। ततश्च भोजनवेलायां तस्यापि भक्तिवर्जितं किञ्चिदशनं दत्तम्। ततश्च भुक्त्वा तत्रैव यावत्सुप्तो निशीथे पश्यति तावत्तावपि द्वौ पुरुषौ परस्परं मन्त्रयतः। तत्रैक आह—'भोः कर्तः, किं त्वयास्य गुप्तधनस्यान्योऽधिको व्ययो निर्मितो यत् सोमिलकस्यानेन भोजनं दत्तम्। तदयुक्तं त्वया कृतम्।' स आह—'भोः कर्मन्, न ममात्र दोषः। मया पुरुषस्य लाभप्राप्तिर्दातव्या। तत्परिणतिः पुनस्त्वदायत्ता' इति। अथासौ यावदुत्तिष्ठति तावद्गुप्तधनो विषूचिकया खिद्यमानो रुजाभिभूतः क्षणं तिष्ठति। ततो द्वितीयेऽह्नि तद्दोषेण कृतोपवासः सञ्जातः। सोमिलकोऽपि प्रभाते तद्गृहान्निष्क्रम्योपभुक्तधनगृहं गतः। तेनापि चाभ्युत्थानादिना सत्कृतो विहितभोजनाच्छादनसम्मानस्तस्यैव गृहे भव्यशय्यामारुह्य सुष्वाप। ततश्च निशीथे आह—'भोः कर्तः, अनेन सोमिलकस्योपकारं कुर्वता प्रभूतो व्ययः कृतः। तत्कथय कथमस्योद्धारकविधिर्भविष्यति। अनेन सर्वमेतद्व्यवहारकगृहात्समानीतम्।' स आह—'भोः कर्मन्, मम कृत्यमेतत्। परिणतिस्त्वदायत्ता' इति। अथ प्रभातसमये राजपुरुषो राजप्रसादजं वित्तमादाय समायात उपभुक्तधनाय समर्पयामास। तद्दृष्ट्वा सोमिलकश्चिन्तयामास—'सञ्चयरहितोऽपि वरमेष उपयुक्तधनः, नासौ कदर्यो गुप्तधनः। उक्तं च—

पुरुष ने कहा—'अगर यह बात है तो फिर वर्धमानपुर को जाओ। वहाँ दो वैश्य-पुत्र रहते हैं, एक गुप्तधन और दूसरा उपभुक्तधन। उन दोनों का असलीपन (वह रीति जिससे वे धन को काम में लाते हैं)

जानकर उनमें से एक को पसन्द कर लेना। यदि तुम अनुपभुक्त धन चाहोगे तो तुम्हें भी गुप्तधन कर दूँगा। और यदि दान तथा भोग के योग्य धन चाहोगे तो उपभुक्त धन बना दूँगा। यह कहकर वह अन्तर्धान हो गया (छिप गया)। सोमिलक भी आश्चर्य में पड़ फिर वर्धमान नगर को गया। सायंकाल के समय थका-थकाया किसी प्रकार उस नगर में पहुँचा और गुप्त-धन का घर पूछता हुआ सूर्यास्त के बाद किसी प्रकार (उसका घर) पाकर उसमें प्रविष्ट हुआ। पत्नी तथा पुत्र सहित गुप्तधन ने उसे धमकाकर (बाहर निकालना चाहा) परन्तु वह जबर्दस्ती घुस कर बैठ गया। तब उन्होंने भोजन के समय अनादर पूर्वक उसको भी कुछ भोजन दे दिया। वहीं खाकर तथा सोकर आधी रात के समय उसने उन्हीं दो पुरुषों को बातचीत करते हुए देखा। उनमें से एक ने कहा—'हे कर्तः! तुमने इस गुप्तधन का अधिक (प्रतिदिन से अधिक) व्यय कर दिया, क्योंकि इसने सोमिलक को भोजन दिया है। यह तुमने ठीक नहीं किया।' वह बोला—हे कर्मन्! पुरुष को उचित लाभ पहुँचाना मेरा काम है और उसका परिणाम तो तुम्हारे अधीन है। सो जब वह उठा तब गुप्तधन विसूचिका से पीड़ित हो दर्द से व्याकुल हो रहा था। तब दूसरे दिन इस बीमारी के कारण उसने उपवास किया (इस प्रकार कर्म ने सोमिशक को कराये हुए भोजन की कमी पूरी कर दी)। सोमिलक भी प्रातःकाल उसके घर से निकल कर उपभुक्तधन के घर गया। उसने उठकर (अगवानी से) सत्कार किया, वह भोजन-वस्त्रादि से सत्कार पा सुन्दर शय्या पर उसी के घर सो गया। तब अर्धरात्रि में उन्हीं दो पुरुषों को आपस में बातचीत करते हुए देखा। उनमें से एक ने कहा—हे कर्तः! इसने सोमिलक का उपकार (सत्कार) करके बहुत खर्च कर दिया है, यह किस तरह पूरा किया जायेगा। यह सब इसने दूकानदार से मंगवाया है। वह बोला—हे कर्मन्, यह मेरा कर्तव्य है, परिणाम तुम्हारे अधीन है। प्रातः-काल राजपुरुष राजा की प्रसन्नता का (इनाम) धन लेकर आया और वह उपभुक्तधन को दे दिया। यह देख सोमिलक ने सोचा—संचय (संग्रह) न करने वाला यह उपभुक्तधन ही अच्छा है न कि वह कञ्जूस गुप्तधन। कहा भी है—

> अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवित्तफलं श्रुतम्।
> रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम्॥ १५०॥

वेदों (वेदाध्ययन) का फल अग्निहोत्र है, शास्त्रज्ञान से आचार तथा

धन की प्राप्ति होती है, आनन्द और पुत्रप्राप्ति के लिये विवाह किया जाता है; दान करने तथा भोगने ने लिये धन होता है ॥ १५० ॥

तद्विधाता मां दत्तभुक्तफलं करोतु। न कार्यं मे गुप्तधनेन।' ततः सोमिलको दत्तभुक्तधनः सञ्जातः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अर्थस्योपार्जनं कृत्वा' इति (दे० पृ० ५८)। तद्भद्र हिरण्यक, एवं ज्ञात्वा धनविषये सन्तापो न कार्यः। अथ विद्यमानमपि धनं भोज्यबन्ध्यतया तदविद्यमानं मन्तव्यम्। उक्तं च—

इसलिये विधाता मुझे दत्तभुक्तधन (जिसका धन दान और भोग में काम आवे) कर दे, मुझे गुप्त (काम में न आनेवाले) धन से कोई मतलब नहीं—मैं गुप्तधन होना नहीं चाहता। इसलिये मैं कहता हूँ 'अर्थस्योपार्जनम्' इत्यादि।

सो मित्र हिरण्यक ! ऐसा जानकर तुम धन के लिए सन्ताप मत करो। विद्यमान रहता हुआ भी जो धन भोग में न आ सके उसको नहीं के बराबर समझना चाहिए। कहा भी है—

गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥ १५१ ॥

घर के बीच में गाड़े हुए धन से यदि मनुष्य धनवान् समझे जाते हैं तो हम भी उसी धन से धनवान् क्यों न होवें ? (भोग न करना दोनों के लिए समान है) ॥ १५१ ॥

तथा च—

उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १५२ ॥

कमाये हुए धनों का दान ही उसकी रक्षा है जिस प्रकार कि तालाब में भरे हुए जल का परिवाह—नाली के द्वारा निकाला जाना ही (उसकी रक्षा है) तात्पर्य यह है कि—जिस प्रकार तालाब में भरे हुए जल को नाली के द्वारा यदि न निकाला जाय तो वह सड़कर विकृत हो जायेगा और उससे आसपास के मनुष्यों की हानि होगी। उसी तरह दान न दिया हुआ धन अजीर्ण बनकर धनी को पाप-कर्मों में लिप्तकर उसका विनाश कर देगा ॥ १५२ ॥

दातव्यं भोक्तव्यं धनविषये सञ्चयो न कर्तव्यः।
पश्येह मधुकरीणां सञ्चितमर्थं हरन्त्यन्ये ॥ १५३ ॥

धन का दान और भोग करना चाहिए, सञ्चय न करना चाहिए। देखो—मधुमक्षिकाओं के संग्रह किए हुए मधुरूप धन को दूसरे लोग हर ले जाते हैं ॥ १५३ ॥

अन्यच्च—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १५४ ॥

दान, भोग और नाश, धन की ये तीन दशायें होती हैं। जो मनुष्य न देता है और न भोगता है उसकी (उसके धन की) तीसरी दशा (नाश) होती है ॥ १५४ ॥

एवं ज्ञात्वा विवेकिना न स्थित्यर्थं वित्तोपार्जनं कर्तव्यम्, यतो दुःखाय तत्। उक्त च—

ऐसा जानकर ज्ञानियों को घर में गाड़ने के लिए धनोपार्जन नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह धन दुःखदायी होता है, कहा भी है—

धनादिकेषु विद्यन्ते येऽत्र मूर्खाः सुखाशयाः।
तप्तग्रीष्मेण सेवन्ते शैत्यार्थं ते हुताशनम् ॥ १५५ ॥

जो मूर्ख, धन आदि भोग्य वस्तुओं में सुख की आशा करते हैं, वे धूप से सन्तप्त होकर शीतलता के लिए अग्नि का सेवन करते हैं ॥ १५५ ॥

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति।
कन्दैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥ १५६ ॥

सर्प वायु पीते हैं (वायु पर जीवन व्यतीत करते हैं) परन्तु वे दुर्बल नहीं होते, जंगली हाथी सूखी घास खाकर बलवान् होते हैं, मुनि लोग कन्द फल खाकर ही समय बिता देते हैं। इसलिए पुरुष के लिए सन्तोष ही उत्तम खजाना है ॥ १५६ ॥

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १५७ ॥

धन के लोभी, अतएव (उसकी प्राप्ति के लिए) इधर-उधर भटकने वाले पुरुषों को वह सुख कहाँ मिल सकता है, जो सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त हुए शान्तचित्त वाले पुरुषों को प्राप्त होता है ॥ १५७ ॥

पीयूषमिव सन्तोषं पिबतां निर्वृतिः परा ।
दुःखं निरन्तरं पुंसामसन्तोषवतां पुनः ॥ १५८ ॥

अमृततुल्य सन्तोष का पान करने वाले पुरुषों को महान् आनन्द होता है लेकिन असन्तोषी जनों को लगातार दुःख ही होता रहता है ॥ १५८ ॥

निरोधाच्चेतसोऽक्षाणि निरुद्धान्यखिलान्यपि ।
आच्छादिते रवौ मेघैराच्छन्नाः स्युर्गभस्तयः ॥ १५९ ॥

मन को वश में करने से सभी इन्द्रियाँ भी वशीभूत हो जाती हैं, जैसे कि मेघों द्वारा सूर्य के ढके जाने पर उसकी किरणें भी तिरोहित हो जाती हैं ॥

वाञ्छाविच्छेदनं प्राहुः स्वास्थ्यं शान्ता महर्षयः ।
वाञ्छा निवर्तते नार्थैः पिपासेवाग्निसेवनैः ॥ १६० ॥

शान्त ऋषियों ने इच्छाओं की निवृत्ति को ही मन की शान्ति कहा है। जैसे अग्निसेवन से प्यास नहीं मिटती उसी तरह इच्छा की निवृत्ति धन से नहीं होती ॥ १६० ॥

अनिन्द्यमपि निन्दन्ति स्तुवन्त्यस्तुत्यमुच्चकैः ।
स्वापतेयकृते मर्त्याः किं किं नाम न कुर्वते ॥१६१॥

धन के लिए मनुष्य अनिन्दनीय पुरुषों की निन्दा करते और जो प्रशंसा योग्य नहीं हैं उनकी प्रशंसा करते हैं। धन के लिए लोग क्या नहीं करते? अर्थात् सब कुछ करते हैं ॥ १६१ ॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यापि न शुभावहा ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ १६२ ॥

धर्म कार्यों के लिए भी जो मनुष्य धन (कमाना) चाहता है, उसकी यह इच्छा भी उत्तम नहीं है, क्योंकि कीचड़ लगाकर धोने की अपेक्षा उसका दूर से (भी) न छूना ही अच्छा है ॥ १६२ ॥

दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यो
लोभाच्च नान्योऽस्ति रिपुः पृथिव्याम् ।
विभूषणं शीलसमं न चान्यत्
सन्तोषतुल्यं धनमस्ति नान्यत् ॥ १६३ ॥

संसार में दान के समान दूसरा कोई खजाना नहीं, लोभ के समान दूसरा कोई शत्रु नहीं, सदाचार के समान कोई भूषण नहीं और सन्तोष के समान दूसरा कोई धन नहीं है ॥ १६३ ॥

दारिद्र्यस्य परा भूतिर्यन्मानद्रविणाल्पता ।
जरद्गवधनः शर्वस्तथापि परमेश्वरः ॥१६४॥

मानरूपी धन की न्यूनता (अभाव) ही दरिद्रता का अन्तिम स्वरूप है। क्योंकि शम्भु के पास धन के नाम से एक बूढ़ा बैल ही है फिर भी वे परमेश्वर समझे जाते हैं ॥ १६४ ॥

सकृत्कन्दुकपातेन पतत्यार्यः पतन्नपि ।
तथा पतति मूर्खस्तु मृत्पिण्डपतनं यथा ॥१६५॥

सज्जन पुरुष गिरते हुए भी गेंद के समान गिरते हैं—गिरकर फिर उठते हैं। परन्तु मूर्ख मिट्टी के ढेले के समान गिरता है—गिरता है तो उठता नहीं।

एवं ज्ञात्वा भद्र, त्वया संतोषः कार्यः' इति। मन्थरकवचनमाकर्ण्य वायस आह 'भद्र, मन्थरको यदेवं वदति तत्त्वया चित्ते कर्तव्यम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

हे भद्र ! यह जानकर तुम्हें सन्तोष करना चाहिए। मन्थरक के ये वचन सुनकर कौआ बोला—मन्थरक, जो ऐसा कह रहा है वह तुम्हें ध्यान में रखना चाहिए। अथवा यह सत्य ही कहा है—

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥१६६॥

हे राजन् ! हमेशा प्रिय बोलनेवाले (खुशामदी) पुरुष आसानी से मिल जाते हैं। परन्तु हितकारी अप्रिय वचन के प्रवक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ १६६ ॥

अप्रियाण्यपि पथ्यानि ये वदन्ति नृणामिह ।
त एव सुहृदः प्रोक्ता अन्ये स्युर्नामधारकाः ॥१६७॥

इस लोक में जो मनुष्य अप्रिय लगनेवाले (परन्तु) हितकर वचन कहते हैं वे ही सच्चे मित्र कहे जाते हैं और लोग तो नाममात्र के ही मित्र होते हैं ॥ १६७ ॥

अथैवं जल्पतां तेषां चित्राङ्गो नाम हरिणो लुब्धकत्रासितस्तस्मिन्नेव सरसि प्रविष्टः। अथायान्तं ससम्भ्रममवलोक्य लघुपतनको वृक्षमारूढः। हिरण्यको निकटवर्तिनं शरस्तम्बं प्रविष्टः। मन्थरकः सलिलाशयमास्थितः। अथ लघुपतनको मृगं सम्यक्परिज्ञाय मन्थरकमुवाच—'एह्येहि सखे मन्थरक, मृगोऽयं तृषार्तोऽत्र समायातः सरसि-

प्रविष्टः, तस्य शब्दोऽयं न मानुषसंभवः' इति। तच्छ्रुत्वा मन्थरको देशकालोचितमाह–'भो लघुपतनक, यथाऽयं मृगो दृश्यते प्रभूतमुच्छ्वा-समुद्वहन्नुद्भ्रान्तदृष्ट्या पृष्ठतोऽवलोकयति, तन्न तृषार्तं एषः, नूनं लुब्धकत्रासितः। तज्ज्ञायेतामस्य पृष्ठे लुब्धका आगच्छन्ति न वा' इति। उक्तं च—

जिस समय वे इस प्रकार बातचीत कर रहे थे उसी समय चित्राङ्ग नामक हरिण शिकारियों से डरा हुआ उस तालाब में घुसा। उसको आता हुआ देख घबड़ाकर लघुपतनक जल्दी से वृक्ष पर चढ़ गया, हिरण्यक समीपवर्ती सरपत (मूंज) की झाड़ी में घुस गया और मन्थरक तालाब में प्रविष्ट हो गया। अनन्तर लघुपतनक ने मृग को अच्छी तरह जानकर मन्थरक से कहा—'मित्र मन्थरक ! आओ आओ ! यह हरिण अधिक प्यासित होकर तालाब में घुसा है, उसी का यह शब्द है, किसी मनुष्य का नहीं।' यह सुनकर मन्थरक देशकाल के अनुसार बोला—'हे लघुपतनक ! जैसा यह मृग दिखाई पड़ता है कि लम्बी-लम्बी वेग से श्वास ले रहा है और घबराई हुई दृष्टि से पीछे की तरफ देख रहा है इससे मालूम पड़ता है कि यह प्यासा नहीं है किन्तु शिकारियों से डरा हुआ है। इसलिए देखो, इसके पीछे व्याध आते हैं या नहीं ?' कहा भी है—

'भयत्रस्तो नरः श्वासं प्रभूतं कुरुते मुहुः।
दिशोऽवलोकयत्येव न स्वास्थ्यं व्रजति क्वचित्' ॥१६८॥

भयभीत हुआ पुरुष बारम्बार लम्बी साँस लेता और चारों ओर देखता है तथा कहीं भी उसे शान्ति नहीं मिलती ॥ १६८ ॥

तच्छ्रुत्वा चित्राङ्ग आह—'भो मन्थरक, ज्ञातं त्वया सम्यङ् मे त्रासकारणम्। अहं लुब्धकशरप्रहारादुद्धावितः कृच्छ्रेणात्र समायातः। मम यूथं तैर्लुब्धकैर्व्यापादितं भविष्यति। तच्छरणागतस्य मे दर्शय किञ्चिदगम्यं स्थानं लुब्धकानाम्। तदाकर्ण्य मन्थरक आह—'भो-श्चित्राङ्ग, श्रूयतां नीतिशास्त्रम्—

यह सुनकर चित्राङ्ग बोला—हे मन्थरक ! तुमने मेरे भय का कारण ठीक-ठीक समझ लिया है। मैं व्याध के बाण के प्रहार से बचकर बड़ी कठिनता से आया हूँ। मेरे झुण्ड (मेरे साथी) को उन शिकारियों ने मार डाला होगा। मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। मुझे कोई ऐसा स्थान बताओ जहाँ शिकारियों की पहुँच न हो। यह सुनकर मन्थरक बोला—हे चित्राङ्ग ! नीतिशास्त्र की बात सुनो—

द्वावुपायाविह प्रोक्तौ विमुक्तौ शत्रुदर्शने।
हस्तयोश्चालनादेको द्वितीयः पादवेगजः ॥ १६९ ॥

शत्रु का सामना होने पर उससे बचने के दो उपाय नीतिशास्त्र में कहे हैं। एक तो हाथों को चलाना—होशियारी से अस्त्र चलाना और दूसरा पैरों में वेग होना (भागना) ॥ १६९ ॥

तद्गम्यतां शीघ्रं सघनं वनम्, यावदद्यापि नागच्छन्ति ते दुरात्मानो लुब्धकाः।' अत्रान्तरे लघुपतनकः सत्वरमभ्युपेत्योवाच—'भो मन्थरक, गतास्ते लुब्धकाः स्वगृहोन्मुखाः प्रचुरमांसपिण्डधारिणः। तच्चित्राङ्ग, त्वं विश्रब्धो जलद्बहिर्भव। ततस्ते चत्वारोऽपि मित्रभावमाश्रितास्तस्मिन्सरसि मध्याह्नसमये वृक्षच्छायाया अधस्तात्सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तः सुखेन कालं नयन्ति। अथवा युक्तमेतदुच्यते—

इसलिए, शीघ्र ही घने वन में चले जाओ। जब तक यहाँ भी वह दुष्ट शिकारी न आ जाय। इसी समय लघुपतनक ने जल्दी से आकर कहा—हे मन्थरक ! बहुत सा मांस लिया हुआ वह शिकारी अपने घर की तरफ चला गया। इसलिये हे चित्राङ्ग ! तुम निःशङ्क हो जल से बाहर आओ। तब वे चारों ही आपस में मित्रभाव से उस तालाब के किनारे रहने लगे और दोपहर के समय वृक्ष के नीचे आपस में मनोहर विषयों पर वार्तालाप का सुख भोगते हुए आनन्द से समय बिताने लगे। यह ठीक ही कहा है—

सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुकाः।
विनाऽपि संगमं स्त्रीणां सुधियः सुखमासते ॥ १७० ॥

वे विद्वान् पुरुष जिन्होंने मनोहर विषयों पर वार्तालाप के आनन्दानुभव से उत्पन्न रोमाञ्चरूपी कञ्चुक (कुर्ता) धारण किया है, वे स्त्री के साथ सम्भोग के बिना भी सुख से रहते हैं ॥ १७० ॥

सुभाषितमयद्रव्यसंग्रहं न करोति यः।
स तु प्रस्तावयज्ञेषु कां प्रदास्यति दक्षिणाम् ॥ १७१ ॥

जो पुरुष सुभाषितरूपी धन का संग्रह नहीं करता वह प्रस्ताव—परस्पर वार्तालाप—रूपी यज्ञों में क्या दक्षिणा देगा ?—किस प्रकार सभ्य पुरुषों को प्रसन्न कर सकेगा ॥ १७१ ॥

तथा च—सकृदुक्तं न गृह्णाति स्वयं वा न करोति यः।
यस्य संपुटिका नास्ति कुतस्तस्य सुभाषितम् ॥ १७२ ॥

जो पुरुष एक बार कहे हुए (उच्चारण किये हुए वचन) को धारण नहीं कर सकता, जो स्वयं सूक्तियों का निर्माण नहीं कर सकता और जिसके पास सूक्तियों का संग्रह नहीं है—जिसे सूक्तियाँ याद नहीं हैं—वह पुरुष सुभाषित नहीं कह सकता ।। १७२ ।।

अथैकस्मिन्नहनि गोष्ठीसमये चित्राङ्गो नायातः । अथ ते व्याकुलीभूताः परस्परं जल्पितुमारब्धाः—'अहो, किमद्य सुहृन्न समायातः । किं सिंहादिभिः क्वापि व्यापादितः, उत लुब्धकैः, अथवा अनले प्रपतितो गर्ते विषमे वा नवतृणलौल्यात्' इति । अथवा साध्विदमुच्यते—

एक दिन गोष्ठी के समय चित्रांग नहीं आया । तब वे सब व्याकुल होकर परस्पर कहने लगे—अहो ! आज हम लोगों के मित्र चित्रांग क्यों नहीं आये ? क्या उन्हें कहीं सिंहादि ने तो नहीं मार डाला या व्याधों ने तो कहीं पकड़ नहीं लिया या अग्नि में तो नहीं जल मरा अथवा हरी घासों के लोभ से किसी गहरे गड्ढे में तो नहीं गिर गया । अथवा सत्य ही कहा है—

स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धैः पापं विशङ्क्यते मोहात् ।
किमु　　दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे ।। १७३ ।।

बन्धु लोग प्रीति के कारण अपने घर के बगीचे में भी गए हुए मित्र के लिए (तरह-तरह के) अनिष्ट की आशङ्का किया करते हैं । फिर यदि वह (मित्र) ऐसे जङ्गल में स्थित हो, जहाँ अनेक प्रकार के सङ्कट देखे गये हों और जो भयावह हो तो उसके विषय में कहना ही क्या है ? ।। १७३ ।।

अथ मन्थरको वायसमाह—'भो लघुपतनक, अहं हिरण्यकश्च तावद्द्वावप्यशक्तौ तस्यान्वेषणं कर्तुं मन्दगतित्वात् । तद्गत्वा त्वमरण्यं शोधय यदि कुत्रचित्तं जीवन्तं पश्यसि' इति । तदाकर्ण्य लघुपतनको नातिदूरे यावद्गच्छति तावत्पल्वलतीरे चित्राङ्गः कूटपाशनियन्त्रितस्तिष्ठति । तं दृष्ट्वा शोकव्याकुलितमनास्तमवोचद्—'भद्र, किमिदम् ।' चित्राङ्गोऽपि वायसमवलोक्य विशेषेण दुःखितमना बभूव । अथवा युक्तमेतत् ।

मन्थरक ने कौवे से कहा—हे लघुपतनक ! मैं और हिरण्यक दोनों ही धीरे-धीरे चलने के कारण उनकी तलाश करने में असमर्थ हैं इसलिये तुम जाकर जङ्गल में ढूंढ़ो, कदाचित् वे जिन्दा मिल जावें । यह सुनकर लघुपतनक ज्यों ही कुछ दूर पहुँचा त्यों ही तलैया के किनारे फन्दे में फँसा हुआ चित्राङ्ग

(दिखाई पड़ा) उसे देखकर शोक से व्याकुल मन हो उससे बोला—'भद्र ! यह क्या है ? (यह कैसे हुआ ?) चित्राङ्ग भी कौए को देखकर पहिले से भी अधिक दुःखी हुआ । क्योंकि यह ठीक ही है—

अपि मन्दत्वमापन्नो नष्टो वापीष्टदर्शनात् ।
प्रायेण प्राणिनां भूयो दुःखावेगोऽधिको भवेत् ॥१७४॥

लघुता प्राप्त होने या नष्ट होने पर प्राणियों के शोक का वेग, प्रियजनों के दर्शन से और भी अधिक बढ़ जाता है ॥ १७४ ॥

ततश्च बाष्पावसाने चित्राङ्गो लघुपतनकमाह—'भो मित्र, संजातोऽयं तावन्मम मृत्युः । तद्युक्तं सम्पन्नं यद्भवता सह मे दर्शनं संजातम् । उक्तं च—

तब आँसुओं को अन्त में रोककर चित्राङ्ग ने लघुपतनक से कहा—हे मित्र ! मेरी मृत्यु तो हो ही गई—मेरी मृत्यु तो उपस्थित ही हुई, अतः यह अच्छा हुआ कि आपके दर्शन हो गये । कहा भी है—

प्राणात्यये समुत्पन्ने यदि स्यान्मित्रदर्शनम् ।
तद्द्वाभ्यां सुखदं पश्चाज्जीवतोऽपि मृतस्य च ॥१७५॥

प्राणों का नाश (मृत्यु) उपस्थित होने पर यदि मित्र के दर्शन हों तो वह दोनों प्रकार से सुखदायी होता है—चाहे फिर जीवित रहे या मृत्यु हो जाय ॥ १७५ ॥

तत्क्षन्तव्यं यन्मया प्रणयात्सुभाषितगोष्ठीष्वभिहितम् । तथा हिरण्यकमन्थरकौ मम वाक्याद्वाच्यौ—

सो प्रणय के कारण सुभाषित गोष्ठियों में मैंने जो कुछ कहा उसे क्षमा करना और मेरी ओर से हिरण्यक तथा मन्थरक से कहना—

यज्ज्ञानाज्ज्ञानतो वाऽपि दुरुक्तं यदुदाहृतम् ।
तत्क्षन्तव्यं युवाभ्यां मे कृत्वा प्रीतिपरं मनः ॥१७६॥

जाने या बिना जाने जो अप्रिय वचन मैंने कहे हों, आप लोग उसे प्रीतिपूर्ण मन से क्षमा कर देंगे ॥ १७६ ॥

तच्छ्रुत्वा लघपतनक आह—भद्र, न भेतव्यमस्मद्विधैर्मित्रैर्विद्यमानैः । यावदहं द्रुततरं हिरण्यकं गृहीत्वाऽऽगच्छामि । अपरं ये सत्पुरुषा भवन्ति ते व्यसने न व्याकुलत्वमुपयान्ति । उक्तं च—

यह सुनकर लघुपतनक बोला—भद्र ! हमारे जैसे मित्रों के जीवित रहते

हुए मत डरो। मैं शीघ्र ही हिरण्यक को लेकर आता हूँ। दूसरी बात यह भी है कि धैर्यशाली सत्पुरुष, विपत्ति में घबड़ाते नहीं हैं। कहा भी है—

'संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम्।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्' ॥१७७॥

जिस पुरुष को संपत्ति में हर्ष, विपत्ति में विषाद और युद्ध में कायरता नहीं आती ऐसे त्रिलोक श्रेष्ठ पुत्र को माता विरल ही उत्पन्न करती है॥ १७७॥

एवमुक्त्वा लघुपतनकश्चित्राङ्गमाश्वास्य यत्र हिरण्यकमन्थरकौ तिष्ठतस्तत्र गत्वा सर्वं चित्राङ्गपाशपतनं कथितवान्। हिरण्यकं च चित्राङ्गपाशमोक्षणं प्रति कृतनिश्चयं पृष्ठमारोप्य भूयोऽपि सत्वरं चित्राङ्गसमीपे गतः। सोऽपि मूषकमवलोक्य किञ्चिज्जीविताशया संश्लिष्ट आह—

यह कहकर चित्रांग को समझा-बुझाकर लघुपतनक वहाँ गया जहाँ हिरण्यक और मन्थरक बैठे थे। वहाँ जाकर चित्रांग के पास-बन्धन का समाचार कहा। (यह सुनकर) मित्र चित्रांग के पाश-बन्धन को काटने के लिए उद्यत हिरण्यक को अपनी पीठ पर लादकर लघुपतनक शीघ्रता से चित्रांग के समीप पहुँचा। चित्रांग ने अपने मित्र चूहा को देखकर जीने की आशा से बोला—

'आपन्नाशाय विबुधैः कर्तव्याः सुहृदोऽमलाः।
न तरत्यापदं कश्चिद्योऽत्र मित्रविवर्जितः' ॥१७८॥

विपत्ति का नाश करने के लिए विद्वानों को अच्छे मित्र करना चाहिए। जो मित्रों से हीन रहता है, वह विपत्ति को सरलता से पार नहीं कर सकता॥ १७८॥

हिरण्यक आह—'भद्र, त्वं तावन्नीतिशास्त्रज्ञो दक्षमतिः। तत्कथमत्र कूटपाशे पतितः।' स आह—'भोः, न कालोऽयं विवादस्य। तन्न यावत्स पापात्मा लुब्धकः समभ्येति यावद्द्रुततरं कर्तव्येमं मत्पाद-पाशम्।' तदाकर्ण्य विहस्याह हिरण्यकः—'किं मय्यपि समायाते लुब्धकाद् बिभेषि। ततः शास्त्रं प्रति महतो मे विरक्तिः संपन्ना, यद्भवद्विधा अपि नीतिशास्त्रविद एनामवस्थां प्राप्नुवन्ति। तेन त्वां पृच्छामि।' स आह—'भद्र, कर्मणा बुद्धिरपि हन्यते। उक्तं च—

हिरण्यक ने कहा—भद्र! तुम तो नीतिशास्त्र के जाननेवाले तथा चतुर बुद्धि हो फिर इस जाल में कैसे फँस गये। वह बोला—'यह समय विवाद (पूछताछ) करने का नहीं है। इसलिये जब तक वह दुष्ट व्याध न आवे तब तक

शीघ्र मेरे इस पैर के फन्दे को काट दो।' यह सुन हँसकर हिरण्यक ने कहा—'क्या मेरे आने पर भी व्याध से डरते हो। (चूँकि) आप जैसे नीतिशास्त्रज्ञ भी इस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये मुझे शास्त्र के विषय में बड़ी अश्रद्धा हो गई है। इसलिये मैं तुमसे पूछता हूँ।' वह बोला—भद्र! दैवभाग्य बुद्धि को भी हर लेता है। कहा भी है—

कृतान्तपाशवद्धानां दैवोपहतचेतसाम्।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥१७९॥

यम पाश में बँधे और दुर्भाग्य से हत चित्तवाले महात्माओं की बुद्धि भी कुटिलगामिनी हो जाती है ॥ १९७ ॥

विधात्रा रचिता या सा ललाटेऽक्षरमालिका।
न तां मार्जयितुं शक्ताः स्वबुद्ध्याऽप्यतिपण्डिताः ॥१८०॥

ब्रह्मा ने मस्तक में जो वर्णमाला लिख दी है उसे विद्वान् पुरुष भी अपनी बुद्धि द्वारा मिटा नहीं सकते ॥ १८० ॥

एवं तयोः प्रवदतोः सुहृद्वचसनसंतप्तहृदयो मन्थरकः शनैः शनैस्तं प्रदेशमाजगाम्। तं दृष्ट्वा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'अहो, न शोभनमापतितम्।' हिरण्यक आह—'किं स लुब्धकः समायाति।' स आह—'आस्तां तावल्लुब्धकवार्ता। एवं मन्थरकः समागच्छति। तद-नीतिरनुष्ठितानेन, यतो वयमप्यस्य कारणान्नूनं व्यापादनं व्यास्यामो यदि स पापात्मा लुब्धकः समागमिष्यति। तदहं तावत्खमुत्पतिष्यामि। त्वं पुनर्बिलं प्रविश्यात्मानं रक्षयिष्यसि। चित्राङ्गोऽपि वेगेन दिगन्तरं यास्यति। एष पुनर्जलचरः स्थले कथं भविष्यतीति व्याकुलोऽस्मि।' अत्रान्तरे प्राप्तोऽयं मन्थरकः। हिरण्यक आह—'भद्र, न युक्तमनुष्ठितं भवता, यदत्र समायातः। तद्भूयोऽपि द्रुततरं गम्यताम्, यावदसौ लुब्धको न समायाति।' मन्थरक आह—'भद्र, किं करोमि। न शक्नोमि तत्रस्थो मित्रव्यसनाग्निदाहं सोढुम्। तेनाहमत्रागतः। अथवा साध्विदमुच्यते—

जब वे दोनों बातचीत कर रहे थे उसी समय मन्थरक धीरे-धीरे उस स्थान पर आया, उसका हृदय मित्र की विपत्ति से जल रहा था—दुःखी हो रहा था। उसे देखकर लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—यह बात अच्छी नहीं हुई। हिरण्यक बोला—क्या वह शिकारी आ रहा है। उसने कहा—'शिकारी

की बात जाने दो, यह मन्थरक आ रहा है, इसने यह काम नीति विरुद्ध किया है; क्योंकि हमलोग भी इनके कारण नाश को प्राप्त होंगे। अगर वह व्याध आ गया तो मैं आकाश में उड़ जाऊँगा, तुम भी बिल में घुस कर अपनी रक्षा कर लोगे और चित्रांग भी तेजी से इधर-उधर (दूसरी दिशा को) भाग जायगा। परन्तु इस जलचर की स्थल (जमीन) में क्या हालत होगी--यह क्या करेगा ? यही सोचकर मैं घबड़ा रहा हूँ। उसी समय वह मन्थरक पहुँच गया। हिरण्यक ने कहा—'भद्र ! तुमने यहाँ आकर उचित नहीं किया, इसलिये जल्दी ही लौट जाओ, जब तक वह व्याध न आवे।' मन्थरक ने कहा—'भद्र ! क्या करूँ मैं वहाँ रहकर मित्र की विपत्ति रूपी अग्नि की जलन सहन नहीं कर सका इसलिये यहाँ चला आया। अथवा ठीक ही कहा है—

दयितजनविप्रयोगो वित्तवियोगश्च केन सह्याः स्युः।
यदि सुमहौषधकल्पो वयस्यजनसङ्गमो न स्यात् ॥१८१॥

यदि उत्तम औषधि के समान (पीड़ा हरने वाला) मित्रों का संसर्ग न हो तो प्रिय बन्धुओं का वियोग और धन का नाश किससे सहा जाय—उसे कौन सह सके ? कोई भी नहीं (बन्धुओं के वियोग और धन-नाश का शोक मित्रों के संसर्ग से ही दूर हो सकता है) ॥ १८१ ॥

वरं प्राणपरित्यागो न वियोगो भवादृशैः।
प्राणा जन्मान्तरे भूयो न भवन्ति भवद्विधाः ॥१८२॥

प्राणों का विनाश (मृत्यु) अच्छा, परन्तु आप जैसों (मित्रों) का वियोग अभीष्ट नहीं, क्योंकि प्राण तो दूसरे जन्म में फिर भी मिल जाते हैं किन्तु आप जैसे मित्र पुनः नहीं प्राप्त हो सकते ॥ १८२ ॥

एवं तस्य प्रवदत आकर्णपूरितशरासनो लुब्धकोऽप्युपागतः। तं दृष्ट्वा मूषकेण तस्य स्नायुपाशस्तत्क्षणात्खण्डितः। अत्रान्तरे चित्राङ्गः सत्वरं पृष्ठमवलोकयन्प्रधावितः। लघुपतनको वृक्षमारूढः हिरण्यकश्च समीपवर्तिबिलं प्रविष्टः। अथासौ लुब्धको मृगगमनाद्विषण्णवदनो व्यर्थश्रमस्तं मन्थरकं मन्दं मन्दं स्थलमध्ये गच्छन्तं दृष्टवान्, अचिन्तयच्च—'यद्यपि कुरङ्गो धात्रापहृतस्तथाऽप्ययं कूर्म आहारार्थं सम्पादितः। तदद्यास्यामिषेण मे कुटुम्बस्याहारनिर्वृत्तिर्भविष्यति। एवं विचिन्त्य तं दर्भैः सञ्छाद्य धनुषि समारोप्य स्कन्धे कृत्वा गृहं प्रति

प्रस्थितः । अत्रान्तरे तं नीयमानमवलोक्य हिरण्यको दुःखाकुलः पर्यदेवयत्—'कष्टं भोः, कष्टमापतितम् ।

जब वह इस प्रकार कह रहा था, उसी समय कान तक धनुष खींचे हुए शिकारी भी आ गया। उसको देखकर चूहे ने चित्राङ्ग की ताँत की बनी हुई रस्सी (पाश) तुरन्त काट दी। तब चित्राङ्ग पीछे की ओर देखता हुआ तेजी से भागा। लघुपतनक वृक्ष पर चढ़ गया, और हिरण्यक पास के बिल में घुस गया। तब हिरन के चले जाने से निष्फल प्रयत्न होने के कारण उस शिकारी का मुख मलिन (उदास) हो गया, उसने मन्थरक को जमीन पर धीरे-धीरे जाता हुआ देखकर सोचा—यद्यपि विधाता ने हिरन को हर लिया (छीन लिया), तो भी भोजन के लिये यह कछुआ तो दे दिया है, इसलिये आज इसी के मांस से मेरे कुटुम्ब का भोजन होगा। यह सोचकर वह कछुए को घासों से ढक कर धनुष पर लटका कर कन्धे पर रख घर को चल दिया। इस प्रकार उसको ले जाते हुए देखकर हिरण्यक दुःख से व्याकुल हो विलाप करने लगा लगा। अहो, कैसा दुःख आ पड़ा ?

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥१८३॥

जब तक मैं समुद्र के समान भयंकर एक दुःख को पार नहीं करता (उसे पूरे तौर से नहीं भोग पाता) तब तक दूसरा दुःख उपस्थित हो जाता है। (ठीक ही है–) छिद्रों में—विपत्ति के समय—विपत्तियाँ बढ़ जाती हैं अर्थात् विपत्ति अकेली कभी नहीं आती ॥ १८३ ॥

तावदस्खलितं यावत्सुखं याति समे पथि ।
स्खलिते च समुत्पन्ने विषमे च पदे पदे ॥१८४॥

तब तक मनुष्य समभूमि (चौरस) में बिना गिरे चलता है जब तक आराम से चला जाता है किन्तु एक बार भी पदच्युत होने पर पद-पद में ठोकर खाता है ॥ १८४ ॥

यन्नम्रं सरलं चापि यच्चापत्सु न सीदति ।
धनुर्मित्रं कलत्रं च दुर्लभं शुद्धवंशजम् ॥१८५॥

ऐसा धनुष मिलना कठिन है जो अच्छे बाँस का बना हुआ—लचकदार और सीधा हो तथा युद्धादि में टूटने वाला न हो। तथा ऐसा मित्र और पत्नी

भी प्राप्त होती कठिन है जो अच्छे कुल में उत्पन्न हो और विनयशील तथा सरल (निष्कपट) स्वभाव का हो ॥ १८५ ॥

न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे।
विश्रम्भस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे निरन्तरे ॥१८६॥

पुरुषों का अभिन्न हृदय मित्र में जैसा विश्वास होता है, वैसा विश्वास न माता में न स्त्री में न भाई और न पुत्र में होता है ॥ १८६ ॥

यदि तावत्कृतान्तेन मे धननाशो विहितस्तन्मार्गश्रान्तस्य मे विश्रामभूतं मित्रं कस्मादपहृतम्। अपरमपि मित्रं परं मन्थरकसमं न स्यात्। उक्तं च—

यदि दैव ने मेरा धन नष्ट कर दिया तो कोई बात नहीं (उससे मुझे उतना दुःख नहीं है) फिर (जीवन) मार्ग में थके हुए (जीवन कष्टों से दुःखित) मुझ आश्रयहीन का सहारा मित्र क्यों छीन लिया ? मित्र और भी हैं परन्तु मन्थरक के समान कोई न होगा। कहा भी है—

असम्पत्तौ परो लाभो गुह्यस्य कथनं तथा।
आपद्विमोक्षणं चैव मित्रस्यैतत्फलत्रयम् ॥१८७॥

निर्धनता में महान् लाभ, गोप्य बातों का कहना और विपत्ति से छुटकारा ये तीन मित्र के मुख्य लाभ हैं ॥ १८७ ॥

तदस्य पश्चान्नान्यः सुहृन्मे। तत्किं ममोपर्यनवरतं व्यसनशरैर्वर्षति हत विधिः ? यत आदौ तावद्वित्तनाशः, ततः परिवारभ्रंशः, ततो देशत्यागः, ततो मित्रवियोग इति। अथवा स्वरूपमेतत्सर्वेषामेव जन्तूनां जीवितधर्मस्य। उक्तं च—

इस मन्थरक के बाद मेरा कोई मित्र नहीं है (मन्थरक के समान दूसरा कोई मित्र नहीं) खेद की बात है, न मालूम क्यों ? दैव मेरे ऊपर व्यसन रूपी बाणों की निरन्तर वर्षा करता है ? पहिले धन का नाश हुआ, फिर कुटुम्बीजन छूटे, अनन्तर अपना देश छूटा और उसके बाद मित्र वियोग हुआ। अथवा सब ही प्राणियों की जीवन दशा का यही स्वरूप है—सबका जीवन इसी प्रकार के दुःखादि से परिपूर्ण रहता है कहा भी है—

कायः सन्निहितापायः संपदः क्षणभङ्गुराः।
समागमाः सापगमाः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥१८८॥

सभी देहधारियों के शरीर के साथ दुःख लगे हुए हैं (अथवा सबके ही शरीर विनश्वर हैं) सम्पत्तियाँ क्षण में नष्ट होने वाली हैं, प्रियजनों का संयोग भी वियोग के साथ (बँधा हुआ) है ॥ १८८ ॥

क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णं धनक्षये दीप्यति जाठराग्निः।
आपत्सु वैराणि समुल्लसन्ति छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ १८९ ॥

घाव में निरन्तर चोट लगती है, धन नाश होने पर पेट की अग्नि प्रदीप्त हो जाती है—भूख बढ़ जाती है, विपत्ति में शत्रुता भी बढ़ जाती है, यह सच है कि विपत्ति के समय अनेक अनर्थ उपस्थित हो जाते हैं ॥ १८९ ॥

अहो साधूक्तं केनापि—

प्राप्ते भये परित्राणं प्रीतिर्विश्रम्भभाजनम्।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १९० ॥

अहो ! किसी ने ठीक कहा है—

भय उपस्थित होने पर उससे बचाने वाले, प्रेम और विश्वास के आश्रय, रत्नस्वरूप 'मित्र' ये दो अक्षर किसने बनाये हैं ? ॥ १९० ॥

अत्रान्तरे चाक्रन्दपरौ चित्राङ्गलघुपतनकौ तत्रैव समायातौ। अथ हिरण्यक आह—'अहो, किं वृथा प्रलपितेन। तद्यावदेष मन्थरको दृष्टि-गोचरान्न नीयते, तावदस्य मोक्षोपायश्चिन्त्यताम्' इति। उक्तं च—

इसी अवसर पर विलाप करते चित्राङ्ग और लघुपतनक उसी जगह पहुँच गये। तब हिरण्यक ने कहा—व्यर्थ विलाप करने से क्या लाभ ? इस-लिए जब तक यह मन्थरक आँखों से ओझल न हो तब तक इसके छुड़ाने का कोई उपाय सोचना चाहिए। कहा भी है—

'व्यसनं प्राप्य यो मोहात्केवलं परिदेवयेत्।
क्रन्दनं वर्धयत्येव तस्यान्तं नाधिगच्छति ॥ १९१ ॥

जो मनुष्य विपत्ति में फँसकर चित्त की अस्थिरता (घबड़ाहट) के करण सिर्फ विलाप करता है उसका वह विलाप उस विपत्ति को बढ़ाता ही है, (अतएव) वह उसके पार नहीं पहुँच पाता—उससे छूट नहीं सकता ॥१९१॥

केवलं व्यसनस्योक्तं भेषजं नयपण्डितैः।
तस्योच्छेदसमारम्भो विषादपरिवर्जनम् ॥ १९२ ॥

नीतिशास्त्रज्ञ विषाद (अधीरता) को छोड़ कर विपत्ति के नाश करने के उद्योग को ही उसकी (व्यसन की) औषध कहते हैं ॥ १९२ ॥

अन्यच्च—

अतीतलाभस्य सुरक्षणार्थं भविष्यलाभस्य च सङ्गमार्थम् ।
आपत्प्रपन्नस्य च मोक्षणार्थं यन्मन्त्र्यतेऽसौ परमो हि मन्त्रः' ॥१९३॥

और भी—प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिये, अप्राप्त की प्राप्ति के लिये तथा विपत्ति में फँसे हुए (पुरुष की) रक्षा के लिये जो सलाह की जाती है वही उत्तम सलाह है ॥ १९३ ॥

तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भोः यद्येवं तत्क्रियतां मद्वचः। एष चित्राङ्गोऽस्य मार्गे गत्वा कश्चित्पल्वलमासाद्य तस्य तीरे निश्चेतनो भूत्वा पततु। अहमप्यस्य शिरसि समारुह्य मन्दैश्चञ्चुप्रहारैः शिरं उल्लेखयिष्यामि, येनासौ दुष्टलुब्धकोऽमुं मृतं मत्वा मम चञ्चुप्रहरण-प्रत्ययेन मन्थरकं भूमौ क्षिप्त्वा मृगार्थं परिधाविष्यति। अत्रान्तरे त्वया दर्भमयानि पाशानि खण्डनीयानि, येनासौ मन्थरको द्रुततरं पल्वलं प्रविशति।' चित्राङ्ग आह—'भोः, भद्रोऽयं त्वया दृष्टो मन्त्रः। नूनं मन्थरकोऽयं मुक्तो मन्तव्यः' इति। उक्तं च—

यह सुन कौवा बोला—'यदि यह बात है तो मेरी बात मानो। यह चित्राङ्ग शिकारी के रास्ते में किसी तालाब के पास पहुँच उसके किनारे पर वेहोश होकर पड़ जावे (लेट जावे), मैं भी इसके सिर पर बैटकर धीमे-धीमे (हलके-हलके) चोंच से प्रहार करूँगा जिससे कि वह दुष्ट व्याघ मेरे चोंच का प्रहार करने से इसको मरा हुआ समझकर मन्थरक को भूमि पर डालकर मृग के लिये दौड़ेगा। इसी मौके पर तुम कुशा के बने हुए पाश काट देना जिससे मन्थरक शीघ्र तालाब में घुस जावेगा।' चित्राङ्ग ने कहा—'तुमने यह उपाय बहुत अच्छा सोचा—तुम्हारी यह सलाह बहुत उत्तम है। निश्चय ही मन्थरक को छूटा हुआ समझो।' कहा भी है—

'सिद्धं वा यदि वाऽसिद्धं चित्तोत्साहो निवेदयेत् ।
प्रथमं सर्वजन्तूनां तत्प्राज्ञो वेत्ति नेतरः ॥ १९४ ॥

सब मनुष्यों के चित्त की प्रसन्नता—उमङ्ग ही काम की सफलता या असफलता को पहिले ही सूचित कर देती है, इसको बुद्धिमान् पुरुष ही जान पाते हैं, अन्य नहीं जान सकते ॥ १९४ ॥

तदेवं क्रियताम्' इति। तथाऽनुष्ठिते स लुब्धकस्तथैव मार्गान्नपल्वलतीरस्थं चित्राङ्गं वायससनाथमपश्यत्। तं दृष्ट्वा हर्षितमना व्यचि-

न्तयत्—'नूनं पाशबन्धनवेदनया वराकोऽयं मृगः सावशेषजीवितः पाशं त्रोष्टयित्वा कथमप्येतद्वनान्तरं यावत्प्रविष्टस्तावन्मृतः। तद्वश्योऽयं मे कच्छपः सुयन्त्रितत्वात्। तदेनमपि तावद्गृह्णामि।' इत्यवधार्य कच्छपं भूतले प्रक्षिप्य मृगमुपाद्रवत्। एतस्मिन्नन्तरे हिरण्यकेन वज्रोपमदंष्ट्रा-प्रहरणेन तद्दर्भवेष्टनं खण्डशः कृतम्। मन्थरकोऽपि तृणमध्यान्निष्क्रम्य समीपवर्तिनं पल्वलं प्रविष्टः। चित्राङ्गोऽप्यप्राप्तस्यापि तस्य तल उत्थाय वायसेन सह पलायितः। एतस्मिन्नन्तरे विलक्षो विषादपरो लुब्धको निवृत्तो यावत्पश्यति, तावत्कच्छपोऽपि गतः। ततश्च तत्रो-पविश्येमं श्लोकमपठत्—

इसलिए ऐसा ही करना चाहिए। वैसा करने पर उस व्याध ने रास्ते के पास वाले तालाब के किनारे पर कौवे सहित चित्राङ्ग को उसी हालत में (जैसा पहिले कह आये हैं) देखा। उसको देखकर प्रसन्नचित्त हो सोचने लगा—पाश से बाँधे जाने की पीड़ा से पीड़ित यह बेचारा हिरन आयुशेष होने के कारण किसी प्रकार जाल तोड़कर जब इस बन में पहुँचा तब ही मर गया। अच्छी तरह बँधा होने से यह कछुआ मेरे वश में तो है ही—यह कहीं जा नहीं सकता। इसलिये इसको (हरिण) को भी ले लूं। यह निश्चय कर कच्छप को जमीन पर डालकर मृग की तरफ दौड़ा। इसी बीच में हिरण्यक ने अपने वज्र के समान दाँत रूपी शस्त्र से उन कुशों के वेष्टनों को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। मन्थरक तृणकुशा में से निकल कर पास के तालाब में घुस गया। चित्राङ्ग भी उसके पहुँचने से पूर्व ही कौवे के साथ भाग गया। तब लज्जित और दुःखी व्याध जब तक लौट कर (कछुए के पास) आया तब तक (उसके पूर्व ही) कछुआ भी चला गया। तब उसने वहाँ बैठकर यह श्लोक पढ़ा—

'प्राप्तो बन्धनमप्ययं गुरुमृगस्तावत्त्वया मे हृतः
सम्प्राप्तः कमठः स चापि नियतं नष्टस्तवादेशतः।
क्षुत्क्षामोऽत्र वने भ्रमामि शिशुकैस्त्यक्तः समं भार्यया
यच्चान्यन्न कृतं कृतान्त कुरुते तच्चापि सह्यं मया' ॥१९५॥

रे दैव! पहिले तो तुमने जाल में फँसा हुआ भी मेरा यह मृग हर लिया, फिर कछुआ पाया वह भी निश्चय ही तुम्हारी ही आज्ञा से जाता रहा। पत्नी और बच्चों से बिछुड़ा हुआ भूखा-प्यासा मैं इस वन में घूम रहा हूँ। तुमने जो कुछ न किया हो वह भी कर लो मैं उसे भी सहने के लिये तैयार हूँ ॥१९५॥

एवं बहुविधं विलप्य स्वगृहं गतः। अथ तस्मिन्व्याधे दूरतरं गते सर्वेऽपि ते काककूर्ममृगमूषकाः परमानन्दभाजः परस्परमालिङ्ग्य पुनर्जातमिवात्मानं मन्यमानास्तदेव सरसं प्राप्य महासुखेन सुभाषितकथागोष्ठीविनोदेन कालं नयन्ति स्म। एवं ज्ञात्वा विवेकिना मित्रसंग्रहः कार्यः। न च मित्रेण सह व्याजेन वर्तितव्यमिति। उक्तं च यतः—

इस प्रकार तरह-तरह से विलाप करके अपने घर चला गया। तब उस व्याध के बहुत दूर चले जाने पर वे सब—कोआ, कछुआ, मृग और चूहा—अत्यन्त आनन्दित हो एक दूसरे का आलिङ्गन कर अपने को दुबारा उत्पन्न समझते हुए उसी तालाब पर पहुँच कर बड़े आनन्द से सुभाषित कथाओं के द्वारा समय बिताने लगे। यह जानकर समझदार मनुष्य को मित्र-संग्रह करना चाहिए और मित्र के साथ कपट—व्यवहार न करना चाहिए। कहा भी है—

यो मित्राणि करोत्यत्र न कौटिल्येन वर्तते।
तैः समं न पराभूतिं सम्प्राप्नोति कथञ्चन ॥१९६॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रसम्प्राप्तिर्नाम
द्वितीयं तन्त्रं समाप्तम्।

इस संसार में जो मनुष्य मित्र बनाता है और उन के साथ कपट-व्यवहार नहीं करता वह किसी प्रकार भी शत्रुओं से पराजय को प्राप्त नहीं होता।१९६।

द्वितीय तन्त्र समाप्त।

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१७

श्रीविष्णुशर्मप्रणीतं

काकोलूकीयम्

(पञ्चतन्त्रस्य तृतीयं तन्त्रम्)

'सरला' भाषाटीकोपेतम्

टीकाकारः—

स्व० गोकुलदास गुप्त बी. ए.

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

पञ्चतन्त्रम्

अथ काकोलूकीयम्

[तृतीयं तन्त्रम्]

अथेदमारभ्यते काकूलूकीयं[1] नाम तृतीयं तन्त्रम् । यस्यायमाद्यः श्लोकः—

न विश्वसेत्पूर्वविरोधितस्य शत्रोश्च मित्रत्वमुपागतस्य ।
दग्धां गुहां पश्य, उलूकपूर्णां काकप्रणीतेन हुताशनेन ॥ १ ॥

'काकोलूकीय' नामक यह तृतीय तन्त्र प्रारम्भ किया जाता है, जिसका यह प्रथम श्लोक है :—

प्रथम शत्रुता रखने वाले, पीछे मित्रता को प्राप्त हुए भी शत्रु का विश्वास न करना चाहिए, कौवे से लगाई हुई अग्नि के द्वारा उल्लुओं से भरी हुई गुफा को भस्म हुआ देखो ॥ १ ॥

तद्यथाऽनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य समीप[2]स्थोऽनेकशाखासनाथोऽतिघनतरपत्रच्छन्नो न्यग्रोधपादपोऽस्ति । तत्र च मेघवर्णो नाम वायसराजोऽनेककाकपरिवारः[3] प्रतिवसति स्म । स तत्र विहितदुर्गरचनः सपरिजनः कालं नयति । तथाऽन्योऽरिमर्दनो नामोलूकराजोऽसंख्योलूकपरिवारो गिरिगुहादुर्गाश्रयः प्रतिवसति स्म । स च रात्रावभ्येत्य सदैव तस्य न्यग्रोधस्य समन्तात्परिभ्रमति । अथोलूकराजः पूर्वविरोधवशाद्यं कञ्चिद्वायसमासादयति, तं व्यापाद्य[4] गच्छति । एवं नित्याभिगमनाच्छनैः शनैस्तन्न्यग्रोधपादपदुर्गं तेन समन्तान्निर्वायसं कृतम् । अथवा भवत्येवम् ।

---

१. सन्धिविग्रहादिसम्बन्धं का. ।   २. समीपेऽनेकखगसनाथो ।
३. परिवृतः ।   ४. व्यापादयति वा ।

उक्तञ्च—

य उपेक्षेत शत्रुं स्वं प्रसरन्तं यदृच्छया।
रोगं चाऽलस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते ॥ २ ॥

जैसा कि सुना जाता है—दक्षिण देश में महिलारोप्य नामक एक नगर था। उसके पास अनेक शाखाओं से युक्त, अत्यन्त घने पत्तों से ढका हुआ एक बरगद का पेड़ था। उस पर मेघवर्ण नाम का कौवों का राजा रहता था। उसके परिवार में अनेक कौवे थे। वह वहीं अपना दुर्ग बनाकर परिवार सहित समय बिताता था—रहता था। तथा, अरिमर्दन नाम का एक दूसरा उल्लुओं का राजा असंख्य उल्लुओं के परिवार के साथ पर्वत की गुफारूपी किले में रहता था। वह हमेशा ही रात्रि में आकर उस वट-वृक्ष के चारों ओर घूमा करता और पूर्व शत्रुता के कारण, जिस किसी कौवे को पाता उसे मार जाता था। इस तरह प्रतिदिन आक्रमण करके धीरे-धीरे उसने, उस न्यग्रोध वृक्षरूपी दुर्ग को बाहर की ओर से कौवों से रहित कर दिया—बाहर के हिस्से में रहने वाले सब कौवे मार डाले। अथवा ऐसा होता ही है। कहा भी है :—

जो मनुष्य आलस्य में पड़कर स्वच्छन्दता से बढ़ते हुए शत्रु और रोग की उपेक्षा करता है—उसके रोकने की चेष्टा नहीं करता—वह क्रमशः उसी (शत्रु अथवा रोग) से मारा जाता है ॥ २ ॥

तथा च—

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिश्च प्रशमं नयेत्।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ ३ ॥

जो मनुष्य शत्रु तथा रोग को उत्पन्न होते ही नष्ट नहीं करता महाबलवान् भी वह बढ़े हुए उस रोग व शत्रु से मारा जाता है। (पाठान्तर में) अत्यन्त पुष्ट अङ्गों वाला भी वह उससे मारा जाता है ॥ ३ ॥

अथान्येद्युः स वायसराजः सर्वान्सचिवानाहूय प्रोवाच—भोः! उत्कटस्तावदस्माकं शत्रुरुद्यमसम्पन्नश्च कालविच्च नित्यमेव निशागमे समेत्यास्मत्पक्षकदनं करोति। तत्कथमस्य प्रतिविधातव्यम्? वयं तावद्रात्रौ न पश्यामः न च दिवा दुर्गं विजानीमो येन गत्वा प्रहरामः। तदत्र किं युज्यते सन्धि-विग्रह-यानासन-संश्रय-द्वैधीभावानां मध्यात्। अथ ते प्रोचुः—युक्तमभिहितं देवेन यदेष प्रश्नः कृतः। उक्तञ्च—

अपृष्टेनापि वक्तव्यं सचिवेनात्र किञ्चन ।
पृष्टेन त्वरितं वाच्यं पथ्यञ्च प्रियमप्रियम् ।। ४ ।।

अनन्तर एक दिन कौवों के राजा ने सब मन्त्रियों को बुलाकर कहा—हमारा शत्रु बलवान्, पुरुषार्थी और समयज्ञ है। वह प्रतिदिन ही रात्रि के प्रारम्भ में आकर हमारे आदमियों को मारता है। उसका क्या उपाय करना चाहिए ? हमलोग रात्रि में देख नहीं सकते और न उसके दुर्ग को ही जानते हैं जिससे दिन में जाकर उसको मारें, इसलिये सन्धि आदि ६ नीति के अङ्गों में से यहाँ किसका उपयोग है—किसे काम में लाना चाहिए ? उन लोगों ने कहा—आपने बहुत ठीक कहा जो यह बात पूछी। कहा भी है :—

मन्त्री को ऐसी दशा में, बिना पूछे भी कुछ कहना चाहिए (उपदेश देना चाहिए) पूछने पर तो शीघ्र ही (समय नष्ट किये बिना ही) हितकारी बात कहनी चाहिए चाहे वह प्रिय हो या अप्रिय ।। ४ ।।

यो न पृष्टो हितं ब्रूते परिणामे सुखावहम् ।
मन्त्री च प्रियवक्ता च केवलं स रिपुः स्मृतः ।। ५ ।।

जो पूछने पर भी अन्त में सुखदायक हित की बात नहीं कहता वह मन्त्री तथा केवल मितभाषी मनुष्य शत्रु कहा गया है ।। ५ ।।

तस्मादेकान्तमासाद्य कार्यो मन्त्रो महीपते ।
येन तस्य वयं कुर्मो नियमं कारणं तथा ।। ६ ।।

इसलिये, हे राजन् ! एकान्त में विचार करना चाहिए जिससे हम लोग उसकी (शत्रुता के) कारण जान सकें और उसका निग्रह कर सकें ।। ६ ।।

अथ स मेघवर्णोऽन्वयागतोज्जीवि-सञ्जीवि-अनुजीवि-प्रजीवि-चिरञ्जीविनाम्नः पञ्च सचिवान्प्रत्येकं प्रष्टुमारब्धः । तत्रैतेषामादौ तावदुज्जीविनं पृष्टवान्—'भद्र ! एवं स्थिते किं मन्यते भवान् ?' स आह—राजन् ! बलवता सह विग्रहो न कार्यः । यतः स बलवान्कालप्रहर्ता च तस्मात्संधेयः ।

उक्तञ्च—

बलीयसि प्रणमतां काले प्रहरतामपि ।
सम्पदो नावगच्छन्ति प्रतीपमिव निम्नगाः ।। ७ ।।

तब मेघवर्ण ने कुलक्रमागत उज्जीवि आदि ५ मन्त्रियों में से प्रत्येक से

पूछना शुरू किया। पहले उनमें उज्जीवि से पूछा—भद्र ! ऐसी दशा में आपकी क्या राय है ? उसने कहा—राजन् ! बलवान् के साथ युद्ध न करना चाहिए। चूंकि वह बलवान् और समय पर प्रहार करने वाला है, इसलिये उसके साथ सन्धि करनी चाहिये। कहा भी है—उन पुरुषों की सम्पत्तियाँ, जो शत्रु के बलवान् होने पर उसको प्रणाम करते तथा समय पर उसकी कोई कमजोरी पाकर उस पर प्रहार भी करते हैं, उनको छोड़ कर नहीं जातीं जैसे कि नदियाँ कभी उलटी नहीं बहतीं ॥ ७ ॥

सत्याढचो धार्मिकश्चार्यो भ्रातृसङ्घातवान् बली।
अनेकविजयी चैव सन्धेयः स रिपुर्भवेत् ॥ ८ ॥

सत्यवादी, धर्मात्मा, सज्जन, अनेक भाइयों वाला, बलवान् और अनेक युद्धों विजयी शत्रु सन्धि के योग्य होता है ॥ ८ ॥

सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विज्ञाय प्राणसंशयम्।
प्राणैः संरक्षितैः सर्वं यतो भवति रक्षितम् ॥ ९ ॥

जीवन में सन्देह उपस्थित होने पर दुष्ट पुरुष के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए, क्योंकि प्राणों की रक्षा होने पर सब की रक्षा हो जाती है ॥९॥

योऽनेकयुद्धविजयी स तेन विशेषात्सन्धेयः। उक्तञ्च—

अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्यं गच्छति।
तत्प्रभावेण तस्याशु वशं गच्छन्त्यरातयः ॥ १० ॥

अनेक युद्धों का विजेता नृपति जिसके साथ सन्धि द्वारा मित्रभाव को प्राप्त होता है उसके (बलवान् के) साथ सन्धि करने वाले के शत्रु उसके (बलवान् राजा के) प्रभाव से शीघ्र ही वश में हो जाते हैं ॥ १० ॥

सन्धिमिच्छेत्समेनापि सन्दिग्धो विजयी युधि।
न हि सांशयिकं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ११ ॥

चूंकि युद्ध में विजयप्राप्ति अनिश्चित होती है, इसलिये समान बल वाले शत्रु के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए. क्योंकि बृहस्पति ने कहा है कि संशययुक्त कार्य कभी न करना चाहिए ॥ ११ ॥

सन्दिग्धो विजयो युद्धे जनानामिह युद्धचताम्।
उपायत्रितयादूर्ध्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत् ॥ १२ ॥

इस संसार में युद्ध करने वाले पुरुषों का विजय युद्ध में अनिश्चित होता है

इसलिये साम, दाम, भेद नामक तीनों उपायों के अनन्तर (इनके विफल होने पर) युद्ध करना चाहिए ॥ १२ ॥

असन्दधानो मानान्धः समेनापि हतो भृशम् ।
आमकुम्भ इवान्येन करोत्युभयसंक्षयम् ॥ १३ ॥

जो राजा अभिमान से अन्धा होकर दूसरे के साथ सन्धि नहीं करता, वह समान बल वाले शत्रु से अच्छी तरह ताडित हो इस प्रकार दोनों का नाश कर देता है जैसे दो कच्चे घड़े आपस में टकरा कर एक दूसरे का नाश कर देते हैं।

समं शक्तिमता युद्धमशक्तस्य हि मृत्यवे ।
दृषत्कुम्भं यथा भित्वा तावत्तिष्ठति शक्तिमान् ॥ १४ ॥

बलवान पुरुष के साथ निर्बल पुरुष का युद्ध उस (दुर्बल) के नाश का ही कारण होता है; जैसे कि पाषाण घड़े को फोड़ कर स्वयं निर्विकार ही रहता है इसी प्रकार समर्थ दुर्बल का नाश कर स्वयं अक्षत शरीर ही रहता है ॥ १४ ॥

अन्यञ्च—

भूमिर्मित्रं हिरण्यं वा विग्रहस्य फलत्रयम् ।
नास्त्येकमपि यद्येषां विग्रहं न समाचरेत् ॥ १५ ॥

राज्य, मित्र और धन ये तीन युद्ध के लाभ हैं। यदि इनमें ये एक भी न हो—एक के भी प्राप्त होने की आशा न हो—तो युद्ध न करें ॥ १५ ॥

खनन्नाखुबिलं सिंहः पाषाणशकलाकुलम् ।
प्राप्नोति नखभङ्गं हि फलं वा मूषको भवेत् ॥ १६ ॥

यदि सिंह पत्थर के टुकड़ों से व्याप्त चूहे के बिल को खोदता है तब या तो उसके नाखून टूट जाते हैं और यदि कुछ मिलता भी है तो एक चूहा मात्र ॥ १६ ॥

तस्मान्न स्यात्फलं यत्र पुष्टं युद्धं तु केवलम् ।
न हि तत्स्वयमुत्पाद्यं कर्तव्यं न कथञ्चन ॥ १७ ॥

इसलिये जहाँ (जिस युद्ध में) कोई लाभ न हो केवल युद्ध ही हो उसको स्वयं अपनी ओर से कभी उत्पन्न न करना चाहिए (दूसरे से उत्पन्न होने पर भी बचाना चाहिए) ॥ १७ ॥

बलीयसा समाक्रान्तो वैतसीं वृत्तिमाश्रयेत् ।
वाञ्छन्नभ्रंशिनीं लक्ष्मीं न भौजङ्गीं कदाचन ॥ १८ ॥

स्थिर लक्ष्मी चाहने वाले मनुष्य को उचित है कि वह बलवान् शत्रु से

आक्रमण किये जाने पर बेंत का सा व्यवहार करना चाहिए (जिस प्रकार तेज हवा चलने पर बेंत हवा के साथ झुक जाता है अतएव टूटता नहीं) सर्प जैसा व्यवहार कदापि न करे ॥ १८ ॥

कुर्वन्हि वैतसीं वृत्तिं प्राप्नोति महतीं श्रियम् ।
भुजङ्गवृत्तिमापन्नो वधमर्हति केवलम् ॥ १९ ॥

बेंत सम्बन्धी व्यवहार (नम्रता) करता हुआ मनुष्य विपुल सम्पत्ति पाता है और सर्प की वृत्ति का आचरण करता हुआ केवल वध के योग्य होता है ॥ १९ ॥

कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारानपि मर्षयेत् ।
काले काले च मतिमानुत्तिष्ठेत्कृष्णसर्पवत् ॥ २० ॥

बुद्धिमान् को चाहिए कि कूर्म के सङ्कोच को देखकर प्रहारों (आपत्तियों) का सहन करे और समय-समय पर कृष्ण सर्प के समान अभ्युत्थान करता रहे ॥ २० ॥

आगतं विग्रहं दृष्ट्वा[1] सुसाम्ना प्रशमं नयेत् ।
विजयस्य ह्यनित्यत्वाद्रभसा[2] न समुत्पतेत् ॥ २१ ॥

युद्ध को उपस्थित देख कर साम प्रयोग से उसे शान्त कर देवे । विजय के अनिश्चित होने से (युद्ध में कभी पराजय भी होता है) युद्ध के लिए जल्दबाजी न करनी चाहिए ॥

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ २२ ॥

बलवान् पुरुष के साथ युद्ध करना चाहिए, ऐसा कोई नीतिशास्त्र का नियम नहीं है (अथवा) इस विषय में कोई दृष्टान्त नहीं है । मेघ कभी भी वायु के प्रतिकूल नहीं चलता ॥ २२ ।

एवमुज्जीवी साममन्त्रं सन्धिकारकं विज्ञप्तवान् । अथ तच्छ्रुत्वा सञ्जीविनमाह—भद्र ! तवाभिप्रायमपि श्रोतुमिच्छामि । स आह—देव ! न ममैतत्प्रतिभाति यच्छत्रुणा सह संधानं क्रियते । उक्तञ्च यतः—

शत्रुणा न हि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि सन्धिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार उज्जीवी ने संधि कराने वाले साममंत्र की सलाह दी । अनन्तर

१. मत्वा २. रभसं च समुत्सृजेत् ।

उसे सुन कर संजीवी से कहा—भद्र ! मैं तुम्हारी राय भी सुनना चाहता हूँ। उसने कहा—देव ! मुझे यह बात पसन्द नहीं कि शत्रु के साथ सन्धि की जावे। क्योंकि कहा भी है—

अच्छे प्रकार की गई भी सन्धि के द्वारा शत्रु के साथ मेल न करना चाहिए। गरम किया हुआ जल भी अग्नि को बुझा ही देता है ॥ २३ ॥

अपरं च स क्रूरोऽत्यन्तलुब्धो धर्मरहितः। तत्त्वया विशेषान्न सन्धेयः। उक्तञ्च—

सत्यधर्मविहीनेन न सन्दध्यात्कथञ्चन।
सुसन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ॥ २४ ॥

सत्यरूपी धर्म से रहित (मिथ्यावादी) पुरुष के साथ किसी प्रकार भी सन्धि न करनी चाहिए, क्योंकि (ऐसा पुरुष) अच्छे प्रकार सन्धि करके भी अपनी दुष्टता के कारण शीघ्र ही विकार को प्राप्त हो जाता है—बदल जाता है ॥ २४ ॥

तस्मात्तेन योद्धव्यमिति मे मतिः। उक्तञ्च यतः—

क्रूरो लुब्धोऽलसोऽसत्यः प्रमादी भीरुरस्थिरः।
मूढो योधावमन्ता च सुखोच्छेद्यो भवेद्रिपुः ॥ २५ ॥

इसलिये उसके साथ युद्ध करना चाहिए, यह मेरी राय है। कहा भी है—निर्दय, लोभी, आलसी, झूठ बोलने वाला, असावधान, डरपोक, किसी बात पर दृढ़ न रहने वाला, मूर्ख और सिपाहियों का अपमान करनेवाला शत्रु आसानी से नष्ट किया जा सकता है ॥ २५ ॥

अपरं तेन पराभूता वयम्; तद्यदि सन्धानकीर्तनं करिष्यामस्तद्भूयोऽत्यन्तं[1] कोपं करिष्यति। उक्तञ्च—

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥ २६ ॥

दूसरी बात यह है कि उसने हमारा अपमान किया है, इसलिये यदि हम सन्धि की चर्चा करेंगे तो वह और भी अधिक क्रोध करेगा। कहा भी है—

चतुर्थ उपाय—दण्ड से वश में करने योग्य शत्रु के प्रति शान्ति की चर्चा अनुचित तरीका है, कौन समझदार (वैद्य) पसीने के द्वारा चिकित्सा करने योग्य नवीन ज्वर में (रोगी को) स्नान कराता है ॥ २६ ॥

---

१. योऽपि काकविनाशम्।

सामवादाः सकोपस्य शत्रोः प्रत्युत दीपिकाः ।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ॥ २७ ॥

जिस प्रकार तपे हुए घी में पड़ी हुई जल की बूँदें उसे शान्त करने के बजाय और अधिक प्रज्वलित कर देती हैं इसी तरह क्रुद्ध हुए शत्रु से (कहे हुए) शान्ति के वचन उसको और भी अधिक क्रुद्ध कर देते हैं ॥ २७ ॥

यश्चैतद्वदति रिपुर्बलवान् तदप्यकारणम् । उक्तञ्च यतः—

प्रमाणाभ्यधिकस्यापि महत्सत्त्वमधिष्ठितः ।
पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः ॥ २८ ॥

और जो यह कहते हैं कि शत्रु बलवान् है, यह भी उचित हेतु नहीं है। कहा भी है क्योंकि—

चित्तोत्साह से भरा हुआ सिंह डीलडौल वाले मत्त हाथी के मस्तक पर पैर रखता है—उसको जीत लेता है ॥ २८ ॥

उत्साहशक्तिसम्पन्नो हन्याच्छत्रुं लघुर्गुरुम् ।
यथा कण्ठीरवो नागं भारद्वाजः प्रचक्षते ॥ २९ ॥

उत्साहशक्ति (कार्य सम्पादन में दृढ़ प्रयत्नशील होना) से युक्ति छोटा (निर्बल) भी पुरुष बड़े शत्रु को भी मार सकता है जैसे कि (हाथी की अपेक्षा छोटे शरीर वाला भी) सिंह हाथी को मार डालता है। ऐसा भारद्वाज कहते हैं ॥ २९ ॥

मायया शत्रवो वध्या अवध्याः स्युर्बलेन ये ।
यथा स्त्रीरूपमास्थाय हतो भीमेन कीचकः ॥ ३० ॥

जो शत्रु पराक्रम द्वारा न मारे जा सकें उनको कपट नीति से मारना चाहिए। जैसे कि भीमसेन ने स्त्री-वेश धारण कर कीचक को मारा था ॥ ३० ॥

तथा च—

मृत्योरिवोग्रदण्डस्य राज्ञो यान्ति वशं द्विषः ।
सर्वंसहन्तु मन्यन्ते तृणाय रिपवश्च तम् ॥ ३१ ॥

शत्रु यम के समान तीक्ष्णदण्ड वाले राजा के वश में हो जाते हैं और वे ही (शत्रु) सब कुछ सहने वाले (अत्यन्त दयालु) राजा को तिनके के समान (अकिञ्चित्कर) समझते हैं ॥ ३१ ॥

न जातु शमनं यस्य तेजस्तेजस्वितेजसाम् ।
वृथा जातेन किं तेन मातुर्यौवनहारिणा ॥ ३२ ॥

जिस पुरुष का तेज तेजस्वी पुरुषों के तेज को शान्त (दबा) नहीं करता, उस व्यर्थं उत्पन्न हुए (केवल) माता के यौवन का विनाश करने वाले पुरुष से क्या लाभ ? कुछ भी नहीं ॥ ३२ ॥

या लक्ष्मीर्नानुलिप्ताङ्गी वैरिशोणितकुङ्कुमैः ।
कान्ताऽपि मनसः प्रीतिं न सा धत्ते मनस्विनाम् ॥ ३३ ॥

जो लक्ष्मी, शत्रुओं के रुधिररूपी केसर से चिह्नित (जिसके अङ्ग लिप्त नहीं होते) नहीं होती वह मनोहर होने पर भी वीर पुरुषों के मन को आनन्दित नहीं करती ॥ ३३ ॥

रिपुरक्तेन संसिक्ता तत्स्त्रीनेत्राम्बुभिस्तथा ।
न भूमिर्यस्य भूपस्य का श्लाघा तस्य जीविते ॥ ३४ ॥

जिस राजा की भूमि शत्रुओं के रुधिर तथा उनकी स्त्रियों के आँसुओं (पति-पुत्रादि के मरने से शोक से उत्पन्न) से नहीं सींची जाती, उसके जीवित रहने में क्या प्रशंसा है ? कुछ भी नहीं । उसका मरना ही अच्छा है ॥ ३४ ॥

एवं संजीवि विग्रहमन्त्रं विज्ञापयामास । अथ तच्छ्रुत्वाऽनुजीविनमपृच्छत्—'भद्र ! त्वमपि स्वाभिप्रायं निवेदय ।' सोऽब्रवीत्—'देव ! दुष्ट; स बलाधिको निर्मर्यादश्च तत्तेन सह न सन्धिर्न विग्रहो युक्तः । केवलं मानमर्हं स्यात् । उक्तञ्च—

बलोत्कटेन दुष्टेन मर्यादारहितेन च ।
न सन्धिविग्रहौ नैव विना यानं प्रशस्यते ॥ ३५ ॥

इस प्रकार संजीवी ने 'विग्रह' की सलाह दी । तब यह सुन, (मेघवर्ण ने) अनुजीवी से कहा—'भद्र ! तुम भी अपना विचार प्रकट करो' । उसने कहा—'देव ! वह (शत्रु) दुष्ट, बलवान् और शिष्टाचार रहित है । इसलिये उसके साथ सन्धि और विग्रह दोनों ही उचित नहीं है । केवल 'यान' ही उपयोगी हो सकता है । कहा भी है—

बल में अधिक, दुष्ट और शिष्टाचार रहित (जो सन्धि आदि की उपेक्षा करता है) शत्रु के साथ सन्धि और युद्ध नहीं करना चाहिए (उसके साथ) यान के अतिरिक्त और कुछ उचित नहीं है । (बलवान् होने के कारण युद्ध ठीक नहीं तथा दुष्ट और मर्यादा रहित होने के कारण सन्धि उचित नहीं, सन्धि करने पर भी वह उसकी परवाह नहीं करता ।) ॥ ३५ ॥

द्विधाकारं भवेद्यानं भये प्राणार्थरक्षणम् ।
एकमन्यज्जिगीषोश्च यात्रालक्षणमुच्यते ।। ३६ ।।

यान दो प्रकार का होता है; एक (प्रथम) डर के समय प्राण और धन (कोष) की रक्षा करने वाला और दूसरा विजयार्थी राजा का शत्रु पर आक्रमण कहा जाता है। प्राणसंकट के समय भाग जाना प्रथम यान कहलाता है तथा अपनी विजय की निश्चित संभावना होने पर शत्रु पर आक्रमण करना दूसरे प्रकार का यान है ।। ३६ ।।

कार्तिके वाऽथ चैत्रे वा विजिगीषोः प्रशस्यते ।
यानमुत्कृष्टवीर्यस्य शत्रुदेशे न चान्यदा ।। ३७ ।।

(शत्रु की अपेक्षा) अधिक बलशाली विजयार्थी राजा के लिये कार्तिक[1] और चैत्र मास में, शत्रु देश में जाना उचित कहा गया है, अन्य समय में नहीं ।। ३७ ।।

अवस्कन्दप्रदानस्य सर्वे कालाः प्रकीर्तिताः ।
व्यसने वर्तमानस्य शत्रोश्छिद्रान्वितस्य च ।। ३८ ।।

किसी विपत्ति में फँसे हुए तथा उसकी निर्बलता की दशा में शत्रु पर आक्रमण करने के लिये सभी समय ठीक कहे गये हैं[2] ।। ३८ ।।

स्वस्थानं सुदृढं कृत्वा शूरैश्चाप्तैर्महाबलैः ।
परदेशं ततो गच्छेत्प्रणिधिव्याप्तमग्रतः ।। ३९ ।।

महाबली और विश्वस्त शूर पुरुषों के द्वारा अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध करके प्रथम से ही अपने गुप्तचरों से परिपूर्ण शत्रु-देश में जावे ।। ३९ ।।

---

१. कार्तिक तथा चैत्र मास यात्रा के लिये पसन्द किये गये हैं कि इन महीनों में खेतों में अन्न नहीं रहता जिससे उसके नाश का भय हो तथा इन मासों में वर्षा का भी भय नहीं होता, रास्ते साफ हो जाते हैं। साथ ही गरमी व सरदी का भी आधिक्य नहीं होता जिससे योद्धाओं को कष्ट होने की संभावना हो। अन्य नीतिज्ञों ने मार्गशीर्ष व फाल्गुन मास भी 'यान' के लिये उपयुक्त माने हैं।

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः ।
फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ।। (मनुः—७, १८२)

२. तथा च मनुः—

अन्येष्वपि तु कालेषु, यदा पश्येद् ध्रुवं जयम् ।
यदा यायाद्विगृह्यैव, व्यसने चोत्थिते रिपोः ।। (मनुः ७।१८३)

अज्ञातवीवधासारतोयशस्यो व्रजेत्तु यः ।
परराष्ट्रं न भूयः स स्वराष्ट्रमपि गच्छति ॥ ४० ॥

जो राजा (शत्रुदेश के) वीवध (धान्यादि की प्राप्ति) आसार (मित्रबल) जल और अन्न को विना जाने हुए (विजय की इच्छा से) शत्रु-देश में जाता है, वह फिर लौट कर अपने राज्य में नहीं पहुँच पाता ॥ ४० ॥

तत्ते युक्तं कर्तुमपसरणम् । अन्यच्च—

तन्न युक्तं प्रभो ! कर्तुं द्वितीयं यानमेव च ।
न विग्रहो न सन्धानं बलिना तेन पापिना ॥ ४१ ॥

इसलिये आपको यहाँ से भाग जाना ही उचित है । और भी—

हे प्रभो ! उस बलवान् और दुष्ट शत्रु के साथ, न तो दूसरे प्रकार का यान, न युद्ध और न सन्धि ही करना उचित है ॥ ४१ ॥

अपरं कारणापेक्षयाऽपसरणं क्रियते बुधैः । उक्तञ्च—

यदपसरति मेषः कारणं तत्प्रहर्तुं,
मृगपतिरपि कोपात्संकुचत्युत्पतिष्णुः ।
हृदयनिहितभावा गूढमन्त्रप्रचाराः,
किमपि विगणयन्तो बुद्धिमन्तः सहन्ते ॥ ४२ ॥

दूसरी बात यह है कि कारणवश विद्वान् पुरुष भी अपसरण (यान, पलायन) करते हैं । कहा भी है—

भेंड़ (युद्ध में)जो पीछे हटता है वह प्रहार करने के लिये करता है, सिंह भी गुस्से से (अपने शिकार पर) कूदते समय अपने अङ्गों को सिकोड़ लेता है । बुद्धिमान् पुरुष हृदय में अपने भावों को छिपाये हुए तथा अपने विचार और चेष्टाओं को प्रकाशित न करते हुए (मान–अपमान आदि का) कुछ भी परवाह न कर समय की प्रतीक्षा करते हैं ॥ ४२ ॥

अन्यच्च—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा देशत्यागं करोति यः ।
युधिष्ठिर इवाप्नोति पुनर्जीवन् स मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

जो राजा शत्रु को बलवान् समझ कर देश को छोड़ देता है वह जीवित

---

१. 'बलोत्कटेन' आदि चार श्लोकों में दूसरे प्रकार के यान का वर्णन है ।

रह कर फिर भी युधिष्ठिर के समान भूमि (राज्य) को प्राप्त कर लेता है ॥

युध्यतेऽहङ्कृतिं कृत्वा दुर्बलो यो बलीयसा ।
स तस्य वाञ्छितं कुर्यादात्मनश्च कुलक्षयम् ॥ ४४ ॥

जो दुर्बल राजा अहङ्कार के वशीभूत हो बलवान् के साथ युद्ध करता है वह उसकी इच्छा को पूर्ण करता है और अपने कुल का नाश करता है ॥४४॥

तद्बलवताभियुक्तस्यापसरणसमयोऽयं न सन्धेर्विग्रहस्य च एवमनुजीविमन्त्रोऽपसरणस्य । अथ तस्य वचनमाकर्ण्य प्रजीविनमाह—'भद्र ! त्वमप्यात्मनोऽभिप्रायं वद ।' सोऽब्रवीत्-देव ! मम सन्धिविग्रहयानानि त्रीण्यपि न प्रतिभान्ति । विशेषतश्चासनं प्रतिभाति । उक्तञ्च—

नक्रः[1] स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति ।
स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते ॥ ४५ ॥

चूंकि हमारे ऊपर एक बलवान् शत्रु ने आक्रमण किया हुआ है; अतः यह अपसरण का समय है न तो सन्धि और न विग्रह का ही समय है इस प्रकार अनुजीवि की राय अपसरण के विषय में रही ।

उसके वचन को सुनकर प्रजीवी से कहा—'भद्र ! तुम भी अपनी राय प्रकाशित करो ।' उसने कहा—देव ! मुझे तो सन्धि, विग्रह और यान तीनों ही पसन्द नहीं हैं । मुझे तो आसन अच्छा (उचित) मालूम होता है । कहा भी है—

नक्र अपने स्थान पर रह कर बड़े हाथी को भी खींच लेता है, परन्तु अपने स्थान से हटने पर कुत्ते से भी पराजित हो जाता है ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—

अभियुक्तो बलवता दुर्गे तिष्ठेत्प्रयत्नवान् ।
तत्रस्थः सुहृदाह्वानं प्रकुर्वीतात्ममुक्तये ॥ ४६ ॥

बलवान् शत्रु के द्वारा आक्रमण किये जाने पर राजा को चाहिए कि (अपने बचाव के लिये) यत्न करता हुआ किले में बैठ जावे और वहीं रह कर अपनी रक्षा के लिये मित्रों को बुलावे ॥ ४६ ॥

---

१. यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि—यद्यपि प्रत्येक वक्ता अपने के पूर्व वक्ता के प्रदर्शित नीतिमार्ग का निराकरण करता है । अतः प्रजीवि को सन्ध्यादि तीनों ही नीतिमार्ग में दोष प्रकट करने चाहिए तथापि यान के समर्थन में सन्धि और विग्रह में दोष दिखा दिये गये हैं । अतः केवल यान में दोष दिखाये गये हैं ।

यो रिपोरागमं श्रुत्वा भयसंत्रस्तमानसः ।
स्वस्थानं हि त्यजेत्तत्र न तु भूयो विशेच्च सः ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य शत्रु का आगमन सुनकर भयभीत हो अपना स्थान छोड़ देता है वह उस स्थान में प्रविष्ट नहीं हो सकता ॥ ४७ ॥

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः ।
स्थानहीनस्तथा राजा गम्यः स्यात्सर्वजन्तुषु ॥ ४८ ॥

दांत रहित सर्प और मदशून्य हाथी के समान स्थान से भ्रष्ट राजा को सब प्राणी वश में कर लेते हैं ॥ ४८ ॥

निजस्थानस्थितोऽप्येकः शतं योद्धुं सहेन्नरः ।
शक्तानामपि शत्रूणां तस्मात्स्थानं न सन्त्यजेत् ॥ ४९ ॥

अपने स्थान में स्थित अकेला भी पुरुष बलवान् १०० शत्रुओं के साथ युद्ध कर सकता है । इसलिए स्थान न छोड़ना चाहिए ॥ ४९ ॥

तस्माद्दुर्गं दृढं कृत्वा [1]सुभटासारसंयुतम् ।
प्राकारपरिखायुक्तं शस्त्रादिभिरलङ्कृतम् ॥ ५० ॥
[2]तिष्ठेन्मध्यगतो नित्यं युद्धाय कृतनिश्चयः ।
जीवन्सम्प्राप्स्यति[3] राज्यं, मृतो वा स्वर्गमेष्यति[4] ॥५१॥
(युग्मम्[5])

इसलिये, किले को खूब मजबूत करके, सिपाही और रसद (सामग्री) से भरकर, परकोटा तथा खाई से वेष्टित कर, शस्त्र आदि से सुसज्जित करके हमेशा युद्ध के लिये तैयार हो किले में रहे । क्योंकि यदि जीवित (विजय प्राप्त करके) रहेगा तो राज्य पावेगा और यदि मर गया तो स्वर्ग को जायगा ॥

अन्यच्च—

बलिनाऽपि न [6]बाध्यन्ते लघवोऽप्येकसंश्रयाः ।
विपक्षेणापि[7] मरुता यथैकस्थानवीरुधाः ॥ ५२ ॥

और भी एक स्थान में रहने वाले दुर्बल मनुष्य भी बलवान् शत्रु के द्वारा भी पराजित नहीं किये जा सकते जैसे कि एक जगह पर उगी हुई लताएँ तेज वायु से भी नहीं उखाड़ी जा सकतीं ॥ ५२ ॥

---

१. वीवधासा० २. तिष्ठ ३. सि ४. सि ५. द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् । कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् । ६. बध्यन्ते, साध्यन्ते । ७. प्रभञ्जनविपक्षेण यथैकस्था महीरुहाः ।

महानप्येकजो वृक्षः बलवान्सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य[1] इव वातेन शक्यो धर्षयितुं यतः ।। ५३ ।।

चूंकि विशाल, मजबूत और दृढमूल वृक्ष भी वायु से जबर्दस्ती उखाड़ दिया जाता है । इसलिये मनुष्य को अकेला न रहना चाहिए ।। ५३ ।।

अथ[2] ये संहता वृक्षाः सर्वतः सुप्रतिष्ठिताः ।
ते[3] न रौद्रानिलेनापि हन्यन्ते ह्येकसंश्रयात् ।। ५४ ।।

अथ च, जो वृक्ष आपस में मिले हुए और सब तरफ से मजबूत जड़वाले होते हैं वे तेज हवा से भी नहीं उखाड़े जा सकते ।। ५४ ।।

एवं मनुष्यमप्येकं शौर्येणापि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते हिंसन्ति च ततः परम् ।। ५५ ।।

इसी प्रकार पराक्रमी भी अकेले मनुष्य को शत्रु लोग (मरने के योग्य) समझ लेते हैं और बाद में मार भी डालते हैं ।। ५५ ।।

एवं प्रजीविमन्त्रः । इदमासनसंज्ञकम् । एतत्समाकर्ण्य चिरञ्जीविनं प्राह—'भद्र ! त्वमपि स्वाभिप्रायं वद ।' सोऽब्रवीत्–'देव ! षाड्गुण्यमध्ये मम संश्रयः सम्यक् प्रतिभाति । तत्तस्यानुष्ठानं कार्यम् ।' उक्तञ्च—

असहायः समर्थोऽपि तेजस्वी किं करिष्यति ।
निर्वाते ज्वलितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ।। ५६ ।।

इस प्रकार इस आसनसंज्ञक प्रजीवी के मन्त्र को सुनकर जिरञ्जीवी से कहा—हे भद्र ! तुम भी अपने अभिप्राय को कहो ।' उसने कहा—'हे देव ! सन्ध्यादि ६ में से मुझे 'संश्रय' (दूसरे का सहारा) अच्छा लगता है । अतः उसी के लिये कार्य करना चाहिये ।' क्योंकि कहा भी है :—

प्रतापी और शक्तिशाली भी मनुष्य अकेला क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं । वायुशून्य स्थान में जलती हुई भी अग्नि बुझ जाती है ।। ५६ ।।

सङ्गतिः श्रेयसी पुंसां स्वपक्षे च विशेषतः ।
तुषैरपि परिभ्रष्टा न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ।। ५७ ।।

---

१. सुमन्देनापि वातेन शक्यो धूनयितुं यतः ।
२. अयं श्लोकः क्वचिन्न दृश्यते पूर्वोत्तरश्लोकसङ्गत्यास्याभाव एव वरम् ।
३. न ते शीघ्रेण वातेन ।

पुरुषों का परस्पर मिलकर रहना उत्तम है। विशेषकर अपने सजातियों के साथ रहना (श्रेष्ठ है)। चावल (तुषरहित धान) तुष से रहित होने पर नहीं उगते ॥

तदत्रैव स्थितेन त्वया कश्चित् समर्थः समाश्रयणीयः, यो विपत्प्रतिकारं करोति। यदि पुनस्त्वं स्वस्थानं त्यक्त्वाऽन्यत्र यास्यसि; तत्कोऽपि ते वाङ्मात्रेणाऽपि सहायत्वं न करिष्यति। उक्तञ्च यतः।

वनानि दहतो वह्नेः सखीभवति मारुतः।
स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम् ॥५८॥

इसलिये यहाँ रहकर ही तुम्हें किसी शक्तिशाली पुरुष का आश्रय करना चाहिए, जो (तुम्हारी) विपत्ति का प्रतीकार कर सके। यदि तुम अपना स्थान छोड़ कर दूसरी जगह जाओगे तो कोई भी वाणीमात्र से भी तुम्हारी सहायता नहीं करेगा। कहा भी है—

वनों को जलाते हुए अग्नि की वायु भी सहायता करता है, परन्तु वही वायु दीपक को बुझा देता है, दुर्बल मनुष्य में कौन सुहृद्भाव रखता है ॥५८॥

अथवा नैतदेकान्तं यद्बलिनमेकं समाश्रयेत्। लघूनामपि संश्रयो रक्षायै एव भवति। उक्तञ्च यतः—

सङ्घातवान् यथा वेणुर्निबिडैर्वेणुभिर्वृतः।
न शक्यते समुच्छेत्तुं दुर्बलोऽपि तथा नृपः ॥५९॥

किञ्च—यह आवश्यक नहीं कि किसी बलवान् एक ही पुरुष का आश्रय किया जाय किन्तु (बहुत से) छोटे पुरुषों का भी संश्रय रक्षा करने वाला होता है। कहा भी है—

जिस प्रकार घने बाँसों से घिरा हुआ (छोटा भी) बाँस काटा नहीं जा सकता उसी तरह दुर्बल भी राजा सहायता पाने पर नष्ट नहीं किया जा सकता ॥ ५९ ॥

यदि पुनरुत्तमसंश्रयो भवति तत्किमुच्यते ? उक्तञ्च—

महाजनस्य सम्पर्कः कस्य नोन्नतिकारकः।
पद्मपत्रस्थितं तोयं धत्ते मुक्ताफलश्रियम् ॥६०॥

यदि उत्तम पुरुष का आश्रय मिले तब तो कहना ही क्या ? कहा भी है—
बड़े पुरुष का संसर्ग किसकी उन्नति का कारण नहीं होता ? (किसको उन्नत नहीं करता) कमल के पत्र पर स्थित पानी (जलबिन्दु) मोतियों की शोभा धारण करता है ॥ ६० ॥

तदेवं संश्रयं विना न कश्चित्प्रतीकारो भवति इति मेऽभिप्रायः। एवं चिरञ्जीविमन्त्रः।

अथैवमभिहिते स मेघवर्णो राजा चिरन्तनं पितृसचिवं दीर्घायुषं सकलनीतिशास्त्रपारङ्गतं स्थिरजीविनामानं प्रणम्य प्रोवाच—'तात! यदेते मया पृष्टाः सचिवास्तावदत्रस्थितस्यापि तव तत्परीक्षार्थम्, येन त्वं सकलं श्रुत्वा यदुचितं तन्मे समादिशसि। तद्यद्युक्तं भवति तत्समादेश्यम्। स आह—वत्स! सर्वैरप्येतैर्नीतिशास्त्राश्रयमुक्तं सचिवैः। तदुपयुज्यते स्वकालोचितं सर्वमेव। परमेष द्वैधीभावस्य कालः। उक्तञ्च—

अविश्वासं सदा तिष्ठेत्सन्धिना विग्रहेण च।
द्वैधीभावं समाश्रित्य पापशत्रौ बलीयसि ॥६१॥

इस प्रकार संश्रय के बिना कोई उपाय नहीं है। इसलिए संश्रय करना चाहिए। यही मेरी राय है। यह चिरंजीवि का विचार है।

उनके ऐसा कहने पर राजा मेघवर्ण ने पिता के पुराने मन्त्री, वृद्ध, सम्पूर्ण नीतिशास्त्र को जानने वाले स्थिरजीवि नामक मन्त्री को प्रणाम कर कहा—'हे तात! आपके यहाँ उपस्थित होते हुए भी इन मन्त्रियों से पूछने का एकमात्र कारण है कि आप उनके ज्ञान की परीक्षा ले सकें (अथवा प्रकृत विषय पर अच्छी तरह विचार कर सकें) जिससे कि आप सब कुछ सुन कर उचित कर्तव्य की आज्ञा दें। इसलिए जो उचित हो वह आज्ञा दीजिये।' उसने कहा—'हे वत्स! इन मन्त्रियों ने नीतिशास्त्र के आधार पर ही कहा है जो अपने समय पर सभी उपयुक्त हो सकता है। परन्तु यह द्वैधीभाव का समय है। कहा भी है—

दुष्ट शत्रु के बलवान् होने पर (नीतिज्ञ पुरुष को चाहिए कि) वह उसका विश्वास न करता हुआ, द्वैधीभाव (धोखेबाजी से शत्रु को सावधान न होने देने के लिये उसके साथ बाहर से मित्रता का व्यवहार करके अन्त में उसे नष्ट कर देना) के द्वारा अर्थात् कभी सन्धि और कभी युद्ध का अभिनय करता हुआ रहे ॥ ६१ ॥

तच्छत्रुं विश्वास्याविश्वस्तैर्लोभं दर्शयद्भिः सुखेनोच्छिद्यते रिपुः। उक्तञ्च—

उच्छेद्यमपि विद्वांसो वर्धयन्त्यरिमेकदा।
गुडेन वर्धितः श्लेष्मा सुखं वृद्ध्या निपात्यते ॥६२॥

स्वयं शत्रु का विश्वास न कर परन्तु उनको अपने ऊपर विश्वास दिला कर और (नयी-नयी) आशाएँ दिखाते हुए (बुद्धिमान्) शत्रु को आसानी से नष्ट कर देते हैं । कहा भी है—

नीतिनिपुण पुरुष विनाश के योग्य भी शत्रु को एक बार बढ़ा देते हैं । गुड़ के द्वारा बढ़ाया हुआ कफ (खाँसी) आसानी से नष्ट कर दिया जाता है ॥ ६२ ॥

तथा च—

स्त्रीणां शत्रोः कुमित्रस्य पण्यस्त्रीणां विशेषतः ।
यो भवेदेकभावोऽत्र न स जीवति मानवः ॥६३॥

जो मनुष्य इस संसार में स्त्री, शत्रु, दुष्टमित्र और खास कर वेश्याओं के साथ निष्कपट व्यवहार करता है वह जीवित नहीं रहता ॥ ६३ ॥

कृत्यं देवद्विजातीनामात्मनश्च गुरोस्तथा ।
एकभावेन कर्तव्यं शेषं द्वैधसमाश्रितम् ॥६४॥

देवता, ब्राह्मण, अपना और गुरु का कार्य निष्कपटभाव से करना चाहिए, शेष (मनुष्यों के) कार्य द्वैधीभाव से करने चाहिए ॥ ६४ ॥

एको भावः सदा शस्तो यतीनां भावितात्मनाम् ।
स्त्रीलुब्धानां न लोकानां विशेषेण महीभृताम् ॥६५॥

शुद्धान्तःकरण यति लोगों के साथ निष्कपट व्यवहार करना चाहिए, स्त्रीपरायण पुरुष और विशेषकर राजाओं के साथ एक भाव (शुद्ध भाव) से व्यवहार न करना चाहिए ॥ ६५ ॥

तद् द्वैधीभावं संश्रितस्य तव स्वस्थाने वासो भविष्यति, लोभाश्रयाच्च शत्रुमुच्चाटयिष्यसि अपरं—यदि किञ्चिच्छिद्रं तस्य पश्यसि, तद्गत्वा व्यापादयिष्यसि । मेघवर्ण आह—'तात ! मया सोऽविदित संश्रयः । तत्कथं तस्य छिद्रं ज्ञास्यामि ?' स्थिरजीव्याह—वत्स ! न केवलं स्थानं, छिद्राण्यपि तस्य प्रकटीकरिस्यामि प्रणधिभिः । उक्तञ्च—

गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति वै द्विजाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥६६॥

इसलिये द्वैधीभाव को स्वीकार करने से तुम अपने स्थान पर भी बने रहोगे (तुमको अपना स्थान छोड़ने की आवश्यकता न होगी) और शत्रु को

लुभाकर उखाड़ भी सकोगे। और, यदि उसकी कोई निर्बलता तुम्हें ज्ञात होगी तो तुम जाकर उसका नाश कर सकोगे। मेघवर्ण ने कहा—'हे तात! मुझे तो उसके स्थान का भी पता नहीं। फिर मैं उसकी कमजोरी कैसे जान सकूँगा?' स्थिरजीवी ने कहा—वत्स! मैं गुप्तचरों द्वारा केवल उसका स्थान ही नहीं प्रत्युत उसके छिद्र भी प्रकाशित करूँगा। कहा भी है :—

गाय (आदि पशु) गन्ध–घ्राण–के द्वारा वस्तुओं का पता लगा लेते हैं। ब्राह्मण वेदों–शास्त्रों के द्वारा, राजा चरों से और साधारण अन्य लोग नेत्रों से देखते हैं॥ ६६॥

उक्तञ्चात्र विषये—

यस्तीर्थानि निजे पक्षे परपक्षे विशेषतः।
गुप्तैश्चारैर्नृपो वेत्ति न स दुर्गतिमाप्नुयात्॥६७॥

इस विषय में कहा भी है :—

जो राजा गुप्तचरों द्वारा अपने पक्ष के और विशेषकर शत्रु पक्ष के तीर्थों (राजपुरुषों) को जानता है वह दुर्गति (संकट) को प्राप्त नहीं होता॥६७॥

मेघवर्ण आह—'तात! कानि तीर्थान्युच्यन्ते? कतिसंख्यानि च? कीदृशा गुप्तचराः? तत्सर्वं निवेद्यताम्' इति। स आह—अत्र विषये भगवता नारदेन युधिष्ठिरः प्रोक्तः, यच्छत्रुपक्षेऽष्टादशतीर्थानि, स्वपक्षे पञ्चदश। त्रिभिस्त्रिभिर्गुप्तचरैस्तानि ज्ञेयानि। तैर्ज्ञातैः स्वपक्षः परपक्षश्च वश्यो भवति। उक्तञ्च नारदेन युधिष्ठिरं प्रति—

कच्चिदष्टदशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥६८॥

मेघवर्ण बोला—'हे तात! तीर्थ कौन कहलाते हैं? और वे कितने हैं? गुप्तचर कैसे होते हैं? यह सब बताइये।' उसने कहा—इस विषय में भगवान् नारद ने युधिष्ठिर से कहा है कि शत्रु पक्ष में १८ और अपने पक्ष में १५ तीर्थ होते हैं। तीन-तीन गुप्तचरों के द्वारा उनको जानना चाहिए। उनको जानने से अपना और शत्रु दोनों के पक्ष वश में हो जाते हैं। नारद ने युधिष्ठिर से कहा है :—

क्या तुम गुप्तवेशधारी तीन-तीन चरों के द्वारा शत्रुओं के १८ और अपने पक्ष के १५ तीर्थों को जानते हो (मैं समझता हूँ कि तुम जानते हो)॥६८॥

तीर्थंशब्देनायुक्तकर्माभिधीयते । तद्यदि तेषां कुत्सितं भवति तत्स्वामिनोऽभिघाताय, यदि प्रधानं भवति तद्वृद्धये स्यादिति । तद्यथा—मन्त्री, पुरोहितः, सेनापतिः, युवराजः, दौवारिकः, अन्तर्वासिकः, प्रशासकः समाहर्तृ-सन्निधातृ-प्रदेष्टृ-ज्ञापकाः, साधनाध्यक्षः, गजाध्यक्षः, कोशाध्यक्षः, दुर्गपाल-करपाल-सीमापाल-प्रोत्कटभृत्याः । एषां भेदेन द्राग्रिपुः साध्यते । स्वपक्षे च देवी, जननी, कञ्चुकी, मालिकः, शय्यापालकः, स्पशाध्यक्षः, सांवत्सरिकः, भिषग्, ताम्बूलवाहकः, आचार्यः, अङ्गरक्षकः, स्थानचिन्तकः, छत्रधरः, विलासिनी । एषां वैरद्वारेण स्वपक्षे विघातः । तथा च—

वैद्यसांवत्सराचार्याः स्वपक्षेऽधिकृताश्चराः ।
तथाऽऽहितुण्डिकोन्मत्ताः सर्वं जानन्ति शत्रुषु ॥६९॥

तीर्थ शब्द से राजकार्य में नियुक्त पुरुष अभिप्रेत हैं । यदि वह तीर्थ (राजपुरुष) शत्रुपक्ष में मिला हुआ विश्वासघाती हो तो स्वामी (राजा) के विनाश का कारण होता है और यदि वही श्रेष्ठ हो तो उन्नति का कारण होता है । वे तीर्थ ये हैं—(१) मन्त्री (२) पुरोहित (३) सेनापति (४) युवराज (५) द्वाररक्षक (६) अन्तःपुररक्षक (७) कलेक्टर (८) मालगुजारी एकत्र करने वाला (९) पुरुषों का परिचय कराने वाला (१०) न्यायाध्यक्ष (जज) (११) प्रजा की सूचनाओं अथवा आवेदनपत्रों को राजा को बताने वाला (पेशकार) (१२) सेना का मुख्य अधिपति (१३) हस्ति-विभाग का अध्यक्ष (१४) खजाञ्ची (१५) किले का अधिकारी (१६) टैक्स वसूल करनेवाला (पाठान्तर में जेलर, कैदखाने का मालिक) (१७) सीमाप्रदेश की रक्षा करने वाला (१८) प्रिय भृत्य । इनको अपनी ओर मिला लेने से शत्रु शीघ्र ही वश में हो जाता है । अपने पक्ष में (१) राजपत्नी (२) राजमाता (३) अन्तःपुर में रहने वाला वृद्ध ब्राह्मण (४) माली (५) शय्यारक्षक (६) गुप्तचरों का अध्यक्ष (७) ज्योतिषी (८) वैद्य (९) जल लाने वाला (१०) पानदान ले चलने वाला (११) आचार्य (१२) अङ्गरक्षक (१३) निवासाध्यक्ष (राजमहल का रक्षक) (१४) छत्रधर (१५) वेश्या । इनकी शत्रुता के द्वारा अपने वर्ग का विनाश होता है ।

अपने पक्ष में वैद्य, ज्योतिषी और गुरु को गुप्तचर कार्य में नियुक्त करना चाहिये । तथा सपेरे और उन्मत्त (पागल) का वेश धारण करने वाले पुरुष

शत्रुओं के सब हालत को जानते हैं। (अतः शत्रुपक्ष में इन्हें नियुक्त करना चाहिए। वैद्य आदि सब जगह आसानी से जा सकते हैं। इसलिये इनको गुप्तचर बनाना कहा गया है। इसी प्रकार सपेरे आदि भी बिना किसी सन्देह के शत्रुपक्ष में जा सकते हैं।) ॥ ६९ ॥

कृत्वा कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तः प्रणिधयः पदम्।
विदाङ्कुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥७०॥

जिस प्रकार कार्यचतुर कारीगर घाटों में उतर कर (प्रवेश कर) गहरे जल की भी थाह पा लेते हैं उसी तरह कार्य को समझने वाले गुप्तचर मन्त्री आदि १८ तीर्थों में अपना स्थान करके—उनमें हिलमिल कर—शत्रु के कार्य को जानें ॥ ७० ॥

एवं मन्त्रिवाक्यमाकर्ण्यात्रान्तरे मेघवर्णं आह–'तात ! अथ किं निमित्तमेवविधं प्राणन्तिकं सदैव वायसोलूकानां वैरम् ?' स आह— 'वत्स !'

इस तरह के मन्त्री के वचन सुन कर बीच में ही मेघवर्ण बोला—'हे तात ! कौवे और उल्लुओं का यह प्राण लेनेवाला वैर किस कारण से हुआ ?' वह बोला—वत्स !

कदाचिद्धंस-शुक-बक-कोकिल-चातक-उलूक-मयूर-कपोत-पारावत-विष्किरप्रभृतयः सर्वेऽपि पक्षिणः समेत्य सोद्वेगं मन्त्रयितुमारब्धाः।' अहो अस्माकं तावद्वैनतेयो राजा, स च वासुदेवभक्तो न कामपि चिन्तामस्माकं करोति। तत् किं तेन वृथास्वामिना ? यो लुब्धकपाशैर्नित्यं निबध्यमानानां न रक्षां विधत्ते। उक्तञ्च—

यो न रक्षति वित्रस्तान् पीड्यमानान् परैः सदा।
जन्तून् पार्थिवरूपेण स कृतान्तो न संशयः ॥७१॥

किसी समय हंस, तोता, बगुला, कोयल, पपीहा, उल्लू, मोर, कबूतर, परेवा और कुक्कुट आदि सब पक्षी इकट्ठे होकर शोकाकुल चित्त से परस्पर सलाह करने लगे—'हमारे राजा वैनतेय हैं, वे नारायण के भक्त हैं, परन्तु हमारी कुछ भी खबर नहीं लेते। इसलिये उस नाममात्र के स्वामी से क्या लाभ ? जो शिकारियों के जाल में फँसते हुए हम लोगों की रक्षा नहीं करते। कहा भी है—

जो राजा शत्रुओं से सताये जाते हुए अतएव सदा ही भयभीत रहने वाले

प्राणियों की–अपनी प्रजा की–रक्षा नहीं करता, वह निस्सन्देह राजा के रूप में यम ही है ॥ ७१ ॥

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेताः ततः प्रजा ।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ ७२ ॥

यदि अच्छा मार्गदर्शक–सन्मार्ग में चलाने वाला–राजा न हो तब प्रजा इस प्रकार नष्ट हो जाती हैं जैसे नाविक के बिना समुद्र में नौका डूब जाती है ॥ ७२ ॥

षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७३ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ७४ ॥
(युग्मम्)

समुद्र में टूटी हुई नाव के समान मनुष्य इन ६ पुरुषों को छोड़ देवे । (१) अच्छी तरह न पढ़ाने वाले आचार्य को (२) स्वाध्याय न करने वाले पुरोहित को (३) रक्षा न करने वाले राजा को (४) कटुभाषिणी पत्नी को (५) ग्राम-पसन्द ग्वाले को और (६) जंगल चाहने वाले नाई को ॥७३–७४॥

तत्, सञ्चिन्त्यान्यः कश्चिद्राजा विहङ्गमानां क्रियतामि'ति । अथ तैर्भद्राकारमुलूकमवलोक्य सर्वैरभिहितम्—'यदेष उलूको राजाऽस्माकं भविष्यति । तदानीयन्तां नृपाभिषेकसम्बन्धिनः सम्भाराः' इति । अथ साधिते विविधतीर्थोदके, प्रगुणीकृतेऽष्टोत्तरशतमूलिकासङ्घाते प्रदत्ते सिंहासने, वर्तिते [1]सप्तद्वीपसमुद्रभूधरविचित्रे धरित्रीमण्डले, प्रस्तारिते व्याघ्रचर्मणि आपूरितेषु हेमकुम्भेषु दीपेषु वाद्येषु च सज्जीकृतेषु दर्पणादिषु माङ्गल्यवस्तुषु, पठत्सु बन्दिमुख्येषु, वेदोच्चारणपरेषु समुदितमुखेषु ब्राह्मणेषु, गीतपरे युवतिजने, आनीतायामग्रमहिष्यां कृकालिकायाम्, उलूकोऽभिषेकार्थं यावत्सिंहासन उपविशति, तावत्कुतोऽपि वायसः समायातः सोऽचिन्तयत्—अहो ! किमेष सकलपक्षिसमागमो महोत्सवश्च ? अथ ते पक्षिणस्तं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः—पक्षिणां मध्ये वायसश्चतुरः श्रूयते । उक्तञ्च—

नराणां नापितो धूर्तः पक्षिणाञ्चैव वायसः ।
दंष्ट्रिणाञ्च श्रृगालस्तु श्वेभिक्षुस्तपस्विनाम् ॥ ७५ ॥

---

१. 'सप्तद्वीपवतीधरित्रीमण्डले' इति पाठान्तरम् ।

इसलिये विचार कर किसी दूसरे को पक्षियों का राजा बनाना चाहिए। अनन्तर उलूक को सुरूपवान् समझ कर उन सब ने कहा कि—'यह उल्लू हमारा राजा होगा। इसलिये राज्याभिषेकसम्बन्धी सब वस्तुएँ लानी चाहिए।' तत्पश्चात् नाना पवित्र नदियों के जल लाने, १०८ जड़ी-बूटियों के संग्रह करने, सिंहासन रखने, पृथ्वीमण्डल का ऐसा चित्र—जिसमें कि सात द्वीप, सात समुद्र और सात पर्वत चित्रित किये गये हों—बनाने, व्याघ्रचर्म बिछाने, (जल से) सुवर्णकलशों, (तेल से) दीपकों और (मुखवायु से) वाद्यों के भरने, दर्पण आदि माङ्गलिक वस्तुओं के तैयार करने, उत्तम चारणों से स्तुति-पाठ करने, मिलकर—एक स्वर से ब्राह्मणों के वेदपाठ करने, युवतियों के गीत गाने, कृकालिका नामक प्रधान रानी के लाये जाने पर जिस समय उलूक राज्याभिषेक के लिये सिंहासन पर बैठने लगा उसी समय कहीं से कौवा आ गया। वह सोचने लगा—ये सब पक्षी क्यों एकत्रित हुए हैं और यह उत्सव कैसा है? उन पक्षियों ने उसको देख कर आपस में कहा—पक्षियों में कौवा चतुर सुन जाता है। कहा भी है—

मनुष्यों में नाई, पक्षियों में काक, दाढ़ वालों में सियार और तपस्वियों श्वेताम्बर (जैन) चतुर सुना जाता है॥ ७५॥

तदस्यापि वचनं ग्राह्यम्। उक्तञ्च—

बहुधा बहुभिः सार्धं चिन्तिताः सुनिरूपिताः।
कथञ्चिन्न विलीयन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नयाः॥ ७६॥

इसलिये इसका भी वचन सुनना चाहिए। कहा भी है :—

विद्वानों से सोचे हुए, अनेक मनुष्यों के साथ मिल कर तरह-तरह से विचारे हुए और अच्छे प्रकार निश्चित किये हुए नीति-प्रयोग किसी प्रकार भी अन्यथा नहीं होते—निष्फल नहीं जाते॥ ७६॥

अथ वायसः समेत्य तानाह—अहो! किं महाजनसमागमोऽयं, परममहोत्सवश्च। ते प्रोचुः—भोः! नास्ति कश्चिद्विहङ्गमानां राजा, तदस्योलूकस्य विहङ्गराज्याभिषेको निरूपितस्तिष्ठति समस्तपक्षिभिः। तत्त्वमपि स्वमतं देहि, प्रस्तावे समागतोऽसि। अथाऽसौ काको विहस्याऽऽह—अहो! न युक्तमेतत्, यन्मयूर-हंस-कोकिल-चक्रवाक-शुक-कारण्डव-

हारीत-सारसादिषु पक्षिप्रधानेषु विद्यमानेषु दिवान्धस्यास्य कराल-वक्त्रस्याभिषेकः क्रियते । तन्नैतन्मम मतम् । यतः—

वक्रनासं सुजिह्माक्षं क्रूरमप्रियदर्शनम् ।
अक्रुद्धस्येदृशं वक्त्रं भवेत्क्रुद्धस्य कीदृशम् ॥ ७७ ॥

तब कौवा उनके पास जाकर बोला—इतने अधिक पक्षी क्यों एकत्रित हुए हैं और यह उत्सव कैसा हो रहा है ? उन्होंने कहा—भद्र ! पक्षियों का कोई राजा नहीं है । इसलिये सब पक्षियों ने इस उल्लू को पक्षियों का राजा निश्चय किया है । तुम भी अपनी राय दो; क्योंकि समय पर आ गये हो । तब कौवे ने हँस कर कहा—यह ठीक नहीं है कि मोर, हंस, कोयल, चकवा, शुक, जलमुर्गा, हारिल, सारस आदि प्रधान-प्रधान पक्षियों के रहते हुए इस दिवान्ध, भयानक मुख वाले उल्लू का राज्याभिषेक करते हो । इसलिये मेरी यह राय नहीं है । क्योंकिः—

विना क्रोध किये हुए भी जब इसका मुख ऐसा विकृत है कि नाक टेढ़ी, आँखें कोने में घुसी हुई, मुख से कठोरता प्रतीत होती है तथा देखने में भी भद्दा मालूम पड़ता है, तब जब इसे क्रोध आता होगा तब कैसा होता होगा ॥७७॥

स्वभावरौद्रमत्युग्रं क्रूरमप्रियवादिनम् ।
उलूकं नृपतिं कृत्वा का नः सिद्धिर्भविष्यति ॥ ७८ ॥

स्वभाव से ही भयङ्कर, अत्यन्त क्रोधी, कठोर और अप्रियभाषी इस उल्लू को राजा बनाने से हमें क्या लाभ होगा ? कुछ भी नहीं ॥ ७८ ॥

अपरं, वैनतेये स्वामिनि स्थिते किमेष दिवान्धः क्रियते राजा ? तद्यद्यपि गुणवान् भवति तथाऽप्येकस्मिन् स्वामिनि स्थिते नान्यो भूपः प्रशस्यते ।

एक एव हितार्थाय तेजस्वी पार्थिवो भुवः ।
युगान्त इव भास्वन्तो[1] बहवोऽत्र विपत्तये ॥७९॥

और भी—जब कि गरुड़ राजा मौजूद ही हैं तब इस दिवान्ध को राजा क्यों बनाते हो ! यद्यपि कोई गुणवान् ही क्यों न हो, परन्तु एक स्वामी के रहते हुए दूसरा राजा अच्छा नहीं समझा जाता ।

एक ही प्रतापी राजा संसार का कल्याणकारी होता है । प्रलयकाल में

---

१. कल्पान्ते सप्त सूर्याः प्रकाशन्ते भुवश्चातितरां तापयन्तीति विष्णुपुराण-संवादः, केचिद् द्वादशादित्या उदयन्ते तदेति वर्णयन्ति ।

अनेक सूर्यों के समान इस लोक में अनेक नृपति प्रजा के लिये विपत्ति के कारण होते हैं ॥ ७९ ॥

तत्तस्य नाम्नाऽपि यूयं परेषामगम्या भविष्यथ । उक्तञ्च—

गुरूणां नाममात्रेऽपि गृहीते स्वामिसम्भवे ।
दुष्टानां पुरतः क्षेमं तत्क्षणादेव जायते ॥ ८० ॥

उस (गरुड़) के नाम से ही शत्रुओं से तुम लोग बचे रहोगे (शत्रुओं से अप्राप्य होगे) । कहा भी है—

दुष्टों के सामने स्वामी का गौरवपूर्ण नाम लेने पर (चाहे वे वलवान् क्यों न हों) उसी समय अपनी रक्षा (कल्याण) होती है ॥ ८० ॥

तथा च—

व्यपदेशेन महतां सिद्धिः सञ्जायते परा ।
शशिनो व्यपदेशेन वसन्ति शशकाः सुखम् ॥ ८१ ॥

पक्षिण उचुः—'कथमेतत् ?' स आह—

जैसा कहा भी है :—

बड़े पुरुषों के नाम से ही बहुत लाभ होता है, चन्द्रमा के नाम से खरगोश सुखपूर्वक रहते हैं ॥ ८१ ॥

पक्षियों ने पूछा—'यह कैसे !' वह (कौवा) बोला है—

कथा १

कस्मिंश्चिद्वने चतुर्दन्तो नाम महागजो यूथाधिपः प्रतिवसति स्म । तत्र कदाचिन्महत्यनावृष्टिः सञ्जाता प्रभूतवर्षाणि यावत् । तया तडागह्रदपल्वलसरांसि शोषमुपगतानि । अथ तैः समस्तगजैः स गजराजः प्रोक्तः—'देव ! पिपासाकुला गजकलभा मृतप्राया अपरे मृताश्च । तदन्विष्यतां कश्चिज्जलाशयो यत्र जलपानेन स्वस्थतां व्रजन्ति ।' ततश्चिरं ध्यात्वा तेनाभिहितम्—'अस्ति महाह्रदो विविक्ते प्रदेशे स्थलमध्यगतः पातालगंगाजलेन सदैव पूर्णः । तत्तत्र गम्यताम् इति ।' तथानुष्ठिते पञ्चरात्रमुपसर्पद्भिः समासादितस्तैः स ह्रदः । तत्र स्वेच्छया जलमवगाह्यास्तमनवेलायां निष्क्रान्ताः । तस्य च ह्रदस्य समन्ताच्छशकबिलानि असंख्यानि सुकोमलभूमौ तिष्ठन्ति । तान्यपि समस्तैरपि तैर्गजैरितस्ततो भ्रमद्भिः परिभग्नानि । बहवः शशकाः भग्नपादशिरोग्रीवा विहिताः, केचिन्मृताः, केचिज्जीवशेषा जाताः । अथ गते तस्मिन् गज-

यूथे शशकाः सोद्वेगा गजपादक्षुण्णसमावासाः केचिद्भग्नपादाः; अन्ये जर्जरितकलेवरा रुधिरप्लुताः, अन्ये हतशिशवो बाष्पपिहितलोचनाः समेत्य मिथो मन्त्रं चक्रुः—'अहो विनष्टा वयम्, नित्यमेवैतद्गजयूथमागमिष्यति यतो नान्यत्र जलमस्ति। तत्सर्वेषां नाशो भविष्यति। उक्तं च—

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः।
हसन्नपि नृपो हन्ति मानयन्नपि दुर्जनः॥ ८२॥

किसी वन में चर्तुदन्त नाम का एक बड़ा विशाल यूथाधिप हाथी रहता था। किसी समय उस वन में बहुत वर्षों तक बड़ी भारी अनावृष्टि हो गई, जिससे तडाग, ह्रद, तलैया और तालाब सूख गये। इसके बाद सब हाथियों ने उस गजराज से कहा—'हे राजन्! बच्चे प्यास से व्याकुल हो मरणासन्न हो रहे हैं और बहुत से तो मर भी गये हैं। इसलिये कोई तालाब तलाश कीजिये जिससे जल पीकर (सब) स्वस्थ हो जावें।' तब कुछ देर तक सोच कर उसने कहा—'एकान्त स्थान में जमीन में खुदा हुआ हमेशा पाताल गंगा से भरा हुआ एक तालाब है। इसलिये वहाँ चलना चाहिए।' ऐसा करने पर (चलने पर) पाँच रात तक चलते-चलते वे लोग उस तालाब पर पहुँचे। वहाँ इच्छानुकूल जल में स्नान कर सायङ्काल के समय (तालाब से) निकले। उस तालाब के चारों ओर मुलायम जमीन में सैकड़ों खरगोशों के बिल थे। इधर-उधर घूमते हुए उन हाथियों ने उन (खरगोश) के बिलों को कुचल डाला। बहुत से खरगोशों के पैर, सिर और गर्दन टूट गए; कुछ मर गये और कुछ अधमरे हो गये। हाथियों के उस झुण्ड के चले जाने पर घबड़ाये हुए वे खरगोश जिनके निवासस्थान हाथियों के पैर से कुचल गये थे और जिनमें कुछ के पैर टूट गये थे, कुछ के शरीर क्षत-विक्षत (घायल) हो गये थे, कुछ रुधिर से भीगे हुए थे और कुछ रो रहे थे जिनके कि बच्चे मारे गये थे वे सब इकट्ठे होकर सलाह करने लगे—'हम तो मारे गये। यह हाथियों का झुण्ड नित्य ही यहाँ आयेगा क्योंकि और जगह जल नहीं है। इसलिये सबका नाश हो जायगा।' कहा भी है :—

हाथी छूता हुआ, साँप सूँघता हुआ, राजा हँसता हुआ और दुष्ट पुरुष आदर भाव दिखाता हुआ मारता है॥ ८२॥

तच्चिन्त्यतां कश्चिदुपायः। तत्रैकः प्रोवाच—'गम्यतां देशत्यागेन; किमन्यत्। उक्तञ्च मनुना व्यासेन च—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे चात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥ ८३॥

इसलिये कोई उपाय सोचिये। उनमें से एक (खरगोश) बोला—'देश त्यागकर चले चलो, और क्या उपाय है। मनु और व्यास ने भी कहा है :— वंश की रक्षा के लिये एक व्यक्ति को छोड़ दे, ग्राम के लिए कुल का परित्याग कर दे, देश के लिये ग्राम छोड़ दे और अपने लिये पृथिवी का परित्याग कर दें॥ ८३॥

क्षेम्यां शस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन्॥ ८४॥

अपनी रक्षा के लिये राजा को चाहिये कि विना किसी प्रकार का सोच-विचार करते हुए, सुखदायिनी, धान्य उत्पन्न करने वाली तथा पशुओं की वृद्धि करने वाली भी भूमि को छोड़ दे॥ ८४॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि॥ ८५॥

विपत्ति के समय (आपत्ति दूर करने के लिये) धन-संचय करना चाहिए। (संचित किये हुए) धनों के द्वारा (धन व्यय करके भी) अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिए तथा पत्नी और धन दोनों के द्वारा अथवा दोनों की उपेक्षा करके भी अपनी रक्षा हमेशा करनी चाहिए॥ ८५॥

ततश्चान्ये प्रोचुः—'भोः! पितृ-पैतामहं स्थानं न शक्यते सहसा त्यक्तुम्। तत्क्रियतां तेषां कृते काचिद्विभीषिका। यत्कथनपि दैवान्न समायान्ति। उक्तञ्च—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फटा।
विषं भवतु मा वाऽस्तु फटाटोपो भयङ्करः॥ ८६॥

तब औरों ने कहा—'अरे! बाप-दादाओं से (वंशपरम्परा से) आया हुआ स्थान अकस्मात् नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिये उनको कोई भय दिखाना चाहिए। कदाचित् इस रीति से हमारे सौभाग्यवश वे यहाँ न आवें। कहा भी है :—

विषरहित भी साँप को अपना फण फैलाना चाहिए। विष हो वा न हो, फण फैलाना ही भयदायी होता है॥ ८६॥

अथान्ये प्रोचुः—यद्येवं ततस्तेषां महद्विभीषिकास्थानमस्ति येन नागमिष्यन्ति । सा च चतुरदूतायत्ता विभीषिका । यतो विजयदत्तो नामास्मत्स्वामी शशकश्चन्द्रमण्डले निवसति, तत्प्रेष्यतां कश्चिन्मिथ्यादूतो यूथाधिपसकाशं यच्चन्द्रस्त्वामत्र ह्रद आगच्छन्तं निषेधयति, यतोऽस्मत्परिग्रहोऽस्य समन्ताद्वसति । एवमभिहिते श्रद्धेयवचनात्कदापि निवर्तते । अथान्ये प्रोचुः—यद्येवं, तदस्ति लम्बकर्णो नाम शशकः । स च वचन रचनाचतुरो दूतकर्मज्ञः । स तत्र प्रेष्यतामिति । उक्तञ्च—

साकारो निःस्पृहो वाग्मी नानाशास्त्रविचक्षणः ।
परचित्तावगन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते ॥ ८७ ॥

तब, दूसरे कहने लगे—अगर यह बात है तो उनके लिये एक बड़ा भारी भय का कारण हो सकता है जिससे वे लोग नहीं आयेंगे । परन्तु वह एक चतुर दूत के अधीन है । (उसे एक चतुर दूत ही कर सकता है ।) जो विजयदत्त नामक हमारा स्वामी चन्द्रमा में रहता है, (उसी पर हमारा यह कपट उपाय अवलम्बित है) कोई बनावटी दूत गजाधिपति के पास भेजना चाहिए (और कहना चाहिए कि) चन्द्रमा तुम्हें इस तालाब में आने का निषेध करता है । क्योंकि हमारे (चन्द्रमा के) परिजन लोग इसके चारों ओर रहते हैं । ऐसा कहने पर कदाचित् श्रद्धेय (चन्द्रमा) के वचन होने के कारण वे लौट जावें (फिर यहाँ न आवें) । तब अन्यों ने कहा—यदि ऐसा ही है तो लम्बकर्ण नाम का एक खरगोश है । वह बोलने में निपुण और दूत-कार्य को जानने वाला है उसे वहाँ भेजना चाहिए । कहा भी है—

सुन्दर, लोभरहित, भाषण-चतुर, अनेक विद्याओं में निपुण और दूसरों के मन की बात समझने वाला पुरुष राजा के दूत-कार्य के लिये अभीष्ट होता है (राजा ऐसे पुरुष को दूत बनाना पसन्द करता है) ॥ ८७ ॥

अन्यच्च—

यो मूर्खं लौल्यसम्पन्नं राजद्वारिकमाचरेत् ।
मिथ्यावादं विशेषेण तस्य कार्यं न सिध्यति ॥ ८८ ॥

और भी—जो राजा मूर्ख, लोभी और विशेषकर मिथ्याभाषी पुरुष को बना कर राज-दरबार में भेजता है उसका कार्य सिद्ध नहीं होता । (क्योंकि मूर्ख तो अपना अभिप्राय ठीक-ठीक प्रकाशित ही नहीं कर सकता और लोभी पुरुष लोभवश शत्रु से मिलकर अपने स्वामी को हानि पहुँचा देते हैं) ॥ ८ ॥

तदन्विष्यतां यद्यस्माद् व्यसनादात्मनां सुनिर्मुक्तिः। अथान्ये प्रोचुः-'अहो युक्तमेतत्। नान्यः कश्चिदुपायोऽस्माकं जीवितस्य। तथैव क्रियताम्।'

अथ लम्बकर्णो गजयूथाधिपसमीपे निरूपितो गतश्च। तथानुष्ठिते लम्बकर्णोऽपि गजमार्गमासाद्यागम्यं स्थलमारुह्य तं गजमुवाच—'भोः भोः दुष्ट! गज! किमेवं लीलया निःशङ्कयाऽत्र चन्द्रह्रद आगच्छसि? तन्नागन्तव्यं निवर्त्यताम्' इति। तदाकर्ण्य विस्मितमना गज आह—'भोः! कस्त्वम्?' स आह-अहं लम्बकर्णो नाम शशकश्चन्द्रमण्डले वसामि। साम्प्रतं भगवता चन्द्रमसा तव पार्श्वे प्रहितो दूतः। जानात्येव भवान्, यथार्थवादिनो दूतस्य न दोषः करणीयः। दूतमुखा हि राजानः सर्वं एव। उक्तञ्च—

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु बन्धुवर्गवधेष्वपि।
परुषाण्यपि जल्पन्तो बध्या दूता न भूभुजा॥ ८९॥

यदि आप लोग इस संकट से छूटना चाहें तो कोई दूत तलाश करें। और लोग कहने लगे—'यह (उपाय) ठीक है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय हमारे जीने का नहीं है। ऐसा ही करना चाहिए।'

अनन्तर लम्बकर्ण को यूथाधिपति के पास भेजना निश्चय किया गया और वह गया। तब लम्बकर्ण हाथी के रास्ते में (जिस मार्ग से हाथी तालाब पर आते थे) एक ऐसे (ऊँचे) स्थान पर—जहाँ हाथी नहीं पहुँच सकता था—चढ़कर उससे बोला—'अरे दुष्ट गज! क्यों तू इस चन्द्रह्रद पर इतनी असावधानी और निर्भयता से आता है। तुमको यहाँ नहीं आना चाहिए, लौट जाओ।' यह सुन कर आश्चर्य में पड़ कर वह बोला—तू कौन है? उसने कहा—मैं लम्बकर्ण नाम का खरगोश चन्द्र-मण्डल में रहता हूँ। इस समय भगवान् चन्द्रमा ने मुझे तेरे पास दूत बनाकर भेजा है। आप यह जानते हैं कि यथार्थवादी (जैसा उसके स्वामी ने कहा है वैसा ही कहने वाले) दूत को दोष नहीं देना चाहिए। क्योंकि सभी राजा दूत-मुख होते हैं (दूत के द्वारा ही अपना सन्देश कहते हैं, यदि उनको ही मार दिया जाय तो एक का सन्देश दूसरे के पास पहुँच ही नहीं सकेगा)। कहा भी है—

तलवार आदि शस्त्रों के उठाये जाने पर, बन्धुओं के मर जाने पर भी, कठोर वचन कहने वाले भी दूतों को न मारना चाहिए॥ ८९॥

तच्छ्रुत्वा स आह—'भोः शशक ! तत्कथय भगवतश्चन्द्रमसः सन्देशम्, येन सत्वरं क्रियते' । स आह—'भवतातीतदिवसे यूथेन सहागच्छता प्रभूताः शशका निपातिताः; तत्किं न वेत्ति भवान्, यन्मम परिग्रहोऽयम् । तद्यदि जीवितेन ते प्रयोजनं तदा केनापि प्रयोजनेनाऽप्यत्र ह्रदे नागन्तव्यमि'ति सन्देशः । गज आह—'अथ क्व वर्तते भगवान् स्वामी चन्द्रः ।' स आह–'अत्र ह्रदे साम्प्रतं शशकानां भवद्यूथमथितानां हृतशेषाणां समाश्वासनाय समायातस्तिष्ठति । अहं पुनस्तवान्तिकं प्रेषितः ।' गज आह—'यद्येवं तद्दर्शय मे तं स्वामिनं येन प्रणम्यान्यत्र गच्छामि ।' शशक आह—'आगच्छ मया सहैकाकी येन दर्शयामि ।' तथानुष्ठिते शशको निशासमये तं ह्रदतीरे नीत्वा जलमध्ये स्थितं चन्द्रबिम्बमदर्शयत् । आह च—'भोः ! एष नः स्वामी जलमध्ये समाधिस्थस्तिष्ठति तन्निभृतं प्रणम्य व्रजेति, नो चेत्समाधिभङ्गभयाद् भूयोऽपि प्रभूतं कोपं करिष्यति ।' अथ गजोऽपि त्रस्तमनास्तं प्रणम्य पुनर्गमनाय प्रस्थितः । शशकाश्च तद्दिनादारभ्य सपरिवाराः सुखेन स्वेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति स्म । अतोऽहं ब्रवीमि 'व्यपदेशेन महताम्' इति । अपि च—

क्षुद्रमलसं कापुरुषं व्यसनिनमकृतज्ञं जीवितकामः ।
पृष्ठप्रलपनशीलं स्वामित्वे नाभियोजयेत् ॥ ९० ॥

यह सुन कर वह (गज) बोला—'शशक ! भगवान् चन्द्र का सन्देश कहिए, जिससे कि शीघ्र ही उसका पालन किया जाय ।' उसने कहा–(चन्द्रमा का यह संदेश है कि) कल अपने हाथियों के साथ आते हुए आपने बहुत से खरगोश मार डाले । क्या आप यह बात नहीं जानते कि ये लोग मेरे आश्रित हैं । अगर तुम जीना चाहो तो किसी भी काम से तुम इस तालाब पर न आना । गज ने कहा—'भगवान् स्वामी चन्द्र कहाँ हैं !' वह बोला—'इस समय वह आपके समूह से कुचले हुए परन्तु मरने से बचे हुए (खरगोशों को) तसल्ली देने के लिये इस तालाब में आए हुए हैं और मुझे तुम्हारे पास भेजा है' । गज ने कहा—'अच्छा, मुझे स्वामी के दर्शन कराओ, जिससे (उन्हें) प्रणाम कर अन्यत्र चला जाऊँ !' खरगोश ने कहा—'मेरे साथ अकेले आओ तब (तुम्हें) दर्शन करा दूँ । तब, खरगोश रात्रि के समय उस हाथी को तालाब के किनारे ले गया और पानी में पड़ता हुआ चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब (परछाई)

उसे दिखाया । और कहने लगा—यह हमारे स्वामी जल में ध्यानमग्न स्थित हैं । इसलिये चुपचाप प्रणाम करके जल्दी चले जाओ, नहीं तो समाधि के भङ्ग होने से फिर भी अधिक क्रोध करेंगे ।' तव हाथी भी भयभीत होकर उसे प्रणाम कर जाने के लिये रवाना हो गया । खरगोश भी उसी दिन से परिवार सहित अपने स्थानों में रहने लगे । इसलिये मैं कहता हूँ कि 'बड़ों का नाम लेने से' इत्यादि ।

और भी—जीवित रहने की इच्छा रखने वाले पुरुष को चाहिए कि नीच स्वभाव, आलसी, कायर या निन्द्य, मृगया आदि व्यसनों में फँसे हुए, कृतघ्न, पीठ पीछे (परोक्ष में) निन्दा करने वाले पुरुष को कभी भी अपना स्वामी न बनाये ।

तथा च—

क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य न्यायान्वेषणतत्परौ ।
उभावपि क्षयं प्राप्तौ पुरा शशकपिञ्जलौ ॥ ९१ ॥

ते प्रोचुः—कथमेतत् ? स आह—

जैसे कहा भी है—

पहले किसी समय न्याय तलाश करने वाले शश और कपिञ्जल दोनों ही नीच विचारक पाकर नष्ट हो गये ॥ ९१ ॥

उन पक्षियों ने पूछा—यह कैसे ? वह (कौआ) बोला—

कथा २

कस्मिंश्चिद् वृक्षे पुराऽहमवसम् । तत्राधस्तात्कोटरे कपिञ्जलो नाम चटकः प्रतिवसति स्म । अथ सदैवास्तमनवेलायामागतयोर्द्वयोरनेकसुभाषितगोष्ठ्या देवर्षिब्रह्मर्षिराजर्षिपुराणचरितकीर्तनेन च पर्यटनदृष्टानेककौतूहलप्रकथनेन च परमसुखमनुभवतोः कालो व्रजति । अथ कदाचित् कपिञ्जलः प्राणयात्रार्थमन्यैश्चटकैः सहान्यं पक्वशालिप्रायं देशङ्गतः । ततो यावन्निशासमयेऽपि नायातस्तावदहं सोद्वेगमनास्तद्विप्रयोगदुःखितश्चिन्तितवान्—अहो किमद्य कपिञ्जलो नायातः ! किं केनापि पाशेन बद्धः ? आहोस्वित् केनापि व्यापादितः? सर्वथा यदि कुशली भवति यन्मां विना न तिष्ठति । एवं मे चिन्तयतो बहून्यहानि व्यतिक्रान्तानि । ततश्च

तत्र कोटरे कदाचिच्छीघ्रगो नाम शशकोऽस्तमनवेलायामागत्य प्रविष्टः। मयापि कपिञ्जलनिराशत्वेन न निवारितः । अथान्यस्मिन्नहनि कपिञ्जलः शालिभक्षणादतीव पीवरतनुः स्वाश्रयं स्मृत्वा भूयोऽप्यत्रैव समायातः । अथवा साध्विदमुच्यते—

न तादृग्जायते सौख्यमपि स्वर्गे शरीरिणाम् ।
दारिद्र्येऽपि हि यादृक्स्यात्स्वदेशे स्वपुरे गृहे ।। ९२ ।।

पहिले मैं किसी वृक्ष पर रहता था । वहीं पर नीचे के कोटर में कपिञ्जल नाम का एक पक्षी रहता था । सायङ्काल के समय सदा ही हम दोनों जब आते थे तब तरह-तरह की मधुर बातचीत करते, देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षियों के पुराणों में वर्णित चरित्र कहते और घूमने के समय देखे हुए विचित्र वस्तुओं का वर्णन करते थे । इस प्रकार बड़े आनन्द से हमारा समय बीतता था । एक समय कपिञ्जल भोजन की तलाश में दूसरे चटकों के साथ, पके हुए शालि धान्य से भरे हुए किसी दूसरे स्थान को चला गया । जब वह रात हो जाने पर भी नहीं आया, तब मैं घबड़ाकर उसके वियोग दुःख से पीडित हो सोचने लगा—'आज कपिञ्जल क्यों नहीं आया ? क्या किसी ने जाल में बाँध लिया ? अथवा किसी ने मार डाला ? निश्चय ही सकुशल रहने पर वह मेरे विना नहीं रहता ।' इस तरह सोचते हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये । अनन्तर एक समय उसी कोटर में शीघ्रग नाम का शशक सायङ्काल के समय आकर प्रविष्ट हुआ । मैं कपिञ्जल के विषय में निराश हो चुका था । इसलिए मैंने भी नहीं रोका । इसके बाद एक दिन कपिञ्जल, अनाज खाने से मोटा ताजा होकर अपने स्थान को याद कर आया । यह ठीक ही कहा है :—

देहधारियों को स्वर्ग में भी वैसा सुख नहीं होता जैसा कि दरिद्रावस्था में भी अपने देश, अपने नगर और अपने घर में होता है ।। ९२ ।।

अथाऽसौ कोटरान्तर्गतं शशकं दृष्ट्वा साक्षेपमाह 'भोः शशक ! न त्वया सुन्दरं कृतं यन्ममावसथस्थाने प्रविष्टोऽसि । तच्छीघ्रं निष्क्रम्यताम् ।' शशक आह—'न तवेदं गृहं, किन्तु ममैव ! तत्किं मिथ्या परुषाणि जल्पसि ।' उक्तं च—

वापीकूपतडागानां देवालयकुजन्मनाम् ।
उत्सर्गात्परतः स्वाम्यमपि कर्तुं न शक्यते ।। ९३ ।।

तब वह (कपिञ्जल) कोटर के अन्दर खरगोश को देखकर तिरस्कारपूर्वक

बोला 'हे शशक ! तुमने यह अच्छा नहीं किया कि जो तुम मेरे घर में आ घुसे। इसलिये शीघ्र ही निकल जाओ।' शशक ने कहा—'यह घर तुम्हारा नहीं है किन्तु मेरा ही है फिर क्यों झूठे ही कठोर वचन कहते हो।' कहा भी है —

प्रतिष्ठा करने के बाद बावड़ी, कुआँ, तालाब तथा देवमन्दिर और वृक्ष इन वस्तुओं पर किसी का अधिकार नहीं रहता ॥ ९३ ॥

तथा च—

प्रत्यक्षं यस्य यद्भुक्तं क्षेत्राद्यं दश वत्सरान्।
तत्र भुक्तिः प्रमाणं स्याद् न साक्षी नाक्षराणि वा ॥९४॥

जैसे कहा भी है :—

पहले जिसने दस वर्ष तक जिस क्षेत्र (खेत) का भोग किया है उसमें कोई साक्षी या हस्ताक्षर प्रमाण नहीं माना जाता है, केवल भोग प्रमाण होता है। क्षेत्र भोगनेवाले का ही माना जाता है ॥ ९४ ॥

मानुषाणामयं न्यायो मुनिभिः परिकीर्तितः।
तिरश्चां च विहङ्गानां यावदेव समाश्रयः ॥ ९५ ॥

मुनियों ने यह पूर्वोक्त निर्णयशैली मनुष्यों के सम्बन्ध में कही है, पशु तथा पक्षियों को (किसी स्थान पर) तभी तक स्वत्व रहता है जब तक वे वहाँ रहते हैं।

'तन्ममैतद्गृहम्, न तवेति।' कपिञ्जल आह—'भोः ! यदि स्मृतिं प्रमाणीकरोषि तदागच्छ मया सह येन स्मृतिपाठकं पृष्ट्वा स यस्य ददाति स गृह्णातु।' तथानुष्ठिते मयापि चिन्तितम्—किमत्र भविष्यति ? मया द्रष्टव्योऽयं न्यायः। ततः कौतुकादहमपि तावनुप्रस्थितः। अत्रान्तरे तीक्ष्णदंष्ट्रो नामारण्यमार्जारस्तयोर्विवादं श्रुत्वा मार्गासन्नं नदीतटमासाद्य कृतकुशोपग्रहो निमीलितनयन ऊर्ध्वबाहुरर्धपादस्पृष्टभूमिः श्रीसूर्याभिमुख इमां धर्मोपदेशनामकरोत्—अहो ! असारोऽयं संसारः। क्षणभङ्गुराः प्राणाः। स्वप्नसदृशः प्रियसमागमः। इन्द्रजालवत् कुटुम्बपरिग्रहोऽयम्, तद्धर्मं मुक्त्वा नान्या गतिरस्ति। उक्तं च—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥ ९६ ॥

'इसलिये यह घर मेरा ही है न कि तुम्हारा।' कपिञ्ज ने कहा—'अगर तुम

धर्मशास्त्र को प्रमाण मानते हो तो मेरे साथ आओ, किसी धर्मशास्त्री से पूछें। वह जिसको (यह वृक्ष कोटर) दे, वही ले। ऐसा करने पर (जब वे दोनों चल दिये) मैंने सोचा—इस विषय में क्या होगा ? यह मुकदमा मुझे देखना चाहिए। तब कौतुकवश मैं भी उनके पीछे चल दिया। इसी समय तीक्ष्णदंष्ट्र नाम का जङ्गली विलाव उनके इस झगड़े को सुन कर मार्ग के पास वाली नदी के किनारे पर पहुँच, हाथ में कुशा ले, आँख मींच, ऊपर को भुजा उठा, पैर के अग्रभाग से भूमि को छूता हुआ (खड़ा होकर), सूर्याभिमुख होकर यह (आगे वर्णित) धर्मोपदेश करने लगा—'ओह ! यह संसार असार है। जीवन क्षणभङ्गुर है। प्रियों का समागम स्वप्न के समान है। कुटुम्ब का परिपालन इन्द्रजाल (जादू) के सदृश झूठा है। इसलिये धर्म को छोड़कर दूसरी गति नहीं है।' कहा भी है :—

शरीर नाशवान् है, धनसंपत्ति हमेशा रहने वाली नहीं, मौत हर समय सिर पर खड़ी है इसलिये धर्म-संचय करना चाहिए ॥ ९६ ॥

यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ ९७ ॥

जिस पुरुष के दिन, धर्मानुष्ठान के बिना आते और चले जाते हैं (व्यतीत होते हैं) वह लुहार की धौंकनी के समान श्वास लेता हुआ भी जीवित नहीं है (उस मनुष्य को जीवित नहीं कह सकते) ॥ ९७ ॥

नाच्छादयति कौपीनं न दंशमशकापहम्।
शुनः पुच्छमिव व्यर्थं पण्डित्यं धर्मवर्जितम् ॥ ९८ ॥

जो (कुत्ते की पूँछ) न तो गुह्य अङ्ग को ढकती और जो न मक्खी तथा मच्छर आदि को उड़ा ही सकती है ऐसी कुत्ते की पूँछ के समान धर्मशून्य शास्त्र-चातुर्य (जो न तो वैराग्य उत्पन्न कर) कौपीन धारण करता (संन्यासी बनता) और न मच्छर आदि के समान मनोविकारों (काम आदि) को ही नष्ट कर सकता है) निष्फल ही है ॥ ९८ ॥

अन्यच्च—

पुलाका इव धान्येषु पूतिका इव पक्षिषु।
मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ ९९ ॥

जैसे धान्यों में पुलाक, पक्षियों में पूतिका (पतङ्ग) और प्राणियों में मच्छर तुच्छ और निन्दनीय हैं उसी प्रकार धर्मविमुख मनुष्य तुच्छ और निन्दनीय है ॥ ९९ ॥

श्रेयः पुष्पफलं वृक्षाद् दध्नः श्रेयो घृतं स्मृतम् ।
श्रेयस्तैलं च पिण्याकाच्छ्रेयान्धर्मस्तु मानुषात् ॥ १०० ॥

वृक्ष की अपेक्षा फूल तथा फल श्रेष्ठ होते हैं, दही से घी उत्तम होता है, खली से तेल श्रेष्ठ है और मनुष्य-शरीर से धर्मकार्य श्रेष्ठ होते हैं ॥ १०० ॥

सृष्टा मूत्रपुरीषार्थमाहाराय च केवलम् ।
धर्महीनाः परार्थाय पुरुषाः पशवो यथा ॥ १०१ ॥

धर्महीन पुरुष (जो धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान नहीं करते) जो केवल मलमूत्र के त्याग और पेट भरने के लिये ही यत्न करते हैं वे पशुओं के समान अन्य पुरुषों का कार्य करने के लिये बनाये गये हैं ॥ १०१ ॥

स्थैर्यं सर्वेषु कृत्येषु शंसन्ति नयपण्डिताः ।
बह्वन्तराययुक्तस्य धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥ १०२ ॥

नीतिज्ञ पुरुष सब कार्यों स्थिरता (जल्दबाजी न करना) की प्रशंसा करते हैं परन्तु अनेक विघ्नों से युक्त धर्म की चाल तेज है (अर्थात् धर्मकार्य शीघ्र कर कर डालने चाहिए) ॥ १०२ ॥

सङ्क्षेपात्कथ्यते धर्मो जनाः ! किं विस्तरेण वः ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥ १०३ ॥

हे मनुष्यो ! सङ्क्षेप से तुम्हें धर्म का स्वरूप बताता हूँ, विस्तार से क्या लाभ ? परोपकार ही पुण्य और दूसरों को दुःख देना ही पाप है ॥ १०३ ॥

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ १०४ ॥

धर्म का सार सुनो और सुनकर (हृदय में) धारण करो, जो कार्य अपने लिये अहितकर प्रतीत हों उन्हें दूसरों के साथ भी मत करो। (अथवा—शास्त्र-निषिद्ध कार्य न तो अपने ही लिये करो और न दूसरों के लिये) ॥ १०४ ॥

अथ तस्य तां धर्मोपदेशनां श्रुत्वा शशक आह—'भोः भोः ! कपिञ्जल ! एष नदीतीरे तपस्वी धर्मवादी तिष्ठति। तदेनं पृच्छावः।' कपिञ्जल आह—'ननु स्वभावतोऽयमस्माकं शत्रुभूतः। तद् दूरे स्थित्वा पृच्छावः। कदाचिदस्य व्रतवैकल्यं सम्पद्येत।' ततो दूरस्थौ तावूचतुः—'भोस्तपस्विन् ! धर्मोपदेशक ! आवयोर्विवादो वर्तते। तद्धर्मशास्त्रद्वारेणास्माकं निर्णयं कुरु। यो हीनवादी स ते भक्ष्य' इति। स आह—'भद्रौ।

मामैवं वदतम्, निवृत्तोऽहं नरकमार्गाद्धिंसाकर्मणः अहिंसैव धर्ममार्गः ।' उक्तं च—

अहिंसापूर्वको धर्मो यस्मात्सद्भिरुदाहृतः ।
यूकामत्कुणदंशादींस्तस्मात्तानपि रक्षयेत् ।। १०५ ।।
हिंसकान्यपि भूतानि यो हिंसति स निर्घृणः ।
स याति नरकं घोरं किं पुनर्यः शुभानि च ।। १०६ ।।

उसके इस धर्मोपदेश को सुनकर खरगोश बोला—'हे कपिञ्जल ! नदी के किनारे धर्मतत्त्व का निरूपण करने वाला यह तपस्वी खड़ा है । इसी से पूछें ।' कपिञ्जल बोला—'यह हमारा स्वभाव से ही शत्रु है । इसलिये दूर खड़े होकर पूछना चाहिए । कदाचित् (हमारे खाने के लोभ से) इसका व्रत-भङ्ग हो जावे ।' तब दूर खड़े हो उन्होंने (शशक तथा कपिञ्जल ने) कहा—हे धर्मोपदेष्टा तपस्विन् ! हम दोनों का एक मुकदमा है, धर्मशास्त्रानुसार उसका निर्णय करो । जिसका पक्ष निर्बल हो (जो झूठा हो) उसे तुम खा जाना ।' वह बोला—'हे भद्र पुरुषो ! ऐसा मत कहो । मैं नरक के मार्ग वाला हिंसा कर्म को छोड़ चुका हूँ । क्योंकि अहिंसा ही धर्म का मार्ग है ।' कहा भी है —

क्योंकि धर्मवित् मनुष्यों ने धर्म को अहिंसामूलक कहा है । इसलिये अत्यन्त क्षुद्र (नीच) यूका, खटमल और डांस आदि को भी न मारना चाहिए । जो मनुष्य हिंसक प्राणियों को भी मारता है वह निर्दयी कहलाता है और वह भीषण नरक को प्राप्त होता है और जो अहिंसक पशुओं को मारता है उसका तो कहना ही क्या है (वह तो घोर नरक को प्राप्त होता ही है) ।। १०५–१०६ ।।

एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति, ते मूर्खाः, परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति । तत्र किलैतदुक्तम्—'अजयैष्टव्यम् । अजा व्रीहयस्तावत्सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते न पुनः पशुविशेषः । उक्तं च—

वृक्षांश्छित्त्वा पशून्हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरकं केन गम्यते ।। १०७ ।।

तन्नाहं भक्षयिष्यामि । परं जयपराजयनिर्णयं करिष्यामि । किन्त्वहं वृद्धो दूरान्न यथावच्छृणोमि । एवं ज्ञात्वा मम समीपवर्तिनौ भूत्वा ममाग्रे न्यायं वदतं, येन विज्ञाय, विवादपरमार्थं वचो वदतो मे परलोक-बाधा न भवति ।

और, ये जो याज्ञिक लोग यज्ञ में पशुओं को मारते हैं वे अत्यन्त मूर्ख हैं, क्योंकि वे श्रुति का वास्तविक अर्थ नहीं समझते। वहाँ (श्रुति में) केवल यह कहा है कि 'अजों से यज्ञ करना चाहिए'। (वस्तुतः) सात वर्ष के पुराने यव 'अज' कहलाते हैं न कि पशु विशेष। कहा भी है :—

वृक्ष काटकर, पशुओं को मार कर तथा (उनके) रुधिर से कीचड़ करके यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो फिर नरक पहुँचाने वाला कौन सा कर्म है ? ॥ १०७ ॥

इसलिये मैं तुम्हें खाऊँगा नहीं। हाँ, तुम्हारी हार-जीत का निर्णय अवश्य करूँगा। परन्तु मैं वृद्ध होने के कारण दूर से ठीक-ठीक सुन नहीं पाता। इसलिये मेरे पास आकर, अपना विवाद पेश करो जिससे मैं (उसे) अच्छी तरह समझ कर ठीक-ठीक निर्णय कर सकूँ ताकि मेरे परलोक-प्राप्ति में कोई विघ्न न पड़े।

उक्तं च—

मानाद्वा यदि वा लोभात्क्रोधाद्वा यदि वा भयात्।
यो न्यायमन्यथा ब्रूते स याति नरकं नरः ॥ १०८ ॥

जो पुरुष अपना सम्मान स्थिर रखने के लिये अथवा लोभ से, किंवा क्रोध के वशीभूत हो अथवा (किसी के) भय से अपना निर्णय ठीक नहीं देता तो वह नरकगामी होता है ॥ १०८ ॥

पञ्च पञ्चनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतं कन्याऽनृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ १०९ ॥

पशु के लिये झूठ बोलने में पाँच (पुरुषों) को मारता है (पाँच पुरुषों की हत्या का फल पाता है), गौ के लिये झूठ बोलने में दस को मारता है, कन्या के विषय में मिथ्या भाषण करने पर सौ पुरुषों को मारता है और पुरुष के विषय में झूठ बोलने पर १००० पुरुषों को मारता है ॥ १०९ ॥

उपविष्टः सभामध्ये यो न वक्ति स्फुटं वचः।
तस्माद् दूरेण स त्याज्यो न्यायो वा कीर्तयेदृतम् ॥ ११० ॥

जो मनुष्य न्यायसभा में बैठ कर साफ-साफ नहीं बोलता (निर्भय हो अपना फैसला नहीं देता), ऐसे पुरुष को दूर से ही छोड़ देना चाहिए (न्यायासन से हटा देना चाहिए) क्योंकि सत्य बोलना ही न्याय है। (यह राजा का कर्तव्य है कि सत्य बात का निरीक्षण करे) ॥ ११० ॥

तस्माद्विश्रब्धौ मम कर्णोपान्तिके स्फुटं निवेदयतम्।' किं बहुना-तेन क्षुद्रेण तथा तौ पूर्णं विश्वासितौ यथा तस्योत्सङ्गवर्तिनौ जातौ। ततश्च तेनापि समकालमेवैकः पादान्तेनाक्रान्तोऽन्यो दंष्ट्राक्रकचेन च ततो गतप्राणौ भक्षिताविति। अतोऽहं ब्रवीमि—'क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य' इति।

इसलिए निःशङ्क हो मेरे कान के पास आकर साफ-साफ कहो। अधिक क्या (कहा जाय)—उस पापी ने शीघ्र ही उनको ऐसा विश्वास दिला दिया कि वे उसकी गोद में जा बैठे। तब उसने उसने एक साथ ही एक को पैर के अग्र-भाग से और दूसरे को आरे के समान (तेज) दाँतों से पकड़ लिया। अनन्तर उन्हें मार कर खा लिया। इसलिये मैं कहता हूँ–'नीच स्वामी को पाकर' इत्यादि।

भवन्तोऽप्येनं दिवान्धं क्षुद्रमर्थपतिमासाद्य राज्यन्धाः सन्तः शशक-पिञ्जलमार्गेण यास्यन्ति। एवं ज्ञात्वा यदुचितं तद्विधेयम्। अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य 'साध्वनेनाभिहितमि'त्युक्त्वा 'भूयोऽपि पार्थिवार्थं समेत्य मन्त्रयिष्यामहे' इति ब्रुवाणाः सर्वे पक्षिणो यथाभिमतं जग्मुः। केवल-मवशिष्ट भद्रासनोपविष्टोऽभिषेकाभिमुखो दिवान्धः कृकालिकया सहास्ते। आह च-कः कोऽत्र भोः! किमद्यापि न क्रियते ममाभिषेकः? इति श्रुत्वा कृकालिकयाऽभिहितम्—'भद्र! कृतोऽयं विघ्नस्ते काकेन। गताश्च सर्वेऽपि विहगा यथेप्सितासु दिक्षु केवलमेकोऽयं वायसोऽवशिष्टः तिष्ठति केनापि कारणेन। तत्त्वरितमुत्तिष्ठ' येन त्वां स्वाश्रयं प्रापयामि। तच्छ्रुत्वा स विषादमुलूको वायसमाह–'भो भो! दुष्टात्मन्! किं मया तेऽपकृतम्? यद्राज्याभिषेको मे विघ्नितः। तदद्यप्रभृति सान्वयमावयोर्वैरं सञ्जातम्।' उक्तं च—

आप लोग भी इस दिन में अन्धे, नीच स्वामी को पाकर रात्रि में अन्धे होने के कारण शशक और कपिञ्जल की गति पाओगे। यह समझ कर उचित कार्य करो। उसकी यह बात सुन कर 'इसने बहुत ठीक कहा है' यह कह कर सब पक्षी 'फिर किसी समय मिलकर राजा के विषय में विचार करेंगे' ऐसा कहते हुए अपने-अपने स्थान को चले गये। वहाँ केवल कृकालिका के साथ राजसिंहासन पर बैठा हुआ उल्लू अपने अभिषेक की प्रतीक्षा करता रहा। वह बोला—यहाँ कौन है? अब भी (इतना विलम्ब होने पर भी) मेरा अभिषेक क्यों नहीं करते? यह सुन कृकालिका ने कहा—'तुम्हारे अभिषेक में कौवे ने विघ्न डाल दिया। सब पक्षी इधर-उधर चले गये। केवल यह कौवा किसी

कारण से बैठा है, इसलिये जल्दी उठो' तुमको तुम्हारे स्थान पर पहुँचा दूँ। यह सुन उल्लू ने दुःखपूर्वक कौवे से कहा 'अरे दुष्ट ! मैंने तेरी क्या बुराई की है ? जो तूने मेरे राज्याभिषेक में विघ्न डाला। इसलिये आज से हमारा-तुम्हारा वंश परम्परा तक वैर हो गया।' कहा भी है।

रोहते सायकैर्विद्धं छिन्नं रोहति चासिना।
वचो दुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम् ।। १११ ।।

वाणों से विद्ध अङ्ग आदि भर जाता है तलवार का घाव भी पूरा हो जाता है किन्तु वाणी से विद्ध (हृदय) कभी नहीं भरता इसलिये दुर्वाच्य और घृणास्पद वचन कभी न बोलना चाहिए ।। १११ ।।

इत्येवमभिधाय, कृकालिकया सह स्वाश्रयं गतः। अथ भयव्याकुलो वायसो व्यचिन्तयत्—अहो। अकारणं वैरमासादितं मया, किमिदं व्याहृतम्। उक्तं च—

अदेशकालज्ञमनायतिक्षमं यदप्रियं लाघवकारि चात्मनः।
योऽत्राब्रवीत्कारणवर्जितं वचो न तद्वचः स्याद्विषमेव तद्भवेत् ।।११२।।

यह कह कर (उल्लू) कृकालिका के साथ अपने स्थान को चला गया। अनन्तर भय से व्याकुल होकर कौवा सोचने लगा—ओह ! विना कारण ही मैंने वैर मोल ले लिया, यह मैंने क्या कह डाला। कहा भी है :—

इस संसार में जो मनुष्य विना कारण ही, देश-काल के विरुद्ध, भविष्य में दुःखदायी, अप्रिय और अपना ओछापन प्रकाशित करने वाला वचन बोलता है वह वचन नहीं है किन्तु वह विष ही होता है ।। ११२ ।।

बलोपपन्नोऽपि हि बुद्धिमान्नरः, परे नयेन्न स्वयमेव वैरिताम्।
'भिषङ्ममास्ती'ति विचिन्त्य भक्षयेदकारणात् को हि विचक्षणो विषम्।।

बुद्धिमान् पुरुष बलवान् होने पर भी अपनी ओर से किसी के साथ शत्रुता पैदा न करे। कौन समझदार पुरुष (चिकित्सा के लिए) 'मेरे पास वैद्य है' यह समझ कर विना कारण ही विष खायगा ? ।। ११३ ।।

परपरिवादः परिषदि न कथञ्चित्पण्डितेन वक्तव्यः।
सत्यमपि तन्न वाच्यं यदुक्तमसुखावहं भवति ।।११४।।

पण्डित को चाहिए कि सभा में (दूसरों के सामने) किसी की निन्दा न करे और वह सत्य भी न कहना चाहिए जो कहने पर दुःखदायी हो (अप्रीतिकर हो) ।। ११४ ।।

सुहृद्भिराप्तैरसकृद्विचारितं स्वयं च बुद्धया प्रविचारिताश्रयम् ।
करोति कार्यं खलु यः स बुद्धिमान् स एव लक्ष्म्या यशसां च भाजनम् ॥

वही पुरुष बुद्धिमान् है और वही ऐश्वर्य तथा कीर्ति का भागी होता है जो विश्वस्त मित्रों के द्वारा बार-बार विचार किये गये हुए और स्वयं भी अपनी बुद्धि के अनुसार सावधानी के साथ सोचे हुए कार्य को करता है ।११५।

एवं विचिन्त्य काकोऽपि प्रयातः । तदाप्रभृत्यस्माभिः सह कौशिकानामन्वयागतं वैरमस्ति ।

मेघवर्ण आह—तात ! एवङ्कृतेऽस्माभिः किं क्रियेत ? स आह—'वत्स ! एवङ्कृतेऽपि षाड्गुण्यादपरः स्थूलोऽभिप्रायोऽस्ति । तमङ्गीकृत्य स्वयमेवाहं तद्विजयाय यास्यामि । रिपून् वञ्चयित्वा वधिष्यामि ।' उक्तं च—

बहुबुद्धिसमायुक्ताः सुविज्ञाना बलोत्कटान् ।
शक्ता वञ्चयितुं धूर्ता ब्राह्मणं छागलादिव ॥ ११६ ॥

मेघवर्ण आह—कथमेतत् ? सोऽब्रवीत्—

ऐसा सोचता हुआ कौवा भी चला गया । तब ही से हमारे साथ उल्लुओं का वंशपरम्परा-गत वैर हो गया है ।

मेघवर्ण ने कहा—'हे तात ! ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए !' उसने कहा—'वत्स ! ऐसी दशा में भी सन्धि विग्रह आदि गुणों के अतिरिक्त एक अन्य शक्तिशाली उपाय सोचा है । उसी के सहारे मैं खुद ही उसके विजय के लिए जाऊँगा । शत्रु को धोखा देकर मारूँगा । कहा भी है :—

तरह-तरह की बुद्धियों से युक्त, लोकव्यवहार में निपुण पुरुष बलवान् मनुष्यों को भी धोखा दे सकते हैं जैसे कि धूर्तों ने ब्राह्मण को बकरे से वञ्चित कर दिया ॥ ११६ ॥

मेघवर्ण ने कहा—यह कैसे ? उसने कहा—

कथा ३

कस्मिश्चिदधिष्ठाने मित्रशर्मा नाम ब्राह्मणः, कृताग्निहोत्रपरिग्रहः प्रतिवसति स्म । तेन कदाचिन्माघमासे सौम्यानिले प्रवाति, मेघाच्छादिते गगने, मन्दं-मन्दं प्रवर्षति पर्जन्ये, पशुप्रार्थनार्थं किञ्चिद्ग्रामान्तरं गत्वा, कश्चिद्यजमानो याचितः—'भो यजमान ! आगामिन्याममावास्यायामहं यक्ष्यामि यज्ञम्, तद्देहि मे पशुमेकम् ।' अथ तेन यस्य शास्त्रो-

क्तः, पीवरतनुः पशुः प्रदत्तः। सोऽपि तं समर्थमितश्चेतश्च गच्छन्तं विज्ञाय, स्कन्धे कृत्वा, सत्वरं स्वपुराभिमुखः प्रतस्थे।

किसी स्थान में मित्रशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता था, उसने अग्निहोत्र करने का नियम किया था। वह एक समय माघ महीने में—जब कि ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी, आकाश मेघों से ढका हुआ था और धीमी-धीमी वर्षा पड़ रही थी—पशु की याचना के लिये किसी दूसरे ग्राम में जाकर किसी यजमान से बोला—'हे यजमान! मैं आगामी अमावस के दिन यज्ञ करूँगा। इसलिए मुझे एक पशु दो। उसने शास्त्र-विहित (जैसा कि शास्त्रों में यज्ञ के लिए पशु बताया गया है।) मोटा ताजा एक पशु (बकरा) उसे दिया। वह हृष्ट-पुष्ट होने कारण इधर-उधर भागता हुआ देखकर उसे अपने कन्धे पर रख जल्दी-जल्दी अपने गाँव की ओर चल पड़ा।

अथ तस्य गच्छतो मार्गे त्रयो धूर्ताः क्षुत्क्षामकण्ठाः संमुखा बभूवुः। तैश्च तादृशं पीवरतनुं स्कन्ध आरूढमालोक्य, मिथोऽभिहितम्-'अहो! अस्य पशोर्भक्षणादद्यतनीयो हिमपातो व्यर्थतां नीयते। तदेनं वञ्चयित्वा, पशुमादाय शीतत्राणं कुर्मः।' अथ तेषामेकतमो वेशपरिवर्तनं विधाय संमुखो भूत्वाऽपमार्गेण तमाहिताग्निमूचे—'भो भोः! बालाग्निहोत्रिन्! किमेवं जनविरुद्धं हास्यकार्यमनुष्ठीयते। यदेष सारमेयोऽपवित्रः स्कन्धाधिरूढो नीयते। उक्तं च यतः—

श्वानकुक्कुटचाण्डालाः समस्पर्शाः प्रकीर्तिताः।
रासभोष्ट्रौ विशेषेण तस्मात्तान्नैव संस्पृशेत्॥ ११७॥

जब वह रास्ते में जा रहा था तब भूख से व्याकुल तीन धूर्त उसके सामने पड़े (सामने से आते हुए उसे मिले)। उन्होंने ऐसा हृष्ट-पुष्ट शरीर (उस बकरे को) कन्धे पर चढ़ा हुआ देखकर आपस में कहा—'ओह! इस पशु को खाकर आज के शीत से अपनी रक्षा करनी चाहिए (आज का शीत व्यर्थ किया जावे)। इसलिये इसको धोखा देकर और पशु लेकर शीत से अपनी रक्षा करें। तब उनमें से एक अपना वेश बदल कर, बगल (पार्श्व) के रास्ते से सामने हो उस अग्निहोत्री से बोला—'अरे मूर्ख! अग्निहोत्री! क्यों तुम लोकविरुद्ध ऐसा हँसी का काम करते हो जो इस (अपवित्र) कुत्ते को कन्धे पर चढ़ा कर ले जा रहे हो। क्योंकि कहा भी है :—

कुत्ते और मुर्गे छूना, चाण्डाल (डोम, चमार आदि) को छूने के समान है, विशेषकर गदहे और ऊँट को छूना अपवित्र कहा गया है। इसलिये इनको नहीं छूना चाहिए॥ ११७॥

ततश्च तेन कोपाभिभूतेनाभिहितम्—'अहो! किमन्धो भवान्? यत्पशुं सारमेयत्वेन प्रतिपादयसि। सोऽब्रवीत्—'ब्रह्मन्! कोपस्त्वया न कार्यः, यथेच्छं गम्यताम्।' अथ यावत्किञ्चिदध्वनोऽन्तरं गच्छति, तावद् द्वितीयो धूर्तः सम्मुखमभ्युपेत्य तमुवाच—भोः! ब्रह्मन्! कष्टं कष्टम्, यद्यपि वल्लभोऽयं ते मृतवत्सस्तथापि स्कन्धमारोपयितुमयुक्तम्। उक्तं च यतः—

तिर्यञ्चं मानुषं वापि यो मृतं संस्पृशेत्कुधीः।
पञ्चगव्येन शुद्धिः स्यात्तस्य चान्द्रायणेन वा॥ ११८॥

तब उसने क्रुद्ध होकर कहा—'क्या तुम अन्धे हो? जो पशु को कुत्ता बताते हो।' उसने कहा—'ब्रह्मन्! आप गुस्सा न करें, इच्छानुसार जाइये।' वह कुछ ही दूर था कि दूसरा धूर्त सामने आकर बोला—'हे ब्रह्मन्! बड़े दुःख की बात है, यद्यपि यह मरा हुआ बछड़ा तुम्हारा प्यारा है तो भी इसे कन्धे पर चढ़ाना उचित नहीं है। क्योंकि कहा है :—

जो दुर्बुद्धि पुरुष मरे हुए पशु-पक्षी आदि अथवा मनुष्य को भी छूता है तो पञ्चगव्य अथवा चान्द्रायण (व्रत विशेष) से उसकी शुद्धि होती है॥११८

अथासौ सकोपमिदमाह—'भोः किमन्धो भवान्? यत्पशुं मृतवत्सं वदति।' सोऽब्रवीत्—'भगवन्! मा कोपं कुरु, अज्ञानान्मयाभिहितम्, तत्त्वमात्मरुचि समाचर' इति। अथ यावत्स्तोकं वनान्तरं गच्छति तावत्तृतीयोऽन्यवेशधारी धूर्तः सम्मुखः समुपेत्य तमुवाच–'भोः! अयुक्तमेतत्, यद् रासभं स्कन्धाधिरूढं नयसि; तत्त्यज्यतामेषः। उक्तं च—

यः स्पृशेद्रासभं मर्त्यो ज्ञानादज्ञानतोऽपि वा।
सचैलं स्नानमुद्दिष्टं तस्य पापप्रशान्तये॥ ११९॥

तत्त्यजैनं यावदन्यः कश्चिन्न पश्यति।'

तब वह (ब्राह्मण) क्रोधपूर्वक बोला—'क्या आप अन्धे हो जो पशु को मरा बछड़ा बताते हो।' वह बोला–'भगवन्! क्रोध न कीजिये मैंने अज्ञानवश यह कह दिया। आप अपना कार्य करें।' अनन्तर जंगल में वह कुछ ही दूर आगे बढ़ा था कि तीसरा धूर्त वेष बदल सामने आकर उससे बोला—'भोः!

ब्राह्मण ! यह बहुत अनुचित है कि तुम गदहे को कन्धे पर चढ़ा कर ले जा रहे हो, इसलिये इसको छोड़ दो। कहा भी है :—

जो मनुष्य जानबूझ कर अथवा अनजाने में गदहे को छूता है उसके पाप की शान्ति के लिए वस्त्र-सहित स्नान कहा गया है ॥ ११९ ॥

'इसलिए इसे किसी के देखने से पूर्व ही छोड़ दो।'

अथासौ तं पशुं रासभं मन्यमानो भयाद् भूमौ प्रक्षिप्य स्वगृहमुद्दिश्य पलायितुं प्रारब्धः। ततस्तेऽपि त्रयो मिलित्वा पशुमादाय यथेच्छं भक्षितुमारब्धाः। अतोऽहं ब्रवीमि—'बहुबुद्धिसमायुक्ताः' इति।

अथवा साध्विदमुच्यते—

अभिनवसेवकविनयैः प्राघुणिकोक्तैर्विलासिनीरुदितैः।
धूर्तजनवचननिकरैरिह कश्चिद् वञ्चितो नास्ति ॥ १२० ॥

तब वह उस पशु को रासभ समझता हुआ (जो कोई इसे देखता है वही अपवित्र जानवर बताता है अतः यह अवश्य अपवित्रात्मा प्राणी है, इस प्रकार) डर के कारण पृथ्वी पर उसे फेंक कर अपने घर की ओर भागा। तब वे तीनों (धूर्त) मिल कर उस पशु को ले खाने लगे। इसलिए मैं कहता हूँ—'अनेक बुद्धि वाले' इत्यादि।

अथवा यह ठीक ही कहा है—

इस संसार में कोई मनुष्य ऐसा नहीं है जो नये भृत्य के नम्र-व्यवहारों, अतिथि के वचनों, सुन्दरियों के आँसुओं और दुष्टों के वचन जालों से न ठगा गया हो ॥ १२० ॥

किञ्च—दुर्बलैरपि बहुभिः सह विरोधो न युक्तः। उक्तं च—

[1]बहवो न विरोद्धव्या दुर्जया हि महाजनाः।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥ १२१ ॥

मेघवर्ण आह—'कथमेतत् ?' स्थिरजीवी कथयति—

बहुत से (मिले हुए) मनुष्यों के साथ चाहे वे दुर्बल ही क्यों न हों विरोध करना उचित नहीं है। कहा भी है :—

---

१. एतच्छ्लोकप्रतिपादिताग्रिमा कथा क्वचिन्न दृश्यते युक्तञ्चैतत्। अस्या कथायाः प्रकृतकथा(मुख्यकथा)नुपकारकत्वात्।

बहुत से मनुष्यों के साथ विरोध न करना चाहिए क्योंकि (मिले हुए) अनेक जन दुर्जय होते हैं जैसे चीटियाँ फुंकारते हुए भी महासर्प को खा जाती हैं ।। १२१ ।।

मेघवर्ण ने कहा—यह कैसे ? स्थिरजीवी ने कहा।

कथा ४

अस्ति कस्मिंश्चिद्वल्मीके महाकायः कृष्णसर्पोऽतिदर्पो नाम। स कदाचिद्बिलानुसारिमार्गमुत्सृज्यान्येन लघुद्वारेण निष्क्रमितुमारब्धः। निष्क्रामतश्च तस्य महाकायत्वाद्दैववशतया लघुविवरत्वाच्च शरीरे व्रणः समुत्पन्नः। अथ व्रणशोणितगन्धानुसारिणीभिः पिपीलिकाभिः सर्वतो व्याप्तो व्याकुलीकृतश्च। कति व्यापादयति कति वा ताडयति ? अथ प्रभूतत्वाद्विस्तारितबहुव्रणः क्षतसर्वाङ्गोऽतिदर्पः पञ्चत्वमुपागतः। अतोऽहं ब्रवीमि 'बहवो न विरोद्धव्याः' इति।

किसी वल्मीक में बड़े शरीर वाला अतिदर्प नाम का काला साँप रहता था। एक समय वह बिल से निकलने के उत्तम मार्ग को छोड़ कर अन्य छोटे मार्ग से निकलने लगा। शरीर के बड़ा होने तथा बिल छोटा होने के कारण निकलते समय उसके शरीर में घाव हो गया। घाव के रुधिर की गन्ध पाकर बहुत सी चीटियाँ चारों ओर से लिपट गईं और उन्होंने उसे व्याकुल कर दिया। उसने कुछ चींटियों को मार डाला और कुछ को घायल कर दिया परन्तु (चींटियों के) अधिक होने के कारण उसका घाव बहुत बढ़ गया, उसका सारा शरीर रक्तमय हो गया (और अन्त में) वह मर गया। इसलिए मैं कहता हूँ कि बहुतों के साथ विरोध नहीं करना चाहिए।

तदत्रास्ति मे किञ्चद्वक्तव्यमेव। तदवधार्य यथोक्तमनुष्ठीयताम्।' मेघवर्ण आह—'तत्समादेशय, तवादेशो नान्यथा कर्तव्यः।' स्थिरजीवी प्राह—'वत्स ! समाकर्णय तर्हि, सामादीनतिक्रम्य यो मया पञ्चम उपायो निरूपितः। तन्मां विपक्षभूतं कृत्वातिनिष्ठुरवचनैर्निर्भर्त्स्य—यथा विपक्षप्रणिधीनां प्रत्ययो भवति तथा समाहृतरुधिरैरालिप्यास्यैव न्यग्रोधस्याधस्तात्प्रक्षिप्य मां गम्यतां पर्वतमृष्यमूकं प्रति। तत्र सपरिवारस्तिष्ठ, यावदहं समस्तान्सपत्नान्सुप्रणीतेन विधिना विश्वास्याभिमुखान्कृत्वा कृतार्थो ज्ञातदुर्गमध्यो दिवसे तानन्धतां प्राप्तांस्त्वां नीत्वा

व्यापादयामि । ज्ञातं मया सम्यक् नान्यथाऽस्माकं सिद्धिरस्ति । यतो दुर्गमेतदपसाररहितं केवलं वधाय भविष्यति ।' उक्तञ्च—

अपसारसमायुक्तं नयज्ञैर्दुर्गमुच्यते ।
अपसारपरित्यक्तं दुर्गव्याजेन बन्धनम् ।। १२२ ।।

'इस विषय में मुझे कुछ कहना ही है । उसे समझ कर मेरे कथनानुसार काम करो ।' मेघवर्ण ने कहा—'आज्ञा कीजिये, आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जायगा ।' स्थिरजीवी ने कहा 'हे वत्स ! तो सुनो, मैंने साम आदि के अतिरिक्त एक पाँचवाँ उपाय निश्चय किया है । (वह यह है) मुझे अपना शत्रु समझ कर अति कठोर वचनों से धमकाओ जिससे कि शत्रु के गुप्तचरों को विश्वास हो जाय, तथा कहीं से रुधिर लाकर मुझे उससे लिप्त कर दो और इस बड़ के नीचे डाल कर ऋष्यमूक पर्वत पर चले जाओ । जब तक सब शत्रुओं को उत्तम उपायों के द्वारा विश्वास दिला अपने अनुकूल बना कर काम पूरा न कर लूँ तब तक परिवार सहित वहीं रहो । (वहाँ रह कर मैं) उनके किले का अन्दरूनी हाल जान कर दिन के समय जब कि वे अन्धे होंगे तुमको ले जाकर उन्हें मार डालूँगा । मैंने खूब विचार कर समझ लिया है कि इसके सिवाय हम (किसी प्रकार से) सफलता प्राप्त नहीं कर सकते । निष्क्रमण मार्ग से रहित यह दुर्ग हमारे नाश का ही कारण होगा । कहा भी है—

नीतिज्ञ लोग निष्क्रमण मार्ग से युक्त (गुप्तद्वारयुक्त) दुर्ग को ही (उत्तम) दुर्ग कहते हैं । निष्क्रमण मार्ग से रहित दुर्ग दुर्ग के नाम से बन्धन ही है ।।

न च त्वया मदर्थं कृपा कार्या । उक्तञ्च—

अपि प्राणसमानिष्टान्पालिताँल्लालितानपि ।
भृत्यान्युद्धे समुत्पन्ने पश्येन्म्लानामिव स्रजम् ।। १२३ ।।

और तुम मेरे ऊपर दया न करना । कहा भी है—

युद्धकाल उपस्थित होने पर प्राण-समान, प्रिय, पाले-पोसे भी भृत्यों को मुरझाई हुई माला के समान (राजा) समझे ।। १२३ ।।

तथा च—

प्राणवद्रक्षयेद् भृत्यान्स्वकायमिव पोषयेत् ।
सदैकदिवसस्यार्थे यत्र स्याद्रिपुसङ्गमः ।। १२४ ।।

जिस दिन शत्रु के साथ सामना करना पड़ेगा और युद्ध होगा उस दिन के लिए राजा को चाहिए कि भृत्यों की प्राणों के समान रक्षा करें और अपने शरीर के समान उनका पोषण करें ।। १२४ ।।

तत्त्वयाहं नात्र विषये प्रतिषेधनीयः। इत्युक्त्वा तेन सह शुष्ककलहं कर्तुमारब्धः। अथान्ये तस्य भृत्याः स्थिरजीविनमुच्छृङ्खलवचनैर्जल्पन्तमवलोक्य तस्य वधायोद्यता मेघवर्णेनाभिहिताः—'अहो! निवर्तध्वं यूयम्, अहमेवास्य शत्रुपक्षपातिनो दुरात्मनः स्वयं निग्रहं करिष्यामि।' इत्यभिधाय, तस्योपरि समारुह्य, लघुभिश्चञ्चुप्रहारैस्तं निहत्याहृतरुधिरेण प्लावयित्वा तदुपदिष्टमृष्यमूकपर्वतं सपरिवारो गतः। एतस्मिन्नन्तरे कृकालिकया द्विषत्प्रणिधीभूतया तत्सर्वं तदमात्यव्यसनं मेघवर्णस्य गमनं चोलूकराजाय निवेदितं—यत्तवारिः सम्प्रति भीतः क्वचित्प्रचलितः सपरिवार इति।' अथोलूकाधिपस्तदाकर्ण्यास्तमनवेलायां सामात्यः सपरिजनो वायसवधार्थं प्रचलितः। प्राह च—'त्वर्यतां त्वर्यतां भीतः शत्रुः पलायनपरः पुण्यैर्लभ्यते। उक्तं च—

शत्रोः प्रचलने छिद्रमेकमन्यच्च संश्रयम्।
कुर्वाणो जायते वश्यो व्यग्रत्वे राजसेविनाम्॥ १२५॥

इसलिए तुम मुझे इस विषय में मत रोको। यह कह कर उसके साथ बनावटी लड़ाई करने लगा। तब मेघवर्ण के अन्य भृत्य, स्थिरजीवी को उच्छृङ्खल बातें कहते हुए देखकर उसके मारने के लिए तैयार हुए। पर मेघवर्ण ने (उन्हें रोक कर) कहा—'तुम लोग रहने दो, इस शत्रु-पक्षपाती दुष्ट को मैं स्वयं दण्ड दूँगा।' यह कह कर उसके ऊपर चढ़ गया और चोंचों से हलके हलके प्रहार करने लगा, तथा लाये हुए रुधिर से उसे भिगोकर उसके बताये हुए ऋष्यमूक पर्वत पर परिवार सहित चला गया। इधर शत्रुओं के गुप्तचर का काम करने वाली कृकालिका ने यह सब उसके (मेघवर्ण) मन्त्री का संकट और मेघवर्ण का जाना उलूकराज से कहा कि तुम्हारा शत्रु इस समय भयभीत हो परिवार सहित कहीं चला गया। यह सुनकर उलूकराज सायङ्काल के समय मन्त्री और परिवार सहित कौवों को मारने के लिए रवाना हुआ। और (भृत्यों से) बोला—जल्दी करो, जल्दी करो, डरा हुआ शत्रु भागता हुआ बडे भाग्य से मिलता है। कहा भी है:—

भागने के समय एक और नवीन स्थान पर वास करने के समय दूसरा छिद्र (अपनी कमजोरी) करता हुआ शत्रु (उस समय) राजभृत्यों के व्यग्र होने के कारण शत्रु के अधीन हो जाता है—शत्रु के हाथ पड़ जाता है॥१२५॥

एवं ब्रुवाणः समन्तान्न्यग्रोधपादपमधः परिवेष्टय व्यवस्थितः। यावन्न कश्चिद्वायसो दृश्यते, तावच्छाखाग्रमधिरूढो हृष्टमना, बन्दिभिरभिष्टूयमानोऽरिमर्दनस्तान्परिजनान्प्रोवाच—'अहो! ज्ञायतां तेषां मार्गः, कतमेन मार्गेण प्रनष्टाः काकाः? तद्यावन्न दुर्गं समाश्रयन्ति, तावदेव पृष्ठतो गत्वा व्यापाद्या भवन्ति। उक्तं च—

वृत्तिमप्याश्रितः शत्रुरवध्यः स्याज्जिगीषुणा।
किं पुनः संश्रितो दुर्गं सामग्र्या परया युतम्॥ १२६॥

ऐसा कहता हुआ न्यग्रोध वृक्ष के निचले भाग की चारों ओर से घेर कर बैठ गया। जब कोई कौवा दिखाई न पड़ा, तब अरिमर्दन प्रसन्न-चित्त हो शाखा पर चढ़ गया, (उस समय) बन्दी लोग स्तुति करने लगे। तब वह अपने भृत्यों से बोला—उनके रास्ते का पता लगाओ, कौवे कौन से रास्ते से भागे हैं? जब तक वे दुर्ग का आश्रय न लें तभी तक पीछे से जाकर मारे जा सकते हैं। कहा भी है :—

वृति (खेत की वाड़) का भी सहारा पाकर शत्रु अजेय हो जाता है फिर उत्तम युद्ध सामग्री से सुसज्जित दुर्ग का आश्रय पाने पर तो कहना ही क्या है?॥ १२६॥

अथैतस्मिन्प्रस्तावे स्थिरजीवी चिन्तयामास—'यदेतेऽस्मच्छत्रवोऽनुपलब्धास्मद्वृत्तान्ता यथागतमेव यान्ति ततो मया न किञ्चित्कृतं भवति। उक्तं च—

अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम्।
प्रारब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम्॥ १२७॥

जब यह बात उपस्थित हुई तब स्थिरजीवी सोचने लगा—ये हमारे शत्रु हमारा समाचार न जानकर जैसे आये थे वैसे ही वापिस जा रहे हैं, तब मेरा तो काम कुछ भी न हुआ। कहा भी है :—

कार्यों का प्रारम्भ ही न करना पहली बुद्धिमानी है और आरम्भ किये हुए काम को अच्छी तरह समाप्त करना दूसरा बुद्धि का चिह्न है॥ १२७॥

तद्वरमनारम्भो न चारम्भविघातः, तदहमेताञ्छब्दं संश्राव्यात्मानं दर्शयामि' इति विचार्य मन्दं मन्दं शब्दमकरोत्। तच्छ्रुत्वा ते सकला अप्युलूकास्तद्वधाय प्रजग्मुः। अथ तेनोक्तम्-'अहो! अहं स्थिरजीवी नाम मेघवर्णस्य मन्त्री, मेघवर्णेनैवेदृशीमवस्थां नीतः, तन्निवेदयतात्म-

स्वामिने । तेन सह बहु वक्तव्यमस्ति । अथ तैर्निवेदितः स उलूकराजो विस्मयाविष्टस्तत्क्षणात्तस्य सकाशं गत्वा प्रोवाच—'भो भोः ! किमेतां दशां गतस्त्वम्, तत्कथ्यताम् ।' स्थिरजीवी प्राह—'देव ! श्रूयतां तदवस्थाकारणम् । अतीतदिने स दुरात्मा मेघवर्णो युष्मद्व्यापादितप्रभूतवायसानां पीडया युष्माकमुपरि कोपशोकग्रस्तो युद्धार्थं प्रचलित आसीत् । ततो मयाऽभिहितं 'स्वामिन् ! न युक्तं भवतस्तदुपरि गन्तुं, बलवन्त एते, बलहीनाश्च वयम् ।' उक्तं च—

बलीयसा हीनबलो विरोधं, न भूतिकामो मनसाऽपि वाञ्छेत् ।
न बध्यते वेतसवृत्तिरत्र, व्यक्तं प्रणाशोऽस्ति पतङ्गवृत्तेः ।।१२८।।

इसलिये किसी काम का आरम्भ न करना ही अच्छा लेकिन आरम्भ करके बीच में ही छोड़ देना अच्छा नहीं । अतः मैं शब्द करके अपने को इनके सामने प्रकट करूँ । यह सोचकर उसने धीरे-धीरे शब्द किया । उस (शब्द) को सुनकर सब उल्लू उसे मारने के लिये दौड़े । तब उस (स्थिरजीवी) ने कहा—मैं स्थिरजीवी नामक मेघवर्ण का मन्त्री हूँ । मेघवर्ण ने ही मेरी यह दशा की है, अपने स्वामी से कहो मुझे उसके साथ बहुत बातचीत करनी है । उनके द्वारा कहे जाने पर उलूकराज को उसे बड़ा आश्चर्य हुआ । वह तुरन्त उसके पास जाकर बोला—तेरी यह दशा कैसे हुई ? यह बताओ ।

स्थिरजीवी ने कहा—हे देव ! इस दशा का कारण सुनिये ! पिछले दिन वह दुष्ट मेघवर्ण आपके द्वारा मारे हुए अनेक कौवों की पीड़ा से आपके ऊपर क्रोध और शोक में भर कर युद्ध के लिये चलने लगा । तब मैंने कहा—स्वामिन् ! आपका उसके ऊपर आक्रमण उचित नहीं, क्योंकि वे बलवान् और हम निर्बल हैं । कहा भी है :—

अपनी भलाई चाहने वाले दुर्बल पुरुष को चाहिए कि वह बलवान् के साथ मन से भी विरोध करने की इच्छा न करे, इस संसार में बेंत की वृत्ति को धारण करने वाला (शत्रु के सामने नम्रता से व्यवहार करने वाला) नहीं मारा जाता परन्तु पतङ्ग के समान वृत्ति वाले (दीपक पर गिरने वाले कीड़ों के समान बलवान् शत्रु पर आक्रमण करने वाले) का नाश अवश्यम्भावी है ।। १२८ ।।

तत्तस्योपायनप्रदानेन सन्धिरेव युक्तः । उक्तं च—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा सर्वस्वमपि बुद्धिमान् ।
दत्त्वा हि रक्षयेत्प्राणान् रक्षितैस्तैर्धनं पुनः ।। १२९ ।।

इसलिये भेंट देकर उसके पास सन्धि करना ही युक्त है। कहा भी है—

बुद्धिमान् पुरुष शत्रु को बलवान् समझकर अपना सब कुछ देकर भी प्राणों की रक्षा करे क्योंकि प्राणों की रक्षा होने पर धन फिर भी मिल सकता है ॥ १२९ ॥

तच्छ्रुत्वा तेन दुर्जनकोपितेन त्वत्पक्षपातिनं मामाशङ्कमानेनेमां दशां नीतः। तत्तव पादौ साम्प्रतं मे शरणम्। किं बहुना विज्ञप्तेन? 'यावदहं प्रचलितुं शक्नोमि तावत्त्वां तस्यावासं नीत्वा सर्ववायसक्षयं विधास्यामि।' इति।

अथारिमर्दनस्तदाकर्ण्य पितृपितामहक्रमागतमन्त्रिभिः सार्धं मन्त्रयाञ्चक्रे। तस्य च पञ्च मन्त्रिणः, तद्यथा—रक्ताक्षः, क्रूराक्षः, दीप्ताक्षः, वक्रनासः, प्राकारकर्णश्चेति। तत्रादौ रक्ताक्षमपृच्छत्—भद्र! एष तावत्तस्य रिपोर्मन्त्री मम हस्तगतः। तत् किं क्रियताम्?' इति। रक्ताक्ष आहदेव! किमत्र चिन्त्यते। अविचारितमयं हन्तव्यः। यतः—

> हीनः शत्रुर्निहन्तव्यो यावन्न बलवान्भवेत्।
> प्राप्तस्वपौरुषबलः पश्चाद्भवति दुर्जयः ॥ १३० ॥

दुष्टों ने मेरे ऊपर (पहिले से ही) उसे कुपित कर रक्खा था, यह सुन कर वह मुझे तुम्हारा पक्षपाती समझने लगा और उसी ने मेरी यह दशा की है। अब तो आपके चरण ही मेरी शरण (रक्षक) हैं। मैं अधिक क्या निवेदन करूँ? जब तक मैं चलने में समर्थ हूँ तब तक तुमको उसके स्थान पर ले जाकर सब कौवों का नाश करूँगा।'

अरिमर्दन यह सुन कर वंशपरम्परा से प्राप्त अपने मन्त्रियों के साथ सलाह करने लगा। उसके पाँच मन्त्री थे। उनके नाम ये थे—रक्ताक्ष, क्रूराक्ष, दीप्ताक्ष, वक्रनास और प्राकारकर्ण। पहिले रक्ताक्ष से पूछा—'भद्र! यह शत्रु का मन्त्री मेरे हाथ पड़ गया है, अब क्या करना चाहिए?' रक्ताक्ष ने कहा— स्वामी, इसमें सोचने की क्या बात है? बिना विचारे इसे मार डालना चाहिए। क्योंकि—

दुर्बल शत्रु को तभी मार डालना चाहिए जब तक वह बलवान् न हो क्योंकि अपने पुरुषार्थ का सहारा पाकर पीछे वह दुर्जय हो जाता है ॥१३०॥

किं च 'स्वयमुपागता श्रीस्त्यज्यमाना शपती'ति लोके प्रवादः उक्तं च—

कालो हि सकृदभ्येति यन्नरं कालकांक्षिणम् ।
दुर्लभः स पुनस्तेन कालकर्माऽचिकीर्षता ॥ १३१ ॥

और भी, लोक में किंवदन्ती है कि स्वयं आई हुई लक्ष्मी का यदि त्याग किया जाय तो वह शाप देती है । कहा भी है :—

(अपनी उन्नति का) सुअवसर चाहने वाले पुरुष को (अपने जीवन में) वह सुअवसर एक बार प्राप्त होता है । उस समय जो पुरुष काम करना नहीं चाहता, वह फिर उसे प्राप्त नहीं होता ॥ १३१ ॥

श्रूयते च यथा—

चितिकां दीपितां पश्य फटां भग्नां ममैव च ।
भिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्धते ॥ १३२ ॥

अरिमर्दनः प्राह—'कथमेतत् ?' रक्ताक्षः कथयति—

जैसा कि सुना जाता है—

(हे विप्र !) जलती हुई चिता और घायल हुए मेरे फण को देखो जो प्रीति खण्डित होकर जोड़ी जाती है वह स्नेह प्रकट करने पर भी नहीं बढ़ती ॥ १३२ ॥

अरिमर्दन ने कहा—'यह कैसे ?' रक्ताक्ष ने कहा—

कथा ५

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने हरिदत्तो नाम ब्राह्मणः । तस्य च कृषिं कुर्वतः सदैव निष्फलः कालोऽतिवर्तते । अथैकस्मिन्दिवसे स ब्राह्मण उष्णकालावसाने घर्मार्त्तः स्वक्षेत्रमध्ये वृक्षच्छायायां प्रसुप्तोऽनतिदूरे वल्मीकोपरि प्रसारितं बृहत्फटायुक्तं भीषणं भुजङ्गं दृष्ट्वा चिन्त्यामास—नूनमेषा क्षेत्रदेवता मया कदाचिदपि न पूजिता । तेनेदं मे कृषिकर्म विफलीभवति । तदस्या अहं पूजामद्य करिष्यामि ।' इत्यवधार्य कुतोऽपि क्षीरं याचित्वा शरावे निक्षिप्य वल्मीकान्तिकमुपगत्योवाच—'भोः ! क्षेत्रपाल ! मयैतावन्तं कालं न ज्ञातं यत्त्वमत्र वससि । तेन पूजा न कृता । तत्साम्प्रतं क्षमस्वेति ।' एवमुक्त्वा दुग्धं च निवेद्य गृहाभिमुखं प्रायात् । अथ प्रातर्यावदागत्य पश्यति तावद् दीनारमेकं शरावे दृष्टवान् । एवञ्च प्रतिदिनमेकाकी समागत्य तस्मै क्षीरं ददाति, एकैकञ्च दीनारं गृह्णाति । अथैकस्मिन्दिवसे क्षीरनयनाय पुत्रं निरूप्य ब्राह्मणो ग्रामान्तरं जगाम । पुत्रोऽपि क्षीरं तत्र नीत्वा संस्थाप्य च पुनर्गृहं समायातः । दिनान्तरे तत्र

गत्वा दीनारकं दृष्ट्वा गृहीत्वा च चिन्तितवान् 'नूनं सौवर्णदीनारपूर्णो वल्मीकः। तदेनं हत्वा सर्वमेकवारं ग्रहीष्यामि' इत्येवं सम्प्रधार्यान्येद्युः क्षीरं ददता ब्राह्मणपुत्रेण सर्पो लगुडेन ताडितः। ततः कथमपि दैववशाद्-मुक्तजीवित एव रोषात्तमेव तीव्रविषदशनैस्तथाऽदशत् यथा सद्यः पञ्चत्वमुपागतः। स्वजनैश्च नातिदूरे क्षेत्रस्य काष्ठसंचयैः संस्कृतः। अथ द्वितीयदिने तस्य पिता समायातः। स्वजनेभ्यः सुतविनाशकारणं श्रुत्वा तथैव समर्थितवान्। अब्रवीच्च—

> **भूतान् यो नानुगृह्णाति ह्यात्मनः शरणागतान्।**
> **भूतार्थास्तस्य नश्यन्ति हंसाः पद्मवने यथा॥ १३३॥**

पुरुषैरुक्तं—'कथमेतत् ?' ब्राह्मणः कथयति—

किसी गाँव में हरिदत्त नाम का ब्राह्मण रहता था। खेती करते हुए हमेशा ही उसका समय निष्फल जाता था (कृषि कार्य में उसे कभी लाभ न होता था)। एक दिन वह ब्राह्मण गरमी के अन्त में धूप से पीड़ित हो अपने खेत के बीच वृक्ष की छाया में लेटा था उसने पास में ही वल्मीक के ऊपर फन फैलाये हुए भयानक सर्प को देख कर विचार किया—'इस क्षेत्रदेवता की मैंने कभी पूजा नहीं की, इसी से खेती में मुझे लाभ नहीं होता। इसलिये आज मैं इसकी पूजा करूँगा !' यह निश्चय कर कहीं से दूध माँग लाया और उसे कसोरे में रख कर वल्मीक के पास जाकर बोला—'हे क्षेत्ररक्षक (क्षेत्राधिपते !) मुझे अब तक मालूम नहीं था कि तुम यहाँ रहते हो। इसलिये पूजा नहीं की अब रक्षा करो।' यह कह और दूध देकर अपने घर की ओर चला गया। जब वह प्रातःकाल आया तब उसने कसोरे में रक्खी हुई एक मोहर देखी। इसी प्रकार प्रतिदिन एकाकी आकर उसे दूध देता और एक-एक मोहर लेता था। एक दिन वल्मीक पर दूध ले जाने के लिये अपना पुत्र नियुक्त कर ब्राह्मण दूसरे ग्राम को गया, पुत्र भी दूध वहाँ ले जाकर और रख कर घर चला आया। दूसरे दिन वहाँ जाकर उसने एक मोहर देखी उसे लेकर वह सोचने लगा—'निश्चय ही यह वल्मीक सोने की मोहरों से भरा हुआ है। इसलिये इसे (सर्प को) मार कर सब एक ही वार ले लूँ।' यह निश्चय कर प्रहार किया। भाग्य-वश नहीं मरा, उसने क्रोध से तेज विषैले (विष से भरे हुए) दाँतों से उसे ऐसा

काटा कि वह तुरन्त मर गया। कुटुम्बी लोगों ने क्षेत्र के पास ही लकड़ियों से उसका दाह-कर्म कर दिया। दूसरे दिन उसका पिता भी आ गया। घर के लोगों से पुत्र के विनाश का कारण सुन कर उसने भी उनका समर्थन किया (उसकी जिस प्रकार मृत्यु हुई वह उचित ही हुई, लोभ का फल ऐसा ही होता है), और कहा—

जो पुरुष अपनी शरण में आये हुए प्राणियों पर दया नहीं करता उसके निश्चित अर्थ इसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कि पद्मसरोवर में हंस नष्ट हो गये ॥ १३३ ॥

पुरुषों ने पूछा—'यह कैसे ?' ब्राह्मण ने कहा—

कथा ६

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चित्ररथो नाम राजा। तस्य योधैः सुरक्ष्यमाणं पद्मसरो नाम सरस्तिष्ठति तत्र च प्रभूता जाम्बूनदमया हंसास्तिष्ठन्ति। षण्मासे षण्मासे पिच्छमेकैकं परित्यजन्ति। अथ तत्र सरसि सौवर्णो बृहत्पक्षी समायातः। तैश्चोक्तः—'अस्माकं मध्ये त्वया न वस्तव्यम्। येन कारणेनास्माभिः षण्मासान्ते पिच्छैकैकदानं कृत्वा गृहीतमेतत्सरः।' एवञ्च किं बहुना, परस्परं द्वैधमुत्पन्नम्। स च राज्ञः शरणं गतोऽब्रवीत्—'देव ! एते पक्षिण एवं वदन्ति, यद् 'अस्माकं राजा किं करिष्यति ? न कस्याप्यावासं दद्मः।' मया चोक्तं—'न शोभनं युष्माभिरभिहितम्। अहं गत्वा राज्ञे निवेदयिष्यामि। एवं स्थिते देवः प्रमाणम्।' ततो राजा भृत्यानब्रवीत्—'भो भोः गच्छत, सर्वान्पक्षिणो गतासून् कृत्वा शीघ्रमानयत।' राजादेशानन्तरमेव प्रचेलुस्ते। अथ लगुडहस्तान् राजपुरुषान्दृष्ट्वा तत्रैकेन पक्षिणा वृद्धेनोक्तम्—'भोः ! स्वजनाः ! न शोभनमापतितम्। ततः सर्वैरेकमतीभूयोत्पतितव्यम्।' तैश्च तथाऽनुष्ठितम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'भूतान् यो नानुगृह्णाति।' इति।

किसी नगर में चित्ररथ नामक राजा रहता था। उसका पद्मसर नाम का एक सरोवर था, सिपाही उसकी रक्षा किया करते थे। उसमें बहुत से सोने के हंस रहते थे। वे छठे-छठे महीने (सोने का) एक-एक पंख दिया करते थे। एक समय उस तालाब में सोने का एक बड़ा पक्षी आया। उन्होंने (सर में रहने वाले पक्षियों ने) कहा—'तुम हमारे बीच में मत रहो, क्योंकि हम लोगों ने हर छठे महीने एक-एक पिच्छ (पंख) देकर यह तालाब ले लिया है।' अधिक

क्या ? इस प्रकार उनमें झगड़ा उत्पन्न हो गया। उसने राजा के पास जाकर कहा—'हे राजन् ! ये पक्षी कहते हैं कि राजा हमारा क्या करेगा ? हम किसी को नहीं रहने देते।' मैंने कहा—'आप लोगों ने यह बात उचित नहीं कहीं, मैं राजा से जाकर निवेदन करूँगा। अब आप जैसा उचित समझें (वैसा किया जाय)।' तब राजा ने भृत्यों से कहा—'जाओ, सब पक्षियों को मार कर जल्दी ले आओ।' राजा की आज्ञा पाते ही वे चल पड़े। लकड़ी हाथ में लिये हुए राजपुरुषों को (आता हुआ) देख कर उनमें से एक वृद्ध पक्षी ने कहा—'स्वजनो ! बड़ा अनर्थ उपस्थित हुआ इसलिये सबको एक मत होकर (बिना किसी प्रकार का विवाद या विचार किये हुये) उड़ जाना चाहिए।' उन्होंने वैसा ही किया। इसलिये मैं कहता हूँ—'जो प्राणियों पर दया नहीं करता।'

इत्युक्त्वा पुनरपि ब्राह्मणः प्रत्यूषे क्षीरं गृहीत्वा तत्र गत्वा तारस्वरेण सर्पमस्तौत्। तदा सर्पश्चिरं वल्मीकद्वारान्तर्लीन एव ब्राह्मणं प्रत्युवाच—'त्वं लोभादत्रागतः पुत्रशोकमपि विहाय। अतः परं तव मम च प्रीतिर्नोचिता। तव पुत्रेण यौवनोन्मादेनाहं ताडितः मया स दृष्टः। कथं मया लगुडप्रहारो विस्मर्तव्यः, त्वया च पुत्रशोकदुःखं कथं विस्मर्तव्यम्।' इत्युक्त्वा बहूमूल्यं हीरकमणिं तस्मै दत्वा–'अतः परं पुनस्त्वया मागन्तव्यम्' इति पुनरुक्त्वा विवरान्तर्गतः। ब्राह्मणश्च मणिं गृहीत्वा पुत्रबुद्धिं निन्दन्स्वगृहमागतः। अतोऽहं ब्रवीमि–'चितिकां दीपितां पश्य' इति। 'तदस्मिन्हतेऽयत्नादेव राज्यमकण्टकं भवतो भवति।' तस्यैतद्वचनं श्रुत्वा क्रूराक्षं पप्रच्छ—'भद्र ! त्वं तु किं मन्यसे ?' सोऽब्रवीत्—'देव ! निर्दयमेतद्यदनेनाभिहितम्।' यत्कारणं शरणागतो न बध्यते सुष्ठु। खल्विदमाख्यानम्—

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः॥ १३४॥

अरिमर्दनोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' क्रूराक्षः कथयति—

यह कह कर फिर भी ब्राह्मण प्रातःकाल दूध लेकर वहाँ (वल्मीक पर) गया और ऊँचे स्वर से सर्प की स्तुति करने लगा। तब सर्प बहुत देर के बाद वल्मीक के द्वार के अन्दर छिपे हुए ही ब्राह्मण से बोला—'तू लोभवश पुत्रशोक भी छोड़

कर यहाँ आया है । अब आगे से तुम्हारी और मेरी प्रीति उचित नहीं है। यौवन से उन्मत्त हो तेरे पुत्र ने मुझे मारा और मैंने उसे काटा । कैसे मैं दण्डे की चोट भूल सकता हूँ और तू पुत्रशोकजन्य दुःख कैसे भूल सकता है ?' यह कह, और बहुमूल्य हीरा उसे देकर 'अब से यहाँ मत आना' ऐसा पुनः कह कर अपने बिल के अन्दर घुस गया । ब्राह्मण भी उस हीरा को लेकर पुत्र की बुद्धि की निन्दा करते हुए अपने घर गया । इसलिए मैं कहता हूँ—'जलती हुई चिता देखकर' आदि । उसे मारने पर विना आयास ही आपका राज्य निष्कण्टक होगा । उसके वचन को अरिमर्दन ने सुनकर क्रूराक्ष से पूछा—'हे भद्र ! तुम्हारा क्या विचार है ?' वह (क्रूराक्ष) बोला—'महाराज ! इसने तो निर्दयता की बात कही । क्योंकि शरणागत नहीं मारे जाते । यह सुन्दर कथा है :—

सुना जाता है कि किसी कबूतर ने शरणागत शत्रु की पूजा (सत्कार) की और अन्त में अपने मांस से उसकी क्षुधा शान्ति की ।। १३४ ।।

अरिमर्दन बोला—'यह कैसे ?' क्रूराक्षने कहा—

कथा ७

कश्चित्क्षुद्रसमाचारः प्राणिनां कालसन्निभः ।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ।। १३५ ।।

एक घने वन में कोई बहेलिया घूम रहा था जिसका व्यवहार बहुत नीच था, जो प्राणियों के लिये यम के समान और अत्यन्त क्रूर था ।। १३५ ।।

नैव कश्चित्सुहृत्तस्य न सम्बन्धी न बान्धवः ।
स तैः सर्वैः परित्यक्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा ।। १३६ ।।

उस निर्दय कार्य के कारण न तो उसका कोई मित्र था, न सम्बन्धी और न कोई बन्धु ही था । उन सबने उसको छोड़ दिया था ।। १३६ ।।

अथवा—

ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिनां प्राणनाशकाः ।
उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ।। १३७ ।।

जो मनुष्य कठोर, दुराचारी और प्राणियों के प्राण हरण करने वाले होते हैं वे प्राणियों के लिये सर्प के समान उद्वेगकारक होते हैं ।। १३७ ।।

स पञ्जरकमादाय पाशं च लगुडं तथा।
नित्यमेव वनं याति सर्वप्राणिविहिंसकः ॥ १३८ ॥

सब प्राणियों की हिंसा में तत्पर वह व्याध पिंजड़ा, जाल (रस्सी) तथा दण्डा लेकर प्रतिदिन वन को जाया करता था ॥ १३८ ॥

अन्येद्युर्भ्रमतस्तस्य वने कापि कपोतिका।
जाता हस्तगता तां स प्राक्षिपत्पञ्जरान्तरे ॥ १३९ ॥

एक दिन एक कबूतरी वन में घूमते हुए उस व्याध के हाथ पड़ गई उसने उसे पिंजड़े में बन्द कर दिया ॥ १३९ ॥

अथ कृष्णा दिशः सर्वा वनस्थस्याभवन् घनैः।
वातवृष्टिश्च महती क्षयकाल इवाभवत् ॥ १४० ॥

इसके अनन्तर जब कि वह वन में घूम रहा था उसी समय सब दिशाएँ मेघों से काली हो गईं–भर गईं और प्रलयकाल के समान बड़ा भारी आँधी-पानी बरसने लगा ॥ १४० ॥

ततः स त्रस्तहृदयः कम्पमानो मुहुर्मुहुः।
अन्वेषयन्परित्राणमाससाद वनस्पतिम् ॥ १४१ ॥

अनन्तर वह व्याध भयभीत हुआ और बार-बार काँपता हुआ, अपनी रक्षा के लिये कोई आश्रय तलाश करते हुए एक महावृक्ष के पास पहुँचा ॥ १४१ ॥

मुहूर्तं पश्यते यावद्वियद् विमलतारकम्।
प्राप्य वृक्षं वदत्येवं योऽत्र तिष्ठति कश्चन ॥ १४२ ॥
तस्याहं शरणं प्राप्तः स परित्रातु मामिति।
शीतेन भिद्यमानं च क्षुधया गतचेतनम् ॥१४३॥ (युग्मम्)

जब वह कुछ देर तक देखता रहा, तभी आकाश में तारे चमकने लगे (वर्षा और हवा रुक जाने के कारण आकाश निर्मल हो गया) तब वह वृक्ष से पास जाकर कहने लगा–'जो कोई भी (प्राणी) इस वनस्पति पर स्थित हो मैं उसी की शरण में आया हूँ, वह शीत से पीड़ित और भूख से मूर्च्छितप्राय मेरी रक्षा करे ॥ १४२–१४३ ॥

अथ तस्य तरोः स्कन्धे कपोतः सुचिरोषितः।
भार्याविरहितस्तिष्ठन्विललाप सुदुःखितः ॥ १४४ ॥

उसी वृक्ष की एक शाखा पर कोई कबूतर बहुत दिनों से रहता था। वह (इस समय) पत्नी-वियोग से व्याकुल हो विलाप करने लगा॥ १४४॥

वातवर्षो महानासीन्न चागच्छति मे प्रिया।
तया विरहितं ह्येतच्छून्यमद्य गृहं मम॥ १४५॥

वायुसहित बड़ी वर्षा हो रही थी और मेरी प्रियपत्नी आयी नहीं (कहीं उसका कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया)। उससे रहित आज मेरा यह घर सूना-सा प्रतीत होता है॥ १४५॥

पतिव्रता पतिप्राणा पत्युः प्रियहिते रता।
यस्य स्यादीदृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि॥ १४६॥

साध्वी, प्राणों के समान पति को चाहने वाली और पति के प्रिय तथा हितकारी कार्य में तत्पर स्त्री जिस पुरुष की पत्नी हो वह पुरुष इस संसार में धन्य है॥ १४६॥

'न गृहं गृहमि'त्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं हि गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम्॥ १४७॥

घर (मकान) को विद्वान् लोग घर नहीं कहते, पत्नी ही घर कहलाती है क्योंकि भार्या-शून्य गृह वन के समान होता है॥ १४७॥

पञ्जरस्था ततः श्रुत्वा भर्तुर्दुःखान्वितं वचः।
कपोतिका सुसन्तुष्टा वाक्यं चेदमथाऽऽह सा॥ १४८॥

तब पींजड़े में बैठी हुई कबूतरी पति के दुःखपूर्ण वचन सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई और यह वचन कहने लगी॥ १४८॥

'न सा स्त्री'त्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः॥ १४९॥

जिस स्त्री पर पति प्रसन्न नहीं होता उसे स्त्री नहीं मानना चाहिए। पति के प्रसन्न होने पर स्त्रियों के सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं॥ १४९॥

दावाग्निना विदग्धेव सपुष्पस्तबका लता।
भस्मीभवतु सा नारी यस्यां भर्ता न तुष्यति॥ १५०॥

जिस स्त्री पर पति की प्रीति नहीं वह स्त्री वन की अग्नि से फूलों के गुच्छों के सहित जली हुई लता के समान भस्म हो जावे॥ १५०॥

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ १५१ ॥

पिता, भाई और पुत्र ये सब स्त्रियों को परिमित (सुख और धन) ही देते हैं परन्तु अपरिमित (धन और सुख) के देने वाले पति की कौन स्त्री पूजा नहीं करेगी ॥ १५१ ॥

पुनश्चाब्रवीत्—

शृणुष्वावहितः कान्त ! यत्ते वक्ष्याम्यहं हितम् ।
प्राणैरपि त्वया नित्यं संरक्ष्यः शरणागतः ॥ १५२ ॥

हे प्रिय ! तुम्हारा हितकारी वचन जो मैं कह रही हूँ उसे तुम सावधान होकर सुनो । शरण में आये हुए जन की रक्षा तुम्हें अपने प्राण देकर भी करनी चाहिए ॥ १५२ ॥

एष शाकुनिकः शेते तवावासं समाश्रितः ।
शीतार्तश्च क्षुधार्तश्च पूजामस्मै समाचर ॥ १५३ ॥

सर्दी और भूख से पीड़ित यह व्याध तेरे घर आकर जमीन पर पड़ा है तुम इसकी पूजा करो ॥ १५३ ॥

श्रूयते च—

यः सायमतिथिं प्राप्तं यथाशक्ति न पूजयेत् ।
तस्यासौ दुष्कृतं दत्त्वा सुकृतं चापकर्षति ॥ १५४ ॥

जो मनुष्य सायङ्काल के समय घर पर आये हुए अतिथि का सत्कार नहीं करता, वह अतिथि उसको अपना पाप देकर उसका पुण्य ले लेता है ॥१५४॥

मा चास्मै त्वं कृथा द्वेषं बद्धाऽनेनेति मत्प्रिया ।
स्वकृतैरेव बद्धाऽहं प्राक्तनैः कर्मबन्धनैः ॥ १५५ ॥

और, तुम इस पर द्वेष मत करो कि इसने मेरी प्रिया को बाँधा है, क्योंकि मैं तो अपने ही पूर्व किये हुए कर्मरूपी पाशों से बँधी हूँ ॥ १५५ ॥

दारिद्र्यरोगदुःखानि बन्धनव्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥ १५६ ॥

दरिद्रता, बीमारी और दुःख तथा पाश आदि में बँधना और विपत्तियाँ, ये सब प्राणियों को अपने अपराध (दोष) रूपी वृक्ष के फल भोगने पड़ते हैं ॥१५६॥

तस्मात्त्वं द्वेषमुत्सृज्य मद्बन्धनसमुद्भवम् ।
धर्मे मनः समाधाय पूजयैनं यथाविधि ॥ १५७ ॥

इसलिये तुम मेरे बन्धन में पड़ने के कारण उत्पन्न द्वेष छोड़कर और अपने कर्तव्य में मन लगाकर इस व्याध की शास्त्रानुसार पूजा करो ॥ १५७ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
उपगम्य ततोऽधृष्टः कपोतः प्राह लुब्धकम् ॥ १५८ ॥

अनन्तर अपनी पत्नी कपोती के धर्म और युक्ति से परिपूर्ण उस वचन को सुनकर वह कबूतर व्याध के पास जा नम्रतापूर्वक बोला ॥ १५८ ॥

भद्र ! सुस्वागतं तेऽस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते ।
सन्तापश्च न कर्तव्यः स्वगृहे वर्तते भवान् ॥ १५९ ॥

हे भद्र ! आपका स्वागत हो, आप कहें, मैं आपका क्या करूँ, आप अपने मन में खेद न करें, आप अपने ही घर में स्थित हैं ॥ १५९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच विहङ्गमम् ।
कपोत ! खलु शीतं मे हिमत्राणं विधीयताम् ॥ १६० ॥

उसका यह वचन सुन वह व्याध पक्षी से बोला—हे कपोत ! मुझे सर्दी सता रही है अतः शीत से मेरी रक्षा करो ॥ १६० ॥

स गत्वाऽङ्गारकं नीत्वा पातयामास पावकम् ।
ततः शुष्केषु पर्णेषु तमाशु समदीपयत् ॥ १६१ ॥

तब वह कबूतर कहीं जाकर एक अंगारा ले आया और उसने सूखे पत्तों पर उसे डाल दिया और शीघ्र ही प्रज्वलित कर दिया ॥ १६२ ॥

सुसन्दीप्तं ततः कृत्वा तमाह शरणागतम् ।
प्रतापयस्व विश्रब्धं स्वगात्राण्यत्र निर्भयः ॥ १६२ ॥

अनन्तर अग्नि को अच्छी तरह प्रदीप्त कर उस कपोत ने अतिथि से कहा—हे अतिथे ! तुम निर्भय हो अच्छी तरह अपने अङ्ग को सेको ॥ १६२ ॥

उद्गतेन च जीवामो वयं सर्वे वनौकसः ।
न चास्ति विभवः कश्चिन्नाशये येन ते क्षुधम् ॥ १६३ ॥

हम सब वनवासी दैवयोग से प्राप्त वस्तु पर निर्भर रहते हैं इसलिये मेरे पास कुछ सम्पत्ति नहीं है जिससे तुम्हारी भूख मिटा सकूं ॥ १६३ ॥

सहस्रं भरते कश्चिच्छतमन्यो दशापरः ।
मम त्वकृतपुण्यस्य क्षुद्रस्यात्माऽपि दुर्भरः ॥ १६४ ॥

कोई पुरुष हजार, कोई सौ और कोई दस प्राणियों का पालन करता है ।

मैंने कोई पुण्य कार्य नहीं किया इसलिये मैं ऐसा अभागा हूँ कि अपना पेट भी मुश्किल से भर पाता हूँ ॥ १६४ ॥

एकस्याप्यतिथेरन्नं यः प्रदातुं न शक्तिमान् ।
तस्यानेकपरिक्लेशे गृहे किं वसतः फलम् ? ॥ १६५ ॥

जो पुरुष एक भी अतिथि को भोजन देने की शक्ति नहीं रखता, उस पुरुष के अनेक दुःखों से परिपूर्ण घर में रहने से क्या लाभ ? ॥ १६५ ॥

तत्तथा साधयाम्येतच्छरीरं दुःखजीवितम् ।
यथा भूयो न वक्ष्यामि 'नास्ती'त्यर्थिसमागमे ॥ १६६ ॥

इसलिये दुःखपरिपूर्ण इस शरीर को ऐसा कर दूँ (नष्ट कर दूँ) जिससे फिर कभी याचकों के आने पर 'नहीं है' ऐसा न कहूँ ॥ १६६ ॥

स निनिन्द किलात्मानं न तु तं लुब्धकं पुनः ।
उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ १६७ ॥

उस कबूतर ने अपनी ही निन्दा की (अतिथि को भोजन न दे सकने के कारण) परन्तु (स्त्री को पकड़ने पर भी) उस व्याध की निन्दा न की । फिर बोला तुम थोड़ी देर प्रतीक्षा करो मैं तुम्हें तृप्त करूँगा ॥ १६७ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
तमग्निं सम्परिक्रम्य प्रविवेश स्ववेश्मवत् ॥ १६८ ॥

धर्मात्मा वह कबूतर ऐसा कह कर प्रसन्नमन से उस अग्नि की प्रदक्षिणा कर अपने घर के समान उसमें प्रविष्ट हुआ ॥ १६८ ॥

ततस्तं लुब्धको दृष्ट्वा कृपया पीडितो भृशम् ।
कपोतमग्नौ पतितं वाक्यमेतदभाषत ॥ १६९ ॥

अनन्तर अग्नि में गिरा हुआ उस कबूतर को देखकर व्याध को उस पर बड़ी दया आई और वह यह कहने लगा ॥ १६९ ॥

यः करोति नरः पापं न तस्यात्मा ध्रुवं प्रियः ।
आत्मना हि कृतं पापमात्मनैव हि भुज्यते ॥ १७० ॥

जो मनुष्य पाप करता है निश्चय ही उसे अपनी आत्मा प्रिय नहीं है क्योंकि स्वयं किया हुआ पाप स्वयं ही भोगना पड़ता है । (पाप का फल हमेशा दुःख ही होता है और दुःख कोई भोगना नहीं चाहता, यदि आत्मा प्रिय हो तो उसे दुःख भोगने का साधन क्यों उपस्थित करे) ॥ १७० ॥

सोऽहं पापमतिश्चैव पापकर्मरतः सदा।
पतिष्यामि महाघोरे नरके नात्र संशयः॥ १७१॥

दुष्ट बुद्धि और सदा दुष्कर्म में फँसा हुआ मैं महाभयङ्कर नरक में गिरूँगा इस में जरा भी सन्देह नहीं है॥ १७१॥

नूनं मम नृशंसस्य प्रत्यादर्शः सुदर्शितः।
प्रयच्छता स्वमांसानि कपोतेन महात्मना॥ १७२॥

निश्चय ही इस महात्मा कपोत ने अपना मांस (मुझे) देते हुए मुझ निर्दयी के सामने (दया) एक अच्छा उदाहरण उपस्थित किया॥ १७२॥

अद्य प्रभृति देहं स्वं सर्वभोगविवर्जितम्।
तोयं स्वल्पं यथा ग्रीष्मः शोषयिष्याम्यहं पुनः॥ १७३॥

आज से मैं भी सब प्रकार के सुख भोग छोड़ कर अपने शरीर को इस प्रकार सुखा दूँगा जैसे कि ग्रीष्म ऋतु थोड़े पानी को सुखा देती है॥ १७३॥

शीतवातातपसहः कृशाङ्गो मलिनस्तथा।
उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये धर्ममुत्तमम्॥ १७४॥

अब मैं सर्दी, वायु और गरमी सहता हुआ, शरीर को कृश करके अपने देह की स्वच्छता की भी परवाह न करके नाना प्रकार के उपवासों द्वारा धर्म का पालन करूँगा॥ १७४॥

ततो यष्टिं शलाकां च जालकं पञ्जरं तथा।
बभञ्ज लुब्धको दीनां कापोतीञ्च मुमोच ताम्॥ १७५॥

अपना विचार स्थिर करके उस बहेलिये ने लाठी, शलाका, जाल तथा पींजरा तोड़ दिया और उस दीन कबूतरी को भी छोड़ दिया॥ १७५॥

लुब्धकेन ततो मुक्ता दृष्ट्वाऽग्नौ पतितं पतिम्।
कपोती विललापार्त्ता शोकसन्तप्तमानसा॥ १७६॥

अनन्तर जब बहेलिया ने उस कबूतरी को छोड़ दिया तब अग्नि में पड़े हुए पति को देख, दुःखी हो शोक के कारण व्याकुल मन से विलाप करने लगी।१७६

न कार्यमद्य मे नाथ! जीवितेन त्वया विना।
दीनायाः पतिहीनायाः किं नार्या जीविते फलम्॥ १७७॥

हे स्वामिन्! आज आपके बिना मेरे जीने का कोई फल नहीं है क्योंकि पति से वियुक्त अत एव दीन स्त्री के प्राणधारण से क्या लाभ है?॥ १७७॥

मानो दर्पस्त्वहङ्कारः कुलं पूजा च बन्धुषु ।
दासभृत्यजनेष्वाज्ञा वैधव्येन प्रणश्यति ।। १७८ ।।

वैधव्य से स्त्रियों का मानसिक तेज (तेजस्विता), (धनादि का) गर्व, उत्तम वंश में उत्पन्न होना, कुटुम्बिजनों का (अपने प्रति) आदरभाव और नौकर-चाकरों पर प्रभुत्व यह सब कुछ नष्ट हो जाता है ।। १७८ ।।

एवं विलप्य बहुशः कृपणं भृशदुःखिता ।
पतिव्रता सुसन्दीप्तं तमेवाग्निं विवेश सा ।। १७९ ।।

अत्यन्त दुःखित पतिव्रता वह कपोती इस प्रकार बार-बार दीनतापूर्वक विलाप करके जलती हुई उसी अग्नि में प्रविष्ट हो गई ।। १७९ ।।

ततो दिव्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिता ।
भर्तारं सा विमानस्थं ददर्श स्वं कपोतिका ।। १८० ।।

अनन्तर उस कबूतरी ने दिव्य वस्त्र धारण कर और मनोहर भूषणों से अलङ्कृत हो विमान में बैठे हुए अपने पति को देखा ।। १८० ।।

सोऽपि दिव्यतनुर्भूत्वा यथार्थमिदमब्रवीत् ।
अहो मामनुगच्छन्त्या कृतं साधु शुभे ! त्वया ।। १८१ ।।

यह कबूतर भी दिव्य शरीर धारण करके शास्त्रानुसारी यह वचन कहने लगा—हे शुभे ! तुमने मेरा अनुसरण करते हुए बहुत अच्छा किया ।।१८१।।

तिस्रः कोटयोऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे ।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति ।। १८२ ।।

जो स्त्री (मृत) पति का अनुसरण करती है वह साढ़े तीन करोड़ जितने कि मनुष्य शरीर में रोम (बाल) है उतने समय (वर्ष) तक स्वर्ग में रहती है ।१८२।

कपोतदेहः सूर्यास्ते प्रत्यहं सुखमन्वभूत् ।
कपोतदेहवत्सासीत् प्राक्पुण्यप्रभवं हितम् ।। १८३ ।।

वह दिव्य शरीरधारी कपोत सूर्यास्त होने पर रात्रि में (भी) प्रतिदिन आनन्द भोगता था और वह कबूतरी भी अपने पति के समान सुख भोगने लगी क्योंकि उन दोनों को वह दिव्य शरीर पूर्वजन्म के पुण्यों के प्रभाव से मिला था ।। १८३ ।।

हर्षाविष्टस्ततो व्याधो विवेश च वनं घनम् ।
प्राणिहिंसां परित्यज्य बहुनिर्वेदवान् भृशम् ।। १८४ ।।

अनन्तर प्रसन्नचित्त वह व्याध (संसार के प्रति) अत्यन्त विरक्त हो प्राणि-हिंसा छोड़कर (तप करने के लिये) घने वन में प्रविष्ट हुआ ॥ १८४ ॥

तत्र दावानलं दृष्ट्वा विवेश विरताशयः ।
निर्दग्धकल्मषो भूत्वा स्वर्गसौख्यमवाप्तवान् ॥ १८५ ॥

उस व्याध की सब वासनाएँ (इच्छाएँ) निवृत्त हो चुकी थीं अतः वह उस वन में दावानल देख उसमें प्रविष्ट हो गया और सब पापों से मुक्त हो स्वर्ग का आनन्द भोगने लगा ॥ १८५ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'श्रूयते हि कपोतेन' इत्यादि ।

तच्छ्रुत्वारिमर्दनो दीप्ताक्षं पृष्टवान्—'एवमवस्थिते किं भवान् मन्यते ?' सोऽब्रवीत्—'देव ! न हन्तव्य एवायम् ।

इसलिए मैं कहता हूँ—'सुना जाता है कि कबूतर ने' इत्यादि ।

यह सुनकर अरिमर्दन ने दीप्ताक्ष से पूछा—'ऐसी दशा में आपका क्या मत है ?' उसने कहा—'देव ! यह मारने योग्य नहीं है ।'

यतः—

या ममोद्विजते नित्यं सा ममाद्याऽवगूहते ।
प्रियकारक ! भद्रन्ते यन्ममाऽस्ति हरस्व तत् ॥ १८६ ॥

क्योंकि—जो मुझे दुःखित करती थी (वृद्धपति होने के कारण घृणा करती थी और कभी मुझसे अच्छी तरह बोलती भी नहीं) वह आज मुझे (तुम्हारे भय के कारण) इस प्रकार गाढ़ आलिङ्गन कर रही है। इसलिये हे प्रिय करने वाले (चोर !) जो वस्तु मेरे घर में है उन सबको चुरा ले जाओ और तुम्हारा कल्याण हो ॥ १८६ ॥

चौरेण चाऽप्युक्तम्—

हर्तव्यं ते न पश्यामि हर्तव्यं चेद्भविष्यति ।
पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नाऽवगूहते ॥ १८७ ॥

यह सुनकर चोर ने भी कहा—

(हे सेठ जी !) इस समय आपके घर में चुराने योग्य कोई वस्तु नहीं देखता हूँ। जब तुम्हारे घर में चुराने योग्य वस्तु होगी तो मैं उसे चुराने के लिये फिर आऊँगा। यदि यह तुम्हारी स्त्री तुम्हें आलिङ्गन न करे। (जब यह तुम्हारी स्त्री तुमको आलिङ्गन और प्यार नहीं करेगी तब मैं चुराने के

लिए तुम्हारे घर आऊँगा। ऐसा उत्तर देकर चोर गया। उसके भय से भयभीत होकर वह स्त्री अपने पति से सदा प्रेम करने लगी)॥ १८७॥

अरिमर्दनः पृष्टवान्—'का च नाऽवगूहते ? कश्चाऽयं चौरः ? इति विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि।' दीप्ताक्षः कथयति—

अरिमर्दन ने पूछा—'हे भद्र ! कौन आलिङ्गन नहीं करती है और यह चोर भी कौन है ? यह विस्तारपूर्वक मैं सुनना चाहता हूँ।' दीप्ताक्ष ने कहा—

कथा ८

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कामातुरो नाम वृद्धवणिक्। तेन च कामोपहतचेतसा, मृतभार्येण काचिन्निर्धनवणिक्सुता, प्रभूतं धनं दत्त्वोद्वाहिता। अथ सा दुःखाभिभूता तं वृद्धवणिजं द्रष्टुमपि न शशाक। युक्तञ्चैतत्—

किसी नगर में कामातुर नामक वृद्ध बनिया रहता था। उसकी पहली स्त्री मर गई थी, उसकी बुद्धि काम-वासना से नष्ट हो गयी थी। इसलिये उस बनिये ने किसी दरिद्र बनिये को अधिक धन देकर उसकी कन्या से विवाह किया था। वृद्ध से विवाह करने के कारण वह स्त्री बहुत दुःखित थी और उस वृद्ध पति बनिये को देखना भी नहीं चाहती थी। यह ठीक ही है :—

श्वेतं पदं शिरसि यत्तु शिरोरुहाणां स्थानं परं परिभवस्य तदेव पुंसाम्।
आरोपितास्थिशकलं परिहृत्य यान्ति चाण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः॥

वृद्ध होने के कारण जिस मनुष्य के सिर के बालों पर श्वेतता आ जाती है वही युवतियों के परम अपमान और तिरस्कार का स्थान होता है। श्वेततायुक्त अस्थिखण्डमात्र अवशिष्ट उस वृद्ध को युवतियाँ इस प्रकार त्याग देती हैं जिस प्रकार प्यास से व्याकुल पुरुष चाण्डाल (डोम, चमार) के कुएँ की उस पर अस्थिखण्ड देखकर त्याग देते हैं। (प्राचीनकाल में छोटे जाति के कुएँ पर हड्डी रखी जाती थी। जिसे देखकर लोग समझ जाते थें कि यह नीच जाति का कुआँ है)॥ १८८॥

तथा च—

गात्रं सङ्कुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशङ्गता।
दृष्टिर्भ्राम्यति रूपमप्युपहतं वक्त्रञ्च लालायते॥

वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते ।
धिक्कष्टं जरयाभिभूतपूरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥ १८९ ॥

और भी—वृद्ध होने पर मनुष्य का शरीर संकुचित हो जाता है, गति धीमी हो जाती हैं, दाँत गिर जाते हैं, आँखों से नहीं दीखता है, रूप-सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, मुख से लार बहने लगती है, भाई-बन्धु लोग उसके वचन को नहीं सुनते हैं, पत्नी सेवा नहीं करती है और पुत्र उसको तिरस्कार करता है। ऐसी कष्टदायिनी वृद्धावस्था से तिरस्कृत पुरुष को अधिक कष्ट होता है। इसलिए दुःखदायिनी वृद्धावस्था को धिक्कार है ॥ १८९ ॥

अथ कदाचित् सा तेन सहैकशयने पराङ्मुखी यावत्तिष्ठति तावद् गृहे चौरः प्रविष्टः। साऽपि तं चौरं दृष्ट्वा भयव्याकुलिता वृद्धमपि तं पतिं गाढं समालिलिङ्ग। सोऽपि विस्मयात् पुलकाञ्चितसर्वंगात्रश्चिन्तयामास—अहो ! किमेषा मामद्यावगूहते ?' यावन्निपुणतया पश्यति तावत् गृहकोणैकदेशे चौरं दृष्ट्वा, व्यचिन्तयत्—'नूनमेषाऽस्य भयान्मामालिङ्गति' इति ज्ञात्वा तं चौरमाह—'या ममोद्विजते' इत्यादि।

किसी दिन एक शय्या पर उस बनिये की स्त्री उस बनिये के साथ अपना मुँह फेरकर सोई थी। उसी समय घर में एक चोर घुसा। बनिये की स्त्री ने चोर को देखकर भय से आकुल-व्याकुल होकर सहसा वृद्ध भी उस पति को गाढ आलिङ्गन किया। वह भी आश्चर्य से चकित होकर सोचने लगा—'क्यों यह आज मुझे इस तरह गाढ आलिङ्गन कर रही है ?' जब वह अच्छी तरह इधर उधर देखता है तो घर के एक कोने में उसने चोर को देखा और विचार किया—'निश्चय ही इसने इसके भय से मुझे आलिङ्गन किया है।' यह जानकर उसने चोर से कहा—

जो मुझे दुःखित करती थी—इत्यादि (पृ. ६१ देखें)

तच्छ्रुत्वा चौरोप्याह...

'हर्तव्यं ते न पश्यामि' इत्यादि—

बनिये के वचन को सुनकर चोर ने कहा—

हे सेठ जी ! इस समय आपके घर में—इत्यादि (पृ. ६१ देखें)

तस्माच्चौरस्याप्युपकारः श्रेयश्चिन्त्यते किं पुनः शरणागतस्य।

अपि चायं तैर्विप्रकृतोऽस्माकमेव पुष्टये भविष्यति तदीयरन्ध्रदर्शनाय चेति अनेन कारणेनायमवध्य इति ।'

एतदाकर्ण्यारिमर्दनोऽन्यं सचिवं वक्रनासं पप्रच्छ-'भद्र ! साम्प्रतमेवं स्थिते किं करणीयमिति ?' सोऽब्रवीत्—'देव ! अवध्योऽयम् ।' यतः—

शत्रवोऽपि हितायैव विवदन्तः परस्परम् ।
चौरेण जीवितं दत्तं राक्षसेन तु गोयुगम् ।। १९० ।।

अरिमर्दनः प्राह—'कथमेतत् ?' वक्रनासः कथयति—

इसलिये उपकारी चोर की भी मंगल-कामना की जाती है फिर शरणागत का तो कहना ही क्या है ? दूसरी बात यह है कि उनसे अपमानित यह हमारा ही लाभदायक होगा और उनके छिद्रों (कमजोरियों) का भी हमें ज्ञान होगा । इसलिये यह अवध्य ही है ।'

यह सुन अरिर्दन ने दूसरे वक्रनास नामक मन्त्री से पूछा—'भद्र । ऐसी दशा में क्या करना चाहिए ?' वह बोला—'हे देव ! यह अवध्य है' क्योंकि—

परस्पर विवाद करते हुए शत्रु भी हितकारी होते हैं जैसे चोर ने जीवन-दान दिया और राक्षस ने दो बैल बचाये ।। १९० ।।

अरिमर्दन ने पूछा—'यह कैसे ?' वक्रनास ने कहा—

कथा ९

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने दरिद्रो द्रोणनामा ब्राह्मणः, प्रतिग्रहधनः, सततं विशिष्टवस्त्रानुलेपनगन्धमाल्यालङ्कारताम्बूलादिभोगपरिवर्जितः, प्ररूढकेशश्मश्रुनखरोमोपचितः, शीतोष्णवातवर्षादिभिः परिशोषितशरीरः तस्य च केनापि यजमानेनानुकम्पया शिशुगोयुगं दत्तम् । ब्राह्मणेन च बालभावादारभ्य याचितघृततैलयवसादिभिः संवर्ध्य सुपुष्टं कृतम् । तच्च दृष्ट्वा सहसैव कश्चिच्चौरश्चिन्तितवान्—'अहमस्य ब्राह्मणस्य गोयुगमिदमपहरिष्यामि, इति निश्चित्य निशायां बन्धनपाशं गृहीत्वा, यावत्प्रस्थितस्तावदर्धमार्गे प्रविरलतीक्ष्णदन्तपंक्तिरुन्नतनासावंशः, प्रकटरक्तान्तनयनः उपचितस्नायुसन्ततनतगात्रः शुष्ककपोलः सुहुतहुतवहपिङ्गलश्मश्रुकेशशरीरः कश्चिद् दृष्टः । दृष्ट्वा च तं तीव्र-

भयत्रस्तोऽपि चौरोऽब्रवीत्–'को भवान्' इति। स आह–'सत्यवचनोऽहं ब्रह्मराक्षसः। भवानप्यात्मानं निवेदयतु।' सोऽब्रवीत्—'अहं क्रूरकर्मा चौरो दरिद्रब्राह्मणस्य गोयुगं हर्तुं प्रस्थितोऽस्मि।' अथ ज्ञातप्रत्ययो राक्षसोऽब्रवीत्—'भद्र ! षष्ठाह्नकालिकोऽहम्।' अतस्तमेव ब्राह्मणमद्य भक्षयिष्यामि; तत्सुन्दरमिदम्, एककार्यविवावाम्।' अथ तौ तत्र गत्वैकान्ते कालमन्वेषयन्तौ स्थितौ। प्रसुप्ते च ब्राह्मणे तद्भक्षणार्थं प्रस्थितं राक्षसं दृष्ट्वा चौरोऽब्रवीत्—'भद्र ! नैष न्यायो यतो गोयुगे मयाऽपहृते पश्चात्त्वमेनं ब्राह्मणं भक्षय।' सोऽब्रवीत्—'कदाचिदयं ब्राह्मणो गोशब्देन बुध्येत तदाऽनर्थकोऽयं ममारम्भः स्यात्।' चौरोप्यब्रवीत्—'तवापि यदि भक्षणायोपस्थितस्य एकोऽप्यन्तरायः स्यात्, तदाऽहमपि न शक्नोमि गोयुगमपहर्तुम्। अतः प्रथमं मयापहृते गोयुगे पश्चात्त्वया ब्राह्मणो भक्षयितव्यः।' इत्थं चाहमहमिकया तयोर्विवदतोः समुत्पन्ने द्वैधे प्रतिरववशाद् ब्राह्मणो जजागार। अथ तं चौरोऽब्रवीत्—'ब्राह्मण ! त्वामेवायं राक्षसो भक्षयितुमिच्छति' इति। राक्षसोऽप्याह—'ब्राह्मण ! चौरोऽयं गोयुगं तेऽपहर्तुमिच्छति।' एवं श्रुत्वोत्थाय ब्राह्मणः सावधानो भूत्वेष्टदेवतामन्त्रध्यानेनात्मानं राक्षसाद्, उद्गूर्णलगुडेन च चौराद् गोयुगं ररक्ष। अतोऽहं ब्रवीमि—'शत्रवोऽपि हितायैव' इति।

किसी स्थान में द्रोण नाम का एक गरीब ब्राह्मण रहता था, दान लेना ही उसकी जीविका थी ! उसे कभी भी उत्तम-उत्तम वस्त्र, उबटन आदि लेपन द्रव्य, सुगन्धित (इत्र आदि) वस्तु, मालाएँ और पान आदि भोगने के लिये न मिलते थे। बढ़े हुए बाल, दाढ़ी, मूँछ, नाखून और रोमों (शरीर के बाल) से उसका शरीर भर गया था तथा सर्दी, गरमी, हवा और वर्षादि के सहन करने से उसका देह कृश हो गया था। किसी यजमान ने कृपा कर उसे दो बछड़े दिये। ब्राह्मण ने उन्हें माँगे हुए घी, तैल और घास आदि के द्वारा खूब हृष्ट-पुष्ट कर लिया। उन (बछड़ों) पर दृष्टि पड़ते ही किसी चोर ने सोचा–'मैं इस ब्राह्मण के इन बछड़ों को चुराऊँगा' यह निश्चय कर रात्रि के समय हाथ में बाँधने की रस्सी लेकर चल पड़ा। आधी दूर ही पहुँचा था कि उसे रास्ते में कोई (मनुष्य) मिला। उसके नोकीले दांतों की पंक्ति अधिक घनी न थी। उसकी नाक ऊँची थी, नेत्रों के किनारे लाल चमकते हुए थे, कृश होने के कारण शरीर की नसें बाहर निकली हुई थीं, शरीर झुक रहा था,

गाल बैठे हुए थे, उसके शरीर में दाढ़ी और सिर के बाल जलती हुई अग्नि के समान पीले थे। उसको देख कर यद्यपि चोर बहुत डर गया था तो भी बोला—'आप कौन हैं !' उसने कहा—'मैं सत्यवचन नामक ब्रह्मराक्षस हूँ। आप भी अपना परिचय दें (श० आप भी अपने को बतावें)।' वह बोला—'मैं कठोर कर्म करने वाला चोर हूँ। एक गरीब ब्राह्मण के दो बछड़े चुराने के लिए जा रहा हूँ।' तब विश्वस्त हो राक्षस ने कहा—'मेरा दिन के छठें भाग (सायङ्काल) में भोजन करने का नियम है (पाठान्तर में दो दिन भोजन न करके तीसरे दिन के सायङ्काल के समय भोजन करने वाला। दिन में दो समय भोजन करने के होते हैं। इसलिये छठा समय तीसरे दिन का सायङ्काल होगा) अतः आज उसी ब्राह्मण को खाऊँगा। इसलिये यह बहुत अच्छा हुआ कि (दोनों साथ ही चल रहे हैं क्योंकि) हम दोनों का कार्य समान ही है। अनन्तर वे दोनों वहाँ (ब्राह्मण के घर) जाकर सुअवसर की प्रतीक्षा करते हुए एकान्त में खड़े हो गये। ब्राह्मण के सो जाने पर जब राक्षस उसे खाने चला, तब चोर ने कहा—'यह उचित नहीं है, पहिले मैं जब बछड़ों को ले जाऊँ तब तुम इस ब्राह्मण को खाना।' उसने कहा—'अगर यह ब्राह्मण बछड़ों के शब्द से जाग गया तो मेरा यह उद्योग निष्फल हो जायगा।' चोर ने कहा—'तुम्हारे भी खाने के बीच में अगर कोई विघ्न उपस्थित हो गया तो मैं भी इन बछड़ों को नहीं चुरा सकता। इसलिये प्रथम मेरे बछड़ों के ले जाने पर पीछे तुम ब्राह्मण को खाना।' इस प्रकार अहमहमिकापूर्वक जब वे विवाद करते हुए लड़ने लगे तब उनके शोर के कारण ब्राह्मण जाग गया। उससे चोर ने कहा—'हे ब्राह्मण। यह राक्षस तुम्हें ही खाना चाहता है।' राक्षस ने भी कहा—'हे ब्राह्मण। यह चोर तुम्हारे बछड़े को चुराना चाहता है।' यह सुन कर ब्राह्मण उठ कर सावधान हो गया और उसने इष्टदेवता तथा मन्त्रों के ध्यान से अपने को राक्षस से बचा लिया तथा दण्डे से अपने बछड़ों को चोर से बचा लिया। इसलिये मैं कहता हूँ—'शत्रु भी हितकारी होते हैं' इत्यादि।

अथ तस्य वचनमवधार्यारिमर्दनः पुनरपि प्राकारकर्णमपृच्छत्—'कथय, किमत्र मन्यते भवान् ?' सोऽब्रवीत्–देव ! अवध्य एवायम्, यतो रक्षितेनानेन कदाचित्परस्परप्रीत्या कालः सुखेन गच्छति।' उक्तं च—

परस्परस्य मर्माणि ये न रक्षन्ति जन्तवः ।
त एव निधनं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत् ।। १९१ ।।

अरिमर्दनोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' प्राकारकर्णः कथयति—

उसका वचन सुन कर अरिमर्दन ने फिर भी प्राकारकर्ण से पूछा—'कहिये, इस विषय में आपका क्या मत है ?' उसने कहा—'देव ! यह अवध्य ही है क्योंकि यह सम्भव है कि कदाचित् इसकी रक्षा करने से आपस में प्रीतिपूर्वक समय व्यतीत होने लगे ।' कहा भी है :—

जो प्राणी एक दूसरे की गोप्य बातों की रक्षा नहीं करते वे लोग ही वल्मीक के अन्दर में स्थित सर्पों के समान मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।। १९१ ।।

अरिमर्दन ने पूछा—'यह कैसे ?' प्राकारकर्ण ने कहा—

कथा १०

अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे देवशक्तिर्नाम राजा । तस्य च पुत्रो जठर-वल्मीकाश्रयेणोरगेण प्रतिदिनं प्रत्यङ्गं क्षीयते ! अनेकोपचारैः सद्वैद्यैः सच्छास्त्रोपदिष्टौषधयुक्त्याऽपि चिकित्स्यमानो न स्वास्थ्यमेति । अथासौ राजपुत्रो निर्वेदाद्देशान्तरं गतः । कस्मिंश्चिन्नगरे भिक्षाटनं कृत्वा महति देवालये कालं यापयति । अथ तत्र नगरे बलिर्नाम राजाऽऽस्ते । तस्य च द्वे दुहितरौ यौवनस्थे तिष्ठतः । ते च प्रतिदिवसमादित्योदये पितुः पादान्तिकमागत्य नमस्कारं चक्रतुः । तत्र चैकाऽब्रवीत्–'विजयस्व महाराज ! यस्य प्रसादात्सर्वं सुखं लभ्यते ।' द्वितीया तु—'विहितं भुङ्क्ष्व महाराज !' इति ब्रवीति । तच्छ्रुत्वा प्रकुपितो राजाऽब्रवीत्– 'भो मन्त्रिणः ! एनां दुष्टभाषिणीं कुमारिकां कस्यचिद्वैदेशिकस्य प्रयच्छत तेन निजविहितमियमेव भुङ्क्ते ।' अथ 'तथा' इति प्रतिपद्याल्पपरिवारा सा कुमारिका मन्त्रिभिस्तस्य देवकुलाश्रितराजपुत्रस्य प्रतिपादिता । साऽपि प्रहृष्टमनसा तं पतिं देववत्प्रतिपद्यादाय चान्य-विषयं गता । ततः कस्मिंश्चिद् दूरतरनगरप्रदेशे तडागतटे राजपुत्र-मावासरक्षायै निरूप्य स्वयं च घृततैललवणतण्डुलादिक्रयनिमित्तं सपरि-वारा गता । कृत्वा च क्रयविक्रयं यावदागच्छति तावत्स राजपुत्रो वल्मीकोपरि कृतमूर्धा प्रसुप्तः । तस्य च मुखाद्भुजगः फणां निष्कास्य वायुमश्नाति । तत्रैव च वल्मीकेऽपरः सर्पो निष्क्रम्य तथैवासीत् । अथ

तयोः परस्परदर्शनेन क्रोधसंरक्तलोचनयोर्मध्याद्वल्मीकस्थेन सर्पेणोक्तम्- 'भो भोः ! दुरात्मन् ! कथं सुन्दरसर्वाङ्गं राजपुत्रमित्थं कदर्थयसि ?' मुखस्थोऽहिरब्रवीत्—'भो भोः ! त्वयाऽपि दुरात्मनाऽस्य वल्मीकस्य मध्ये कथमिदं दूषितं हाटकपूर्णं कलशयुगलम्' इत्येवं परस्परस्य मर्माण्युद्घाटितवन्तौ। पुनर्वल्मीकस्थोऽहिरब्रवीत्—'भोः ! दुरात्मन् ! भेषजमिदं ते किं कोऽपि न जानाति यज्जीर्णोत्कालितकाञ्जिकाराजिकापानेन भवान्विनाशमुपयाति।' अथोदरस्थोऽहिरब्रवीत्—'तवाऽप्येतद् भेषजं किं कश्चिदपि न वेत्ति यदुष्णतैलेन महोष्णोदकेन वा तव विनाशः स्यादि'ति। एवं च सा राजकन्या विटपान्तरिता तयोः परस्परालापान्मर्ममयानाकर्ण्य तथैवानुष्ठितवती। विधायाव्यङ्गं नीरोगं भर्त्तारं निधिं च परममासाद्य स्वदेशाभिमुखं प्रायात्। पितृमातृस्वजनैः प्रतिपूजिता विहितोपभोगं प्राप्य सुखेनावस्थिता। अतोऽहं ब्रवीमि— 'परस्परस्य मर्माणि' इति।

किसी नगर में देवशक्ति नाम का राजा रहता था। उसका एक पुत्र था जिसके पेटरूपी वमई में एक साँप रहता था जिसके कारण उसका प्रतिदिन प्रत्येक अंग क्षीण होता जाता था। अच्छे वैद्यों द्वारा अनेक तरह से आयुर्वेदादि उत्तम शास्त्रों में निर्दिष्ट औषधियों का प्रयोग करके चिकित्सा किये जाने पर भी वह स्वस्थ न हुआ। तब वह राजपुत्र विरक्त हो दूसरे देश को चला गया। वह किसी नगर में भीख माँग कर एक बड़े मन्दिर में समय बिताने लगा। उस शहर में बलि नाम का राजा रहता था। उसकी दो युवती पुत्रियाँ थीं। वे दोनों प्रतिदिन सूर्योदय के समय पिता के पास आकर प्रणाम किया करती थी। उस समय उनमें से एक कहती थी—'हे महाराज ! आपकी विजय हो, जिनकी कृपा से सब प्रकार का सुख मिलता है।' और दूसरी—'हे महाराज ! अपने किये हुए को भोगो' कहा करती थी। यह सुन कर राजा क्रुद्ध होकर बोला—'हे मन्त्रियो ! कटु भाषण करने वाली इस लड़की को किसी विदेशी को दे दो जिससे यही अपने किये हुए को भोगे।' तब मन्त्रियों ने 'बहुत अच्छा' कह कर थोड़े से परिवार के साथ उस कुमारी को देवकुल में रहने वाले उस राजपुत्र को सौंप दिया। वह (कुमारी) भी प्रसन्न-चित्त से उस पति को देवता के समान मानकर अपने साथ दूसरे देश को ले गई।

वहाँ किसी अत्यन्त दूर शहर में तालाब के किनारे राजपुत्र को स्थान की रक्षा करने के लिये नियुक्त कर स्वयं घी, तेल, नमक, चावल आदि खरीदने को परिवार सहित गई। जब सोया था वह खरीद-बेचकर लौटी, उस समय वह राजपुत्र वमई (वल्मीक) ऊपर सिर रखकर सोया था और जठरस्थ सर्प उसके मुख से फन निकाल कर वायु-सेवन कर रहा था। (उसी समय) वल्मीक से दूसरा साँप निकल कर उसी तरह (वायु सेवन करने लगा)। एक दूसरे को देखने से उन दोनों के नेत्र लाल हो गये, वल्मीकस्थ सर्प ने कहा—'अरे दुष्ट ! सर्वाङ्गसुन्दर इस राजपुत्र को इस तरह क्यों पीड़ित करता है।' मुख-स्थित सर्प बोला—'रे दुरात्मन् ! तूने भी इस वल्मीक में रखे हुए और सुवर्ण से भरे हुए इन दो कलशों को क्यों दूषित कर रखा है।' इस तरह उन दोनों ने एक दूसरे की गोप्य बातें प्रकाशित कर दीं। वल्लीक-स्थित साँप फिर कहने लगा—'अरे दुष्ट ! क्या कोई भी तुम्हारी यह दवाई नहीं जानता कि पुरानी और उबाली हुई कांजी के साथ राई पिलाने से तुम्हारा विनाश होता है।' इस पर पेट में स्थिति सर्प नें कहा—'क्या तुम्हारी भी इस दवाई को कोई नहीं जानता कि खौलते हुए तेल या अत्यन्त गरम पानी से तुम्हारी मृत्यु होती है।' पेड़ों की आड़ में छिपी हुई राजकन्या ने एक दूसरे के मर्म को प्रकाशित करने वाली उनकी बातचीत सुनकर वैसा ही किया। इसके अनन्तर वह राजकन्या अपने पति को पूर्णाङ्ग और नीरोग करके तथा बड़ा भारी खजाना पाकर अपने देश को चली गई। तब माता, पिता और बन्धुगणों से सम्मानित होकर अपने कर्मफल को भोगती हुई सुख से रहने लगी। इसलिये मैं कहता हूँ—'जो एक दूसरे की गुप्त बातों की रक्षा नहीं करते' इत्यादि।

तच्च श्रुत्वा स्वयमरिर्दनोऽप्येवं समर्थितवान्। तथा चानुष्ठितम्। दृष्ट्वान्तर्लीनं विहस्य रक्ताक्षः पुनरब्रवीत्—'कष्टम्, विनाशितोऽयं भवद्भिरन्यायेन स्वामी।' उक्तं च—

यह सुन कर स्वयं अरिमर्दन ने भी इसी बात का (शरणागत की रक्षा का) ही अनुमोदन किया। जब रक्ताक्ष ने देखा कि ऐसा ही किया जा रहा है तब कुछ अन्दर ही अन्दर हँस कर कहा—'बड़े दुःख की बात है कि आप लोगों ने अनीतिपूर्वक हमारे प्रभु का विनाश कर दिया। कहा भी है—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां तु विमानना।
त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥ १९२॥

जिस देश वा नगर में दुर्जनों का आदर और सज्जनों का तिरस्कार किया जाता है वहाँ दुर्भिक्ष, मृत्यु, और भय ये तीन प्रवृत्त होते हैं ॥ १९२ ॥

तथा च—

प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे मूर्खः साम्ना प्रशाम्यति।
रथकारः स्वकां भार्यां सजारां शिरसाऽवहत् ॥ १९३ ॥

मन्त्रिणः प्राहुः—'कथमेतत् ?' रक्ताक्षः कथयति—

और भी—प्रत्यक्ष (सामने) पाप करने पर भी मूर्ख मधुर वचन से (प्रमाण देकर उसको विश्वास दिलाने से) शान्त हो जाता है, जैसे रथकार (कारीगर) ने (जार–यार–के साथ सोई हुई अपनी स्त्री को देखकर भी उसके प्रमाण पर विश्वास कर) जार के सहित अपनी स्त्री को शिर पर लेकर गाँव भर घुमाया ॥ १९३ ॥

मन्त्रियों ने पूछा—'यह कैसे ?' रक्ताक्ष ने कहा :—

कथा ११

अस्ति कस्मिश्चिदधिष्ठाने वीरवरो नाम रथकारः। तस्य भार्या कामदमनी। सा पुंश्चली जनापवादसंयुक्ता। सोऽपि तस्याः परीक्षणार्थं व्यचिन्तयत्—'अथ मयाऽस्याः परीक्षणं कर्तव्यम्।' उक्तं यतः—

किसी नगर में वीरवर नामक रथकार (बढ़ई) रहता था। उसकी कामदमनी नाम की अत्यन्त कामासक्त स्त्री थी। वह बहुत व्यभिचारिणी थी और (गाँव भर) उसकी निन्दा हो चुकी थी। उस (वीरवर) ने भी उसकी परीक्षा लेने का विचार किया—'यह बात झूठ है या सच—इसकी परीक्षा मुझे करनी चाहिए।' क्योंकि कहा भी है—

यदि स्यात्पावकः शीतः प्रोष्णो वा शशलाञ्छनः।
स्त्रीणां तदा सतीत्वं स्याद्यदि स्याद् दुर्जनो हितः ॥ १९४ ॥

यदि अग्नि ठण्डा हो अथवा चन्द्रमा गर्म हो और दुर्जन हितकारी हो तो स्त्रियों की सतीत्व रह सकता है ॥ १९४ ॥

जानामि चैनां लोकवचनादसतीम्। उक्तं च—

यच्च वेदेषु शास्त्रेषु न दृष्टं न च संश्रुतम्।
तत्सर्वं वेत्ति लोकोऽयं यत्स्याद् ब्रह्माण्डमध्यगम् ॥ १९५ ॥

लोगों के कथनानुसार यह व्यभिचारिणी है। कहा भी है:—

जो बातें और शास्त्रों में भी नहीं देखी गईं और न सुनी गईं उन सब बातों को लोग जानते हैं चाहे वे ब्रह्माण्ड के किसी कोने में भी क्यों न हों ॥

एवं सम्प्रधार्य भार्यामवोचत्–'प्रिये । प्रभातेऽहं ग्रामान्तरं यास्यामि । तत्र कतिचिद्दिनानि लगिष्यन्ति । तत्त्वया किमपि पाथेयं मम योग्यं विधेयम् ।' सापि तद्वचनं श्रुत्वा हर्षितचित्ता, औत्सुक्यात्सर्वकार्याणि सन्त्यज्य सिद्धमन्नं घृतशर्कराप्रायमकरोत् ।

यह विचार कर अपनी स्त्री से कहा—'हे प्रिये ! कल सबेरे मैं दूसरे गाँव को जाऊँगा । वहाँ कुछ दिन लगेंगे । इसलिये तुम कुछ मेरे योग्य पाथेय (कलेवा) बना दो ।' वह (व्यभिचारिणी स्त्री) उसके वचन को सुनकर प्रसन्न हुई, और उसने अत्यन्त उत्सुकता से सब गृहकार्य को छोड़कर घी और चीनी डालकर उत्तम सिद्धान्न (मालपूआ आदि) बना दिया ।

अथवा साध्विदमुच्यते—

दुर्दिवसे घनतिमिरे वर्षति जलदे महाटवीप्रभृतौ ।
पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः ॥ १९६ ॥

अथवा यह ठीक ही कहा है :—

जब दिन मेघाच्छन्न हो, अन्धकार छा गया हो, मेघ घनघोर बरस रहा हो, घोर वन हो (शून्य स्थान और गृह हो) और पति परदेश गया हो तब व्यभिचारिणी स्त्रियों को अत्यन्त आनन्द होता है । (उस समय व्यभिचारिणी स्त्रियाँ बहुत प्रसन्न होती हैं) ॥ १९६ ॥

अथासौ प्रत्यूषे उत्थाय स्वगृहान्निर्गतः सापि तं प्रस्थितं विज्ञाय प्रहसितवदनाङ्गसंस्कारं कुर्वाणा कथञ्चित्तं दिवसमत्यवाहयत् । अथ पूर्वपरिचितविटगृहे गत्वा तं प्रत्युक्तवती–'स दुरात्मा मे पतिर्ग्रामान्तरं गतः । तत्त्वयाऽस्मद्गृहे प्रसुप्ते जने समागन्तव्यम् ।'

वह (रथकार) सबेरे उठकर घर से निकल गया । वह भी पति को परदेश गया समझ कर हँसती हुई स्नान और शृङ्गार से शरीर सजाकर किसी प्रकार दिन को विताई । उसके बाद (शाम को) अपने यार के पास जाकर उससे कहने लगी—'वह दुष्ट मेरा पति परदेश गया है । इसलिये सब के सो जाने पर (रात में) हमारे घर आ जाना ।'

तथानुष्ठिते स रथकारोऽरण्ये दिनमतिवाह्य प्रदोषे स्वगृहेऽपद्वारेण

प्रविश्य शय्याधस्तले निभृतो भूत्वा स्थितः। एतस्मिन्नन्तरे स देवदत्तः समागत्य तत्र शयने उपविष्टः। दृष्ट्वा रोषाविष्टचित्तो रथकारो व्यचिन्तयत्—'किमेनमुत्थाय हन्मि ? अथवा हेलयैव प्रसुप्तौ द्वावप्येतौ व्यापादयामि ? परं पश्यामि तावदस्याश्चेष्टितं, शृणोमि चानेन सहालापान्।'

यह कहकर वह अपने घर लौट आई। वह रथकार भी वन में दिन बिताकर सायंकाल अपने घर के पीछे से घुस कर खटिया के नीचे छिपकर बैठ गया। रात होने पर देवदत्त (उस स्त्री का जार) आकर उसी शय्या पर बैठा। उसे देखकर रथकार ने अत्यन्त क्रोधित होते हुए विचार किया—'क्या मैं उठकर इस (दुष्ट) को अभी मार डालूं ? अथवा जब ये दोनों सो जायें तब एक साथ दोनों को मारें। किन्तु इसकी चेष्टा को देख लें और इसके साथ किस प्रकार बातचीत करती है उसे भी सुन लें।'

अत्रान्तरे सा गृहद्वारं निभृतं पिधाय शयनतलमारुढा। तस्यास्तत्रारोहयन्त्या रथकारशरीरे पादो विलग्नः। ततः सा व्यचिन्तयत्—'नूनमेतेन दुरात्मना रथकारेण मत्परीक्षणार्थं भाव्यम्। ततः स्त्रीचरित्रविज्ञानं किमपि करोमि।

उसकी वह स्त्री गृह का द्वार धीरे से बन्द कर जार के सोये हुए शय्या पर चढ़ गयी। जब वह व्यभिचारिणी शय्या पर चढ़ रही थी। उसका पैर रथकार के शरीर से लग गया। तब उसने सोचा—'निश्चय ही इस दुष्ट रथकार ने मेरी परीक्षा की है। इसलिये मैं भी स्त्री चरित्र की विशेषता दिखाती हूँ।'

एवं तस्याश्चिन्तयन्त्या स देवदत्तः स्पर्शोत्सुको बभूव। अथ तया कृताञ्जलिपुटयाऽभिहितं—'भो महानुभाव ! न मे शरीरं त्वया स्पर्शनीयं यतोऽहं पतिव्रता महासती च। नो चेच्छापं दत्त्वा त्वां भस्मसात्करिष्यामि।' स आह—'यद्येवं तर्हि त्वया किमहमाहूतः ?' साऽब्रवीत्—'भोः ! शृणुष्वैकाग्रमनाः—

वह स्त्री इस प्रकार चिन्ता कर रही थी कि उसका जार देवदत्त आलिङ्गनादि करने को उत्सुक हुआ (उसके शरीर पर यह आलिङ्गनादि करने के लिये हाथ बढ़ाया और छेड़-छाड़ करने लगा।)' तब उस (रथकार) की स्त्री ने हाथ जोड़ कर कहा–'हे महानुभाव ! मेरे शरीर को तुम मत छुओ, क्योंकि मैं पति-

व्रता और सच्ची सती हूँ । यदि हठ से तुम छुओगे तो मैं शाप दे दूँगी, तुम भस्म हो जाओगे ।' वह (जार) बोला—'यदि ऐसा है तो मुझे क्यों बुलाया ?' वह बोली—'मेरी बात को एकाग्र होकर सुनो ।

अहमद्य प्रत्यूषे देवतादर्शनार्थं चण्डिकायतनं गता तत्राकस्मात्खे वाणी सञ्जाता—'पुत्रि ! किं करोमि ? भक्तासि मे त्वं, परं षण्मासाभ्यन्तरे विधिनियोगाद्विधवा भविष्यसि ।'

आज मैं सवेरे चण्डिका देवी के दर्शन के लिये गयी थी । वहाँ एकाएक आकाशवाणी हुई—'हे पुत्रि ! क्या कहूँ ? तुम मेरी बहुत भक्त हो, परन्तु दैव-संयोग से ६ महीने के अन्दर ही तुम विधवा हो जाओगी ।'

ततो मयाभिहितं—'भगवति ! यथा त्वमापदं वेत्सि, तथा तत्प्रतीकारमपि जानासि । तदस्ति कश्चिदुपायो येन मे पतिः शतसंवत्सरजीवि भवति ?' ततस्तयाऽभिहितं—'वत्से ! सन्नपि नास्ति, यतस्तवाऽऽयत्तः स प्रतीकारः ।' तच्छ्रुत्वा मयाभिहितं—'देवि ! यदि तन्मम प्राणैर्भवति तदादेशय येन करोमि ।

मैंने देवी से कहा—'हे भगवति ! जैसे आप विपत्ति को जानती हैं वैसे इसका प्रतीकार भी अवश्य जानती हैं । कोई ऐसा उपाय है कि जिससे मेरे पति सौ वर्ष तक जीते रहे ?' तब उन्होंने कहा—'हे पुत्रि ! उपाय है किन्तु वह नहीं के समान है । क्योंकि वह उपाय तुम्हारे ही अधीन है ।' यह सुनकर मैंने कहा—'हे देवि ! यदि उपाय है तो उसे बता दीजिये । मैं उसे प्राण लगाकर भी करूँगी ।

अथ देव्याभिहितं—यद्यद्य परपुरुषेण सहैकस्मिञ्छयने समारुह्यालिङ्गनं करोषि तत्तव भर्तृसक्तोऽपमृत्युस्तस्य सञ्चरति । भर्त्तापि तेन पुनर्वर्षशतं जीवति । तेन त्वं मयाऽभ्यर्थितः । तद्यत्किञ्चित्कर्तुमनास्तत्कुरुष्व । न हि देवतावचनमन्यथा भविष्यतीति निश्चयः ।' ततोऽन्तर्हासविकासमुखः स तदुचितमाचचार ।

तब देवी जी ने कहा–'यदि आज पर पुरुष के साथ एक ही शय्या पर बैठ कर अलिङ्गनादि करेगी तो तुम्हारे पति की अपमृत्यु नाश हो जायेगी । तुम्हारे पति भी सौ वर्ष तक जीवित रहेंगे । इसलिये मैंने तुम्हें बुलाया है । अब तुम्हें जो कुछ करने की इच्छा है उसे करो । देवी का वचन अन्यथा नहीं हो सकता है–

यह मेरा निश्चय है। तब उस (जार) ने स्त्री का चरित्र जानकर मन ही मन हँसते हुए प्रसन्नतापूर्वक कामोचित आलिङ्गन-चुम्बन आदि कार्य किया।

सोऽपि रथकारो मूर्खस्तस्यास्तद्वचनमाकर्ण्य पुलकाञ्चिततनुः शय्याधस्तलान्निष्क्रम्य तामुवाच—'साधु पतिव्रते ! साधु कुलनन्दिनि !! अहं दुर्जनवचनशङ्कितहृदयस्त्वत्परीक्षानिमित्तं ग्रामान्तरव्याजं कृत्वा खट्वाधस्तले निभृतं लीनः। तदेहि—आलिङ्ग माम्। त्वं स्वभर्तृभक्तानां मुख्या नारीणां, यदेवं ब्रह्मव्रतं परसङ्गेऽपि पालितवती ! 'यदायुर्वृद्धिकृतेऽपमृत्युविनाशार्थञ्च त्वमेवं कृतवती।' तामेवमुक्त्वा सस्नेहमालिङ्गितवान्।'

वह मूर्ख रथकार उसकी स्त्रीचातुरी से युक्त वचन सुन कर रोमाञ्चित होते हुए शय्या के नीचे से निकल कर उस व्यभिचारिणी स्त्री से बोला—'हे पतिव्रते ! तुम धन्य हो ! कुल को आनन्द देने वाली ! तुम धन्य हो !! मैं दुष्ट के वचनों से शङ्कित होकर तुम्हारी परीक्षा करने के लिये परदेश जाने का छल कर शय्या के नीचे छिपा हुआ था। इसलिये आओ, मुझे आलिङ्गन करो। तुम अपने पति में भक्ति रखने वाली स्त्रियों में मुख्य हो क्योंकि दूसरे के साथ एक शय्या पर सोकर भी तुमने अपना पातिव्रत धर्म का पालन किया है। 'मेरी अकालमृत्यु का नाश और आयु की वृद्धि के लिये तुमने यह कठिन काम (पर पुरुष से आलिङ्गन आदि काम) किया।' ऐसा कहकर उस मूर्ख ने प्रेमपूर्वक उसका आलिङ्गन किया।

स्वस्कन्धे तामारोप्य तामपि देवदत्तमुवाच—'भो महानुभाव ! मत्पुण्यैस्त्वमिहाऽऽगतः। त्वत्प्रसादान्मया प्राप्तं वर्षशतप्रमाणमायुः। तत्त्वमपि मामालिङ्ग्य मत्स्कन्धे समारोह' इति जल्पन्ननिच्छन्तमपि देवदत्तमालिङ्ग्य वलात्स्वकीयस्कन्धे आरोपितवान्।

ततश्च नृत्यं कृत्वा 'हे ब्रह्मव्रतधराणां धुरीण ! त्वयाऽपि मय्युपकृतम्'—इत्याद्युक्त्वा स्कन्धादुत्तार्य यत्र यत्र स्वजनगृहद्वारादिषु बभ्राम तत्र तत्र तयोरुभयोरपि तद्गुणवर्णनमकरोत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे' इति।

अपने कन्धे पर अपनी व्यभिचारिणी स्त्री को लेकर उस देवदत्त (जार) से कहा—'हे महानुभाव ! मेरे भाग्य से आप यहाँ आये हैं। आपके प्रसाद से ही मैंने सौ वर्ष का जीवन प्राप्त किया। इसलिये आप भी मुझे आलिङ्गन करें और मेरे कन्धे पर बैठें। यह कहते हुए इच्छा नहीं करने वाले देवदत्त को

आलिङ्गन करके जबर्दस्ती कन्धे पर बैठा लिया। तब नाच कर 'हे ब्रह्मव्रत (परोपकार व्रत) धारण करने वालों में श्रेष्ठ ! आपने भी मेरा उपकार किया है यह कह कर कन्धे से उतार कर जहाँ-जहाँ अपने स्वजनों के घर के दरवाजे पर गया वहाँ-वहाँ उन दोनों का गुणवर्णन करता रहा।

इसलिये मैं कहता हूँ कि—'प्रत्यक्ष पाप करने पर भी' (पृ. ७०) इत्यादि।

तत्सर्वथा मूलोत्खाता वयं विनष्टाः स्मः। सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

मित्ररूपा हि रिपवः सम्भाव्यन्ते विचक्षणैः।
ये हितं वाक्यमुत्सृज्य विपरीतोपसेविनः॥ १९७॥

इस (आप लोगों की मूर्खता) से हम सब मूल से ही नष्ट हो जायेंगे। यह ठीक ही कहा है—

जो मनुष्य हितवचन न कहकर अहित का उपदेश करते हैं। (अथवा जो मनुष्य भलाई की बात पर ध्यान न देकर उसके विपरीत ही आचरण करते हैं।) विज्ञ पुरुष निश्चय ही उनको मित्ररूपधारी शत्रु समझते हैं॥ १९७॥

तथा च—

सन्तोऽप्यर्था विनश्यन्ति देशकालविरोधिनः।
अप्राज्ञान्मन्त्रिणः प्राप्य तमः सूर्योदये यथा॥ १९८॥

राजनीति में दुर्बुद्धि (अपटु) मन्त्रियों को पाकर देश और काल के विरुद्ध आचरण करने वाले राजा के विद्यमान भी अर्थ (धनादि पदार्थ) उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कि सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है॥१९८॥

ततस्तद्वचोऽनादृत्य सर्वे ते स्थिरजीविनमुत्क्षिप्य स्वदुर्गमानेतुमारब्धाः। अथानीयमानः स्थिरजीव्याह—'देव ! अद्याकिञ्चित्करेणैतदवस्थेन किं मयोपसंगृहीतेन ? यत्कारणमिच्छामि दीप्तं वह्निमनुप्रवेष्टुम्। तदर्हसि मामग्निप्रदानेन समुद्धर्तुम्।' अथ रक्ताक्षस्यान्तर्गतभावं ज्ञात्वाऽऽह—'किमर्थमग्निपतनमिच्छसि ?' सोऽब्रवीत्—'अहं तावद्युष्मदर्थमिमामापदं मेघवर्णेन प्रापितः। तदिच्छामि तेषां वैरयातनार्थमुलूकत्वमिति। तच्च श्रुत्वा राजनीतिकुशलो रक्ताक्षः प्राह—'भद्र ! कुटिलस्त्वं कृतकवचनचतुरश्च। तावदुलूकयोनिगतोऽपि स्वकीयामेव वायसयोनिं बहु मन्यसे। श्रूयते चैतदाख्यानकम्।

अनन्तर उस (रक्ताक्ष) के बात न मान कर वे सब स्थिरजीवी को उठा

कर अपने दुर्ग में लाने लगे। तब लाये जाते हुए स्थिरजीवी ने कहा—हे देव! आज इस अवस्था में पड़ा हुआ मैं कुछ भी (आप की भलाई) नहीं कर सकता फिर मेरे संग्रह करने से आप को क्या लाभ? इसलिये जलती हुई अग्नि में प्रवेश करना चाहता हूँ—मरना चाहता हूँ। इसलिये अग्निप्रदान करके (भस्म करके) मुझे (दुःखों से) छुड़ाइये। तब रक्ताक्ष उसके आन्तरिक भावों को समझ कर बोला—'किसलिये अग्नि में गिरना चाहता है।' उसने कहा—'आप लोगों के कारण ही मेघवर्ण ने मेरी यह दशा की है। इसलिये उससे अपने वैर का बदला लेने के लिये मैं उलूक होना चाहता हूँ!' यह सुन कर राजनीति-कुशल रक्ताक्ष ने कहा—'भद्र! तुम कुटिल तथा बनावटी बातों के कहने में बड़े चतुर हो, तुम उलूकयोनि को प्राप्त होकर भी अपनी वायस-जाति का ही आदर करोगे। इस विषय में यह उपाख्यान सुना जाता है :—

सूर्यं भर्तारमुत्सृज्य पर्जन्यं मारुतं गिरिम्।
स्वजातिं मूषिका प्राप्ता स्वजातिर्दुरतिक्रमा॥ १९९॥

मन्त्रिणः प्रोचुः—कथमेतत्? रक्ताक्षः कथयति—

एक मूषिका (चुहिया) सूर्य, मेघ, वायु और पर्वत को पति न बना कर अपनी जाति को प्राप्त हुई, अपनी जाति का छोड़ना अत्यन्त कठिन होता है॥ १९९॥

मन्त्रियों ने पूछा :—'यह कैसे?' रक्ताक्ष ने कहा —

कथा ११

[1]अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने शालङ्कायनो नाम तपोधनो जाह्नव्यां स्नानार्थं गतः। तस्य च सूर्योपस्थानं कुर्वतस्तत्र प्रदेशे मूषिका काचित्खरतरनखाग्रपुटेन श्येनेन गृहीता। दृष्ट्वा स मुनिः करुणार्द्रहृदयो 'मुञ्च मुञ्चे'ति कुर्वाणस्तस्योपरि पाषाणखण्डं प्राक्षिपत्। सोऽपि पाषाणखण्डप्रहारव्याकुलेन्द्रियो भ्रष्टमूषिको भूमौ निपपात मूषिकाऽपि भयत्रस्ता कर्तव्यमजानन्ती 'रक्ष, रक्षे'ति जल्पन्ती मुनिचरणान्तिकमुपाविशत् श्येनेनापि चेतनां लब्ध्वा मुनिरुक्त-'यद्भो मुने! न युक्तमनुष्ठितं भवतायदहं पाषाणेन ताडितः। किं त्वमधर्मान्न बिभेषि? तत्समर्पय

---

१. अस्याः कथायाः पूर्वभागो भिन्नोऽप्युपलभ्यते। तन्त्रान्ते निवेशितः तत्रैव द्रष्टव्यः। पुस्तकद्वये चैषा कथा चतुर्थतन्त्र उपलभ्यते नत्विह, प्रकरणसङ्गत्याऽस्माभिरिहैवोपनिवेशिता।

मामैनां मूषिकाम् । नो चेत्प्रभूतं पातकमवाप्स्यसि ।' इति ब्रुवाणं श्येनं प्रोवाच स—'भो विहङ्गाधम ! रक्षणीयाः प्राणिनां प्राणाः, दण्डनीया दुष्टाः, सम्माननीयाः साधवः, पूजनीया गुरवः, स्तुत्या देवाः तत्किमसम्बद्धं प्रजल्पसि ।' श्येन आह—'मुने ! न त्वं सूक्ष्मधर्मं वेत्सि । इह हि सर्वेषां प्राणिनां विधिना सृष्टिं कुर्वताऽऽहारोऽपि विनिर्मितः । ततो यथा भवतामन्न तथाऽस्माकं मूषिकादयो विहिताः । तत्स्वाहारकाङ्क्षिणं मां किं दूषयसि ? उक्तं च--

किसी स्थान में शालङ्कायन नाम का एक तपस्वी (रहता था वह एक समय) गंगा में स्नान करने गया । जब कि सूर्य की पूजा कर रहा था उस समय उसी स्थान में (उसके पास गंगा के किनारे) कोई चुहिया तेज पञ्जों (नाखूनों) वाले बाज से पकड़ी गयी । उसको देख कर मुनि का हृदय दया से परिपूर्ण हो गया । 'छोड़' 'छोड़' ऐसा कहते हुए उस (मुनि) ने उसके (बाज के) ऊपर एक पत्थर का टुकड़ा फेंका । वह बाज पत्थर के टुकड़े की चोट से व्याकुल हो गया, मूषिका उससे छूट गई और वह स्वयं भी पृथ्वी पर गिर पड़ा । तब भयभीत हुई वह चुहिया किंकर्तव्यविमूढ़ होकर 'बचाओ, बचाओ' ऐसा कहती हुई मुनि के चरणों के पास आकर बैठ गई । बाज ने होश में आकर मुनि से कहा—'हे मुने ! मुझे पत्थर से मार कर आपने उचित नहीं किया क्या आप अधर्म से नहीं डरते ? यह मूषिका मुझे सौंप दें, नहीं तो आप को बड़ा भारी पाप होगा ।' यह सुनकर मुनि ने कहा—'अरे नीच पक्षी ! प्राणियों के प्राणों की रक्षा करनी चाहिए, दुष्टों को दण्ड देना चाहिए, सज्जनों का आदर, गुरुओं का सत्कार और देवताओं की स्तुति करनी चाहिए । फिर तू क्यों अनर्गल (बेतुकी) बातें करता है ।' श्येन ने कहा—'मुने ! आप धर्म की बारीकी नहीं समझते । इस संसार में प्राणियों की रचना करते हुए ब्रह्मा ने उनका भोजन भी बनाया है । जिस प्रकार आप लोगों के लिये अन्न, उसी प्रकार हम लोगों के लिये चूहे आदि बनाये हैं । इसलिये अपना भोजन चाहने वाले मुझ पर क्यों दोष लगाते हैं । कहा भी है—

यद्यस्य विहितं भोज्यं न तत्तस्य प्रदुष्यति ।
अभक्ष्ये बहुदोषः स्यात् तस्मात्कार्यो न व्यत्ययः ॥ २०० ॥

जिसके लिये जो वस्तु भोजनरूप से निर्दिष्ट की गई है उसके खाने पर उसे कोई पाप नहीं होता किन्तु अभक्ष्य वस्तु के खाने में बहुत पाप होता है इसलिये इसमें परिवर्तन नहीं करना चाहिए ॥ २०० ॥

भक्ष्यं यथा द्विजातीनां मद्यपानां यथा हविः ।
अभक्ष्यं भक्ष्यतामेति तथाऽन्येषामपि द्विज ! ॥२०१॥

जिस तरह मद्य पीने वालों की पेय सुरा ब्राह्मणादि के लिये पेय (पीने योग्य) नहीं और जिस तरह ब्राह्मणादि का भोज्य (हवि यज्ञशेष) मद्य पीने वालों के लिये अभक्ष्य होता है, इसी तरह अन्य प्राणियों के भक्ष्याभक्ष्य की व्यवस्था जाननी चाहिए । तात्पर्य यह है कि जो वस्तु एक के लिये भक्ष्य हो सकती है वह दूसरे के लिये अभक्ष्य भी हो सकती है ॥२०१॥

भक्ष्यं भक्षयतां श्रेयो अभक्ष्यन्तु महदघम् ।
तत्कथं मां वृथाचार ! त्वं दण्डयितुमर्हसि ॥ २०२ ॥

भक्ष्य का ही भक्षण करने वाले महापुण्य और अभक्ष्य भक्षण करने वाले को महापाप होता है । इसलिये व्यर्थ ही आचार (दिखाने वाले) ब्राह्मण ! तुम मुझे कैसे दण्ड दे सकते हो ॥ २०२ ॥

अपरं मुनीनां न चैष धर्मो यतस्तैर्दृष्टं श्रुतमश्रुतमलौल्यत्वमशत्रुत्वं प्रशस्यते । उक्तं च—

समः शत्रौ च मित्रे च समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
सुहृन्मित्रे ह्युदासीनो मध्यस्थो द्वेष्यबन्धुषु ॥ २०३ ॥
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।
साधूनां निरवद्यानां सदाचारविचारिणाम् ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ॥ २०४ ॥

और भी, मुनियों का यह (दूसरों को मारना) धर्म नहीं है । क्योंकि उनके लिये देखा हुआ न देखे हुए के तथा सुना हुआ न सुने हुए के बराबर होता है और उनको लालच तथा शत्रुभाव उचित नहीं है । कहा भी है—

निष्पाप और सदाचार का पालन करने वाले साधु पुरुषों में वही पुरुष श्रेष्ठ समझा जाता है जो शत्रु और मित्र में तथा मिट्टी के ढेले, पाषाण और सोने में समान भाव रखता हो । सुहृत् (स्वभाव से ही हितैषी) और मित्र (स्नेहवश उपकार करने वाले) में उदासीन, घृणा के योग्य तथा कुटुम्बियों में एकभाव, सज्जन तथा पापियों को समान समझने वाला हो । योग में लगे हुए पुरुष को चाहिए कि एकान्त में बैठकर सदा मन को वश में करे ॥२०३–२०४॥

तत्त्वमनेन कर्मणा भ्रष्टतपाः सञ्जातः । उक्तं च—

मुञ्च मुञ्च पतत्येको मा मुञ्चेति द्वितीयकः ।
उभयोः पतनं दृष्ट्वा मौनं सर्वार्थसाधनम् ।। २०५ ।।

शालङ्कायन आह—कममेतत् ? श्येन आह—

इसलिये आप इस कार्य को करके अपने तप से भ्रष्ट हो गये (तुम्हारा तप नष्ट हो गया) । कहा भी है—

'छोड़ो, छोड़ो' ऐसा कहता हुआ एक अपने तपःप्रभाव से भ्रष्ट हुआ और दूसरा 'मत छोड़ो' ऐसा कहने से भ्रष्ट हुआ, उन दोनों का पतन (तपोविनाश) देखकर तीसरे ने सर्वकार्य सिद्ध करने वाला मौन धारण कर लिया ।। २०५ ।।

शालङ्कायन ने पूछा :—'यह कैसे ?' श्येन ने कहा :—

कथा १२

कस्मिंश्चिन्नदीतट एकत-द्वित-त्रिताभिधानास्त्रयोऽपि भ्रातरो मुनयस्तपः कुर्वन्ति । तेषाञ्च तपःप्रभावादाकाशस्था धौतपौतिका निरालम्बा जलार्द्रभूस्पर्शनभयेन स्नानसमये तिष्ठन्ति । अथान्येद्युर्मयेव काचिन्मण्डूकिका केनापि गृध्रेण बलेन नीता । अथ तां गृहीतां विलोक्य तेषां ज्येष्ठेन करुणार्द्रहृदयेन भवतेव व्याहृतम् 'मुञ्च, मुञ्चे'ति । अत्रान्तरे तस्य धौतपोतिकाकाशाद् भूमौ पतिता । तां पतितां दृष्ट्वा द्वितीयेन तद्भयार्तेन 'मा मुञ्चे'त्यभिहितं यावत्तस्यापि पपात । ततस्तृतीयो द्वयोरपि धौतपोतिकां भूमौ पतितां दृष्ट्वा तूष्णीं बभूव । अतोऽहं ब्रवीमि—'मुञ्च मुञ्च पतत्येक' इत्यादि ।

किसी नदी-तट पर एकत, द्वित और त्रित नामक तीन भाई मुनि तप करते थे, उनके तपःप्रभाव के कारण स्नान के समय (उनके) धुले हुए गीले वस्त्र पृथ्वी के छूने के भय से बिना सहारे ही आकाश में टँगे रहते थे । एक दिन जिस प्रकार मैंने (इस मूषिका को पकड़ा) इसी तरह गिद्ध ने एक मेढ़की को जबरदस्ती पकड़ लिया । उसको पकड़ा हुआ देखकर उनमें सबसे ज्येष्ठ ने करुणा से कातर-हृदय हो आपके समान 'छोड़ो, छोड़ो' कहा । इसी समय उसका वस्त्र पृथ्वी पर गिर पड़ा । उसको गिरता देख दूसरा अपने वस्त्र के गिरने के भय से व्याकुल हो गया और ज्यों ही उसने 'मत छोड़' ऐसा कहा

त्यों ही उसका भी वस्त्र गिर गया। तब तीसरा उन दोनों के वस्त्रों को गिरा हुआ देख कर चुप हो गया। इसलिये मैं कहता हूँ 'एक मुञ्च मुञ्च कहने से गिरता है' इत्यादि।

तच्छ्रुत्वा मुनिर्विहस्याह—'भो मूर्ख! विहङ्गम! कृतयुगे धर्मः स आसीत्। यतः कृतयुगे पापालापतोऽपि पापं जायते तेन धौतपोतिके पतिते अशिष्टालापेन न सदपवचनदोषतः। एष पुनः कलियुगः। अत्र सर्वोऽपि पापात्मा। तत्कर्म कृतं विना पापं न लगति।' उक्तं च—

सञ्चरन्तीह पापानि युगेष्वन्येषु देहिनाम्।
कलौ तु पापसंयुक्ते यः करोति स लिप्यते॥ २०६॥

यह सुन, मुनि ने हँसकर कहा—'अरे मूर्ख पक्षी! सत्ययुग में यह धर्म था क्योंकि सत्ययुग में पापी पुरुषों के साथ बातचीत करने से भी पाप होता था। इसीलिये अशिष्ट (दुष्ट) गृध्र के साथ वार्तालाप करने से धौतवस्त्र गिर पड़े। यह तो कलियुग है। इसमें सभी मनुष्य (प्राणी) स्वभाव से ही पापी होते हैं। इसलिये (वस्तुतः) पापकर्म किये विना पाप नहीं लगता।' कहा भी है—

इस संसार में कलि के अतिरिक्त अन्य (सत्य आदि) युगों में पाप एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को लगता है परन्तु पाप से परिपूर्ण कलियुग में तो जो कर्म करता है उसी को पाप लगता है॥ २०६॥

उक्तं च—

आसनाच्छायनाद्यानात्संगतेश्चापि भोजनात्।
कृते संचरते पापं तैलबिन्दुरिवाम्भसि॥ २०७॥

कृतयुग में पाप जल में तेल बिन्दु के समान (पापी पुरुष के साथ) बैठने, सोने, जाने तथा रहने और भोजन करने से लगता था॥ २०७॥

तत्किं वृथा प्रलपितेन? गच्छ त्वम्, नो चेच्छापयिष्यामि। अथ गते श्येने मूषिकया स मुनिरभिहितः—'भगवन्! नय मां स्वाश्रमम्। नो चेदन्यो दुष्टपक्षी मां व्यापादयिष्यति; तदहं तत्रैवाश्रमे त्वाहृत्तान्नाहारमुष्ट्या कालं नेष्यामि।' सोऽपि दाक्षिण्यवान् सकरुणो व्यचिन्तयत्—'कथं मया मूषिका हस्ते धृत्वा नेया जनहास्यकारिणी, तदेनां कुमारिकां कृत्वा नयामि।' एवं सा कन्यका कृता। तथाऽनुष्ठिते कन्यासहितं मुनिमवलोक्य पत्नी पप्रच्छ—'भगवन्! कुत इयं कन्या?' स आह—'एषा मूषिका श्येनभयाच्छरणार्थिनी कन्यारूपेण तव गृहमा-

नीता । तत्त्वया यत्नेन रणक्षीया । भूयोऽप्येनां मूषिकां करिष्यामि ।' सा प्राह—'भगवन् ! मैवं कार्षीः । अस्यास्त्वं धर्मपिता ।' उक्तं च—

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥ २०८ ॥

इसलिये व्यर्थ वकवाद करने से क्या लाभ ? तुम चले जाओ, नहीं तो शाप दे दूँगा । अनन्तर श्येन के चले जाने पर मूषिका ने मुनि से कहा—'भगवन् ! मुझे अपने स्थान पर ले चलो, नहीं तो अन्य दुष्ट पक्षी मुझे मार डालेगा । इसलिये मैं वहीं तुम्हारे स्थान पर ही तुम्हारे दिये हुए मुष्टि-परिमित अन्न से अपना समय बिता दूँगी । उदारचेता मुनि ने करुणापूर्वक विचार किया—'इस चुहिया को हाथ में रखकर मैं कैसे ले जाऊँ ? इससे मनुष्य हँसी करेंगे, इसलिये इसे पुत्रिका बनाकर ले चलूँ ।' तब उसको कन्या बना दिया । ऐसा करने पर (मूषिका को लड़की बनाकर ले जाने पर) कन्या-सहित मुनि को देखकर पत्नी ने पूछा—'भगवन् ! यह लड़की कहाँ से मिली ?' उसने कहा—'बाज के डर से रक्षा चाहने वाली इस मूषिका को कन्या बनाकर तुम्हारे घर लाया हूँ । तुम यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करना । इसको मैं फिर भी मूषिका बना दूँगा ।' उसने कहा—'भगवन् ! ऐसा न कीजिये । तुम इसके धर्मपिता हो ।' कहा भी है—

पैदा करने वाला, उपनयन संस्कार (यज्ञोपवीत) करने वाला, विद्याप्रदान करने वाला, अन्नदाता और भय से रक्षा करने वाला ये पाँच पिता माने गये हैं ।

तत्त्वयाऽस्याः प्राणप्रदत्ताः । अपरं ममाप्यपत्यं नास्ति । तस्मादेषा मम सुता भविष्यति । तथाऽनुष्ठिते सा कन्या शुक्लपक्षचन्द्रकलिकेव नित्यं वृद्धिं प्राप्नोति । साऽपि तस्य मुनेः शुश्रूषां कुर्वती सपत्नीकस्य यौवनमाश्रयात् । अथ तां यौवनोन्मुखीमवलोक्य शालङ्कायनः स्वपत्नीमुवाच—'प्रिये यौवनोन्मुखी वर्तते इयं कन्या । अनर्हा सा साम्प्रतं मद्गृहवासस्य ।' उक्तं च—

अनूढा मन्दिरे यस्य रजः प्राप्नोति कन्यका ।
पतन्ति पितरस्तस्य स्वर्गस्था अपि तैर्गुणैः ॥ २०९ ॥

तुमने इसको प्राण प्रदान किया है । दूसरी बात यह कि मेरी कोई सन्तान भी नहीं है । इसलिये यह मेरी पुत्री होकर रहेगी । ऐसा करने पर वह कन्या

शुक्लपक्ष की चन्द्र-कला के समान दिन-दिन बढ़ने लगी। वह कन्या पत्नी सहित मुनि की सेवा करती हुई शीघ्र ही युवावस्था को प्राप्त हुई। अनन्तर कन्या को युवती होते देख शालङ्कायन ने पत्नी से कहा—प्रिये ! यह कन्या युवावस्था को प्राप्त हो रही है, अब यह हमारे घर रहने योग्य नहीं है। कहा भी है :—

जिस पुरुष के घर कन्या अविवाहित रहकर रजस्वला होती है, स्वर्ग को प्राप्त हुए भी उसके पितृ-गण (बाप, दादा आदि) विवाह से पूर्व ही रजस्वला होने से उत्पन्न अधर्म आदि गुणों (दोषों) के कारण स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं।

वरं वरयते कन्या माता वित्तं पिता श्रुतम्।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः ॥ २१० ॥

(विवाह के समय) कन्या उत्तम पति चाहती है, माता धन देखती है, पिता (दामाद की) विद्या पर ध्यान देता है, बन्धु लोग खानदान देखते हैं और अन्य (बराती लोग) स्वादिष्ट भोजन ही चाहते हैं ॥ २१० ॥

तथा च—

यावन्न लज्जते कन्या यावत्क्रीडति पांसुना।
यावत्तिष्ठति गोमार्गे तावत्कन्यां विवाहयेत् ॥ २११ ॥

जब तक कन्या लजाती नहीं, जब तक धूल के साथ खेले और जब तक गौओं के मार्ग में घूमें तभी तक उसका विवाह कर देना चाहिए ॥ २११ ॥

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठभ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २१२ ॥

रजस्वला कन्या को देखने से माता, पिता और ज्येष्ठ भ्राता ये तीनों नरकभागी होते हैं ॥ २१२ ॥

तथा च—

कुलञ्च शीलञ्च सनाथतां च विद्यां च वित्तं च वपुर्वयश्च।
एतान्गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥२१३॥

उत्तम वंश, सत्स्वभाव, पितादि रक्षक का जीवित होना, धन, रूप अथवा शरीर-संगठन और आयु इन सात गुणों की अच्छे प्रकार परीक्षा करके विद्वान् पुरुषों को कन्या का विवाह कर देना चाहिये, इसके अतिरिक्त अन्य किसी बात के विचार करने की आवश्यकता नहीं है ॥ २१३ ॥

तद्यद्यस्या रोचते तद्भगवन्तमादित्यमाकार्यं तस्मै प्रयच्छामि उक्तं च—

अनिष्टः कन्यकाया यो वरो रूपान्वितोऽपि यः ।
यदि स्यात्तस्य नो देया कन्या श्रेयोऽभिवाञ्छता ॥ २१४॥

इसलिये यदि यह चाहे तो मैं भगवान् सूर्य को बुलाकर उन्हें दे सकता हूँ । कहा भी है :—

भविष्य में (परिणाम में) सुख चाहने वाले पुरुष को चाहिए कि वह उस पुरुष को अपनी कन्या न दे जिसे कन्या पसन्द न करे, वह सुन्दर ही क्यों न हो ॥ २१४ ॥

सा प्राह—'को दोषोऽत्र विषये । एवं क्रियताम् ।' अथ मुनिना रविराहूतः । वेदमन्त्रामन्त्रणप्रभावात्तत्क्षणादेवाभ्युपगम्यादित्यः प्रोवाच—'भगवन् ! वद द्रुतं, किमर्थमहमाहूतः ?' स आह—'एषा मदीया कन्यका तिष्ठति । यद्येषा त्वां वृणोति तद्युद्वहस्व' इति । एवमुक्त्वा भगवाँस्तस्या दर्शितः, प्रोवाच—'पुत्रि ! किं तव रोचत एष भगवाँस्त्रैलोक्यदीपः ।' सा प्राह—तात ! अतिदहनात्मकोऽयं, नाहमेनमभिलषामि । अस्मादपि य उत्कृष्टतरः स आहूयताम् ।' अथ तस्यास्तद्वचनमाकर्ण्य भास्वरोऽपि तां मूषिकां विदित्वा निःस्पृहस्तमुवाच—'भगवन् ! अस्ति ममाप्यधिको मेघो येनाच्छादितस्य मे नामाऽपि न ज्ञायते, अथ मुनिना मेघमप्याहूय कन्याभिहिता—'एष ते रोचते ?' सा प्राह—कृष्णवर्णोऽयं जडात्मा च, तदस्मादन्यस्य कस्यचित्प्रधानस्य मां प्रयच्छ ।' अथ मुनिना मेघोऽपि पृष्टः—भोः ! त्वत्तोऽप्यधिकः कोऽप्यस्ति ?' स आह—'मत्तोऽप्यधिकोऽस्ति वायुः । वायुना हतोऽहं सहस्रधा यामि ।' तच्छ्रुत्वा मुनिना वायुराहूतः, आह च—'पुत्रिके किमेष वायुस्ते विवाहाय उत्तमः प्रतिभाति ?' सा आह—'प्रबलोऽप्ययं चञ्चलः । तदभ्यधिकः कश्चिन्नदाहूयताम् ।' मुनिराह—'भो वायो ! त्वत्तोऽप्यधिकोऽस्ति कश्चित् ?' स आह - मत्तोऽप्यधिकोऽस्ति पर्वतो येन संस्तभ्य बलवानप्यहं ध्रिये ।' अथ मुनिः पर्वतमाहूय कन्याया अदर्शयत्—'पुत्रिके ! त्वामस्मै प्रयच्छामि ?' स आह—'तात ! कठिनात्मकोऽयं स्तब्धश्च । तदन्यस्मै देहि माम् ।' अथ स मुनिना पृष्टः—'यद्भो पर्वतराज ! त्वत्तोऽप्यधिकः कश्चिदस्ति ?' स आह—'सन्ति

मत्तोऽप्यधिका मूषकाः, ये मद्देहं बलात्सर्वतो भेदयन्ति।' तदाकर्ण्य मुनिर्मूषिकमाहूय तस्या अदर्शयत्—'पुत्रिके ! एष ते प्रतिभाति मूषकराजो येन यथोचित्तमनुष्ठीयते।' साऽपि तं दृष्ट्वा स्वजातीय एष इति मन्यमाना पुलकोद्भूषितशरीरा प्रोवाच—'तात ! मां मूषिकां कृत्वाऽस्मै प्रयच्छ येन स्वजातिविहितं गृहधर्ममनुतिष्ठामि।' तच्छ्रुत्वा तेन स्त्रीधर्मविचक्षणेन तां मूषिकां कृत्वा मूषकाय प्रदत्ता। अतोऽहं ब्रवीमि सूर्यं भर्तारमुत्सृत्य' इत्यादि।

वह बोली—'इसमें क्या हानि है ? (कुछ हानि नहीं) ऐसा कर लीजिये। तब मुनि ने सूर्य को बुलाया। वेदमन्त्रों द्वारा आह्वान के प्रभाव से उसी क्षण आकर सूर्य ने कहा—भगवन् ! जल्दी कहिये मुझे क्यों बुलाया है ? उसने कहा—'यह मेरी पुत्री खड़ी है, यदि यह तुम्हें पसन्द करे तो इसके साथ विवाह कर लो।' यह कह कर उसे भगवान् को दिखाते हुए अपनी पुत्री से कहा—'क्या तुम्हें यह त्रैलोक्य-प्रकाशक भगवान् सूर्य पसन्द हैं ?' उसने कहा—'पिता जी यह अत्यन्त उष्ण है, मैं इसे नहीं चाहती, इससे भी यदि कोई श्रेष्ठ हो तो उसे बुलाओ !' उसका यह वचन सुनकर भगवान् सूर्य ने भी उसे मूषिका समझ कर विरक्त हो कहा—'भगवन् ! मुझसे भी श्रेष्ठ मेघ है जिससे ढके जाने पर मेरा नाम भी नहीं जाना जाता है। (मेरा अस्तित्व भी मिट सा जाता है।) अनन्तर मनि ने मेघ को बुलाकर कन्या से कहा—'पुत्रि ! क्या तुम्हें यह पसन्द है ?' उसने कहा—यह काला तथा मूर्ख है (और जलस्वरूप है)। इसलिये इससे श्रेष्ठ किसी दूसरे को मुझे दो।' तब मुनि ने मेघ से पूछा—'तुमसे भी कोई श्रेष्ठ है ?' उसने कहा—'वायु मुझसे भी श्रेष्ठ है, वायु से ताडित होकर मैं छिन्न-भिन्न हो जाता हूँ।' यह सुन कर मुनि ने वायु को बुलाया और पुत्री से कहा—'पुत्रि ! क्या तुम्हें विवाह के लिये यह वायु अच्छा लगता है ?' उसने कहा—'यह बलवान् होते हुए भी चञ्चल है। इससे भी किसी उत्तम को बुलाओ।' मुनि ने कहा—'हे वायो ! तुमसे भी कोई श्रेष्ठ है ?' वह बोला—'मुझसे भी पर्वत उत्तम है जिससे रुककर बलवान् होता हुआ भी मैं आगे नहीं बढ़ सकता (जहाँ का तहाँ खड़ा रह जाता) हूँ।' तब मुनि ने पर्वत को बुलाकर कन्या को दिखाया—'पुत्रि ! तुम्हें मैं इसे दें दूँ ?' उसने कहा—'यह अत्यन्त कठोर और निश्चल है। इसलिये मुझे किसी अन्य को दो।' तब मुनि ने उससे पूछा—'हे पर्वतराज ! तुम से भी कोई श्रेष्ठ है ?' उसने कहा—

'मुझसे भी श्रेष्ठ चूहे हैं जो जबर्दस्ती मेरे शरीर को विदीर्ण कर देते हैं।' यह सुनकर मुनि ने मूषकराज को बुलाकर उसे दिखाया—'पुत्री ! यह मूषकराज क्या तुम्हें पसन्द है ? जिससे यथायोग्य कार्य किया जाय। (तुम्हें मूषिका बनाकर इसे दे दिया जाय।)' वह भी उसको देखकर उसे अपनी जाति का समझती हुई अत्यन्त प्रसन्न हुई, उसका शरीर रोमाञ्च से सुशोभित हो गया, वह बोली—'हे तात ! मुझे मूपिका बनाकर इसे सौंप दो, जिससे अपनी जाति-समुचित गृहस्थधर्म का पालन करूँ।' यह सुनकर स्त्री-धर्म को जाननेवाले मुनि ने उसे मूषिका बनाकर मूषक को सौंप दिया। इसलिये मैं कहता हूँ—'सूर्य पति को छोड़ कर' इत्यादि।

अथ रक्ताक्षवचनमनादृत्य तैः स्ववंशविनाशाय स स्वदुर्गमुपनीतः। नीयमानश्चान्तर्लीनमवहस्य स्थिरजीव्यचिन्तयत्—

हन्यतामिति येनोक्तं स्वामिनो हितवादिना।
स एवैकोऽत्र सर्वेषां नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ २१५ ॥

अनन्तर रक्ताक्ष की बात पर ध्यान न देकर अपने कुल का नाश करने के लिये वे लोग उसे (स्थिरजीवि को) अपने दुर्ग में ले गये। ले जाये जाते हुए स्थिरजीवी ने अन्दर ही अन्दर हँस कर विचार किया :—

स्वामी की भलाई की बात कहने वाला जिस (रक्ताक्ष) ने कहा था कि 'इसे मार डालो' वह एक ही इन सब में नीतिशास्त्र के वास्तविक अभिप्राय को समझता है ॥ २१५ ॥

तद्यदि तस्य वचनमचरिष्यन्नेते, ततो न स्वल्पोऽप्यनर्थोऽभविष्यदेतेषाम्। अथ दुर्गद्वारं प्राप्यारिमर्दनोऽब्रवीत् भो भो ! हितैषिणोऽस्य स्थिरजीविनो यथासमीहितं स्थानं प्रयच्छत।' तच्च श्रुत्वा स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्—'मया तावदेतेषां वधोपायश्चिन्तनीयः स मया मध्यस्थेन न साध्यते। यतो मदीयमिङ्गितादिकं विचारयन्तस्तेऽपि सावधाना भविष्यन्ति। तद्दुर्गद्वारमधिश्रितोऽभिप्रेतं साधयामि।' इति निश्चित्योलूकपतिमाह—'देव ! युक्तमिदं यत्स्वामिना प्रोक्तम्, परमहमपि नीतिज्ञस्तेऽहितश्च। यद्यप्यनुरक्तः शुचिस्तथापि दुर्गमध्ये आवासो नार्हः। तदहमत्रैव दुर्गद्वारस्थः प्रत्यहं भवत्पादपद्मरजः पवित्रीकृततनुः सेवां करिष्यामि।' 'तथा' इति प्रतिपन्ने प्रतिदिनमुलूकपतिसेवकास्ते प्रकाममाहारं कृत्वोलूकराजादेशात्प्रकृष्टमांसाहारं स्थिरजीविने प्रयच्छन्ति।

अथ कतिपयैरेवाहोभिर्मयूर इव स बलवान् संवृतः। अथ रक्ताक्षः स्थिरजीविनं पोष्यमाणं दृष्ट्वा सविस्मयो मन्त्रिजनं राजानं च प्रत्याह—'अहो मूर्खोऽयं मन्त्रिजनो भवाँश्चेत्येवमहमवगच्छामि।' उक्तं च—

पूर्वं तावदहं मूर्खो द्वितीयः पाशबन्धकः।
ततो राजा च मन्त्री च सर्वं वै मूर्खमण्डलम्॥ २१६॥

ते प्राहुः—'कथमेतत् ?' रक्ताक्षः कथयति—

अगर ये रक्ताक्ष के अनुसार चलते तो इनकी कुछ भी हानि न होती। दुर्ग-द्वार पर पहुँच कर अरिमर्दन ने कहा—'ओह ! हमारे हितैषी इस स्थिर-जीवि को इसकी इच्छानुसार स्थान दो।' यह सुन स्थिरजीवी सोचने लगा—'मुझे इनके नाश का उपाय सोचना है परन्तु दुर्ग के अन्दर रहते हुए मैं उसे ठीक-ठीक नहीं कर सकता क्योंकि मेरी चेष्टाओं को देखकर ये लोग सावधान हो जायेंगे। इसलिये दुर्गद्वार पर रहकर अपना मतलव (काम) सिद्ध करूँ।' यह निश्चय कर उलूकराज से बोला—'देव ! आपने जो कहा बिलकुल ठीक है परन्तु मैं भी नीतिज्ञ और तुम्हारा (स्वभाव से) शत्रु हूँ। यद्यपि यह ठीक है कि मैं आपका भक्त तथा ईमानदार हूँ तो भी दुर्ग के बीच में मेरा रहना उचित नहीं है। इसलिये मैं यहीं दुर्ग-द्वार पर रहते हुए प्रतिदिन आपके चरण-कमलों की धूलि से अपने शरीर को पवित्र करता हुआ आपकी सेवा करूँगा। 'बहुत अच्छा' कह कर उलूकराज के स्वीकार कर लेने पर, उसकी आज्ञा से उलूक-पति के सेवक उत्तम उत्तम भोजन बनाकर स्थिरजीवी को देने लगे। कुछ ही दिन में वह (स्थिरजीवी) मयूर के समान बलवान् हो गया। रक्ताक्ष ने स्थिरजीवी को पुष्ट होता देखकर राजा और मन्त्रियों से आश्चर्यपूर्वक कहा—'मैं समझता हूँ कि ये मन्त्री लोग और आप मूर्ख ही हैं।' कहा भी है :—

पहिले तो मैं ही मूर्ख, दूसरा व्याध मूर्ख है, फिर फिर राजा और मन्त्री मूर्ख हैं। इस तरह यहाँ सब मूर्खों की ही मण्डली स्थित है॥ २१६॥

उसने पूछा—'यह कैसे ?' रक्ताक्ष ने कहा—

कथा १३

अस्ति कस्मिंश्चित्पर्वतैकदेशे महान् वृक्षः। तत्र च सिन्धुकनामा कोऽपि पक्षी प्रतिवसति स्म। तस्य पुरीषे सुवर्णमुत्पद्यते। अथ कदा-

चित्तमुद्दिश्य व्याधः कोऽपि समाययौ । स च पक्षी तदग्रत एव पुरीषमुत्ससर्ज । अथ पातसमकालमेव तत्सुवर्णीभूतं दृष्ट्वा व्याधो विस्मयमगमत्—'अहो मम शिशुकालादारभ्य शकुनिबन्धव्यसनिनोऽशीतिवर्षाणि समभूवन्, न च कदाचित्पक्षिपुरीषे सुवर्णं दृष्टम्' इति विचिन्त्य तत्र वृक्षे पाशं बबन्ध । अथासावपि पक्षी मूर्खस्तत्रैव विश्वस्तचित्तो यथापूर्वमुपविष्टस्तत्कालमेव पाशेन बद्धः । व्याधस्तु तं पाशादुन्मुच्य पञ्जरके संस्थाप्य निजावासं नीतवान् । अथ चिन्तयामास—'किमनेन सापायेन पक्षिणाहं करिष्यामि ? यदि कदाचित्कोऽप्यमुमीदृशं ज्ञात्वा राज्ञे निवेदयिष्यति तन्नूनं प्राणसंशयो मे भवेत्, अतः स्वयमेव पक्षिणं राज्ञे निवेदयामि' इति विचार्य तथैवानुष्ठितवान् ।

अथ राजाऽपि तं पक्षिणं दृष्ट्वा विकसितनयनवदनकमलः परां तुष्टिमुपगतः । प्राह चैवं—हंहो रक्षापुरुषाः ! एनं पक्षिणं यत्नेन रक्षत । अशनपानादिकं चास्य यथेच्छं प्रयच्छत ।' अथ मन्त्रिणाभिहितम्—'किमनेनाश्रद्धेयव्याधवचनमात्रपरिगृहीतेनाण्डजेन ? किं कदाचित्पक्षीपुरीषे सुवर्णं सम्भवति ? तन्मुच्यतां पञ्जरबन्धनादयं पक्षी ।' इति मन्त्रिवचनाद्राज्ञा मोचितोऽसौ पक्ष्युन्नतद्वारतोरणे समुपविश्य सुवर्णमयीं विष्ठां विधाय 'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इति श्लोकं पठित्वा यथासुखमाकाशमार्गेण प्रायात् । अतोऽहं ब्रवीमि—'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इति ।

किसी पर्वत के एक भाग में एक बड़ा वृक्ष था । वहाँ सिन्धुक नामक कोई पक्षी रहता था । उसकी बीट में सुवर्ण पैदा हुआ करता था । किसी समय कोई शिकारी उसके पास आया । पक्षी ने उसके सामने ही बीट को, गिरने के साथ ही उसे सुवर्ण में परिवर्तित होता देख व्याध को आश्चर्य हुआ । वह सोचने लगा—'ओह ! बचपन से ही पक्षियों को पकड़ने में आसक्त मेरे ८० वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु कभी भी मैंने पक्षी की बीट में सुवर्ण नहीं देखा ।' यह विचार कर उस वृक्ष पर उसने जाल लगा दिया । वह मूर्ख पक्षी भी विश्वस्त-चित्त से पहिले की ही तरह बैठा रहा । उसी समय पाश में बँधा गया । व्याध पाश से खोल कर और उसे पिंजरे में बन्द कर अपने घर ले गया । तब वह सोचने लगा—विपत्ति में फँसाने वाले इस पक्षी को लेकर मैं क्या करूँगा ? यदि कोई इसकी यह विशेषता जान कर राजा को सूचित कर देगा तो निश्चय ही मेरे प्राण संशय में पड़ जायेंगे । इसलिये मैं स्वयं ही इस

पक्षी को राजा की भेंट कर दूं (श० सूचित कर दूं)' यह विचार कर उसने वैसा ही किया।

उस पक्षी को देख कर राजा के नेत्र और मुखरूपी कमल खिल गये और वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे कहने लगे—'राजपुरुषो ! यत्नपूर्वक इस पक्षी की रक्षा करो, खाने-पीने की वस्तुएँ इच्छानुसार दो।' तब मन्त्री ने कहा—'केवल विश्वास के अयोग्य इस व्याध के वचन पर विश्वास कर इस पक्षी के पकड़ने से क्या लाभ ? क्या कभी पक्षी के मल में भी सुवर्ण हो सकता है ? इसलिये इसे पिंजरे से मुक्त कर दो।' मन्त्री के इस कथन के अनुसार राजा ने उसे छोड़ दिया। छूटते ही वह दरवाजे के ऊँचे तोरण द्वार पर जा बैठा और सुवर्णरूपी बीट करके 'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इत्यादि श्लोक पढ़ कर इच्छानुसार आकाश में उड़ गया। इसलिये मैं कहता हूँ–'पहिले मैं मूर्ख' इत्यादि।

अथ ते पुनरपि प्रतिकूलदैवतया हितमपि रक्ताक्षवचनमनादृत्य भूयस्तं प्रभूतमांसादिविविधाहारेण पोषयामासुः। अथ रक्ताक्षः स्ववर्गमाहूय रहः प्रोवाच—'अहो ! एतावदेवास्मद्भूपतेः कुशलं दुर्गञ्च; तदुपदिष्टं मया यत्कुलक्रमागतः सचिवोऽभिधत्ते। तद्वयमन्यत्पर्वतदुर्गं सम्प्रति समाश्रयामः। उक्तं च यतः—

अनागतं यः कुरुते स शोभते, स शोच्यते यो न करोत्यनागतम्।
वनेऽत्रसंस्थस्य समागता जरा, बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता॥

ते प्रोचुः—'कथमेतत् ?' रक्ताक्षः कथयति—

फिर भी वे (उलूक) दैव के प्रतिकूल होने के कारण हितकारी भी रक्ताक्ष का वचन न मान कर मांस आदि तरह-तरह के भोजनों से स्थिरजीवी का पोषण करने लगे। तब रक्ताक्ष ने अपने लोगों को एकान्त में बुला कर कहा—'हमारे इस राजा की इतना ही (इस समय तक ही) कुशलता थी और अभी तक ही दुर्ग सुरक्षित था।' एक कुलक्रमागत मन्त्री को जो कहना चाहिए वह मैं कह चुका (श०–उपदेश दे चुका)। अब हम किसी दूसरे पर्वतरूपी दुर्ग में जाकर रहेंगे। क्योंकि कहा भी है :—

जो मनुष्य आने वाले (दुःख का प्रतिकार) को सोचता है वही शोभा पाता है (सुख से रहता है) और जो आने वाले विपत्ति का पूर्व से ही प्रतिकार नहीं सोचता वह पछताता है। इस वन में रहते हुए मेरा बुढ़ापा आ गया परन्तु बिल की आवाज मैंने कभी नहीं सुनी॥ २१७॥

उन्होंने पूछा—'यह कैसे ?' रक्ताक्ष ने कहा—

कथा ५

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे खरनखरो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। स कदाचिदितश्चेतश्च परिभ्रमन्क्षुत्क्षामकण्ठो न किञ्चिदपि सत्त्वमाससाद। ततश्चास्तमनसमये महतीं गिरिगुहामासाद्य प्रविष्टश्चिन्तयामास—'नूनमेतस्यां गुहायां रात्रौ केनापि सत्त्वेनागन्तव्यम्; तन्निभृतो भूत्वा तिष्ठामि।' एतस्मिन्नतरे तत्स्वामी दधिपुच्छो नाम शृगालः समायातः स च यावत् पश्यति तावत्सिंहपदपद्धतिर्गुहायां प्रविष्टा, न च निष्क्रान्ता इति दृष्टवान्। ततश्चाचिन्तयत्—'अहो विनष्टोऽस्मि, नूनमस्यान्तर्गतेन सिंहेन भाव्यम्; तत्किं करोमि? कथं ज्ञास्यामि?' एवं विचिन्त्य द्वारस्थः फूत्कर्तुमारब्धः—'अहो बिल!' 'अहो विल!' इत्युक्त्वा तूष्णीम्भूय भूयोऽपि तथैव प्रत्यभाषत—'भोः! किं न स्मरसि, यन्मया त्वया सह समयः कृतोऽस्ति, यन्मया बाह्यात्समागतेन त्वं वक्तव्यः, त्वया चाहमाकरणीयः इति? तद्यदि मां नाह्वयसि ततोऽहं द्वितीयं बिलं यास्यामि।' अथ तच्छ्रुत्वा सिंहश्चिन्तितवान्—'नूनमेषा गुहाऽस्य समागतस्य सदा समाह्वानं करोति, परमद्य मद्भयान्न किंचिद्ब्रूते।' अथवा साध्विदमुच्यते—

> **भयसंत्रस्तमनसां हस्तपादादिकाः क्रियाः।**
> **प्रवर्तन्ते न वाणी च वेपथुश्चाधिको भवेत्॥ २१८॥**

किसी वन में खरनखर (तीक्ष्ण नाखून वाला) नाम का सिंह रहता था। एक समय वह भूख से व्याकुल हो (शिकार की तलाश में) इधर-उधर भटकता रहा परन्तु उसे कोई जानवर न मिला। तब सायङ्काल के समय एक बड़ी गुफा के पास पहुँच उसमें प्रविष्ट होकर सोचने लगा—'निश्चय ही रात्रि में कोई जानवर यहाँ आयेगा। इसलिये चुपचाप यहाँ बैठ जाऊँ। इसी समय उस गुफा का स्वामी दधिपुच्छ नामक शृगाल आया। उसने आकर देखा कि सिंह के पदचिह्न गुहा में प्रविष्ट हुए हैं (अन्दर जाने के सिंह के निशान हैं) परन्तु निकलने का नहीं (निकलते समय के पदचिह्न नहीं हैं)। तब वह सोचने लगा—'ओह! मैं तो मारा गया, निश्चय ही इस (गुहा) के अन्दर सिंह है। अब मैं क्या करूँ? कैसे (ठीक-ठीक बात) जानूँ?' यह सोच कर द्वार पर खड़े होकर वह पुकारने लगा—'अये बिल, अये बिल।' यह कह कर और कुछ देर चुप रहकर फिर उसी

तरह कहने लगा–'हे बिल ! क्या तुझे याद नहीं कि मैंने तेरे साथ निश्चय किया हुआ है कि बाहर से आकर मैं तुझे पुकारूँगा और तू मुझे बुलाया करेगा। यदि तुम मुझे उत्तर नहीं देते हो तो मैं दूसरे बिल में चला जाऊँगा।' यह सुन सिंह ने सोचा—'सम्भवतः यह गुफा इसके आने पर सदा ही इसे बुलाती है परन्तु आज मेरे भय से नहीं बुलाती। अथवा यह ठीक कहा है :—

भयभीत हुए पुरुषों के मन, हाथ, पैर और वाणी काम नहीं करता और उनके शरीर में कंपकपी अधिक होती है ॥ २१८ ॥

तदहमस्याह्वानं करोमि येन तदनुसारेण प्रविष्टोऽयं मे भोज्यतां यास्यति। एवं सम्प्रधार्य सिंहस्तस्याह्वानमकरोत्। अथ सिंहशब्देन सा गुहा प्रतिरवसम्पूर्णा अन्यानपि दूरस्थानरण्यजीवाँस्त्रासयामास। शृगालोऽपि पलायमान इमं श्लोकमपठत्–'अनागतं यः कुरुते स शोभते' इत्यादि।

इसलिये मैं इसे बुलाऊँ जिससे उसके अनुसार यह अन्दर आकर मेरा भोजन बन जावे (मैं इसे खा लूँ)। यह निश्चय कर सिंह ने उसे बुलाया। अनन्तर सिंह के शब्द की प्रतिध्वनि से परिपूर्ण उस गुफा ने दूरवर्ती भी वन्य-पशुओं को भयभीत कर दिया। भागते हुए शृगाल ने यह श्लोक पढ़ा–'अनागत' इत्यादि।

तदेवं मत्वा युष्माभिर्मया सह गन्तव्यमिति।' एवमभिधायात्मानुयायिपरिवारानुगतो दूरदेशान्तरं रक्ताक्षो जगाम।

अथ रक्ताक्षे गते स्थिरजीव्यतिहृष्टमना व्यचिन्तयत्—'अहो ! कल्याणस्माकमुपस्थितं, यद्रक्ताक्षो गतः स दीर्घदर्शी एते च मूढमनसः। ततो मम सुखघात्याः सञ्जाताः। उक्तश्च यतः—

न दीर्घदर्शिनो यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः।
क्रमायाता ध्रुवं तस्य न चिरात्स्यात्परिक्षयः॥ २१९ ॥

इसलिये यह समझकर तुम लोगों को मेरे साथ चलना चाहिए। यह कह कर अपने अनुचर तथा परिवार के साथ ले रक्ताक्ष दूर देश चला गया।

तब रक्ताक्ष के चले जाने पर स्थिरजीवी प्रसन्न मन हो सोचने लगा—रक्ताक्ष का चला जाना हमारे लिये अत्यन्त ही लाभदायक है। क्योंकि वह दीर्घदर्शी (विचारशील) था और ये मूर्ख हैं। अब मैं इन्हें आसानी से ही नष्ट कर दूँगा। क्योंकि कहा भी है :—

जिस राजा के मन्त्री वंशपरम्परागत हितैषी और दूरदर्शी नहीं होते उसका शीघ्र ही नाश हो जाता है—यह बात सत्य है ॥ २१९ ॥

अथवा साध्विदमुच्यते—

मन्त्रिरूपा हि रिपवः सम्भाव्यास्ते विचक्षणैः ।
ये सन्तं नयमुत्सृज्य सेवन्ते प्रतिलोमतः ॥ २२० ॥

अथवा यह ठीक ही कहा है :—

जो मन्त्री उत्तम नीतिमार्ग को छोड़कर उलटी नीति से काम लेते हैं, विद्वानों को वे मन्त्री रूपधारी शत्रु ही समझने चाहिए ॥ २२० ॥

एवं विचिन्त्य स्वकुलाय एकैकां वनकाष्ठिकां गुहाप्रदीपनार्थं दिने-दिने प्रक्षिपति । न च ते मूर्खा उलूका विजानन्ति, यदेष कुलायमस्मद्दाहाय वृद्धिं नयति । अथवा साध्विदमुच्यते—

अमित्रं कुरुते मित्रं, मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
शुभं वेत्त्यशुभं पापं भद्रं दैवहतो नरः ॥ २२१ ॥

यह सोच कर (स्थिरजीवी) गुहा को जलाने के लिये प्रतिदिन एक एक जंगली लकड़ी अपने घोंसले में डालने लगा । वे मूर्ख उलूक उसे नहीं समझ पाते थे कि यह हमें भस्म करने के लिये घोंसले को बढ़ा रहा है । अथवा यह ठीक ही कहा है :—

दुर्भाग्य से मारा गया पुरुष शत्रु को मित्र समझता है और मित्र से द्वेष करता है तथा उसे दुःख देता है, पुण्य को पाप और पाप को पुण्य समझता है ॥२२१॥

अथ कुलायव्याजेन दुर्गद्वारे कृते काष्ठनिचये, सञ्जाते सूर्योदये, अन्धतां प्राप्तेषूलूकेषु सत्सु स्थिरजीवी शीघ्रमृष्यमूकं गत्वा मेघवर्णमाह 'स्वामिन् ! दाहसाध्या कृता रिपुगुहा; तत्सपरिवारः समेत्यैकेका वनकाष्ठिकां ज्वलन्ती गृहीत्वा गुहाद्वारेऽस्मत्कुलाये प्रक्षिप, येन सर्वे शत्रवः कुम्भीपाकनरकप्रायेण दुःखेन म्रियन्ते तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो मेघवर्ण आह— 'तात ! कथयात्मवृत्तान्तम्, चिरादद्य दृष्टोऽसि ।' स आह—'वत्स ! नायं कथनस्य कालः । यतः कदाचित्तस्य रिपोः कश्चित्प्रणिधिर्ममेहागमनं निवेदयिष्यति । यज्ज्ञानादन्धोऽन्यत्रापसरणं करिष्यति । तत्त्वर्यताम् । उक्तं च—

शीघ्रकृत्येषु कार्येषु विलम्बयति यो नरः ।
तत्कृत्यं देवतास्तस्य कोपाद्विघ्नन्त्यसंशयम् ॥ २२२ ॥

अनन्तर जब (स्थिरजीवि) घोंसला बनाने के बहाने दरवाजे पर लकड़ियाँ इकट्ठी कर चुका तब वह एक दिन सूर्योदय के समय उल्लुओं के अन्धे होने पर ऋष्यमूक पर्वत पर जाकर मेघवर्ण से बोला—'स्वामिन् ! शत्रुओं की गुफा जलाने योग्य कर दी है, इसलिये परिवार सहित चल कर जलती हुई वन—लकड़ी लेकर गुहा-द्वार पर हमारे घोंसले में डाल दो जिससे सब शत्रु कुम्भी-पाक नामक नरक के समान दुःख भोग कर मर जायें।' यह सुन कर प्रसन्न हो मेघवर्ण ने कहा—'हे तात (मान्य) ! अपना समाचार कहिए, बहुत दिनों के बाद आज दिखाई पड़े हो।' उसने कहा—'वत्स ! यह कहने का समय नहीं है क्योंकि यदि कदाचित् उस शत्रु के किसी गुप्तचर ने मेरा यहाँ आना उससे सूचित कर दिया तो वह अन्धा (उलूकराज) कहीं दूसरे जगह चला जायगा। इसलिये शीघ्रता करें। कहा भी है :—

जो मनुष्य शीघ्र करने योग्य कार्यों में भी देर लगाता है उसके उस कार्य को देवता लोग भी क्रुद्ध होकर नष्ट कर देते हैं॥ २२२॥

तथा च—

यस्य यस्य हि कार्यस्य फलितस्य विशेषतः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तत्फलम्॥ २२३॥

और भी—शीघ्र न किये जाने वाले जिस किसी भी कार्य के (साधारणतया सब ही कार्यों के) विशेषतः फलोन्मुख (जिसका परिणाम शीघ्र ही उत्पन्न होने वाला है) कार्य के फल को समय पी लेता है (नष्ट कर देता है)॥ २२३॥

तद्गुहायामायातस्य ते हतशत्रोः सर्वं सविस्तरं निर्व्याकुलतया कथयिष्यामि अथासौ तद्वचनमाकर्ण्य सपरिजन एकैकां ज्वलन्तीं वनकाष्ठिकां चञ्च्वग्रेण गृहीत्वा तदगुहाद्वारं प्राप्य स्थिरजीविकुलाये प्राक्षिपत्। ततः सर्वे ते दिवान्धा रक्ताक्षवाक्यानि स्मरन्तो द्वारस्यावृतत्वादनिस्सरन्तो गुहामध्ये कुम्भीपाकन्यायमापन्ना मृताश्च। एवं शत्रून् निःशेषतां नीत्वा भूयोऽपि मेघवर्णस्तदेव न्यग्रोध पादपदुर्गं जगाम। ततः सिंहासनस्थो भूत्वा सभामध्ये प्रमुदितमनाः स्थिरजीविनमपृच्छत—'तात ! कथं त्वया शत्रुमध्ये गतेन एतावत्पर्यन्तं कालो नीतः ? तदत्र कौतुकमस्माकं वर्तते, तत्कथ्यताम्। यतः—

वरमग्नौ प्रदीप्ते तु प्रपातः पुण्यकर्मणाम् ।
न चारिजनसंसर्गो मुहूर्तमपि सेवितः ।। २२४ ।।

इसलिये शत्रुओं का नाश करके जब तुम गुहा में लौट आओगे तब सब बातें निःशंक हो विस्तारपूर्वक कहूँगा । तब वह मेघवर्ण उसके वचन सुनकर परिवार सहित जलती हुई एक एक लकड़ी चोंच के अग्रभाग से पकड़ कर उलूकों के गुहा द्वार पर पहुँचा और उसने स्थिरजीवी के घोंसले में उन्हें डाल दिया । तब वे दिवान्ध उल्लू रक्ताक्ष की बातें याद करने लगे परन्तु द्वार के बन्द होने के कारण बाहर न निकल सके और वहीं कुम्हार के आग में घड़ों के समान अन्दर-अन्दर जल कर भस्म हो गये । इस प्रकार शत्रुओं को समूल नष्ट कर फिर मेघवर्ण उसी न्यग्रोध वृक्षरूपी दुर्ग में जा पहुँचा । तब सिंहासन पर बैठकर सभा में (सब के समक्ष) प्रसन्नचित्त हो मेघवर्ण ने स्थिरजीवी से पूछा—'हे तात ! तुमने शत्रुओं के बीच में रहकर इतना समय किस प्रकार व्यतीत किया, इस विषय में हम लोगों को बहुत ही कूतूहल (जानने की इच्छा) है । इसलिये कहिये । क्योंकि—

साधुचरित्र पुरुषों के लिये जलती हुई अग्नि में गिरना अच्छा है परन्तु क्षणभर के लिये भी किया हुआ शत्रुजनों का संसर्ग अच्छा नहीं है।। २२४ ।।

तदाकर्ण्य स्थिरजीव्याह—'भद्र ! आगामिफलवाञ्छया कष्टमपि सेवको न जानाति । उक्तं च यतः—

कार्यस्यापेक्षया भुक्तं विषमप्यमृतायते ।
सर्वेषां प्राणिनामेव नात्र कार्या विचारणा ।। २२५ ।।

यह सुन स्थिरजीवी ने कहा–'भद्र ! भविष्य में मिलने वाले फल की इच्छा से सेवक जन कष्ट को भी कुछ नहीं समझता । जैसे कहा भी है :—

किसी कार्य विशेष की इच्छा से खाया हुआ विष भी सब ही प्राणियों को अमृत के समान काम देता है इस विषय विचार करने की आवश्यकता नहीं है ।।

उपनतभयैर्यो यो मार्गो हितार्थकरो भवेत्,
स स निपुणया बुद्ध्या सेव्यो महान् कृपणोऽपि वा ।
करिकरनिभौ ज्याघाताङ्कौ महाऽर्थविशारदौ,
रचितवलयैः स्त्रीवद्बद्धौ करौ हि किरीटिना ।।२२६।।

विपत्ति में फँसे हुए पुरुषों को चाहिए कि वे चतुर बुद्धि द्वारा अपनी भलाई करने वाले जिस किसी भी उपाय का अवलम्बन करे चाहे वह (उपाय) उत्तम

अथवा नीच ही क्यों न हो। अर्जुन ने हाथी के सूंड के तुल्य (लम्बे और मोटे) धनुष की प्रत्यञ्चा की रगड़ से जिनमें चिह्न पड़ गये थे और जो शत्रु-पराजयादि-महान् कार्यों के करने में समर्थ थे ऐसे अपनी भुजाओं को स्त्री के समान कड़ों से विभूषित किया था ॥ २२६ ॥

शक्तेनापि सता जनेन विदुषा कालान्तरापेक्षिणा,
वस्तव्यं खलु वाक्यवज्रविषमे क्षुद्रेऽपि पापे जने।
दर्वीव्यग्रकरेण धूममलिनेनायासयुक्ते च,
भीमेनातिबलेन मत्स्यभवने किं नोषितं सूदवत् ॥२२७॥

शक्तिशाली भी समझदार पुरुष को चाहिए कि वह उत्तम (अपने अभ्युदय) करने वाले समय की प्रतीक्षा करता हुआ, वज्रतुल्य कठोर वचन बोलने वाले पापी और नीच-स्वभाव के भी पुरुष के पास रहे। (देखो) अत्यन्त बलवान् भीमसेन विराट-गृह में चमचा हाथ में लिये हुए, धूम से मलिन कष्टप्रद कर्म में नियुक्त होकर रसोइये के समान क्या नहीं रहे थे? ॥ २२७ ॥

यद्वा तद्वा विषमपतितः साधु वा गर्हितं वा
कालापेक्षी हृदयनिहितं बुद्धिमान् कर्म कुर्यात्।
किं गाण्डीवस्फुरदुरुगुणास्फालनक्रूरपाणि-
र्नासील्लीलानटनविलसन्मेखली सव्यसाची ॥२२८॥

विपत्तिग्रस्त बुद्धिमान् पुरुष अच्छे समय की प्रतीक्षा करता हुआ अपना निश्चित (संकल्पित) कार्य करता रहे चाहे वह अच्छा हो या बुरा (देखो) अपने गाण्डीव धनुष की चमकदार बड़ी प्रत्यञ्चा के बार-बार खींचने से जिसके हाथ कठोर हो गये हैं ऐसे अर्जुन क्या (विराट-गृह में) विलासपूर्वक नाचने में अपनी मेखला को चमकाते हुए नहीं रहे अपितु रहे ही अर्थात् उन्होंने भी स्त्री-वेष धारण कर स्त्रियोचित कर्म करते हुए अपना व्यतीत किया ॥ २२८ ॥

सिद्धिं प्रार्थयता जनेन विदुषा तेजो निगूह्य स्वकं,
सत्त्वोत्साहवतापि दैवविधिषु स्थैर्यं प्रकार्यं क्रमात्।
देवेन्द्रद्रविणेश्वरान्तकसमैरप्यन्वितो भ्रातृभिः,
किं क्लिष्टः सुचिरं विराटभवने श्रीमान्न धर्मात्मजः ॥२२९॥

हृदय से अपने कार्य की सफलता चाहने वाले विद्वान् पुरुष को चाहिए कि

वह बलवान् और उत्साही होते हुए भी अपना तेज छिपाकर—प्रकाशित न करके भाग्य की दुर्घटनाओं में धैर्य धारण करें। (देखो) स्वयं राजलक्ष्मी से सम्पन्न तथा इन्द्र, कुबेर और यम-सदृश भाइयों के साथ रहते हुए भी युधिष्ठिर महाराज ने क्या विराट के घर चिरकाल तक कष्ट नहीं भोगा ? किन्तु भोगा ही ॥ २२९ ॥

रूपाभिजनसम्पन्नौ माद्रीपुत्रौ बलान्वितौ ।
गोकर्मरक्षाव्यापारे विराटप्रेष्यताङ्गतौ ॥ २३० ॥

सुन्दर तथा सत्कुलोत्पन्न और बलवान् माद्री-पुत्र (नकुल तथा सहदेव) गौवों की सेवा तथा रक्षा कर्म में नियुक्त होकर विराट के सेवक बने ॥२३०॥

रूपेणाप्रतिमेन यौवनगुणैः श्रेष्ठे कुले जन्मना,
कान्त्या श्रीरिव याऽत्र सापि विदशां कालक्रमादागता ।
सैरन्ध्रीति सगर्वितं युवतिभिः साक्षेपमाख्यातया,
द्रौपद्या ननु मत्स्यराजभवने घृष्टं न किं चन्दनम् ? ॥२३१॥

इस संसार में जो द्रौपदी अनुपम सौन्दर्य, तारुण्य; उत्तम कुल में जन्म और अपने लावण्य के कारण लक्ष्मी के समान थी वह भी बुरा समय आने पर, दुर्दशा को प्राप्त हुई। (देखो) युवतियों द्वारा अहङ्कारपूर्वक तिरस्कार के कारण 'सैरन्ध्री' इस नाम से पुकारी जाती हुई उस द्रौपदी ने विराट के घर क्या चन्दन नहीं घिसा ? ॥ २३१ ॥

मेघवर्ण आह—'तात ! असिधाराव्रतमिदं मन्ये यदरिणा सह संवासः ।' सोऽब्रवीत्—'देव ! एवमेतत्, परं न तादृङ्मूर्खसमागमः क्वापि मया दृष्टः, न च महाप्रज्ञमनेकशास्त्रेष्वप्रतिमबुद्धिं रक्ताक्षं बिना धीमान् । यत्कारणं तेन मदीयं यथावस्थितं चित्तं ज्ञातम् । ये पुनरन्ये मन्त्रिणस्ते महामूर्खा मन्त्रिमात्रव्यपदेशोपजीविनोऽतत्त्वकुशला, यैरिदमपि न ज्ञातम् । यतः—

अरितोऽभ्यागतो भृत्यो दुष्टस्तत्संगतत्परः ।
अपसर्पसधर्मत्वान्नित्योद्वेगी च दूषितः ॥ २३२ ॥

इस प्रकार स्थिरजीवी की बातें सुनकर मेघवर्ण ने कहा–'हे तात ! शत्रु के साथ निवास करना असि (तलवार) की तीक्ष्ण धारा पर चलने के समान ही कठिन कार्य है ।' यह सुन स्थिरजीवी ने कहा—'देव ! आपने जो कहा वह बहुत अच्छा है । किन्तु मैंने कहीं भी ऐसा मूर्ख-समुदाय और अत्यन्त बुद्धि-

मान् तथा अनेक शास्त्रों में अप्रतिहत वुद्धिवाला, रक्ताक्ष मन्त्री के समान बुद्धिमान् एक दूरदर्शी मन्त्री भी आज तक कहीं नहीं देखा था। जो कि उसने मेरे हृदय में स्थित अभिप्राय को यथार्थ जान लिया। और जो मन्त्री हैं वे अत्यन्त मूर्ख हैं, क्योंकि वे केवल मन्त्री नामधारण कर अपनी जीविका चलाने वाले हैं—कार्य करने में कुशल नहीं हैं। जो कि उन्होंने यह वात भी नहीं जानी कि :—

शत्रु के देश से (लड़ कर अथवा भाग कर) आया हुआ भृत्य (नौकर) दुष्ट होता है—सदा शत्रु के पक्ष में रहने के कारण शत्रुपक्ष का हो जाता है और उसमें सदा गुप्तचर होने की सम्भावना रहती है। ऐसे भृत्य से उद्वेग और भय सदा बना रहता है। इसलिये ऐसे भृत्यों पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये और न रखना चाहिये ॥ २३२ ॥

आसने शयने याने पानभोजनवस्तुषु।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा प्रमत्तेषु प्रहरन्त्यरयोऽरिषु ॥ २३३ ॥

शत्रु अपने शत्रुओं को बैठने, सोने, चलने और खाने-पीने के समय असावधान देख कर उन पर आक्रमण करते हैं ॥ २३३ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन त्रिवर्गनिलयं बुधः।
आत्मानमादृतो रक्षेत् प्रमादाद्धि विनश्यति ॥ २३४ ॥

इसलिये विद्वान् पुरुष धर्म-अर्थ-काम के आधारभूत अपने आपको बड़े यत्न से सब प्रकार के उपायों द्वारा बचावे क्योंकि असावधानी से मनुष्य नष्ट हो जाता है ॥२३४॥

साधु चेदमुच्यते—

सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगा दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः।
कं श्रीर्न दर्पयति कं न निहन्ति मृत्युः कं स्वीकृता न विषया परिपीडयन्ति॥

यह ठीक ही कहा है, कुपथ्य भोजन करने वाले किस पुरुष को रोग पीड़ित नहीं करते ? किस दुष्ट मन्त्री को नीतिसम्वन्धी दोष प्राप्त नहीं होते ? अर्थात् कौन अनीतिकुशल मन्त्री नीति सम्वन्धी भूलें नहीं करता ? ऐश्वर्य किसको अहङ्कारी नहीं बनाता ? भोगे जाने वाले विषय (स्त्री आदि) किसको सन्तप्त नहीं करते ? किन्तु सबको ही पीड़ित करते हैं।

लुब्धस्य नश्यति यशः पिशुनस्य मैत्री नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य॥

लोभी पुरुष की कीर्ति, चुगलखोर की मित्रता, यज्ञादि क्रियाओं के न करने वाले पुरुष का वंश, धनोपार्जन में फँसे हुए जन का धर्म, द्यूतादि में फँसे हुए का विद्याफल, कृपण का सुख और असावधान मन्त्री वाले राजा का राज्य नष्ट हो जाता है ॥ २३६ ॥

तद्राजन् ! 'असिधाराव्रतं मयाचरितमरितमरिसंसर्गादि'ति यद्भवतोक्तं; तन्मया साक्षादेवानुभूतम् । उक्तं च—

तो हे राजन् ! शत्रुओं का संग करके मैंने 'असिधारा व्रत' का आचरण किया, जो आप ने कहा था उसे मैंने साक्षात् ही अनुभूत किया। कहा भी है—

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः।
स्वार्थमभ्युद्धरेत्प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥ २३७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष अपमान स्वीकार करके तथा मान की परवाह न कर अपना कार्य सिद्ध करे क्योंकि अपने कार्य की हानि करना मूर्खता है ॥२३७॥

स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुं कालमासाद्य बुद्धिमान् ।
महता कृष्णसर्पेण मण्डूका बहवो हताः ॥ २३८ ॥

मेघवर्ण आह—'कथमेतत् ?' स्थिरजीवी कथयति—

समय आने पर बुद्धिमान् मनुष्य अपने कार्य की सिद्धि के लिए शत्रु को अपने कन्धे पर बैठा कर भी घुमावें। मण्डूकों को अपनी पीठ पर बैठा घुमाता हुआ वह कृष्ण सर्प हजारों मेढकों को खा गया था ॥ २३८ ॥

मेघवर्ण ने पूछा—'यह कैसे ?' स्थिरजीवी ने कहा—

कथा १५

अस्ति वरुणाद्रिसमीप एकस्मिन् प्रदेशे परिणतवया मन्दविषो नाम कृष्णसर्पः । स एवं चित्ते सञ्चिन्तितवान्—'कथं नाम मया सुखोपायवृत्त्या वर्तितव्यमिति ।' ततो बहुमण्डूकं ह्रदमुपगम्य धृतिपरीतमिवात्मानं दर्शितवान् ।

अथ तथा स्थिते स उदकप्रान्तगतेनैकेन मण्डूकेन पृष्टः—'माम ! किमद्य यथापूर्वमाहारार्थं न विहरसि ?'

सोऽब्रवीत् 'भद्र ! कुतो मे मन्दभाग्यस्याहाराभिलाषः ? यत्कारणमद्य रात्रौ प्रदोष एव मयाहारार्थं विहरमाणेन दृष्ट एको मण्डूकः ।

तद्ग्रहणार्थं मया क्रमः सज्जितः। सोऽपि मां दृष्ट्वा मृत्युभयेन स्वाध्यायप्रसक्तानां ब्राह्मणानामन्तरमपक्रान्तो न विभावितो मया क्वापि गतः। तत्सादृश्यमोहितचित्तेन मया कस्यचिद् ब्राह्मणस्य सूनोर्ह्रदतटजलान्तःस्थोऽङ्गुष्ठो दष्टः। ततोऽसौ सपदि पञ्चत्वमुपागतः।

अथ तस्य पित्रा दुःखितेनाहं शप्तो यथा—'दूरात्मन्! त्वया निरपराधो मत्सुतो दष्टः। तदनेन दोषेण त्वं मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि, तत्प्रसादलब्धजीविकया वर्तिष्यते' इति। ततोऽहं युष्माकं वाहनार्थमागतोऽस्मि।'

अस्ताचल के पास एक स्थान में वृद्ध मन्दविष नाम का सर्प रहता था। उसने मन में विचार किया—'मैं किस प्रकार आसानी से जीविका प्राप्त करूँ?' तब वह (कदाचित्) मण्डूकों से परिपूर्ण तालाब के पास पहुँच कर अपने को वैराग्ययुक्त सा प्रदर्शित करता हुआ (बैठ गया)। उस दशा में बैठे हुए उससे जल के किनारे पर स्थित एक मेंढक ने पूछा—'हे मामा! भोजन के लिये आज पहिले के समान क्यों यत्न नहीं करते?' उसने कहा—'हे भद्र! मुझ अभागे को भोजन की इच्छा कैसे हो सकती है? क्योंकि (उसका कारण यह है) आज रात्रि में सायङ्काल के ही समय भोजन की तलाश में घूमते हुए मैंने एक मेंढक देखा। उसे पकड़ने के लिये मैंने क्रम बाँधा (मैं तैयार हुआ)। वह भी मुझे देख कर मृत्यु के डर से वेदपाठ करने वाले ब्राह्मणों के बीच में घुस गया और मुझे मालूम न पड़ा कि वह कहाँ गया।' उसकी (मेंढक की) समानता के कारण धोखे में पड़ कर मैंने तालाब के तीर-जल में स्थित किसी ब्राह्मण-पुत्र का अंगूठा डस लिया। वह तुरन्त ही मर गया।' तब उसके पिता ने दुःखित हो मुझे शाप दिया कि—'अरे दुष्ट! तूने निरपराध ही मेरे पुत्र को डसा है, इसलिये तू इसी अपराध के कारण मेंढकों का वाहन (सवारी) होगा। और उनकी कृपा से ही तेरी जीविका चलेगी—तुझे भोजन मिलेगा।' इसलिये मैं तुम्हारी सवारी के लिये आया हूँ।'

तेन च सर्वमण्डूकानामिदमावेदितम्। ततस्तैः प्रहृष्टमनोभिः सर्वैरेव गत्वा जलपादनाम्नो दर्दुरराजस्य विज्ञप्तम्। अथाऽसावपि मन्त्रिपरिवृतोऽत्यद्भुतमिदमिति मन्यमानो ससम्भ्रमं ह्रदादुत्तीर्य मन्दविषस्य फणिनः फणाप्रदेशमधिरूढः। शेषा अपि यथाज्येष्ठं तत्पृष्ठोपरि समा-

रुरुहुः। किं बहुना—उपरितस्थानमप्राप्तवन्तस्तस्यानुपदं धावन्ति। मन्दविषोऽपि तेषां तुष्टयर्थमनेकप्रकारान् गतिविशेषानदर्शयत्। अथ जलपादो लब्धसुखस्तमाह—

न तथा करिणा यानं तुरगेण रथेन वा।
नरयानेन वा यानं यथा मन्दविषेण मे ॥ २३९ ॥

उसने सब मेंढकों से यह सूचित कर दिया। तब प्रसन्न-चित्त उन सब ने मेंढकों के राजा जलपाद से जाकर कहा। वह भी यह अत्यन्त अद्‌भुत बात है ऐसा समझता हुआ मन्त्रियों सहित तालाब से निकल कर मन्दविष सर्प के फन पर चढ़ गया। शेष मेंढक भी छोटे बड़े अनुसार उसकी पीठ पर चढ़ गये। अधिक क्या—जिनको ऊपर स्थान न मिला वे उसके पीछे ही दौड़ने लगे। उनकी प्रसन्नता के लिये मन्दविष ने भी अनेक प्रकार की चालें दिखलाईं। तब जलपाद ने सुख पाकर उससे कहा—

जैसा इस मन्दविष सर्प से (पर) चलना मुझे सुखदायी मालूम पड़ता है वैसा न तो हाथी, न घोड़ा, न रथ और न शिविका से ही चलना सुख-प्रद मालूम होता है ॥ २३९ ॥

अथान्येद्युर्मन्दविषश्छद्मना मन्दं मन्दं विसर्पति। तच्च दृष्ट्वा जलपादोऽब्रवीत्—'भद्र ! मन्दविष ! यथापूर्वं किमद्य साधु नोह्यते ?' मन्दविषोऽब्रवीत्—देव ! अद्याहारवैकल्यान्न मे बोढुं शक्तिरस्ति।' अथाऽसावब्रवीत्—'भद्र ! भक्षय क्षुद्रमण्डूकान्।' तच्छ्रुत्वा प्रहर्षितसर्वगात्रो मन्दविषः ससम्भ्रममब्रवीत्—'ममायमेव विप्रशापोऽस्ति। तत्तवानेनानुज्ञावचनेन प्रीतोऽस्मि।' ततोऽसौ नैरन्तर्येण मण्डूकान् भक्षयन् कतिपयैरेवाहोभिर्बलवान् संवृत्तः। प्रहृष्टश्चान्तर्लीनमवहस्येदमब्रवीत्—

मण्डूका विविधा ह्येते छलपूर्वोपसाधिताः।
कियन्तं कालमक्षीणा भवेयुः खादिता मम ॥ २४० ॥

तब दूसरे दिन मन्दविष छल से (बहाना करके) धीरे-धीरे चलने लगा। यह देखकर जलपाद बोला—'भद्र मन्दविष ! आज पहिले के समान अच्छी तरह क्यों नहीं ले चलते ?' मन्दविष ने कहा—देव ! भोजन न मिलने से मेरे अन्दर आज ले चलने की शक्ति नहीं है।' तब वह बोला—'भद्र ! छोटे मेंढकों को खा लो।' यह सुनकर मन्दविष के सब अङ्ग (प्रसन्नता से) खिल

उठे और वह प्रसन्न हो कहने लगा—'मुझे ब्राह्मण का यह शाप है कि (मण्डूकों की कृपा से ही तुम्हारी जीविका होगी ।) तुम्हारी इस आज्ञा से मैं प्रसन्न हुआ ।' अनन्तर वह (मन्दविष) निरन्तर मेंढकों को खाता हुआ कुछ ही दिनों में बलवान् हो गया । (तब) प्रसन्न हो अन्दर ही अन्दर हँस-कर कहने लगा—

कपट से वश में किये हुए तरह-तरह के ये मेंढक मेरे खाने पर कब तक समाप्त न होंगे ? अर्थात् कुछ ही दिनों में समाप्त हो जायेंगे ॥ २४० ॥

जलपादोऽपि मन्दविषेण कृतकवचनव्यामोहितचित्तः किमपि नावबुध्यते । अत्रान्तरेऽन्यो महाकायः कृष्णसर्पस्तमुद्देशं समायातः तं च मण्डूकैर्वाह्यमानं दृष्ट्वा विस्मयगमत् । आह च—'वयस्य ! यदस्माकमशनं तैः कथं वाह्यसे । विरुद्धमेतत् ।' मन्दविषोऽब्रवीत्—

सर्वमेतद्विजानामि यथा वाह्योऽस्मि दर्दुरैः ।
किञ्चित्कालं प्रतीक्षेऽहं घृतान्धो ब्राह्मणो यथा ॥ २४१ ॥

सोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' मन्दविषः कथयति—

मन्दविष ने जलपाद के मन को अपने कृत्रिम (बनावटी) वचनों से ऐसा मुग्ध (वश में) कर लिया था कि वह कुछ भी नहीं समझ पाता था । इसी अवसर पर एक बड़ा भारी काला साँप उस स्थान पर आया । वह उसको (मेंढकों को) ढोता हुआ देखकर आश्चर्य में पड़ गया और कहने लगा—'मित्र ! जो हमारे भोजन हैं उन्हीं की सवारी क्यों बने हो (उन्हीं को क्यों ढोते हो) यह बात तो (बिलकुल) उलटी है ।' मन्दविष बोला—

मैं यह सब समझता हूँ कि मेंढकों की सवारी क्यों बना हूँ, घृत से अन्धे हुए ब्राह्मण के समान मैं कुछ समय की प्रतीक्षा (इन्तजार) कर रहा हूँ ॥

वह (आगन्तुक सर्प) बोला—'यह कैसे ?' मन्दविष बोला—

कथा १६

अस्ति कस्मिश्चिदधिष्ठाने यज्ञदत्तो नाम ब्राह्मणः । तस्य भार्या पुंश्चल्यन्यासक्तमना अजस्रं विटायसखण्डघृतान् घृतपूरान् कृत्वा भर्तुश्चौरिकया प्रयच्छति । अथ कदाचिद्भर्ता दृष्ट्वाऽब्रवीत्—'भद्रे ! किमेतत्परिपच्यते ? कुत्र वाऽजस्रं नयसीदम् ? तत्कथय सत्यम् ।' सा चोत्पन्नप्रतिभा कृतकवचनैर्भर्तारमब्रवीत्—'अस्त्यत्र नातिदूरे भगवत्या देव्या आयतनम् ।

तत्राहमुपोषिता सती बलिं भक्ष्यविशेषांश्चापूर्वान्नयामि ।' अथ तत्पश्यता गृहीत्वा तत्सकलं देव्यायतनाभिमुखी प्रतस्थे । यत्कारणं देव्या निवेदितेनानेन मदीयो भर्त्तैवं मंस्यते यत् 'मम ब्राह्मणी भगवत्याः कृते भक्ष्यविशेषान्नित्यमेव नयतीति ।' अथ देव्यायतने गत्वा स्नानार्थं नद्यामवतीर्ययावत्स्नानं करोति तावत्तद्भर्ताऽपि मार्गान्तिरेणागत्य देव्याः पृष्ठतोऽदृश्योऽवतस्थे ।

किसी स्थान में (नगर) यज्ञदत्त नामक ब्राह्मण रहता था । उसकी पत्नी, जो कि व्यभिचारिणी और परपुरुष में अनुरक्त थी, सदा ही घृत और खांड सहित घृतपूर (घेवर) बनाकर अपने जार को दिया करती थी । एक दिन उसके पति ने देख कर कहा—'भद्रे ! तुम यह क्या बना रही हो और सदा कहाँ ले जाया करती हो ? सच-सच कहो ।' उसे (स्त्री को) तत्क्षण बुद्धि उत्पन्न हुई, वह कल्पित (बनावटी) वचनों से पति से कहने लगी—'यहाँ के समीप ही भगवती देवी का मन्दिर है । वहाँ मैं उपवास (व्रत) करके बलि (देवता की भेंट) और नये-नये खाद्यपदार्थ ले जाती हूँ ।' तब उसके सामने ही वह सब (भोज्य वस्तु) लेकर देवी के मन्दिर की ओर रवाना हुई । उसका मतलब यह था (उसने मन में यह सोचा) इन सब वस्तुओं को देवी को भेंट करने से मेरा पति समझे 'जो कि मेरी ब्राह्मणी (भार्या) प्रतिदिन ही देवी के लिये खाद्य पदार्थ ले जाती है ।' तब देवी के मन्दिर में जाकर स्नान के लिये नदी में प्रविष्ट हो, जब तक वह स्नान करती रही तब तक उसका पति दूसरे मार्ग से आकर देवी (मूर्ति) के पीछे छिप कर खड़ा हो गया ।

अथ सा ब्राह्मणी स्नात्वा देव्यायतनमागत्य स्नानानुलेपनमाल्यधूपबलिक्रियादिकं कृत्वा देवीं प्रणम्य व्यजिज्ञपत्–'भगवति ! केन प्रकारेण मम भर्त्तान्धो भविष्यति ?' तच्छ्रुत्वा स्वरभेदेन देवीपृष्ठस्थितो ब्राह्मणो जगाद–'यदि त्वमजस्रं घृतपूरादिभक्ष्यं तस्मै भर्त्रे प्रयच्छसि' ततः शीघ्रमन्धो भविष्यति ।' सा तु बन्धकी कृतकवचनवञ्चितमानसा तस्मै ब्राह्मणाय तदेव नित्यं प्रददौ । अथान्येद्युर्ब्राह्मणेनाभिहितम्—'भद्रे ! नाहं सुतरां पश्यामि ।' तच्छ्रुत्वा चिन्तितमनया 'देव्याः प्रसादोऽयं प्राप्तः' इति ।

अनन्तर वह ब्राह्मणी स्नान कर देवी के मन्दिर में आकर देवी को स्नान

करा, चन्दन लगा, माला पहरा, धूपवत्ती जला और बलि चढ़ाकर देवी को प्रणाम कर कहने लगी—'भगवति मेरा पति किस प्रकार अन्धा होगा ?' यह सुन कर देवी के पीछे खड़े हुए ब्राह्मण ने आवाज बदल कर कहा—'यदि तू प्रतिदिन घेवर आदि भक्ष्य वस्तु पति को देगी तो वह शीघ्र ही अन्धा हो जायगा।' कृत्रिम वचनों से जिसका मन धोखे में पड़ गया है ऐसी वह कुलटा उस ब्राह्मण को वही वस्तु नित्य प्रति देने लगी। एक दिन ब्राह्मण ने कहा—'भद्रे ! मुझे विलकुल ही नहीं दीखता।' यह सुन उसने सोचा—'देवी की कृपा का यह फल है।'

अथ तस्या हृदयवल्लभो विटस्तत्सकाशम्—'अन्धीभूतोऽयं ब्राह्मण किं मम करिष्यती'ति निःशङ्कं प्रतिदिनमभ्येति। अथाऽन्येद्युस्तं प्रविशन्तमभ्याशगतं दृष्ट्वा, केशैर्गृहीत्वा, लगुडपार्ष्णिप्रभृतिप्रहारैस्तावदताडयत् यावदसौ पञ्चत्वमाप। तामपि दुष्टपत्नीं विच्छिन्ननासिकां कृत्वा विससर्ज। अतोऽहं ब्रवीमि—'सर्वमेतद्विजानामि' इति।

अथ मन्दविषोऽन्तर्लीनमवहस्य पुनरपि 'मण्डूका विविधा ह्येते' इति तमेवमब्रवीत्। अथ जलपादस्तच्छ्रुत्वा सुतरां व्यग्रहृदयः 'किमनेनाभिहितम्' इति सम्यग् नावगम्य तमपृच्छत्—'भद्र ! किं त्वयाऽभिहितमिदं विरुद्धं वचः ?' अथासावाकारप्रच्छादनार्थं 'न किंचित्' इत्यब्रवीत्। तथैव कृतकवचनव्यामोहितचित्तो जलपादस्तस्य दुष्टाभिसन्धिं नावबुध्यते। किं बहुना-तथा तेन सर्वेऽपि भक्षिता, यथा बीजमात्रमपि नावशिष्टम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुम्' इत्यादि।

अनन्तर उस ब्राह्मणी का प्रिय जार यह समझ कर कि 'यह अन्धा ब्राह्मण मेरा क्या करेगा' प्रतिदिन उस ब्राह्मणी के पास आने लगा। एक दिन प्रविष्ट होते हुए उसको (विट को) अपने पास ही देख कर, केशों को पकड़ कर ब्राह्मण ने डण्डे और लातों (पार्ष्णि) द्वारा इतना मारा कि वह वहीं मर गया। और उस दुष्ट पत्नी की नाक काट कर निकाल दिया। इसलिये मैं कहता हूँ—'यह सब जानता हूँ' इत्यादि।

मन्दविष ने अन्दर ही अन्दर हँस कर 'तरह-तरह के ये मेढक' इत्यादि फिर भी उससे कहा। यह सुनकर जलपाद अत्यन्त घबड़ा गया और 'इसने यह क्या कहा ?' यह अच्छी तरह न समझ कर उससे पूछने लगा—'भद्र ! तुमने यह

उल्टी क्या बात कही? उसने भी अपना अभिप्राय छिपाने की इच्छा से कहा कि—'कुछ नहीं'। (मन्दविष की) बनावटी बातों से भ्रान्त-चित्त जलपाद उसके (मन्दविष के) दुष्टाशय को नहीं समझ पाता था। अधिक क्या—उसने यहाँ तक सब मेढकों को खा लिया कि बीजमात्र भी न छोड़ा। इसलिये कहता हूँ—'शत्रु को भी कन्धे पर धारण करे' इत्यादि।

अथ राजन्! यथा मन्दविषेण बुद्धिबलेन मण्डूका निहतास्तथा मयाऽपि सर्वे वैरिणः।

साधु चेदमुच्यते—

वने प्रज्वलितो वह्निर्दहन्मूलानि रक्षति।
समूलोन्मूलनं कुर्याद्वायुर्यो मृदुशीतलः॥ २४२॥

हे राजन्! जिस तरह मन्दविष ने अपने बुद्धि-बल से सब मेंढक नष्ट कर दिये वैसे ही मैंने भी सब शत्रु नष्ट कर दिये हैं। यह ठीक ही कहा है :—

वन में जलती हुई अग्नि वृक्षादिक को जलाती हुई भी उनकी जड़ों को भस्म नहीं करती (जिससे वे फिर हरे हो जाते हैं), परन्तु मन्द-मन्द चलती हुई पाले से भरी हुई हवा जड़सहित नष्ट कर देती है (वे फिर हरे नहीं हो पाते)॥ २४२॥

मेघवर्ण आह—'तात! सत्यमेवैतत्। ये महात्मानो भवन्ति ते महासत्त्वा आपद्गता अपि प्रारब्धं न त्यजन्ति।' उक्तं च यतः—

महत्त्वमेतन्महतां नयालङ्कारधारिणाम्।
न मुञ्चन्ति यदारब्धं कृच्छ्रेऽपि व्यसनोदये॥ २४३॥

मेघवर्ण ने कहा—'तात! यह सत्य ही है (जो आपने कहा), जो महापुरुष (महाधीर) होते हैं वे विपत्ति में फँस कर भी प्रारम्भ किये हुए कार्य को नहीं छोड़ते।' क्योंकि कहा भी है :—

नीतिरूपी भूषण धारण करने वाले (नीतिनिपुण) महापुरुषों का यही बड़प्पन है कि वे विपत्तिजनक संकट (अथवा अत्यन्त कष्ट-प्रद विपत्ति) पड़ने पर भी प्रारम्भ किये कार्य को नहीं छोड़ते॥ २४३॥

तथा च—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति॥

जैसे किसी ने कहा भी है कि :—जो नीच, क्षुद्र तथा पामरजन होते हैं वे विघ्नों के भय के किसी कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करते और मध्यम श्रेणी के जो लोग होते हैं वे प्रारम्भ तो करते हैं किन्तु विघ्न आने पर मध्य ही में छोड़ देते हैं। किन्तु उत्तम कोटि के जो पुरुष होते हैं वे हजारों प्रकार के विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होने पर भी प्रारम्भ किये हुए कर्म को कभी भी नहीं छोड़ते ।।२४४।।

तत्कृतं निष्कण्टकं मम राज्यं शत्रून्निःशेषतां नयता त्वया । अथवा युक्तमेतन्नयवेदिनाम् । उक्तं च यतः—

ऋणशेषश्चाग्निशेषं च शत्रुशेषं तथैव च।
व्याधिशेषं च निःशेषं कृत्वा प्राज्ञो न सीदति ।। २४५ ।।

शत्रुओं का समूल नाश करते हुए आपने मेरा राज्य निष्कण्टक बना दिया है। अथवा नीतिज्ञों के लिये यह उचित ही है। क्योंकि कहा भी है :—

ऋण, अग्नि, शत्रु तथा बीमारी के अवशिष्ट भाग को निःशेष (समूल नष्ट) करके बुद्धिमान् पुरुष दुःख नहीं पाता ।। २४५ ।।

सोऽब्रवीत्—'देव ! भाग्यवान् त्वमेवासि, यस्यारब्धं सर्वमेव संसिद्धयति । तन्न केवलं शौर्यं कृत्यं साधयति, किन्तु प्रज्ञया यत्क्रियते तदेव विजयाय भवति ।' उक्तं च—

शस्त्रैर्हता न हि हता रिपवो भवन्ति प्रज्ञाहतास्तु रिपवः सुहता भवन्ति ।
शस्त्रं निहन्ति पुरुषस्य शरीरमेकं प्रज्ञा कुलं च विभवश्च यशश्च हन्ति ।।

तब स्थिरजीवी ने कहा—'हे महाराज ! आप ही बड़े भाग्यवान् हैं, जिनका प्रारम्भ किया हुआ कार्य अपने आप पूरा हो रहा है। अतः हे महाराज ! केवल शूर-वीरता से ही कार्य की सिद्धि नहीं होती है। कहा भी है :—

शस्त्रों से मारे गये शत्रु नहीं मरते, किन्तु बुद्धि से मारे गये शत्रु ही वस्तुतः मारे जाते हैं क्योंकि शस्त्रों से एक ही शत्रु का शरीर काटा जा सकता है और बुद्धि की चतुराई से शत्रु का वंश, वैभव, यश-कीर्ति आदि सभी नष्ट हो जाते हैं ।।

तदेवं प्रज्ञापुरुषकाराभ्यां युक्तस्यायत्नेन कार्यसिद्धयः सम्भवन्ति । उक्तं च—

प्रसरति मतिः कार्यारम्भे दृढीभवति स्मृतिः,
स्वयमुपनयन्नर्थान् मन्त्रो न गच्छति विप्लवम् ।
स्फुरति सफलस्तर्कश्चित्तं समुन्नतिमश्नुते,
भवति च रतिः श्लाघ्ये कृत्ये नरस्य भविष्यतः ॥२४७॥

इसीलिये बुद्धि तथा पराक्रम दोनों से युक्त पुरुष के कार्यों की सिद्धि तो विना प्रयत्न के अनायास ही हो जाती है। कहा भी है :—

जब किसी मनुष्य का अभ्युदय उपस्थित होता है तब उसकी बुद्धि कार्य के आरम्भ में विस्तृत हो जाती है (कार्य की सब दशाओं को समझने के योग्य हो जाती है) स्मरणशक्ति पुष्ट हो जाती है, किया हुआ विचार (आश्रितनीति) स्वयं ही अर्थों (कार्यफलों) को देता हुआ निष्फल नहीं होता, सफल (फलप्रद) विचारशक्ति, चित्त में उत्साह तथा प्रशंसनीय कार्य में अनुराग उत्पन्न हो जाता है ॥२४७॥

तथा च नयत्यागशौर्यसम्पन्ने पुरुषे राज्यमिति । उक्तं च—

त्यागिनि शूरे विदुषि च संसर्गरुचिर्जनो गुणी भवति ।
गुणवति धनं धनाच्छ्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम् ॥ २४८ ॥

और भी—जो पुरुष नीति, उपाय, त्याग और पराक्रम से युक्त होता है उसी को राज्य प्राप्त होता है। कहा भी है :—

दानी, शूर और विद्वान् पुरुष के सत्संग में रुचि रखने वाला मनुष्य गुणवान् हो जाता है, गुणवान् पुरुष को धन प्राप्त होता है, धन की प्राप्ति से प्रभुत्व मिलता है, प्रभुत्ववान् पुरुष की आज्ञा सर्वत्र चलती है, व्यवहृत (बेरोक-टोक चलने वाली) आज्ञा से राज्य बन जाता है ॥ २४८ ॥

मेघवर्ण आह-'नूनं सद्यःफलानि नीतिशास्त्राणि यत्त्वयानुकृत्येनानुप्रविश्यारिमर्दनः सपरिजनो निःशेषितः ।' स्थिरजीव्याह—

तीक्ष्णोपायप्राप्तिगम्योऽपि योऽर्थस्तस्याप्यादौ संश्रयः साधु युक्तः ।
उत्तुङ्गाग्रः सारभूतो वनानां मान्याऽभ्यर्च्य छिद्यते पादपेन्द्रः ॥२४९॥

तब वह मेघवर्ण (काकराज) ने कहा—'अवश्यमेव नीतिशास्त्र सद्यःफल देने वाले होते हैं। क्योंकि तुमने शत्रु के अनुकूल होकर और उससे मेलजोल करके मेरे उस शत्रु (अरिमर्दन) को बात की बात में परिजन सहित नष्ट कर दिया।' यह सुनकर स्थिरजीवी कहने लगा :—

कठोर उपायों द्वारा जो वस्तु करने योग्य हो (वहाँ भी) पहिले (तीक्ष्ण उपाय प्रयोग करने से पूर्व) उस वस्तु का संश्रय करना चहिए–उसे अपना बना लेना चाहिए। (देखो) ऊँचे शिखर वाला, वनों का सार, महावृक्ष सत्कार और पूजा करके काटा जाता है ॥ २४९ ॥

अथवा स्वामिन् ! किं तेनाभिहितेन, यदनन्तरजाले क्रियारहितम-सुखसाध्यं वा भवति। साधु चेदमुच्यते—

अनिश्चितैरध्यवसायभीरुभिः पदे पदे दोषशतानुदर्शिभिः।
फलैर्विसंवादमुपागता गिरः प्रयान्ति लोके परिहासवस्तुताम् ॥२५०॥

हे स्वामिन् ! उस बात के कहने से ही क्या लाभ ? जो बाद में की न जा सके अथवा जो अत्यन्त कष्ट से की जा सकें। यह ठीक ही कहा है :—

अस्थिरबुद्धि, उद्योग (परिश्रम) से डरने वाले पद पद में सब जगह सैकड़ों दोष देखने वाले पुरुषों के वचन फलानुसारी न होकर (उलटे फलों द्वारा) संसार में मजाक के विषय बन जाते हैं—मनुष्य उसकी हँसी उड़ाते हैं ॥ २५० ॥

न च लघुष्वपि कर्तव्येषु धीमद्भिरनादरः कर्तव्यः। यतः—

'शक्ष्यामि कर्तुमिदमल्पमयत्नसाध्यमत्रादरः क' इति कृत्यमुपेक्षमाणाः।
केचित्प्रमत्तमनसः परितापदुःखमापत्प्रसङ्गसुलभं पुरुषा प्रयान्ति ॥

बुद्धिमान् पुरुषों को साधारण कार्यों में भी लापरवाही न करनी चाहिए। क्योंकि :—

कुछ असावधान पुरुष इस कार्य को मैं कर सकता हूँ, यह मामूली काम है, यह बिना परिश्रम ही हो सकता है, इसमें यत्न करने की क्या आवश्यकता है, इस प्रकार विचार कर कार्य की उपेक्षा करने वाले विपत्ति पड़ने से अनायास-लभ्य (जिसका प्राप्त होना बहुत मामूली बात है) पश्चात्तापजनित दुःख भोगते हैं ॥ २५१ ॥

तदद्य जितारेर्मद्विभोर्यथापूर्वं निद्रालाभो भविष्यति। उच्यते चैतत्–

निःसर्पे बद्धसर्पे वा भवने सुप्यते सुखम्।
सदा दृष्टभुजङ्गे तु निद्रा दुःखेन लभ्यते ॥ २५२ ॥

आज शत्रुविजयी मेरे प्रभु (आप मेघवर्ण) को पहिले के समान सुखपूर्वक निद्रा आयेगी। यह कहा भी है :—

सर्परहित अथवा बँधा हुआ है सर्प जिसमें ऐसे भवन में है वहाँ आराम से नींद

आती है, लेकिन जिस घर में सदा ही सर्प दिखाई पड़ता हो, उसमें बड़ी कठिनता से नींद आती है ।। २५२ ।।

तथा च—

विस्तीर्णव्यवसायसाध्यमहतां स्निग्धोपयुक्ताशिषां,
कार्याणां नयसाहसोन्नतिमतामिच्छापदारोहिणाम् ।
मानोत्सेकपराक्रमव्यसनिनः पारं न यावद्गताः,
साऽमर्षे हृदयेऽवकाशविषया तावत्कथं निर्वृतिः ? ।। २५३ ।।

आत्मसम्मान, अहङ्कार और पराक्रम में आसक्त पुरुष महान् परिश्रम से सिद्ध होने वाले अतएव महत्त्वपूर्ण (न कि मामूली) हितैषी बन्धुओं से मङ्गल-कामना किये जाने वाले, नीति, उत्साह और उन्नतियुक्त कार्यों के अन्त को जब तक प्राप्त नहीं होते—ऐसे कार्यों को जब तक पूरा नहीं कर लेते—तब तक उद्विग्न हृदय में अवकाश–कार्यावसान–में प्राप्त होने वाला (रिक्त स्थान में रहने वाला) सुखी कैसे रह सकता है ? कार्य की समाप्ति से पूर्व महान् पुरुष कभी सुखी नहीं होते ।। २५३ ।।

तदवसितकार्यारम्भस्य विश्राम्यतीव मे हृदयम् । तदिदमधुना निहत-कण्टकं राज्यं प्रजापालनतत्परो भूत्वा पुत्रपौत्रादिक्रमेणाचलच्छत्रासन-श्रीः चिरं भुङ्क्ष्व । अपि च—

प्रजा न रञ्जयेद्यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणैः ।
अजागलस्तनस्येव तस्य राज्यं निरर्थकम् ।। २५४ ।।

मेरा प्रारब्ध कार्य (सफलतापूर्वक) समाप्त हो चुका है अतः मेरा हृदय अब विश्राम सा करना चाहता है—अब मैं राज्य कार्य छोड़कर विश्राम करना चाहता हूँ । अब तुम प्रजापालन में तत्पर होकर यह निष्कण्टक राज्य चिरकाल तक भोगो, पुत्रपौत्रादि क्रम से–वंशपरम्परा से तुम्हारा छत्र, आसन और राज-लक्ष्मी अचल हो ।

जो राजा पालन आदि गुणों द्वारा प्रजा को प्रसन्न नहीं करता उसका राज्य बकरी के गले की स्तन की आभा के समान निरर्थक है ।। २५४ ।।

गुणेषु रागो व्यसनेष्वनादरो, रतिः सुभृत्येषु च यस्य भूपतेः ।
चिरं स भुङ्क्ते चलचामरांशुकां, सितातपत्राभरणां नृपश्रियम् ।।२५४।।

जिस राजा की शूरता आदि गुणों में प्रीति, द्यूत आदि व्यसनों (बुरी आदतों) में अप्रीति और योग्य सेवकों में स्नेह होता है वह राजा चिरकाल तक चञ्चल (हिलती हुई) चामररूपी वस्त्र वाली तथा छत्ररूपी भूषण से सुशोभित राजलक्ष्मी को भोगता है ।। २५५ ।।

न च त्वया 'प्राप्तराज्योऽहमि'ति मत्वा श्रीमदेनात्मा व्यंसयितव्यः । यत्कारणम्–'चला हि राज्ञो विभूतयः वंशारोहणवद्राज्यलक्ष्मीदुरारोहा, क्षणविनिपातरता, प्रयत्नशतैरपि धार्यमाणा दुर्धरा, प्रशस्ताराधिताऽप्यन्ते विप्रलम्भिनी, वानरजातिरिव विद्रुतानेकचित्ता, पद्मपत्रमिवाघटितसंश्लेषा, पवनगतिरिवातिचपला, अनार्यसङ्गतिरिवाऽस्थिरा, आशीविष इव दुरुपचारा, सन्ध्याभ्रलेखेव मुहूर्तरागा, जलबुद्बुदावलीव स्वभावभङ्गुरा, शरीरप्रकृतिरिव कृतघ्ना, स्वप्नलब्धद्रव्यराशिरिव क्षणदृष्टनष्टा । अपि च —

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव बुद्धिर्व्यसनेषु योज्या ।
घटा हि राज्ञामभिषेककाले सहाम्भसैवापदमुद्गिरन्ति ।।२५६।।

किं च, तुम्हें, 'मुझे राज्य मिल गया है' यह समझ कर ऐश्वर्यमद से अपने आपको व्यसनों में नहीं फँसाना चाहिए । क्योंकि—राजा का ऐश्वर्यमद अत्यन्त चञ्चल होता है, राजलक्ष्मी वांस पर चढ़ने के समान दुरारोह होती है, क्षण-भर में ही पारे की तरह नष्ट हो जाती है । सैकड़ों प्रयत्नों द्वारा धारण करने पर भी मुश्किल से धारण होती है, अच्छे प्रकार सेवन किये जाने पर भी अन्त में धोखा देती है, एक ही विषय (जगह) में जिसका चित्त स्थिर नहीं रहता ऐसी वानर जाति के समान लक्ष्मी अनेक पुरुषों के चित्तों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है, कमलपत्र पर जल के समान किसी से सम्पर्क नहीं रखती, वायु की गति की तरह अत्यन्त चञ्चल होती है, दुष्टों की प्रीति के समान अस्थिर, जिस प्रकार सर्प के पास जाना कष्टप्रद है उसी तरह इसका सेवन भी दुःखदायी होता है । सायङ्कालीन मेघपंक्ति के समान यह अल्पकाल ही किसी से अनुराग रखती है (सन्ध्याकलीन मेघों में भी अल्पकाल ही लालिमा रहती है), जल के बबूलों की तरह यह स्वभाव से ही विनष्ट होने वाली है, सर्प के स्वभाव के समान यह कृतघ्न होती है तथा स्वप्न में पाई हुई धनराशि के समान क्षण में दिखाई पड़ती और क्षण में नष्ट हो जाती है ।

और भी—जिस समय राजाओं का अभिषेक किया जाता है उसी समय उनको समझ लेना चाहिए कि 'हमारे ऊपर विपत्तियाँ अवश्य पड़ेंगी'। राजाओं के अभिषेक (स्नान) समय मानों घड़े के जल के साथ-साथ उनके सिर पर विपत्तियाँ भी गिराते हैं॥ २५६ ॥

न च कश्चिदनधिगमनीयो नामाऽस्त्यापदाम् । उक्तं च—

रामस्य व्रजनं, बलेर्नियमनं, पाण्डोः सुतानां वनं,
वृष्णीनां निधनं, नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम् ।
नाटचाचार्यकमर्जुनस्य, पतनं संचिन्त्य लङ्केश्वरे,
सर्वं कालवशाज्जनोऽत्र सहते, कः कं परित्रायते ॥ २५७ ॥

और इस संसार में कोई भी नहीं है जिसके ऊपर विपत्ति नहीं आ सकती हो। कहा भी है :—

श्रीरामचन्द्र का वन जाना, दैत्यराज बलि का बन्धन में पड़ना, पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरादि का वनवास, यादवों का विनाश, राजा नल का राज्य से भ्रष्ट होना, अर्जुन का नाटचाचार्य पद को ग्रहण करना और लङ्काधिपति रावण का पतन—इन सबका विचार कर (यह मालूम पड़ता है कि) मनुष्य सब कुछ कालवश सहन करता है, इस संसार में कौन किसकी रक्षा करता है ? ॥ २५७ ॥

क्व स दशरथः स्वर्गे भूत्वा महेन्द्रसुहृद् गतः ?,
क्व स जलनिधेर्वेलां बद्ध्वा नृपः सगरस्तथा ।
क्व स करतलाज्जातो वैन्यः क्व सूर्यतनुर्मनुः,
ननु बलवता कालेनैते प्रबोध्य निमीलिताः ॥२५८॥

जो राजा दशरथ देवेन्द्र के सखा बन कर स्वर्गलोक में पहुँचे थे वे अब कहाँ हैं ? वह राजा सगर, जिसने समुद्र की वेला–तटभूमि को बाँध लिया था– समुद्रपर्यन्त राज्य किया था कहाँ गया ? करतल (हथेली) के मलने से उत्पन्न पृथु महाराज कहाँ गये ? सूर्यपुत्र मनु कहाँ हैं ? इसमें कोई सन्देह नहीं, इन सब को प्रबल काल ने उत्पन्न कर नष्ट कर दिया ॥ २५८ ॥

मान्धाता क्व गतस्त्रिलोकविजयी राजा, क्व सत्यव्रतः,
देवानां नृपतिर्गतः क्व नहुषः, सच्छास्त्रवान् केशवः ।
मन्यन्ते सरथाः सकुञ्जरवराः शक्रासनाध्यासिनः,
कालेनैव महात्मना त्वनुकृताः कालेन निर्वासिताः ॥२५९॥

त्रिभुवन विजयी राजा मान्धाता कहाँ गये। सत्यव्रत का पालन करने वाले महात्मा युधिष्ठिर कहाँ हैं ? देवताओं के राजा—इन्द्र पदवी प्राप्त करने वाला-राजा नहुष कहाँ चला गया (गीतादि) सच्छास्त्रोपदेष्टा केशव कहाँ गये ? प्रबल काल ने रथ और हाथियों सहित, इन्द्रासन पर बैठने वाले इन सब को बनाया और उसी ने इन को यहाँ से निकाल दिया—नष्ट कर दिया ॥२५९॥

अपि च—

स च नृपतिस्ते सचिवास्ताः प्रमदास्तानि काननवनानि ।
स च ते च ताश्च तानि च कृतान्तदृष्टानि नष्टानि ॥२६०॥

और भी–वे राजा, वे मन्त्री, वे रमणियाँ, वे उपवन और वन वे राजादि सब वस्तुएँ काल की दृष्टि में पड़ कर नष्ट हो गये ॥ २६० ॥

एवं मत्त-करि-कर्णचञ्चलां राज्यलक्ष्मीमवाप्य न्यायैकनिष्ठो भूत्वोपभुङ्क्ष्व ।

हे महाराज ! इस प्रकार यह राज्यलक्ष्मी तो मत्त हाथी के कानों की तरह ही अत्यन्त चञ्चल है। इसको पाकर गर्वित होना व्यर्थ है। इसलिये आप इस लक्ष्मी को पाकर नीतिमार्ग से चलते हुए इसका उपभोग कीजिए।

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे काकोलूकीयं
नाम तृतीयं तन्त्रम् ।'

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१७

श्रीविष्णुशर्मप्रणीतं

पञ्चतन्त्र-लब्धप्रणाशम्

(चतुर्थं तन्त्रम्)

'सरला'-हिन्दीटीकोपेतम्

टीकाकारः—

स्व० गोकुलदास गुप्त बी० ए०

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

॥ श्रीः ॥

पञ्चतन्त्रम्

(चतुर्थं तन्त्रम्)

अथ लब्धप्रणाशम्

अथेदमारभ्यते लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थं तन्त्रम्। यस्यायमादिमः श्लोकः—

'लब्धप्रणाश' नामक चतुर्थ तन्त्र प्रारम्भ किया जाता है। जिसका यह (वक्ष्यमाण) प्रथम श्लोक है—

समुत्पन्नेषु कार्येषु बुद्धिर्यस्य न हीयते।
स एव दुर्गं तरति जलस्थो वानरो यथा ॥ १ ॥

उपस्थित कार्यों में जिस पुरुष की बुद्धि लुप्त नहीं होती, जो संकट में भी धैर्यपूर्वक अपना कर्तव्य स्थिर कर सकता है, वही पुरुष, जल में स्थित वानर की तरह संकटों को पार कर सकता है—दुःखों से छूट सकता है ॥१॥

तद्यथानुश्रूयते—

जैसा कि सुना जाता है—कहानी इस प्रकार प्रारम्भ होती है—

कथा १

अस्ति कस्मिंश्चित्समुद्रोपकण्ठे महाञ्जम्बूपादपः सदाफलः। तत्र च रक्तमुखो नाम वानरः प्रतिवसति स्म। तत्र च तस्य तरोरधः कदाचित्करालमुखो नाम मकरः समुद्रसलिलान्निष्क्रम्य सुकोमलबालुकासनाथे तीरोपान्ते न्यविशत। ततश्च रक्तमुखेन स प्रोक्तः—'भोः! भवान्समभ्यागतोऽतिथिः। तद्भक्षयतु मया दत्तान्यमृततुल्यानि जम्बूफलानि। उक्तं च—

किसी समुद्र तीर पर सदा फलनेवाला एक जामुन का वृक्ष था। उस पर रक्तमुख नामक वानर रहा करता था। किसी समय उस वृक्ष के नीचे कोमल

रेत से पूर्ण तट पर करालमुख नाम का मकर समुद्र-जल से निकलकर आ बैठा। रक्तमुख ने उससे कहा—आप हमारे प्रिय अतिथि हैं, इसलिए अमृततुल्य (अमृत के समान स्वादिष्ट) जम्बूफल आपको भेंट हैं, आप इन्हें खाइये। कहा भी है—

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खो वा यदि पण्डितः।
वैश्वदेवान्तमापन्नः सोऽतिथिः स्वर्गसङ्क्रमः ॥ २ ॥

'जो अतिथि चाहे वह प्रिय हो अथवा शत्रु, मूर्ख या पण्डित हो, वैश्वदेव (बलिवैश्वदेव नामक एक यज्ञविशेष, जिसमें तैयार हुए भोजन से सब देवताओं को बलि दी जाती है) के अन्त में उपस्थित हो जाय तो वह (गृहस्थ को) स्वर्ग पहुँचाता है ॥ २ ॥

न पृच्छेच्चरणं गोत्रं न च विद्यां कुलं न च।
अतिथिं वैश्वदेवान्ते श्राद्धे च मनुरब्रवीत् ॥ ३ ॥

बलिवैश्वदेव कर्म के अन्त में तथा श्राद्ध में समुपस्थित अतिथि से उसका चरण (शाखा), गोत्र, विद्या (वेद-वेदांग का अध्ययन) और कुछ न पूछे। ऐसा मनु महाराज ने कहा है ॥ ३ ॥

दूरमार्गश्रमश्रान्तं वैश्वदेवान्तमागतम्।
अतिथिं पूजयेद्यस्तु स याति परमां गतिम् ॥ ४ ॥

जो मनुष्य लम्बा रास्ता तय करने के श्रम से थके हुए और बलिवैश्वदेव कर्म की समाप्ति पर उपस्थित अतिथि का सत्कार करता है, वह श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अपूजितोऽतिथिर्यस्य गृहाद्याति विनिःश्वसन्।
गच्छन्ति विमुखास्तस्य पितृभिः सह देवताः ॥ ५ ॥

जिस पुरुष के घर से अतिथि आदर न पाकर अत एव (अपना अपमान स्मरण कर) लम्बी साँस लेता हुआ वापस चला जाता है, उस पुरुष के देवता पितरों के साथ मुख फेरकर चले जाते हैं ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा तस्मै जम्बूफलानि ददौ। सोऽपि तानि भक्षयित्वा तेन सह चिरं गोष्ठीसुखमनुभूय भूयोऽपि स्वभवनमगात्। एवं नित्यमेव तौ वानरमकरौ जम्बूच्छायास्थितौ विविधशास्त्रगोष्ठ्या कालं नयन्तौ सुखेन तिष्ठतः। सोऽपि मकरो भक्षितशेषाणि जम्बूफलानि गृहं गत्वा स्वपत्न्याः प्रयच्छति। अथान्यतमे दिवसे तया स पृष्टः—'नाथ! क्वैवंविधान्यमृत-

फलानि प्राप्नोषि ।' स आह—'भद्रे ! ममास्ति परमसुहृद्रक्तमुखो नाम वानरः । स प्रीतिपूर्वकमिमानि फलानि प्रयच्छति ।' अथ तयाभिहितम्—'यः सदैवामृतप्रायाणीदृशानि फलानि भक्षयति, तस्य हृदयममृतमयं भविष्यति । तद्यदि भार्यया ते प्रयोजनम्, ततस्तस्य हृदयं मह्यं प्रयच्छ । येन तद्भक्षयित्वा जरामरणरहिता त्वया सह भोगान्भुनज्मि ।' स आह—'भद्रे ! मा मैवं वद । यतः स प्रतिपन्नोऽस्माकं भ्राता । अपरं फलदाता । ततो व्यापादयितुं न शक्यते । तत्त्यजैनं मिथ्याग्रहणम् । उक्तं च—

यह कहकर उसने (वानर ने) उसे (मकर को) जम्बूफल दिये । वह भी उन्हें खाकर उसके साथ बहुत देर तक वार्तालाप का आनन्द उठाकर फिर अपने घर चला गया । वे वानर और मगर इस प्रकार प्रतिदिन ही जम्बू-वृक्ष की छाया में बैठकर भिन्न-भिन्न शास्त्रों की चर्चा से समय बिताते हुए सुखपूर्वक रहते थे । और वह मगर बचे हुए जम्बूफल घर जाकर अपनी पत्नी को दिया करता था । एक दिन उसकी पत्नी ने उससे (मगर से) पूछा—नाथ ! ऐसे अमृततुल्य फल तुम कहाँ पाते हो ? उसने कहा—भद्रे ! रक्तमुख नाम का वानर मेरा परम मित्र है, वही प्रेमपूर्वक ये फल दिया करता है । तब उसने कहा—जो सदा ही ऐसे अमृत समान फल खाता है, उसका हृदय अवश्य ही अमृतमय होगा । इसलिये अगर तुम्हें मुझ पत्नी से कुछ काम है—यदि तुम मुझे अपनी पत्नी रखना चाहते हो तो उसका हृदय मुझे (लाकर) दो, जिससे उसे खाकर बुढ़ापे और मृत्यु से मुक्त हो तुम्हारे साथ भोग भोगूँ । उसने कहा—भद्रे ! ऐसा मत कहो, क्योंकि हमने उसे अपना भाई स्वीकार किया है । दूसरी बात यह भी है कि वह मेरा फलदाता है और उसे हम मार नहीं सकते । अतः यह असम्भव हठ छोड़ दो । कहा भी है—

एकं प्रसूयते माता द्वितीयं वाक्प्रसूयते ।
वाग्जातमधिकं प्रोचुः सोदर्यादपि बन्धुवत् ॥ ६ ॥

एक बन्धु को माता उत्पन्न करती है और दूसरे को वाणी (सम्भाषण) । पण्डित लोग इन दोनों में सम्भाषण से उत्पन्न बन्धु को सोदर भाई से भी प्रिय बताते हैं ।

अथ मकर्याह—'त्वया कदाचिदपि मम वचनं नान्यथा कृतम् । तन्नूनं सा वानरी भविष्यति, यतस्तस्या अनुरागतः सकलमपि दिनं तत्र गमयसि । तत्त्वं ज्ञातो मया सम्यक् । यतः—

तब मकरी ने कहा—'तुमने कभी भी मेरी बात नहीं टाली। तब निश्चय ही वह वानरी है, क्योंकि उसी के प्रेम के कारण तुम सारा दिन वहीं (उसी के पास) बिताते हो, मैंने तुम्हें अच्छी तरह समझ लिया है–तुम्हारे मानसिक भाव मैंने खूब जान लिये हैं। क्योंकि—

साह्लादं वचनं प्रयच्छसि न मे नो वाञ्छितं किञ्चन
प्रायः प्रोच्छ्वसिषि द्रुतं हुतवहज्वाला समं रात्रिषु।
कण्ठाश्लेषपरिग्रहे शिथिलता यन्नादराच्चुम्बसे
तत्ते धूर्त्त हृदि स्थिता प्रियतमा काचिन्ममेवापरा' ॥ ७ ॥

मेरे साथ प्रेमपूर्वक बातचीत नहीं करते और न मेरी किसी इच्छा को ही पूर्ण करते हो। रात्रियों में प्रायः अग्निशिखा के समान (उष्ण) लम्बी साँस लेते हो। कण्ठाग्रहपूर्वक आलिङ्गन में तुम्हें जरा भी उत्सुकता नहीं और न प्रेम से चुम्बन ही करते हो, हे धूर्त्त ! इस सबका कारण यही है कि तुम्हारे हृदय में मेरे अतिरिक्त कोई दूसरी ही प्यारी विराजमान है ॥ ७ ॥'

सोऽपि पत्न्याः पादोपसङ्ग्रहं कृत्वाङ्कोपरि निधाय तस्याः कोपकोटिमापन्नायाः सुदीनमुवाच—

वह (मगर) अत्यन्त कुपित हुई अपनी पत्नी के चरण पकड़कर और उसे गोद में बैठाकर दीनतापूर्वक कहने लगा—

मयि ते पादपतिते किङ्करत्वमुपागते।
त्वं प्राणवल्लभे ! कस्मात्कोपने कोपमेष्यसि ॥ ८ ॥

हे कोपशीले ! प्राणप्रिये ! जब कि मैं तुम्हारे चरणों में पड़ा हुआ हूँ और दास के समान तुम्हारी आज्ञा पालन करने के लिये उद्यत हूँ फिर अन्य कौन कारण है, जिसके (वशीभूत हो) तुम क्रोध करोगी ! (तुम्हें क्रोध छोड़ देना चाहिए) ॥ ८ ॥

सापि तद्वचनमाकर्ण्याश्रुप्लुतमुखी तमुवाच—

वह (मगरी) भी आँखों में आँसू भरकर बोली—

साधं मनोरथशतैस्तव धूर्त कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमभावरम्या।
अस्माकमस्ति न कथञ्चिदिहावकाशं
तस्मात्कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥ ९ ॥

हे वञ्चक ! तुम्हारे मन में बनावटी (न कि मेरे समान वास्तविक) प्रेम से मनोहर प्रतीत होनेवाली वही प्रिया विराजमान है, जिसके ऊपर तुम सैकड़ों मनसूबे बाँधा करते हो, इसलिए वहाँ (तुम्हारे हृदय में) हमारे लिये स्थान कहाँ ? (हमारे ऊपर तुम्हारा कुछ भी प्रेम नहीं) अत एव पैरों पर गिरकर धोखा देने से क्या लाभ ? ।। ९ ।।

अपरं सा यदि तव वल्लभा न भवति, तत्किं मया भणितेऽपि तां न व्यापादयसि । अथ यदि स वानरस्तत्कस्तेन सह तव स्नेहः । तत्किं बहुना । यदि तस्य हृदयं न भक्षयामि, तन्मया प्रायोपवेशनं कृतं विद्धि । एवं तस्यास्तन्निश्चयं ज्ञात्वा चिन्ताव्याकुलितहृदयः स प्रोवाच । अथवा साध्विदमुच्यते—

दूसरी बात यह भी है कि—यदि वह तुम्हारी प्रिया नहीं है तो मेरे कहने पर भी उसे क्यों नहीं मारते ? और यदि वह वानर है तो तुम्हारा उसके साथ स्नेह कैसा ? अधिक क्या, अगर उसका हृदय मुझे खाने के लिये न मिलेगा तो निश्चय समझ लो कि मैं प्रायोपवेशन (मरने के लिये भूख हड़ताल) करूँगी। उसका यह निश्चय जानकर वह (मगर) चिन्ता से (इस अवस्था में क्या करना चाहिए ऐसी) व्याकुल मन हो कहने लगा । अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च ।
एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपयोस्तथा ।। १० ।।

वज्रलेप मूर्ख अर्थात् महामूर्ख, स्त्री, केकड़ा, मछली, नील रंग तथा मद्यपायी की पकड़ प्रबल होती है ।। १० ।।

'तत्किं करोमि । कथं स मे वध्यो भवति ।' इति विचिन्त्य वानरपार्श्वमगमत् । वानरोऽपि चिरादायान्तं तं सोद्वेगमवलोक्य प्रोवाच— 'भो मित्र ! किमद्य चिरवेलायां समायातोऽसि । कस्मात्साह्लादं नालपसि । न सुभाषितानि पठसि ।' स आह —'मित्र ! अहं तव भ्रातृजायया निष्ठुरतरैर्वाक्यैरभिहितः—'भोः कृतघ्न ! मा मे त्वं स्वमुखं दर्शय, यतस्त्वं प्रतिदिनं मित्रमुपजीवसि । न च तस्य पुनः प्रत्युपकारं गृहदर्शनमात्रेणापि करोषि । तत्ते प्रायश्चित्तमपि नास्ति । उक्तं च—

'क्या करूँ ? कैसे मार सकूँगा' इत्यादि बातें सोचता हुआ वह वानर के पास गया । वानर भी उसको देर से आया हुआ और घबड़ाया हुआ देखकर

बोला—'मित्र ! आज आने में देर क्यों हुई ? आनन्दपूर्वक बातचीत क्यों नहीं करते ? सूक्तियाँ (उत्तम-उत्तम वचन) क्यों नहीं सुनाते ?' वह बोला—'मित्र ! आज तुम्हारी भौजाई (मेरी पत्नी) ने मुझसे कड़े शब्दों में कहा कि—'अरे कृतघ्न ! मेरे सामने अपना मुख मत दिखा, क्योंकि तू नित्य ही मित्र के दिये हुए फलादि खाकर आता है, परन्तु अपना घर दिखलाने मात्र से भी उसका प्रत्युपकार नहीं करता । तेरा प्रायश्चित्त भी नहीं है । कहा भी है—

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते शठे ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ ११ ॥

ब्रह्महत्या करनेवाले, मद्य पीनेवाले, चोर तथा अपना व्रत-भङ्ग करने वाले के लिये साधु पुरुष (स्मृतिकारों) ने प्रायश्चित्त कहा है, परन्तु कृतघ्न के लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया ॥ ११ ॥

तत्त्वं मम देवरं गृहीत्वाऽद्य प्रत्युपकारार्थं गृहमानय । नो चेत्त्वया सह मे परलोके दर्शनम्' इति । तदहं तयैवं प्रोक्तस्तव सकाशमागतः । तदद्य तया सह त्वदर्थे कलहायतो ममेयती वेला विलग्ना । तदागच्छ मे गृहम् । तव भ्रातृपत्नी रचितचतुष्का प्रगुणितवस्त्रमणिमाणिक्या-चुचिताभरणा द्वारदेशबद्धवन्दनमाला सोत्कण्ठा तिष्ठति । मर्कट आह—'भो मित्र ! युक्तमभिहितं मद्भ्रातृपत्न्या । उक्तं च—

इसलिये, आज तू प्रत्युपकार के लिये मेरे देवर को लेकर घर आ । नहीं तो परलोक में ही मेरा दर्शन करेगा (मैं प्राणत्याग कर दूँगी) ।' उसके ऐसा कहने से तुम्हारे पास आया हूँ । इसलिये तुम्हारे विषय में उसके साथ वाद-विवाद करते हुए मुझे इतनी देर हो गई । अब मेरे घर चलो, तुम्हारी भौजाई चौक बनाकर (दक्षिण में यह रिवाज है कि जब कोई मान्य अतिथि घर आता है, तब उसके सत्कार के लिए खड़िया अथवा पिसे हुए एक प्रकार के सफेद चूर्ण से दरवाजे पर तथा भोजनस्थान पर भाँति-भाँति की रेखाएँ खींचते हैं, उसे चौक कहते हैं, वही यहाँ 'चतुष्क' शब्द से अभिप्रेत है), उत्तम-उत्तम वस्त्र तथा मोती, मूँगा आदि समयोचित भूषण धारण कर तथा दरवाजे पर वंदनवार बांधकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।' वानर बोला—'मित्र ! तुम्हारी स्त्री ने ठीक ही कहा है, क्योंकि कहा भी है—

वर्जयेत्कौलिकाकारं मित्रं प्राज्ञतरो नरः।
आत्मनः सम्मुखं नित्यं य आकर्षति लोलुपः ॥ १२ ॥

जो लोभी मनुष्य, अपने मित्र की धनादि वस्तु अपनी ओर खींचता है (स्वयं ले लेना चाहता है), बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि तन्तुवाय-तुल्य ऐसे मित्र को छोड़ देवें (तन्तुवाय-जुलाहा भी डोरों को यन्त्र द्वारा अपनी ओर खींचा करता है) ॥ १२ ॥

तथा च—ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ १३ ॥

और भी—स्नेही पुरुष (मित्र) को अपनी वस्तु देना, उससे लेना, अपनी गोप्य बात कहना और उससे पूछना, भोजन करना और उसे भोजन कराना छह प्रीति के चिह्न हैं ॥ १३ ॥

'परं वयं वनचराः युष्मदीयं च जलान्ते गृहम्। तत्कथं शक्यते तत्र गन्तुम्। तस्मात्तामपि मे भ्रातृपत्नीमत्रानय येन। प्रणम्य तस्या आशीर्वादं गृह्णामि।' स आह—भो मित्र! अस्ति समुद्रान्तरे सुरम्ये पुलिनप्रदेशेऽस्मद्गृहम्। तन्मम पृष्ठमारूढः सुखेनाकृतभयो गच्छ।' सोऽपि तच्छ्रुत्वा सानन्दमाह—'भद्र! यद्येवं तत्किं विलम्ब्यते। त्वर्यताम्। एषोऽहं तव पृष्ठामारूढः।' तथानुष्ठितेऽगाधे जलधौ गच्छन्तं मकरमालोक्य भयत्रस्तमना वानरः प्रोवाच—'भ्रातः! शनैः शनैर्गम्यताम्। जलकल्लोलैः प्लाव्यते मे शरीरम्। तदाकर्ण्य मकरश्चिन्तयामास—'असावगाधं जलं प्राप्तो मे वशः सञ्जातः। मत्पृष्ठगतस्तिलमात्रमपि चलितुं न शक्नोति। तस्मात्कथयाम्यस्य निजाभिप्रायम्, येनाभीष्टदेवतास्मरणं करोति। आह च—'मित्र! त्वं मया वधाय समानीतो भार्यावाक्येन विश्वास्य। तत्स्मर्यतामभीष्टदेवता।' स आह—भ्रातः! किं मया तस्यास्तवापि चापकृतं येन मे वधोपायश्चिन्तितः।' मकर आह—'भोः! तस्यास्तावत्तव हृदयस्यामृतमयफलरसास्वादनमृष्टस्य भक्षणे दोहदः सञ्जातः। तेनैतदनुष्ठितम्।' प्रत्युत्पन्नमतिर्वानर आह—'भद्र! यद्येवं तत्किं त्वया मम तत्रैव न व्याहृतम्। येन स्वहृदयं जम्बूकोटरे सदैव मया सुगुप्तं कृतम्, तद्भ्रातृपत्न्या अर्पयामि। त्वयाहं शून्यहृदयोऽत्र कस्मादानीतः।' तदाकर्ण्य मकरः सानन्दमाह—'भद्र!

यद्येवं तदर्पय मे हृदयम्। येन सा दुष्टपत्नी तद्भक्षयित्वाऽनशनादुत्तिष्ठति। अहं त्वां तमेव जम्बूपादपं प्रापयामि।' एवमुक्त्वा निवर्त्य जम्बूतलमगात्। वानरोऽपि कथमपि जल्पितविविधदेवतोपचारपूजस्तीरमासादितवान्। ततश्च दीर्घतरचङ्क्रमणेन तमेव जम्बूपादपमारूढश्चिन्तयामास अहो! लब्धास्तावत्प्राणः। अथवा साध्विदमुच्यते—

लेकिन हम वन में रहनेवाले हैं और तुम्हारा घर जल में है। इसलिये हम कैसे जा सकते हैं? अतः हमारी भौजाई को भी यहीं ले आओ जिससे उन्हें प्रणाम कर उनका आशीर्वाद ग्रहण करें।' उसने कहा—'मित्र! हमारा घर समुद्रतल में मनोहर बालुकामय तट पर है। अतः मेरी पीठ पर चढ़कर निर्भयपूर्वक चलो।' यह सुनकर वानर ने आनन्दपूर्वक कहा—'भद्र! यदि यह बात है तो फिर देर क्यों? जल्दी करो, लो मैं यह तुम्हारी पीठ पर चढ़ गया।' ऐसा करने पर मकर को अगाध समुद्र में जाता हुआ देखकर वानर भयभीत हो कहने लगा—'भाई! धीरे-धीरे चलो, महातरङ्गे मेरे शरीर को डुबा रही हैं।' यह सुनकर मगर सोचने लगा—'इस समय अगाध जल में पहुँचा हुआ यह वानर मेरे अधीन है, मेरी पीठ से तिल मात्र भी इधर-उधर नहीं हो सकता, इसलिये इससे अपना अभिप्राय कह देना चाहिए, जिससे यह अपने इष्टदेव का स्मरण कर ले।' और (यह सोचकर) बोला—'पत्नी के कहने से मैं तुम्हें विश्वास दिलाकर मारने के लिये लाया हूँ।' उसने कहा—'भाई! मैंने, उसकी या तुम्हारी क्या बुराई की है, जिसके कारण तुमने मुझे मारने का उपाय किया है।' मगर ने कहा—'हे मित्र! उसकी (मेरी पत्नी की) अमृततुल्य फलों के रसास्वाद से स्वादिष्ट तुम्हारा हृदय खाने की इच्छा हुई है, इसी कारण यह किया गया है।' तब प्रत्युत्पन्नमति (समय पर जिसको उपाय सूझ सके) वानर ने कहा—'भद्र! यदि यह बात थी तो तुमने मुझ से वहीं क्यों न कहा, मैं सदा ही अपना हृदय जम्बू-कोटर में सुरक्षित रखता हूँ, उसे भौजाई को देता, तुम हृदयरहित मुझको क्यों लाये?' यह सुन, मगर ने सानन्द कहा—'भद्र! अगर यह बात है तो अपना हृदय मुझे दो, जिससे कि वह दुष्ट स्त्री, उसे खाकर अनशन व्रत का परित्याग करे (अनशन से उठे)। मैं तुम्हें, उसी जामुन के वृक्षपर पहुँचाये देता हूँ।' यह कह लौटकर उसी जम्बू-वृक्ष के नीचे गया। वानर भी भाँति-भाँति के द्रव्यों से अपने अभीष्ट देवताओं की

पूजा का सङ्कल्प करता हुआ किसी प्रकार किनारे पर पहुँच गया। और एक लम्बी छलांग से जम्बू-वृक्ष पर चढ़ सोचने लगा—'चलो, प्राण तो पा लिये—बच गये। अथवा यह ठीक ही कहा है—

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत्।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति॥ १४॥

अविश्वास के योग्य पुरुष का (कभी) विश्वास न करना चाहिए तथा विश्वासी का भी (अधिक) विश्वास न करना चाहिए। विश्वास के कारण उत्पन्न हुआ भय जड़ें भी काट देता है—सर्वथा नाश कर देता है, जिससे फिर उन्नति करने की कोई आशा नहीं रहती॥ १४॥

तन्ममैतदद्य पुनर्जन्मदिनमिव सञ्जातम्।' इति चिन्तयमानं मकर आह—'भो मित्र! अर्पय तद्धृदयं यथा ते भ्रातृपत्नी भक्षयित्वाऽनशनादुत्तिष्ठति।' अथ विहस्य निर्भर्त्सयन्वानरस्तमाह–धिग्धिङ्मूर्ख विश्वासघातक! किं कस्यचिद्धृदयद्वयं भवति। तदाशु गम्यतां जम्बूवृक्षस्याधस्तान्न भूयोऽपि त्वयात्रागन्तव्यम्। उक्तं च यतः—

आज मेरा यह पुनर्जन्म हुआ है (आज मानो मेरा दूसरा जन्मदिवस है)।' इस प्रकार सोचते हुए (वानर से) मगर ने कहा—'हे मित्र! अपना हृदय लाओ, जिससे तुम्हारी भोजाई अनशन से उठे।' तब हँसकर उसे धमकाते हुए वानर ने कहा—'मूर्ख, विश्वासघातिन्! तुझे धिक्कार है, क्या किसी के दो हृदय हुआ करते हैं? जल्दी चले जाओ। इस जामुन के पेड़ के नीचे फिर कभी मत आना। कहा भी है—

सकृद् दुष्टं च यो मित्रं पुनः संधातुमिच्छति।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा॥ १५॥

जो मनुष्य एक बार अपराध करने पर भी मित्र से फिर मेल करना चाहता है, वह उसी तरह मृत्यु को प्राप्त होता है, जिस तरह की खचरी (गदहे से घोड़ी की सन्तान) गर्भधारण कर मृत्यु को प्राप्त होती है॥ १५॥'

तच्छ्रुत्वा मकरः संविलक्षं चिन्तितवान्–'अहो! मयातिमूढेन किमस्य स्वचित्ताभिप्रायो निवेदितः, तद्यद्यसौ पुनरपि कथञ्चिद्विश्वासं गच्छति, तद्भूयोऽपि विश्वासयामि।' आह च—'मित्र! हास्येन मया

तेऽभिप्रायो लब्धः। तस्या न किञ्चित्तव हृदयेन प्रयोजनम्। तदागच्छ प्राघुणिकन्यायेनास्मद्गृहम्। तव भ्रातृपत्नी सोत्कण्ठा वर्तते।' वानर आह—'भो दुष्ट ! गम्यताम्। अधुना नाहमागमिष्यामि। उक्तं च—

यह सुनकर मगर भौचक्का-सा हो सोचने लगा—'मैं महामूर्ख हूँ, मैंने क्यों अपना अभिप्राय इससे कह दिया। अगर यह फिर भी किसी प्रकार विश्वास कर सके तो विश्वास दिलाऊँ।' और बोला—'मित्र ! मजाक से मैंने तुम्हारा हृदय-भाव लिया था (तुम मुझपर विश्वास करते हो या नहीं, यह जानना चाहता था) उसे तुम्हारे हृदय से कोई प्रयोजन नहीं। इसलिए अतिथि रूप से हमारे घर चलो। तुम्हारी भौजाई तुम्हारे लिये उत्कण्ठित हो रही है।' वानर ने कहा—अरे दुष्ट ! चले जाओ, अब मैं नहीं आऊँगा। कहा भी है—

बुभुक्षितः किं न करोति पापं क्षीणा जना निष्करुणा भवन्ति।
आख्याहि भद्रे ! प्रियदर्शनस्य न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम् ॥१६॥

भूखा मनुष्य कौन-सा पाप नहीं करता ? (भूख मिटाने के लिए सब ही पाप करने को उद्यत हो जाता है), दरिद्र पुरुष निर्दयी होते हैं। हे भद्रे ! प्रियदर्शन (सर्पविशेष) से जाकर कहो कि गङ्गदत्त फिर कुएँ में नहीं आता।

मकर आह—'कथमेतत्।' स आह—

मगर ने कहा—'यह कैसे ?' उसने (वानर ने) कहा—

कथा २

कस्मिंश्चित्कूपे गङ्गदत्तो नाम मण्डूकराजः प्रतिवसति स्म। स कदाचिद्दायादैरुद्वेजितोऽरघट्टघटीमारुह्य निष्क्रान्तः। अथ तेन चिन्तितम्—'यत्कथं तेषां दायादानां मया प्रत्यपकारः कर्त्तव्यः। उक्तं च—

किसी कुएँ में गङ्गदत्त नामक मेढकों का राजा रहा करता था। एक बार वह बन्धुओं से पीड़ित होकर अरहट के सहारे (कुएँ से) बाहर निकला। उसने सोचा कि किस प्रकार इन कुटुम्बियों में बदला लूँ। कहा भी है—

'आपदि येनापकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥ १७ ॥

जिस मनुष्य ने, विपत्ति के समय बुराई की हो और जिसने दुरवस्था के समय उपहास (मजाक) किया हो, इन दोनों से जिस मनुष्य ने बदला चुका लिया हो, उसे मैं दुबारा पैदा हुआ समझता हूँ ॥ १७ ॥'

एवं चिन्तयन्बिले प्रविशन्तं कृष्णसर्पमपश्यत् । तं दृष्ट्वा भूयोऽप्यचिन्तयत्—'यदेनं तत्र कूपे नीत्वा सकलदायादानामुच्छेदं करोमि । उक्तं च—

ऐसा विचार करते समय बिल में घुसते हुए एक कृष्णसर्प को देखा । उसे देखकर पुनः सोचने लगा—'(अहो !) इसी सर्प को उस कुएँ में ले जाकर अपने सभी दायादों का नाश क्यों न कर दूँ । क्योंकि कहा भी है—

शत्रुभिर्योजयेच्छत्रुं बलिना बलवत्तरम् ।
स्वकार्याय यतो न स्यात्काचित्पीडात्र तत्क्षये ।। १८ ।।

अपना कार्य सिद्ध करने के लिए शत्रु को शत्रु के साथ तथा बलवान् को उससे भी अधिक बलवान् के साथ भिड़ा देवे । क्योंकि उन दोनों का नाश होने पर किसी प्रकार का दुःख नहीं होता, प्रत्युत सुख ही होता है ।। १८ ।।

तथा च—शत्रुमुन्मूलयेत्प्राज्ञस्तीक्ष्णं तीक्ष्णेन शत्रुणा ।
व्यथाकरं सुखार्थाय कण्टकेनैव कण्टकम् ।। १९ ।।'

और भी—नीतिज्ञ पुरुष, अपने सुख के लिए पैने काँटे से शरीर में लगे हुए काँटे के समान क्लेशप्रद बलवान् शत्रु को, बलवान् शत्रु से समूल नष्ट करा दे ।। १९ ।।'

एवं स विभाव्य बिलद्वारं गत्वा तमाहूतवान्—'एह्येहि प्रियदर्शन ! एहि ।' तच्छ्रुत्वा सर्पश्चिन्तयामास—'य एवं मामाह्वयति, स्वजातीयो न भवति । यतो नैषा सर्पवाणी । अन्येन केनापि सह मम मर्त्यलोके सन्धानं नास्ति । तदत्रैव दुर्गे स्थितस्तावद्वेद्मि कोऽयं भविष्यति । उक्तं च—

यह विचार कर वह (मेढक) बिल के पास पहुँच कर उसे (सर्प को) पुकारने लगा—'आओ, आओ प्रियदर्शन ! आओ ।' यह सुन सर्प सोचने लगा—'मुझे बुलानेवाला यह (व्यक्ति) अपनी जाति का तो है नहीं, क्योंकि यह सर्प की आवाज नहीं है और न इस संसार में किसी दूसरे के साथ मेरा मेल ही है, इसलिये इस बिल में ही रहकर देखूं कि यह कौन है ? कहा भी है—

यस्य न ज्ञायते शीलं न कुलं न च संश्रयः ।
न तेन सङ्गतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ।। २० ।।

जिस पुरुष का स्वभाव, कुल और निवासस्थान ज्ञात न हो उसके साथ संगति न करे, ऐसा बृहस्पति ने कहा है ॥ २० ॥

कदाचित्कोऽपि मन्त्रवाद्यौषधचतुरो वा मामाहूय बन्धने क्षिपति। अथवा कश्चित्पुरुषो वैरमाश्रित्य कस्यचिद्भक्षणार्थे मामाह्वयति।' आह च—'भोः! को भवान्'। स आह—'अहं गङ्गदत्तो नाम मण्डूकाधिपतिस्त्वत्सकाशे मैत्र्यर्थमभ्यागतः।' तच्छ्रुत्वा सर्प आह—'भो! अश्रद्धेयमेतत् यत्तृणानां वह्निना सह सङ्गमः। उक्तं च—

कदाचित् कोई मन्त्र पढ़नेवाला (मन्त्र पढ़कर सर्प को वश में करने वाला) अथवा औषध-निपुण पुरुष, मुझ (सर्प) को बुलाकर बन्धन में डाल देता है, अथवा कोई शत्रुता के कारण किसी को खाने (काटने) के लिये मुझे बुलाता है।' (यह सोचकर) बोला—'तुम कौन हो?' उसने कहा—'मैं गङ्गदत्त नाम का मेढकों का राजा हूँ, और मित्रता के लिये (तुम्हारे पास मित्रता करने के लिये) आया हूँ।' यह सुन सर्प ने कहा—'तिनकों का आग के साथ एकत्रित होना' विश्वास के योग्य नहीं अर्थात् जिस प्रकार आग और तिनकों का मेल नहीं हो सकता, उसी प्रकार तुम्हारी और हमारी मित्रता भी असम्भव है। अतः तुम्हारा मेरे पास मित्रता के लिये आना भी विश्वासयोग्य नहीं हो सकता। कहा भी है—

यो यस्य जायते वध्यः स स्वप्नेऽपि कथञ्चन।
न तत्समीपमभ्येति तत्किमेवं प्रजल्पसि ॥ २१ ॥'

जो जिसका वध्य (मारने योग्य, भक्ष्य) होता है, वह स्वप्न में भी किसी प्रकार उसके पास नहीं जाता, फिर क्यों तू ऐसा कहता है ॥ २१ ॥'

गङ्गदत्त आह—'भोः! सत्यमेतत्। स्वभाववैरी त्वमस्माकम्। परं परपरिभवात्प्राप्तोऽहं ते सकाशम्। उक्तं च—

गङ्गदत्त ने कहा—'हे सर्प! यह बात सच है कि तुम हमारे स्वभाव से ही शत्रु हो, परन्तु मैं दूसरों के द्वारा अपमानित हो तुम्हारे पास आया हूँ? कहा भी है—

सर्वनाशे च सञ्जाते प्राणानामपि संशये।
अपि शत्रुं प्रणम्यापि रक्षेत्प्राणान्धनानि च ॥ २२ ॥'

धन-जनादि सर्वस्व की तथा प्राणों की रक्षा भी जब सन्दिग्ध हो जावे, तब शत्रु को भी प्रणाम करके प्राण और धनादि की रक्षा करनी चाहिये ॥२२॥'

सर्प आह—'कथय कस्मात्ते परिभवः।' स आह—'दायादेभ्यः।' सोऽप्याह—'क्व ते आश्रयो वाप्यां कूपे तडागे ह्रदे वा। तत्कथय स्वाश्रयम्।' तेनोक्तम्—'पाषाणचयनिबद्धे कूपे।' सर्प आह—'अहो! अपदा वयम्। तन्नास्ति तत्र मे प्रवेशः। प्रविष्टस्य च स्थानं नास्ति। यत्र स्थितस्तव दायादान्व्यापादयामि। तद् गम्यताम्। उक्तं च—

सर्प ने कहा—'कहो, तुम्हारा अपमान करनेवाला कौन है?' उसने कहा—'कुटुम्बी लोग।' वह बोला—'तुम्हारा निवासस्थान कहाँ है? बावली में, कुए में, तालाब अथवा महासरोवर (ह्रद=अगाधजल तालाब, कुण्डा) में? अपना स्थान बताओ।' उसने कहा—'पत्थरों के समूह से बने हुए कुएँ में।' सर्प ने कहा—'अहो! हम चरण-हीन हैं, इसलिए मैं उसमें प्रविष्ट नहीं हो सकता और यदि किसी प्रकार प्रविष्ट हो भी जाऊँ तो वहाँ (मेरे लिए उपयुक्त) स्थान नहीं है, जहाँ बैठकर तुम्हारे कुटुम्बियों को मार सकूँ? इसलिये चले जाओ। कहा भी है—

यच्छक्यं ग्रसितुं यस्य ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितं च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता' ॥ २३ ॥

जो भोज्य वस्तु खाई जा सके, खाने पर जो अच्छी तरह पच सके और जो पचने पर लाभकारी हो, अपनी भलाई चाहनेवाले पुरुष को चाहिए कि वही वस्तु खावे ॥ २३ ॥'

गङ्गदत्त आह—'भोः! समागच्छ त्वम्। अहं सुखोपायेन तत्र तव प्रवेशं कारयिष्यामि। तथा तस्य मध्ये जलोपान्ते रम्यतरं कोटरमस्ति। तत्र स्थितस्त्वं लीलया दायादान्व्यापादयिष्यसि।' तच्छ्रुत्वा सर्पो व्यचिन्तयत्—अहं तावत्परिणतवयाः, कदाचित्कथञ्चिन्मूषकमेकं प्राप्नोमि। तत्सुखावहो जीवनोपायोऽयमनेन कुलाङ्गारेण मे दर्शितः। तद्गत्वा तान्मण्डूकान्भक्षयामि' इति। अथवा साध्विदमुच्यते—

गङ्गदत्त ने कहा—'तुम आओ, मैं बड़े आसानी से तुमको वहाँ प्रविष्ट करा दूँगा और कुएँ के अन्दर जल के पास एक सुन्दर बिल है, उसमें रहकर तुम आसानी से मेरे कुटुम्बियों को मार सकोगे।' यह सुन सर्प सोचने लगा—'मैं वृद्ध हो गया हूँ, कभी-कभी बड़ी कठिनता से एकाध चूहा पा जाता हूँ, यह अच्छा ही हुआ कि इस कुलाङ्गार (कुल-कलङ्क) ने मुझे यह सरल जीविका

का ढङ्ग बता दिया, इसलिये जाकर उन मेंढकों को खाऊँ। अथवा यह ठीक ही कहा है—

> यो हि प्राणपरिक्षीणः सहायपरिवर्जितः।
> स हि सर्वसुखोपायां वृत्तिमारचयेद् बुधः' ॥ २४ ॥

जो मनुष्य, शक्तिहीन हो चुका हो और जिसके सहायक भी न हो, यदि वह समझदार हो तो सब प्रकार के सुख देनेवाली जीविका की तलाश करे।

एवं विचिन्त्य तमाह—'भो गङ्गदत्त ! यद्येवं तदग्रे भव। येन तत्र गच्छावः।' गङ्गदत्त आह—'भोः प्रियदर्शन ! अहं त्वां सुखोपायेन तत्र नेष्यामि, स्थानं च दर्शयिष्यामि। परं त्वयास्मत्परिजनो रक्षणीयः। केवलं यानहं तव दर्शयिष्यामि त एव भक्षणीयाः' इति। सर्प आह—'साम्प्रतं त्वं मे मित्रं जातम्। तन्न भेतव्यम्। तव वचनेन भक्षणीयास्ते दायादाः।' एवमुक्त्वा बिलान्निष्क्रम्य तमालिङ्ग्य च तेनैव सह प्रस्थितः। अथ कूपमासाद्यारघट्टघटिकामार्गेण सर्पस्तेनात्मना स्वालयं नीतः। ततश्च गङ्गदत्तेन कृष्णसर्पं कोटरे धृत्वा दर्शितास्ते दायादाः। ते च तेन शनैः शनैर्भक्षिताः। अथ मण्डूकाभावे सर्पेणाभिहितम्—'भद्र ! निःशेषितास्ते रिपवः। यत्प्रयच्छान्यन्मे किञ्चिद्भोजनम्। यतोऽहं त्वयाऽत्रानीतः।' गङ्गदत्त आह—'भद्र! कृतं त्वया मित्रकृत्यम्। तत्साम्प्रतमनेनैव घटिकायन्त्रमार्गेण गम्यताम्' इति। सर्प आह—'भो गङ्गदत्त ! न सम्यगभिहितं त्वया। कथमहं तत्र गच्छामि। मदीयबिलदुर्गमन्येन रुद्धं भविष्यति। तस्मादत्रस्थस्य मे मण्डूकमेकैकं स्ववर्गीयं प्रयच्छ। नो चेत्सर्वानपि भक्षयिष्यामि' इति। तच्छ्रुत्वा गङ्गदत्तो व्याकुलमना व्यचिन्तयत्—'अहो ! किमेतन्मया कृतं सर्पमानयता। तद्यदि निषेधयिष्यामि तत्सर्वानपि भक्षयिष्यति। अथवा युक्तमुच्यते—

सर्प ने यह (पूर्वोक्त) सोचकर उससे (गङ्गदत्त से) कहा—'हे गङ्गदत्त ! यह बात है तो आगे होओ, जिससे वहाँ (तुम्हारे स्थान पर) चलें।' गङ्गदत्त ने कहा—'हे प्रियदर्शन ! मैं, तुम्हें वहाँ सरलता से ले चलूँगा और स्थान (रहने योग्य अनुकूल स्थान) भी दिखा दूँगा परन्तु तुम, हमारे कुटुम्बियों को बचाना—न खाना। जिनको मैं दिखाऊँ केवल उन्हें ही खाना।' सर्प बोला—'अब तुम मेरे मित्र हो गये हो, इसलिये डरो मत। तुम्हारे कथनानुसार ही मैं तुम्हारे कुटुम्बियों को खाऊँगा (जिन्हें तुम बताओगे उन्हें ही खाऊँगा)।' यह कहकर और बिल से निकल उसको आलिङ्गन किया और उसी के साथ

चल पड़ा। अनन्तर कुएँ के पास पहुँचकर, ढेंकुली के मार्ग से वह सर्प को अपने स्थान में ले गया। तब गङ्गदत्त ने उस कृष्णसर्प को घोंसले में ठहराकर शत्रु-दायादों को दिखा दिया और उसने धीरे-धीरे उन सबको खा लिया। अनन्तर मेढ़कों के (गङ्गदत्त के दायादों के) समाप्त हो जाने पर सर्प ने कहा— 'भद्र! तुम्हारे सब शत्रु समाप्त कर दिये, अब मुझे और कोई भोजन दो, क्योंकि तुम ही मुझे यहाँ लाये हो।' गङ्गदत्त ने कहा—'भद्र! तुमने मित्र का कार्य पूरा कर दिया (जो एक मित्र को करना चाहिये) इसलिए, अब इसी घटिका-यन्त्र मार्ग से चले जाओ।' सर्प ने कहा—'गङ्गदत्त! तुमने यह बात ठीक नहीं कही। मैं वहाँ कैसे जाऊँ? मेरा बिलरूपी दुर्ग दूसरे ने घेर लिया होगा। इसलिये यहीं रहते हुए मुझे अपने वर्ग का एक-एक मण्डूक (प्रतिदिन) दिया करो, नहीं तो मैं सबको ही खा जाऊँगा।' यह सुनकर गङ्गदत्त घबड़ाकर सोचने लगा—'सर्प को लाकर मैंने यह क्या किया? (बहुत बुरा किया) अब यदि मैं निषेध करता हूँ, तो सबको खा जायेगा। अथवा ठीक ही कहा है-

योऽमित्रं कुरुते मित्रं वीर्याभ्यधिकमात्मनः।
स करोति न सन्देहः स्वयं हि विषभक्षणम्॥ २५॥

जो मनुष्य अपने से अधिक बलशाली शत्रु को मित्र बनाता है, तो इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि वह स्वयं ही विष खाता है॥ २५॥

तत्प्रयच्छाम्यस्यैकैकं प्रतिदिनं सुहृदम्। उक्तं च—
इसलिये इसे एक-एक कुटुम्बी (मेढक) प्रतिदिन दिया करूँ। कहा भी है-

सर्वस्वहरणे युक्तं शत्रुं बुद्धियुता नराः।
तोषयन्त्यल्पदानेन वाडवं सागरो यथा॥ २६॥

जिस तरह समुद्र वडवानल को थोड़ा-सा जल देकर अपनी रक्षा करता है, उसी तरह बुद्धिमान् पुरुष सर्वस्व का हरण करने में तत्पर शत्रु को थोड़ा बहुत देकर भी प्रसन्न कर लेते हैं॥ २६॥

तथा च—

यो दुर्बलोऽणूनपि याच्यमानो बलीयसा यच्छति नैव साम्ना।
प्रयच्छते नैव च दर्श्यमानं खारीं स चूर्णस्य पुनर्ददाति॥२७॥

और भी—दुर्बल मनुष्य बलवान् पुरुष से शान्तिपूर्वक माँगने पर थोड़ी-सी

भी वस्तु नहीं देता और दिखलाई देनेवाली छोटी भी वस्तु उसे नहीं देता, वही फिर (जबर्दस्ती छीनने पर) खारी (१० सेर) परिमित आटा दे देता है ॥२७॥

तथा च—सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः ।
अर्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुस्तरः ॥ २८ ॥

और भी—बुद्धिमान् पुरुष सर्वनाश उपस्थित होने पर आधा छोड़ देता है और आधे से अपना काम करता है, क्योंकि सर्वनाश असह्य होता है ॥ २८ ॥

न स्वल्पस्य कृते भरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।
एतदेव हि पाण्डित्यं यत्स्वल्पाद् भूरिरक्षणम् ॥ २९ ॥

बुद्धिमान् पुरुष थोड़े के लिये बहुत का नाश न करे । क्योंकि थोड़ा देकर अधिक की रक्षा करना ही चातुर्य है ॥ २९ ॥'

एवं निश्चित्य नित्यमेकैकमादिशति । सोऽपि तं भक्षयित्वा तस्य परोक्षेऽन्यानपि भक्षयति । अथवा साध्विदमुच्यते—

ऐसा विचार कर गंगदत्त प्रतिदिन १-१ मेढक देने लगा । वह सर्प उसे खाकर परोक्ष में अन्यान्य मेढकों को भी खा जाता था । अथवा ठीक ही कहा है—

'यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते ।
एवं चलितवित्तस्तु वित्तशेषं न रक्षति ॥ ३० ॥'

'जिस प्रकार मलिन वस्त्रधारी पुरुष जहाँ-तहाँ (धूलि आदि में भी) बैठ जाता है, इसी प्रकार किसी सदाचार से भ्रष्ट हुआ पुरुष अन्य आचारों की भी परवाह नहीं करता, सब प्रकार के दुराचारों में प्रवृत्त हो जाता है ॥ ३० ॥'

अथान्यदिने तेनापरान्मण्डूकान्भक्षयित्वा गङ्गदत्तसुतो यमुनादत्तो भक्षितः । तं भक्षितं मत्वा गङ्गदत्तस्तारस्वरेण धिग्धिक्प्रलापपरः कथञ्चिदपि न विरराम । ततः स्वपत्न्याभिहितः—

जब दूसरे दिन वह सर्प अन्य मेढकों को खाकर गंगदत्त के पुत्र यमुनादत्त को भी खा गया । तब उसको खाया हुआ समझकर गंगदत्त जोर-जोर से अपने को धिक्कारता हुआ कुछ क्षण के लिये भी शान्त नहीं हुआ, तब उसकी पत्नी ने कहा—

'किं क्रन्दसि दुराक्रन्द स्वपक्षक्षयकारक ।
स्वपक्षस्य क्षये जाते को नस्त्राता भविष्यति' ॥ ३१ ॥

हे व्यर्थ रोदन करनेवाले और अपने वर्ग का नाश करनेवाले (मूर्ख) तू क्यों रोता है ? (अब तेरे रोने से क्या लाभ ?) अपने पक्ष का नाश होने पर हमारी रक्षा कौन करेगा ? अर्थात् कोई नहीं । अतः विनाश अवश्यम्भावी है ।

तदद्यापि विचिन्त्यतामात्मनो निष्क्रमणम्, अस्य वधोपायः च ।' अथ गच्छता कालेन सकलमपि कवलितं मण्डूककुलम् । केवलमेको गङ्गदत्तस्तिष्ठति । ततः प्रियदर्शनेन भणितम्—'भो गङ्गदत्त ! बुभुक्षितोऽहम् । निःशेषिताः सर्वे मण्डूकाः । तद्दीयतां मे किञ्चिद्भोजनं यतोऽहं त्वयात्रानीतः ।' स आह—'भो मित्र ! न त्वयात्र विषये मयावस्थितेन कापि चिन्ता कार्या । तद्यदि मां प्रेषयति ततोऽन्यकूपस्थानपि मण्डूकान्विश्वास्यात्रानयामि ।' स आह—'मम तावत्त्वमभक्ष्यो भ्रातृस्थाने । तद्यद्येवं करोषि तत्साम्प्रतं पितृस्थाने भवसि । तदेवं क्रियताम्' इति । सोऽपि तदाकर्ण्यारघट्टघटिकामाश्रित्य विविधदेवतोपकल्पितपूजोपयाचितस्तत्कूपाद्विनिष्क्रान्तः । प्रियदर्शनोऽपि तदाकाङ्क्षया तत्रस्थः प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति । अथ चिरादनागते गङ्गदत्ते प्रियदर्शनोऽन्यकोटरनिवासिनीं गोधामुवाच—'भद्रे ! क्रियतां स्तोकं साहाय्यम् । यतश्चिरपरिचितस्ते गङ्गदत्तः । तद् गत्वा तत्सकाशं कुत्रचिज्जलाशयेऽन्विष्य मम सन्देशं कथय । येनागम्यतामेकाकिनापि भवता द्रुततरं यद्यन्ये मण्डूका नागच्छन्ति । अहं त्वया विना नात्र वस्तुं शक्नोमि । तथा यद्यहं तव विरुद्धमाचरामि तत्सुकृतमन्तरे मया विधृतम् ।' गोधाऽपि तद्वचनाद् गङ्गदत्तं द्रुततरमन्विष्याह—'भद्र गङ्गदत्त ! स तव सुहृत्प्रियदर्शनस्तव मार्गं समीक्षमाणस्तिष्ठति । तच्छीघ्रमागम्यताम्' इति । अपरं च तेन तव विरूपकरणे सुकृतमन्तरे धृतम् । तन्निःशङ्केन मनसा समागम्यताम् । तदाकर्ण्य गङ्गदत्त आह—

इसलिये अब भी अपने (यहाँ से) निकलने और इसके मारने का उपाय सोचो । कुछ समय में (सर्प ने) सब मेढक खा लिये । केवल गङ्गदत्त अकेला बच गया । तब प्रियदर्शन (सर्प) ने कहा—हे गङ्गदत्त ! मैं भूखा हूँ, सब मण्डूक समाप्त हो चुके हैं । इसलिये मुझे कुछ भोजन दो क्योंकि तुम ही मुझे यहाँ लाये हो । उसने कहा—मित्र ! मेरे रहते हुए इस विषय में तुम्हें कोई चिन्ता न करनी चाहिए । यदि तुम मुझे भेजो तो दूसरे कुओं में रहनेवाले मेढकों को विश्वास दिलाकर (बहकाकर) यहाँ ले आऊँ । उसने कहा—तुम

मेरे भाई-तुल्य हो, इसलिए तुम्हें मैं नहीं खा सकता और अगर ऐसा करो तो फिर पितृतुल्य हो जाओ, इसलिये ऐसा करो। वह भी अरहट के सहारे, अनेक देवी-देवताओं की पूजा और भेंट की मनौती मनाता हुआ उस कुएँ से निकला। प्रियदर्शन भी, अन्य कुओं में रहनेवाले मण्डूकों को खाने की इच्छा से वहीं रहकर उसकी (गङ्गदत्त की) प्रतीक्षा करने लगा। अनन्तर, बहुत काल बाद भी जब गङ्गदत्त न लौटा, तब उसने दूसरे बिल में रहनेवाली गोह से कहा—हे भद्रे ! थोड़ी सी सहायता करो। गङ्गदत्त से तुम्हारा चिरकाल का परिचय है, इसलिये किसी जलाशय (तालाब आदि) में उसे तलाश करके मेरा सन्देश उससे कहो—यदि अन्य मेढक नहीं आते तो तुम अकेले ही जल्दी चले आओ। मैं तुम्हारे बिना यहाँ नहीं रह सकता, और यदि तुम्हारे विरुद्ध मैं कोई कार्य करूँ तो मेरा पुण्य नष्ट हो जाय (अपने दोनों के बीच मैं अपना पुण्य रखता हूँ, यह एक प्रकार की शपथ है)। गोह भी उसके (प्रियदर्शन) कहने से गङ्गदत्त को शीघ्र ही तलाश करके उससे बोली—'भद्र गङ्गदत्त ! वह तुम्हारा मित्र प्रियदर्शन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है, इसलिए जल्दी आओ। और तुम्हारे विरुद्धाचरण न करने के लिए उसने अपना धर्म बीच में रख दिया है, अतः निःशंक मन से आओ।' यह सुनकर गङ्गदत्त ने कहा—

बुभुक्षितः किं न करोति पापं क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।
आख्याहि भद्रे ! प्रियदर्शनस्य न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम् ॥ ३२ ॥

'भूखा क्या पाप नहीं करता' इत्यादि। (अनुवाद कथारम्भ में देखिये)

एवमुक्त्वा स तां विसर्जयामास।

ऐसा कहकर उसने उसको बिदा कर दिया।

तद्भो दुष्टजलचर ! अहमपि गङ्गदत्त इव त्वद्गृहे न कथञ्चिदपि यास्यामि। तच्छ्रुत्वा मकर आह—भो मित्र ! नैतद्युज्यते। सर्वथैव मे कृतघ्नतादोषमपनय मद्गृहागमनेन। अथवाऽत्राहमनशनात्प्राणत्यागं तवोपरि करिष्यामि।' वानर आह—'मूढ ! किमहं लम्बकर्णो मूर्खः। दृष्ट्वापायोऽपि स्वयमेव तत्र गत्वाऽत्मानं व्यापादयामि।

हे दुष्ट जलचर ! गङ्गदत्त के समान मैं भी किसी प्रकार तुम्हारे घर नहीं जाऊँगा। यह सुन मकर ने कहा—मित्र ! यह बात ठीक नहीं है, मेरे घर चलकर मेरे ऊपर से कृतघ्नता का लाञ्छन मिटाओ (यहाँ मकर का आशय यह है—मेरी बातों से तुमने मुझे कृतघ्न समझ लिया है, मैं उसे दूर

करना चाहता हूँ, परन्तु वह तभी सम्भव है जब तुम मेरे साथ चलो और कुशलपूर्वक लौट आओ, मकर फिर बन्दर को अपने कब्जे में लाना चाहता है) अन्यथा मैं यहीं तुम्हारे ऊपर निराहार रहकर प्राण त्याग दूँगा। वानर ने कहा—मूर्ख ! क्या मैं लम्बकर्ण गदहा हूँ, जो अपना नाश (नाशसाधन) देखकर भी फिर वहीं जाकर मरूँ।

'आगतश्च गतश्चेव दृष्ट्वा सिंहपराक्रमम् ।
अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागतः' ॥ ३३ ॥

(सिंह के पास) आया और सिंह का पराक्रम देखकर चला भी गया, परन्तु चूँकि वह मूर्ख कान और हृदय से रहित था (न तो सुनने के लिये कान थे और न विचारने के लिए दिमाग ही था) इसलिए वह मारा गया ॥३३॥

मकर आह—'भद्र ! स को लम्बकर्णः । कथं दृष्टापायोऽपि मृतः । तन्मे निवेद्यताम् ।' वानर आह ।

मकर ने कहा—'भद्र ! वह लम्बकर्ण कौन था ? नाश देखकर भी कैसे मरा ? यह सब मुझसे कहो ।' वानर ने कहा—

कथा ३

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे करालकेसरो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म । तस्य च धूसरको नाम शृगालः सदैवानुयायी परिचारकोऽस्ति । अथ कदाचित्तस्य हस्तिना सह युध्यमानस्य शरीरे गुरुतराः प्रहाराः सञ्जाताः, यैः पदमेकमपि चलितुं न शक्नोति । तस्याचलनाच्च धूसरकः क्षुत्क्षामकण्ठो दौर्बल्यं गतः । अन्यस्मिन्नहनि तमवोचत् स्वामिन् ! बुभुक्षया पीडितोऽहम् । पदात्पदमपि चलितुं न शक्नोमि । तत्कथं ते शुश्रूषां करोमि ।' सिंह आह—'भोः ! गच्छ । अन्वेषय किञ्चित्सत्त्वम्, येनेमामवस्थां गतोऽपि व्यापादयामि ।' तदाकर्ण्य शृगालोऽन्वेषयन्कञ्चित्समीपवर्तिनं ग्राममासादितवान् । तत्र लम्बकर्णो नाम गर्दभस्तडागोपान्ते प्रविरलदूर्वाङ्कुरान्कृच्छादास्वादयन्दृष्टः । ततश्च समीपवर्तिना भूत्वा तेनाभिहितः—माम ! नमस्कारोऽयं मदीयः सम्भाव्यताम् । चिराद् दृष्टोऽसि । तत्कथय किमेवं दुर्बलतां गतः ।' स आह—भो भगिनीपुत्र ! किं कथयामि । रजकोऽतिनिर्दयोऽतिभारेण मां पीडयति । घासमुष्टिमपि न प्रयच्छति । केवलं दूर्वाङ्कुरान्धूलिमिश्रितान्भक्षयामि । तत्कुतो मे

शरीरे पुष्टिः।' शृगाल आह—'माम ! यद्येवं तदस्ति मरकतसदृशशष्प-प्रायो नदीसनाथो रमणीयतरः प्रदेशः। तत्रागत्य मया सह सुभाषित-गोष्ठीसुखमनुभवंस्तिष्ठ।' लम्बकर्ण आह—'भो भगिनीसुत ! युक्त-मुक्तं भवता। पर वयं ग्राम्याः पशवोऽरण्यचारिणां वध्याः। तत्किं तेन भव्यप्रदेशेन।' शृगाल आह–माम ! मैवं वद। मद्भुजपञ्जरपरिरक्षितः सः देशः। तत्रास्ति न कश्चिदपरस्य तत्र प्रवेशः। परममनेनैव दोषेण रजककदर्थितास्तत्र तिस्रो रासभ्योऽनाथा सन्ति। ताश्च पुष्टिमापन्ना यौवनोत्कटा इदं मामूचुः—'यदि त्वमस्माकं सत्यो मातुलस्तदा कश्चिद् ग्रामान्तरं गत्वाऽस्मद्योग्यं कश्चित्पतिमानय। तदर्थे त्वामहं तत्र नयामि।' अथ शृगालवचनानि श्रुत्वा कामपीडिताङ्गस्तमवोचत्—'भद्र ! यद्येवं तदग्रे भव, येनागच्छामि।' अथवा साध्विदमुच्यते—

कथा इस प्रकार है—किसी वन में (वनस्थान में) करालकेशर नाम का सिंह रहता था। हमेशा साथ रहनेवाला धूसरक नाम का एक शृगाल उसका सेवक था। एक समय हाथी के साथ युद्ध करते हुए उस (सिंह) के शरीर में बड़े-बड़े घाव हो गये, जिनके कारण वह एक पग भी नहीं चल सकता था; उसके न चलने से धूसरक भूख से पीड़ित हो कृश हो गया। एक दिन उसने सिंह से कहा—स्वामिन् ! मैं भूख से पीड़ित हूँ, एक पग भी नहीं चल सकता, आपकी सेवा कैसे करूँ। सिंह ने कहा—अच्छा जाओ, कोई पशु तलाश करो, जिससे इस दशा में भी उसे मारूँ। यह सुनकर शृगाल तलाश करता हुआ पास के किसी ग्राम में पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि तालाब के किनारे पर लम्बकर्ण नाम का गदहा छीदी-छीदी दूब के अंकुर बड़ी कठिनता से खा रहा है। तब उसके पास जाकर उसने कहा—मामा ! मेरा यह नमस्कार ग्रहण कीजिये, चिरकाल के बाद दिखाई पड़े हो, कहो, इतने दुर्बल क्यों हो ? उसने कहा—हे भानजे ! क्या कहूँ, धोबी बड़ा निर्दयी है, वह मुझे बोझा (लादकर) बड़ा कष्ट देता है परन्तु (खाने को) मुट्ठी भर घास भी नहीं देता; केवल धूल में मिले हुए दूब के अङ्कुर खाता हूँ। फिर मेरे शरीर में शक्ति कहाँ से आये। शृगाल ने कहा—मामा ! अगर यह बात है तो, मरकत मणि के समान हरी-हरी घास से भरा हुआ नदी के पास एक सुन्दर स्थान है, वहाँ आकर मेरे साथ उत्तम-उत्तम विषयों पर वार्तालाप का सुख भोगते हुए रहो। लम्ब-कर्ण ने कहा—हे भानजे ! आपने ठीक कहा, परन्तु हम ग्राम के रहनेवाले

पशु, जङ्गली जानवरों के शिकार हुआ करते हैं, इसलिये उस सुन्दर स्थान से क्या लाभ ! शृगाल बोला—मामा ! ऐसा मत कहो, (यह बात नहीं है) वह स्थान मेरी भुजा रूपी पिंजरे से सुरक्षित है, वहाँ किसी भी शत्रु का प्रवेश नहीं हो सकता। लेकिन इसी दोष के कारण (पर्याप्त भोजन न मिलने से) धोबी से सताई हुई तीन गर्दभियाँ वहाँ हैं, जिनका कोई स्वामी (पति) नहीं है। अत्यन्त पुष्ट हुई उन्होंने यौवनोन्मत्त हो मुझसे कहा—यदि तुम, सचमुच ही हमारे मामा हो तो किसी ग्राम में जाकर हमारे योग्य पति लाओ, उन्हीं के लिये मैं तुम्हें वहाँ ले जा रहा हूँ। तब शृगाल के वचन सुनकर कामातुर होकर उसने शृगाल से कहा—'भद्र ! यदि यह बात है तो आगे होओ, जिससे मैं चलूं।' यह ठीक ही कहा है—

नामृतं न विषं किञ्चिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम्।
यस्याः सङ्गेन जीव्येत म्रियते च वियोगतः ॥ ३४ ॥

एक सुन्दरी को छोड़कर दूसरी कोई अमृत या विष नाम की वस्तु नहीं है, जिसके संसर्ग से मनुष्य जीता और जिसके वियोग से मर जाता है ॥ ३४ ॥

तथा च—यासां नाम्नापि कामः स्यात्सङ्गमं दर्शनं विना।
तासां दृक्सङ्गमं प्राप्य यन्न द्रवति कौतुकम् ॥ ३५ ॥

जिन प्रमदाओं के संसर्ग और दर्शन के बिना भी केवल उनके नाम मात्र से ही काम (भोगेच्छा) उत्पन्न होता है, उनकी दृष्टि में पड़कर मनुष्य न पिघले (कामपीड़ित न हो) यही आश्चर्य की बात है। सभी लोग उनके अधीन हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

तथानुष्ठिते शृगालेन सह सिंहान्तिकमागतः। सिंहोऽपि व्यथाकुलितस्तं दृष्ट्वा यावत्समुत्तिष्ठति, तावद्रासभः पलायितुमारब्धवान्। अथ तस्य पलायमानस्य सिंहेन तलप्रहारो दत्तः। स च मन्दभाग्यस्य व्यवसाय इव व्यर्थतां गतः। अत्रान्तरे शृगालः कोपाविष्टस्तमुवाच—'भोः ! किमेवंविधः प्रहारस्ते। यद् गर्दभोऽपि तव पुरतो बलाद् गच्छति। तत्कथं गजेन सह युद्धं करिष्यसि ? तद् दृष्टं ते बलम्।' अथ सविलक्षस्मितं सिंह आह—'भोः ! किमहं करोमि। मया न क्रमः सज्जीकृत आसीत्। अन्यथा गजोऽपि मत्क्रमाक्रान्ता न गच्छति।' शृगाल आह—'अद्याप्येकवारं तवान्तिके तमानेष्यामि। परं त्वया सज्जीकृतक्रमेण स्थातव्यम्।' सिंह आह—'भद्र ! यो मां प्रत्यक्षं दृष्टवा गतः स

पुनः कथमत्रागमिष्यति। तदन्यत्किमपि सत्त्वमन्विष्यताम्।' शृगाल आह—'किं तवानेन व्यापारेण। त्वं केवलं सज्जितक्रमस्तिष्ठ।' तथानुष्ठिते शृगालोऽपि यावद्रासभमार्गेण गच्छति, तावत्तत्रैव स्थाने चरन्दृष्टः। अथ शृगालं दृष्ट्वा रासभः प्राह–'भो भगिनीसुत ! शोभनस्थाने त्वयाहं नीतः। द्राङ्मृत्युवशं गतः। तत्कथय किं तत्सत्त्वम्, यस्यातिरौद्रवज्रसदृशकरप्रहारादहं मुक्तः। तच्छ्रुत्वा प्रहसञ्शृगाल आह—'भद्र ! रासभी त्वामायान्तं दृष्ट्वा सानुरागमालिङ्गितुं समुत्थिता। त्वं च कातरत्वान्नष्टः। सा पुनर्न शक्ता त्वां विना स्थातुम्। तया तु नश्यतस्तेऽवलम्बनार्थं हस्तः क्षिप्तः। नान्यकारणेन। तदागच्छ। सा त्वत्कृते प्रायोपवेशनोपविष्टा तिष्ठति। एतद्वदति—'यल्लम्बकर्णो यदि मे भर्ता न भवति तदहमग्नौ जलं वा प्रविशामि। पुनस्तस्य वियोगं सोढुं न शक्नोमि' इति। तत्प्रसादं कृत्वा तत्रागम्यताम्। नो चेत्तव स्त्रीहत्या भविष्यति। अपरं भगवान्कामकोपं तवोपरि करिष्यति। उक्तं च—

वैसा करने पर वह, शृगाल के साथ सिंह के पास पहुँचा। व्यथा से पीड़ित सिंह, उसे देखकर ज्योंही उठने की कोशिश करने लगा, त्योंही गदहा भागा। भागते हुए गदहे के ऊपर सिंह ने पञ्जा मारा। परन्तु वह दैवहीन पुरुष के पुरुषार्थ के समान निष्फल गया। तब शृगाल क्रुद्ध होकर उससे कहने लगा—तेरे पञ्जे की चोट कैसी है? जो गदहा भी तेरे सामने से जबर्दस्ती निकल जाता है, हाथी के साथ तू कैसे युद्ध करेगा? तेरी शक्ति देख ली। तब सिंह ने कुछ लज्जित हो कहा—मैं क्या करूँ, मैं आक्रमण करने के लिये तैयार न था, अन्यथा मेरे आक्रमण से हाथी भी नहीं निकल सकता। शृगाल ने कहा—अब भी एक बार मैं उसे तेरे पास लाऊँगा, परन्तु तू आक्रमण के लिये तैयार होकर बैठना। सिंह बोला भद्र ! जो मुझे प्रत्यक्ष देखकर गया है, वह फिर यहाँ कैसे आयेगा। इसलिए और कोई जानवर तलाश करो। शृगाल ने कहा—'तुम्हें इस बात से क्या मतलब। तुम केवल तैयार रहो।' तब शृगाल गदहे के पीछे-पीछे (गदहे के रास्ते से) गया और उसने उसी स्थान पर (तालाब के किनारे) उसे चरते हुए देखा। शृगाल को देखकर गदहा कहने लगा—वाह भानजे ! अच्छी जगह तुम मुझे ले गये, मैं मृत्यु के मुँह में पड़ ही गया था, कहो वह कौन जानवर है, जिसके अति भयंकर वज्रतुल्य चपेटाघात से बचकर आया हूँ। यह सुनकर शृगाल ने हँसते हुए कहा—भद्र ! तुझे आता

हुआ देखकर, कामपीड़ित गर्दभी तेरा आलिङ्गन करने के लिए उठी थी। तू तो कायर होने से भाग आया, परन्तु वह तेरे बिना नहीं रह सकती। उसने भागते हुए तुझे पकड़ने के लिये हाथ चलाया था, किसी अन्य कारण से नहीं, आओ चलो, वह तेरे लिये अनशन व्रत किये बैठी है। वह कहती है यदि लम्बकर्ण मेरा पति न होगा तो मैं, अग्नि या जल में प्रवेश करूँगी अथवा विष खा लूँगी परन्तु उसका वियोग नहीं सह सकती। इसलिए कृपाकर वहीं चलो, नहीं तो तुम्हें स्त्रीहत्या का पाप लगेगा। और भगवान् कामदेव भी तुम्हारे ऊपर क्रोध करेंगे। कहा भी है—

'स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वार्थसम्पत्करीं

ते मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः।

ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिताः

केचिद्रक्तपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे'॥ ३६॥

जो मूर्ख अविवेकी पुरुष (तीनों लोक की) विजेत्री, सब प्रकार के सुख और ऐश्वर्य देनेवाली, कामदेव की स्त्रीरूपी मुद्रा (ध्वजा) को छोड़कर अन्य नीरस स्वर्गादि की तलाश में घूमा करते हैं, भगवान् कामदेव ने उन पर निर्दयता से प्रहार करके उनमें से किन्हीं को नंगे और मुण्डे सिरवाले बना दिया, किन्हीं को लाल वस्त्रधारी बनाया, किन्हीं को जटाधारी और अन्यों को कपालधारी बना दिया है॥ ३६॥

अथासौ तद्वचनं श्रद्धेयतया श्रुत्वा भूयोऽपि तेन सह प्रस्थितः। अथवा साध्विदमुच्यते—

तब वह (गदहा) उसकी बात श्रद्धापूर्वक सुनकर फिर उसके साथ चल दिया। अथवा यह ठीक ही कहा है—

जानन्नपि नरो दैवात्प्रकरोति विगर्हितम्।

कर्म किं कस्यचिल्लोके गर्हितं रोचते कथम्॥ ३७॥

मनुष्य सब कुछ जानता हुआ भी जो निन्दित कर्म करने में प्रवृत्त होता है, उसका एकमात्र कारण दैव (होनहार) ही है। (ऐसा न हो तो) संसार में क्या कोई भी निन्दित कर्म किसी को अच्छा लगे? कभी नहीं॥ ३७॥

अत्रान्तरे सज्जितक्रमेण सिंहेन स लम्बकर्णो व्यापादितः। ततस्तं हत्वा शृगालं रक्षकं निरूप्य स्वयं स्नानार्थं नद्यां गतः। शृगालेनापि लौल्योत्सुक्यात्तस्य कर्णहृदयं भक्षितम्। अत्रान्तरे सिंहो यावत्स्नात्वा

कृते देवार्चनः प्रतर्पितपितृगणः समायाति तावत्कर्णहृदयरहितो रासभस्तिष्ठति। तं दृष्ट्वा कोपपरीतात्मा सिंहः शृगालमाह—'पाप! किमिदमनुचितं कर्म समाचरितम्। यत्कर्णहृदयभक्षणेनायमुच्छिष्टतां नीतः।' शृगालः सविनयमाह—'स्वामिन्! मा मैवं वद। यत्कर्णहृदयरहितोऽयं रासभ आसीत्, तेनेहागत्य त्वामवलोक्य भूयोऽप्यागतः।' अथ तद्वचनं श्रद्धेयं मत्वा सिंहस्तेनैव सह संविभज्य निःशङ्कितमनास्तं भक्षितवान्। अतोऽहं ब्रवीमि—'आगतश्च गतश्चैव' इति (दे० पृ० १९)। तन्मूर्ख! 'कपटं कृतं त्वया। परं युधिष्ठिरेणेव सत्यवचनेन विनाशितम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

तब, आक्रमण के लिए पूर्व से ही उद्यत सिंह ने उस लम्बकर्ण को मार डाला। उसे मारकर शृगाल को रक्षक नियुक्त कर स्वयं स्नान करने के लिये नदी मे गया। इधर, शृगाल ने चपलता के कारण लालसा (इच्छा) वश उसके कान और हृदय खा लिये। जब सिंह स्नान करके देवपूजा से निवृत्त हो पितरों को तृप्त करके (लौटकर) आया, तब तक गदहा कर्ण और हृदय से खाली हो चुका था। यह देखकर सिंह ने क्रुद्ध हो शृगाल से कहा—अरे पापी! तूने यह क्या अनुचित काम किया कि इसके कान और हृदय खाकर इसे उच्छिष्ट (जूठा) कर दिया। शृगाल ने नम्रता से कहा—प्रभो! यह न कहिये, क्योंकि यह कान और हृदय से रहित ही था, इसीलिए तो यहाँ आकर तुम्हें देखे जाने पर भी फिर यहाँ आ गया (अगर इसके कान होते तो सिंह की गर्जना सुनकर भी यहाँ कैसे आता? और यदि हृदय होता तो एक बार तल-प्रहार का अनुभव करके भी उसे क्यों भूल जाता) उसकी बात का विश्वास करके, सिंह ने उसके साथ बाँट कर निःशङ्कचित्त हो उसे खाया। इसलिये मैं कहता हूँ 'आगतश्च गतश्चैव' इत्यादि (दे० पृ० १९)। मूर्ख! तूने कपट तो किया था परन्तु युधिष्ठिर के समान सच बोलकर उसे नष्ट कर दिया। अथवा ठीक ही कहा है—

स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी सत्यं ब्रूते सुमन्दधीः।
स स्वार्थाद् भ्रश्यते नूनं युधिष्ठिर इवापरः' ॥ ३८ ॥

जो कपटी मनुष्य, अपना स्वार्थ छोड़कर (भुला कर) सच बोलता है, वह महामूर्ख है (क्योंकि) वह दूसरे युधिष्ठिर के समान, निश्चय ही अपने स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाता है, अपना काम नष्ट कर लेता है ॥ ३८ ॥

मकर आह—'कथमेतत्।' स आह—

मगर ने कहा—यह कैसे? वह कहने लगा।

कथा ४

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कुम्भकारः प्रतिवसति स्म । स कदाचित्प्रमादादर्धभग्नखर्परतीक्ष्णाग्रस्योपरि महता वेगेन धावन्पतितः । ततः खर्परकोट्या पाटितललाटो रुधिरप्लावितितनुः कृच्छ्रादुत्थाय स्वाश्रयं गतः । ततश्चापथ्यसेवनात्स प्रहारस्तस्य करालतां गतः कृच्छ्रेण नीरोगतां नीतः । अथ कदाचिद् दुर्भिक्षपीडिते देशे च कुम्भकारः क्षुत्क्षामकण्ठः कैश्चिद्राजसेवकैः सह देशान्तरं गत्वा कस्यापि राज्ञ सेवको बभूव । सोऽपि राजा तस्य ललाटे विकरालं प्रहारक्षत दृष्ट्वा चिन्तयामास— 'यद्वीरः पुरुषः कश्चिदयम् । नूनं तेन ललाटपट्टे सम्मुखप्रहारः ।' अतस्तं समानादिभिः सर्वेषां राजपुत्राणां मध्ये विशेषप्रसादेन पश्यति स्म । तेऽपि राजपुत्रास्तस्य तं प्रसादातिरेकं पश्यन्तं परमेर्ष्याधर्मं वहन्तो राजभयान्न किञ्चिदूचुः ।

किसी स्थान में कुम्भकार रहा करता था । एक समय वह, नशे में चूर होकर, वेग से दौड़ता हुआ, आधे टूटे हुए घड़े के नोकीले खप्पर पर गिर पड़ा । खप्पर की नोक से उसका मस्तक फट गया और उसका सारा शरीर रुधिर से तर हो गया । तब बड़ी कठिनता से उठकर घर पहुँचा । अपथ्य सेवन करने के कारण उसका वह घाव बहुत बढ़ गया और बड़ी कठिनता से आराम हुआ । अनन्तर एक समय देश में अकाल पड़ने के कारण वह कुम्भकार भूख से पीड़ित हो किन्हीं राजसेवकों के साथ दूसरे देश में जाकर किसी राजा का सेवक हो गया । उसके मस्तक पर भीषण चोट का (घाव) निशान देख कर राजा ने सोचा—यह कोई वीर पुरुष है, इसलिये सम्भव है सामने युद्ध करते हुए इसके मस्तक पर यह प्रहार लगा । अत एव वह राजा सब राजपूतों की अपेक्षा सम्मान आदि के द्वारा उस पर विशेष कृपादृष्टि रखता था । वे राजपूत लोग राजा की इस विशेष कृपा को देखते हुए और मन में ईर्ष्या (डाह) रखते हुए भी राजा के भय से कुछ कह नहीं पाते थे ।

अथान्यस्मिन्नहनि तस्य भूपतेर्वीरसम्भावनायां क्रियमाणायां विग्रहे समुपस्थिते प्रकल्प्यमानेषु गजेषु संनह्यमानेषु वाजिषु योधेषु । प्रगुणीक्रियमाणेषु तेन भूभुजा स कुम्भकारः प्रस्तावानुगतं पृष्टो निर्जने— 'भो राजपुत्र ! किं ते नाम । का च जातिः । कस्मिन्संग्रामे प्रहारोऽयं ते

ललाटे लग्नः। स आह—'देव ! नायं शस्त्रप्रहारः। युधिष्ठिराभिधः कुलालोऽहं प्रकृत्या। मद्गेहेऽनेकखर्पराण्यासन्। अथ कदाचिन्मद्यपानं कृत्वा निर्गतः प्रधावन्खर्परोपरि पतितः। तस्य प्रहारविकारोऽयं मे ललाटे एवं विकरालतां गतः।' तदाकर्ण्य राजा सव्रीडमाह—'अहो ! वञ्चितोऽहं राजापुत्रानुकारिणानेन कुलालेन। तद्दीयतां द्रागेतस्य चन्द्रार्धः।' तथानुष्ठिते कुम्भकार आह—'मां मैवं कुरु। पश्य मे रणे हस्तलाघवम्। राजा प्राह—'भोः ! सर्वगुणसम्पन्नो भवान्। तथापि गम्यताम् उक्तं च—

अनन्तर एक दिन, युद्ध उपस्थित होने पर जब कि वीरों का दान-मानादि द्वारा सत्कार किया जा रहा था, घोड़ों पर काठी आदि कसी जा रही थी, योधाओं को कवायद आदि कराकर युद्ध के लिए तैयार किया जा रहा था, उस समय समयानुसार राजा ने उस कुलाल से एकान्त में पूछा—हे राजपूत ! तुम्हारा क्या नाम है ? तुम्हारी जाति क्या है ? और किस युद्ध में तुमको यह घाव लगा है ? उसने कहा हे राजन् ! यह शस्त्र का घाव नहीं है। मैं युधिष्ठिर नाम का जाति का एक कुम्हार हूँ। मेरे घर अनेक खपड़े थे। एक दिन मद्य पीकर दौड़ता हुआ घर से निकला और खपड़े पर गिर पड़ा। उसी की यह चोट ऐसी भीषण हो गई है। यह सुनकर राजा ने लज्जित हो कहा—राजपूतों का अनुकरण (वेषभूषादि से) करनेवाले इस कुलाल ने मुझे बड़ा धोखा दिया। इसलिये इसे शीघ्र गलहस्ती देकर (गले में हाथ डालकर) निकाल दो। ऐसा करते समय कुम्भकार ने कहा—ऐसा मत कीजिये, युद्ध में मेरे हाथ की सफाई (फुर्ती) देखिये। राजा ने कहा—आप सर्वगुणसम्पन्न हैं, तो भी जाइये। कहा भी है—

शूरश्च कृतविद्यश्च दर्शनीयोऽसि पुत्रक ! ।
यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥ ३९ ॥

हे पुत्र ! तुम शूरवीर और शिक्षित भी हो, परन्तु जिस वंश में तुम उत्पन्न हुए हो, उसमें हाथी नहीं मारे जाते ॥ ३९ ॥

कुलाल आह—'कथमेतत्।' राजा कथयति—

कुलाल ने कहा—यह कैसे (यह कहानी किस प्रकार है ?) राजा ने कहा—

कथा ५

कस्मिंश्चिदुद्देशे सिंहदम्पती प्रतिवसतः स्म। अथ सिंही पुत्रद्वयम-

जीजनत् । सिंहोऽपि नित्यमेव मृगान् व्यापाद्य सिंह्यै ददाति । अथान्यस्मिन्नहनि तेन किमपि नासादितम् । येन भ्रमतोऽपि तस्य रविरस्तं गतः । अथ तेन स्वगृहमागच्छता शृगालशिशुः प्राप्तः । स च बालकोऽयमित्यवधार्य यत्नेन दंष्ट्रामध्यगत कृत्वा सिंह्या जीवन्तमेव समर्पितवान् । ततः सिंह्याऽभिहितम्— 'भोः कान्त ! त्वयानीतं किञ्चिदस्माकं भोजनम् ।' सिंह आह—'प्रिये ! मयाद्यैनं शृगालशिशुं परित्यज्य न किञ्चित्सत्त्वमासादितम् । स च मया बालोऽयमिति मत्वा न व्यापादितो विशेषात्स्वजातीयश्च । उक्तं च—

किसी स्थान में सिंह और सिंही रहते थे । एक समय, सिंही ने दो पुत्र जने । तब सिंह, प्रतिदिन पशुओं को मारकर सिंही को दिया करता था । एक दिन उसे कुछ भी नहीं मिला । वन में घूमते हुए सूर्य भी अस्त हो गया । घर को लौटते हुए उसे गीदड़ का बच्चा मिला, परन्तु उसने उसे बालक समझकर बड़े यत्न से दोनों दाढ़ों के बीच रखकर जिन्दा ही सिंही को सौंप दिया । तब सिंही ने कहा—स्वामिन् ! हमारे लिये कुछ भोजन लाये । सिंह ने कहा—प्रिये ! आज इस शृगाल शिशु के अतिरिक्त मुझे कोई जानवर नहीं मिला । उसे भी मैंने बालक समझकर नहीं मारा । कहा भी है—

स्त्रीविप्रलिङ्गिबालेषु प्रहर्तव्यं न कर्हिचित् ।
प्राणत्यागेऽपि सञ्जाते विश्वस्तेषु विशेषतः ।। ४० ।।

जीवन के सन्देह में पड़ने पर भी स्त्री, ब्राह्मण, संन्यासी तथा बालक और विशेषकर अपना विश्वास करनेवालों पर कभी भी प्रहार न करना चाहिये ।

इदानीं त्वमेनं भक्षयित्वा पथ्यं कुरु । प्रभातेऽन्यत्किञ्चिदुपार्जयिष्यामि । सा प्राह—'भोः कान्त ! त्वया बालकोऽयम् इति विचिन्त्य न हतः । तत्कथमेनमहं स्वोदरार्थे विनाशयामि उक्तं च—

इस समय तो तुम इसे खाकर पथ्य करो । प्रातःकाल और कुछ लाऊँगा । उसने कहा हे नाथ ! जब तुमने इसे बालक समझकर नहीं मारा तो मैं अपने पेट के लिए क्यों मारूँ । कहा भी है—

अकृत्यं नैव कर्त्तव्यं प्राणत्यागेऽपि संस्थिते ।
न च कृत्यं परित्याज्यमेष धर्मः सनातनः ।। ४१ ।।

प्राणों का संशय उपस्थित होने पर भी, अनुचित कर्म नहीं करना चाहिये और न उचित कर्म छोड़ना चाहिये । यही सनातन धर्म है ।। ४१ ।।

तस्मान्ममायं तृतीयः पुत्रो भविष्यति ।' इत्येवमुक्त्वा तमपि स्वस्तनक्षीरेण परां पुष्टिमनयत् । एवं ते त्रयोऽपि शिशवः परस्परमज्ञातजातिविशेषा एकाचारविहारा बाल्यसमयं निर्वाहयन्ति । अथ कदाचित्तत्र वने भ्रमन्नरण्यगजः समायातः । तं दृष्ट्वा तौ सिंहसुतौ द्वावपि कुपिताननौ तं प्रति प्रचलितौ यावत् तावत्तेन शृगालसुतेनाभिहितम्—'अहो ! गजोऽयं युष्मत्कुलशत्रुः । तन्न गन्तव्यमेतस्याभिमुखम् ।' एवमुक्त्वा गृहं प्रधावितः । तावपि ज्येष्ठबान्धवभङ्गान्निरुत्साहतां गतौ । अथवा साध्विदमुच्यते—

इसलिए, यह मेरा तीसरा पुत्र हो जायगा । यह कहकर उसे भी वह अपने दूध से पालने लगी (पुष्ट करने लगी) । इस प्रकार वे तीनों बच्चे, एक दूसरे की जाति को न जानते हुए, साथ-साथ खेलते कुदते समय बिताने लगे । एक समय, उस वन में घूमता हुआ जङ्गली हाथी आया । उसे देखकर, वे दोनों सिंह के बच्चे क्रुद्ध होकर जब उस पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हुए, तब शृगालपुत्र ने कहा—यह हाथी है, जो कि तुम्हारे कुल का शत्रु है । यह कहकर घर को भाग गया । वे दोनों भी बड़े भाई के भयभीत हो जाने से उत्साहहीन हो गये । किसी ने ठीक ही कहा है—

एकेनापि सुधीरेण सोत्साहेन रणं प्रति ।
सोत्साहं जायते सैन्यं भग्ने भङ्गमवाप्नुयात् ॥ ४२ ॥

(सेना में) एक भी पुरुष के धैर्यशाली और उत्साही होने पर सारी सेना युद्ध में उत्साहित हो जाती है और (एक भी पुरुष के) निरुत्साहित होने पर उत्साहहीन हो जाती है ॥ ४२ ॥

तथा च—अत एव हि वाञ्छन्ति भूपा योधान्महाबलान् ।
शूरान्वीरान्कृतोत्साहान्वर्जयन्ति च कातरान् ॥ ४३ ॥

इसीलिए राजा लोग बलवान्, वीर, स्थिरबुद्धि और उत्साही योधाओं को चाहते हैं तथा भीरु सिपाहियों का परित्याग कर देते हैं ॥ ४३ ॥

अथ तौ द्वावपि गृहं प्राप्य पित्रोरग्रतो ज्येष्ठभ्रातृचेष्टितमूचतुः । यथा गजं दृष्ट्वा दूरतोऽपि नष्टः । सोऽपि तदाकर्ण्य कोपाविष्टमनाः प्रस्फुरिताधरपल्लवस्ताम्रलोचनस्त्रिशिखां भृकुटिं कृत्वा तौ निर्भर्त्सयन्परुषतरवचनान्युवाच । ततः सिंह्या कान्ते नीत्वा प्रबोधितोऽसौ—'वत्स ! मैवं कदाचिज्जल्प । भवदीयलघुभ्रातरावेतौ ।' अथासौ प्रभूतको-

पाविष्टस्तामुवाच—'किमहमेताभ्यां शौर्येण रूपेण विद्याभ्यासेन कौशलेन वा हीनः येन मामुपहसतः । तन्मयावश्यमेतौ व्यापादनीयौ ।' तदाकर्ण्य सिंही तस्य जीवितमिच्छन्त्यन्तर्विहस्य प्राह—

तब वे दोनों (सिंहपुत्र) घर जाकर माता-पिता के सामने अपने बड़े भाई की करतूत पर हँसते हुए कहने लगे—यह हाथी को देखकर दूर से ही भाग गया । वह भी, यह सुन अत्यन्त क्रुद्ध हुआ तथा उसके ओष्ठ फड़कने लगे, आँखें लाल हो गईं, वह भौं तानकर उनको धमकाते हुए कठोर वचन कहने लगा । तब सिंही ने, एकान्त में, उसे ले जाकर समझाया—वत्स ! ऐसा मत कहो, यह तुम्हारे छोटे भाई हैं । इस पर वह और अधिक क्रोध से भरकर उससे बोला—शूरता, रूप, विद्याभ्यास और चतुराई में क्या इनसे मैं कम हूँ, जो ये मेरा उपहास करते हैं । इसलिये, मैं अवश्य ही उन्हें मारूँगा । यह सुनकर उसका जीवन चाहती हुई सिंही मुस्कराकर कहने लगी ।—शूरश्च कृतविद्यश्च' इत्यादि । (दे० श्लोक ३९) ।

'तत्सम्यक्शृणु । वत्स ! त्वं शृगालीसुतः, कृपया मया स्वस्तनक्षीरेण पुष्टिं नीतः । तद्यावदेतौ मत्पुत्रौ शिशुत्वात्त्वां शृगालं न जानीतः, तावद् द्रुततरं गत्वा स्वजातीयानां मध्ये भव । नो चेदाभ्यां हतो मृत्युपथं समेष्यसि । सोऽपि तद्वचनं श्रुत्वा भयव्याकुलमनाः शनैः शनैरपसृत्य स्वजात्या मिलितः । तस्मात्त्वमपि यावदेते राजपुत्रास्त्वां कुलालं न जानन्ति, तावद् द्रुततरमपसर । नो चेदेतेषां सकाशाद्विडम्बनां प्राप्य मरिष्यसि ।' कुलालोऽपि तदाकर्ण्य सत्वर प्रनष्टः । अतोऽहं ब्रवीमि—'स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी' (दे० श्लो० ३८) इति ।

इसलिये ध्यान देकर सुन, हे वत्स ! तू शृगालपुत्र है, मैंने कृपाकर अपना दूध पिलाकर तुझे पाला है, अत एव जब तक ये लोग तुझे शृगाल न जानें, उससे पूर्व ही तू भागकर अपनी जाति में मिल जा । नहीं तो इनसे मारा जाकर मृत्यु को प्राप्त होगा । वह भी सुनकर भयभीत हो तुरन्त भाग गया । इसलिये तुम भी, जब तक ये राजपूत तुम्हें कुलाल न जानें, तब तक शीघ्र चले जाओ, नहीं तो इनके द्वारा तिरस्कार पाओगे । कुलाल भी यह सुनकर तुरन्त भाग गया । इसलिये मैं कहता हूँ 'स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी' इत्यादि (दे० श्लोक ३८) ।

धिङ्मूर्ख ! यत्त्वया स्त्रियोऽर्थं एतत्कार्यमनुष्ठातुमारब्धम् । न हि स्त्रीणां कथञ्चिद्विश्वासमुपगच्छेत् । उक्तं च—

अरे मूर्ख ! तुझे धिक्कार हैं, क्योंकि तूने स्त्री के लिये यह कार्य आरम्भ किया है । स्त्रियों का कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए । कहा भी है—

यदर्थे स्वकुलं त्यक्तं जीवितार्धं च हारितम् ।
सा मां त्यजति निःस्नेहा कः स्त्रीणां विश्वसेन्नरः' ॥ ४४ ॥

जिसके लिए मैंने अपना कुल त्यागकर जीवन का आधा हिस्सा दे दिया, वह स्नेहविमुख होकर मुझे त्याग रही है । तब कौन मनुष्य स्त्रियों का विश्वास करेगा ॥ ४४ ॥

मकर आह—'कथमेतत् ।' वानर आह—

मकर ने कहा— यह कैसे ? वानर ने कहा—

कथा ६

अस्ति कस्मिश्चिदधिष्ठाने कोऽपि ब्राह्मणः । तस्य च भार्या प्राणेभ्योऽप्यतिप्रियासीत् । सोऽपि प्रतिदिनं कुटुम्बेन सह कलहं कुर्वाणा न विश्राम्यति । सोऽपि ब्राह्मणः कलहमसहमानो भार्यावात्सल्यात्स्वकुटुम्बं परित्यज्य ब्राह्मण्या सह विप्रकृष्टं देशान्तरं गतः । अथ महाटवीमध्ये ब्राह्मण्याभिहितः–आर्यपुत्र ! तृष्णा मां बाधते । तदुदकं क्वाप्यन्वेषय ।' अथासौ तद्वचनानन्तरं यावदुदकं गृहीत्वा समागच्छति तावत्तां मृतामपश्यत् । अतिवल्लभतया विषादं कुर्वन्यावद्विलपति तावदाकाशे वाचं शृणोति । यथा हि–यदि ब्राह्मण ! त्वं स्वकीयजीवितस्यार्धं ददासि ततस्ते जीवति ब्राह्मणी ।' तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणेन शुचीभूय तिसृभिर्वाचाभिः स्वजीवितार्धं दत्तम् । वाक्सममेव च ब्राह्मणी जीविता सा । अथ तौ जलं पीत्वा वनफलानि भक्षयित्वा गन्तुमारब्धौ । ततः क्रमेण कस्यचिन्नगरस्य प्रदेशे पुष्पवाटिकां प्रविश्य ब्राह्मणो भार्यामभिहितवान्—'भद्रे ! यावदहं भोजनं गृहीत्वा समागच्छामि तावदत्र त्वया स्थातव्यम् ।' इत्यभिधाय ब्राह्मणो नगरमध्ये जगाम । अथ तस्यां पुष्पवाटिकायां पङ्गुररघट्टं खेलयन्दिव्यगिरा गीतमुद्गिरति । तच्च श्रुत्वा कुसुमेषुणार्दिता ब्राह्मण्या तत्सकाशं गत्वाऽभिहितम्–'भद्र ! यहि मां न कामयसे, तन्मत्सक्ता स्त्रीहत्या तव भविष्यति ।' पङ्गुरब्रवीत् —किं व्याधिग्रस्तेन-

मया करिष्यसि।' साऽब्रवीत्—'किमनेनोक्तेन। अवश्यं त्वया सह मया सङ्गमः कर्तव्यः।' तच्छ्रुत्वा तथा कृतवान्। सुरतानन्तरं साऽब्रवीत्—'इतः प्रभृति यावज्जीवं मयात्मा भवते दत्तः। इति ज्ञात्वा भवानप्यस्माभिः सहागच्छतु।' सोऽब्रवीत्—'एवमस्तु'। अथ ब्राह्मणो भोजनं गृहीत्वा समागत्य तया सह भोक्तुमारब्धः साऽब्रवीत्—'एष पङ्गुर्बुभुक्षितः। तदेतस्यापि कियन्तमपि ग्रासं देहि' इति। तथानुष्ठिते ब्राह्मण्याभिहितम्—'ब्राह्मण! सहायहीनस्त्वं यदा ग्रामान्तरं गच्छसि, तदा मम वचनसहायोऽपि नास्ति। तदेनं पङ्गुं गृहीत्वा गच्छावः।' सोऽब्रवीद्—'न शक्नोम्यात्मानमप्यात्मनां वोढुम्। किं पुनरेनं पङ्गुम्। साऽब्रवीत्—'पेटाभ्यन्तरस्थमेनमहं नेष्यामि।' अथ तत्कृतकवचनव्यामोहितचित्तेन तेन प्रतिपन्नम्। तथानुष्ठितेऽन्यस्मिन्दिने कूपोपकण्ठे विश्रान्तो ब्राह्मणस्तया च पङ्गुपुरुषासक्तया सम्प्रेर्य कूपान्तः पातितः। सापि पङ्गु गृहीत्वा कस्मिंश्चिन्नगरे प्रविष्टा। तत्र शुल्कचौर्यरक्षानिमित्तं राजपुरुषैरितस्ततो भ्रमद्भिस्तन्मस्तकस्था पेटी दृष्टा बलादाच्छिद्य राजाग्रे नीता। राजा च यावत्तामुद्घाटयति, तावत्तं पङ्गुं ददर्श। ततः सा ब्राह्मणी विलापं कुर्वंती राजपुरुषानुपदमेव तत्रागता। राज्ञा पृष्टा—'को वृत्तान्तः' इति। साऽब्रवीत्—ममैष भर्ता व्याधिबाधितो दायादसमूहैरुद्वेजितो मया स्नेहव्याकुलितमानसया शिरसि कृत्वा भवदीयनगर आनीतः।' तच्छ्रुत्वा राजाऽब्रवीत्—'ब्राह्मणि! त्वं मे भगिनी। ग्रामद्वयं गृहीत्वा भर्त्रा सह भोगान्भुञ्जाना सुखेन तिष्ठ।' अथ स ब्राह्मणो दैववशात्केनापि साधुना कूपादुत्तारितः परिभ्रमंस्तदेव नगरमायातः। तया दुष्टभार्यया दृष्टा राज्ञे निवेदितः—'राजन्! अयं मम भर्तुर्वैरी समायातः।' राज्ञापि वध आदिष्टः। साऽब्रवीत्—'देव! अनया मम सक्तं किञ्चिद् गृहीत मस्ति। यदि त्वं धर्मवत्सलः, तद्दापय।' राजाऽब्रवीत्'—भद्रे! यत्त्वयास्य सक्तं किञ्चिद् गृहीतमस्ति तत्समर्पय। सा प्राह—'देव! मया न किञ्चिद्गृहीतम्।' ब्राह्मण आह—'यन्मया त्रिवाचिकं स्वजीवितार्धं दत्तम्, तद् देहि।' अथ सा राजभयात्तत्रैव 'त्रिवाचिकमेव जीवितार्धमनेन दत्तम्' इति जल्पन्ती प्राणैर्विमुक्ता। ततः सविस्मयं राजाऽब्रवीत्—किमेतत्' इति। ब्राह्मणेनापि पूर्ववृत्तान्तः सकलोऽपि तस्मै निवेदितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'यदर्थे स्वकुलं त्यक्तम्' इति (दे० श्लोक ४४)।

किसी स्थान में एक ब्राह्मण रहता था। उसको अपनी स्त्री प्राणों से भी अधिक प्यारी थी। वह प्रतिदिन कुटुम्ब के साथ झगड़ा करती हुई कभी भी शान्त नहीं रहती थी। वह ब्राह्मण भी झगड़े से ऊब गया और भार्या के प्रेम-वश अपने कुटुम्ब को छोड़ कर ब्राह्मणी के साथ दूर देश को चल पड़ा। चलते-२ एक भयंकर जंगल के मध्य में पहुँचने पर ब्राह्मणी ने कहा—आर्यपुत्र ! मुझे बड़ी प्यास लगी है। सो कहीं जल की खोज करो। ब्राह्मणी के कहने पर जब वह जल लेकर आया, तो उसे मरी पड़ी देखा। अतिशय प्रेम के कारण दुःख से जब वह विलाप करने लगा, तब यह आकाशवाणी सुनाई दी–ब्राह्मण ! यदि तू इसे अपने जीवन का आधा हिस्सा दे दे तो यह ब्राह्मणी जीवित हो जायगी। यह सुन ब्राह्मण ने पवित्र होकर तीन बार प्रतिज्ञा करके अपना आधा जीवन उसे दे दिया। उसके ऐसा करते ही वह ब्राह्मणी जी उठी। तब वे दोनों जल पीकर वन के फल खाते हुए चलने लगे। चलते-चलते किसी नगर की पुष्पवाटिका में ठहरकर ब्राह्मण ने अपनी स्त्री से कहा—भद्रे ! मैं जाकर भोजन की सामग्री ले आता हूँ। तब तक तुम यहीं रहो। ऐसा कहकर ब्राह्मण शहर को चला गया। उस पुष्पवाटिका में एक लँगड़ा कुएँ की सीढ़ी पर खेलता हुआ मधुर स्वर से गीत गा रहा था। उस गीत को सुनकर कामबाण से पीड़ित होकर ब्राह्मणी उसके पास गयी और बोली—भद्र ! तुम यदि मेरी इच्छा पूरी नहीं करोगे, तो तुमको कामासक्त स्त्री की हत्या का पाप लगेगा। लँगड़ा बोला—व्याधि से ग्रस्त मुझसे तू क्या करेगी ? वह बोली—ऐसा कहने से क्या लाभ ? मैं अवश्य तुम्हारे साथ सम्भोग करूँगी। यह सुनकर उसने वैसा ही किया। सम्भोग के अन्त में वह बोली—अब से जीवन भर के लिए मैंने अपनी आत्मा तुम्हें दे दी है। ऐसा जानकर तुम भी हमारे साथ चलो। वह बोला—ऐसा ही सही। तब तक ब्राह्मण भोजन लाया और उसके साथ खाने लगा।—वह बोली—यह लँगड़ा भूखा है। सो इसको भी कुछ भोजन दे दो। वैसा कहने पर ब्राह्मणी ने कहा—ब्राह्मण ! तुम सहायहीन होकर जब ग्रामान्तर चले जाते हो, तब मेरा भी कोई वचनसहाय नहीं रहता। सो इस पंगु को साथ ले लो। वह बोला—'मैं स्वयं चलने में असमर्थ हूँ फिर इस पङ्गु को कैसे ले चलूँगा ?' वह बोली—गठरी के भीतर रखकर इसको मैं ले चलूंगी। उस स्त्री के बनावटी वचनों से मोहित होकर उसने यह भी अङ्गीकार कर लिया। वैसा करने पर एक दिन उस पङ्गु में आसक्त चित्तवाली उस ब्राह्मणी ने कुएँ के

समीप विश्राम करते हुए अपने पति को कुएं में ढकेल दिया और प्यारे पङ्गु को लेकर किसी नगर में चली गई। वहाँ राज्य-कर (चुंगी) नहीं देनेवाले चोरों की खोज में इधर-उधर घूमते हुए राजपुरुषों ने उसके मस्तक पर वह गठरी देखी, तो जबर्दस्ती छीनकर राजा के पास ले गये। राजा ने जब उसे खोलवाया, तो उसमें लँगड़े को देखा। तब तक ब्राह्मणी भी विलाप करती हुई राजपुरुषों के पीछे पीछे वहाँ आ गई। राजा ने पूछा—क्या बात है ? वह बोली—मेरा रोगग्रस्तस्वामी बंधुओं से सताया हुआ है। मैं स्नेहवश व्याकुल मन से सिर पर रखकर इसे आपके नगर में लायी हूँ। यह सुनकर राजा बोला—ब्राह्मणी ! तू मेरी (सती) बहिन है। मुझसे दो गाँव लेकर अपने पति के संग सुख भोगती हुई सुख से रहो। उधर किसी साधु द्वारा कुएँ से निकाला हुआ वह ब्राह्मण दैववश घूमता-फिरता उसी नगर में आ पहुँचा। तब उस दुष्ट भार्या ने उसे देखकर राजा से कहा—राजन् ! यही मेरे स्वामी का वैरी है। राजा ने तत्काल उसके वध की आज्ञा दे दी। वह ब्राह्मण बोला—देव ! इसने मेरी धरोहर ले रखी है। यदि आप धर्मवत्सल राजा हैं, तो उसे दिला दीजिए। राजा बोला—भद्रे ! तुमने इसका कुछ लिया हो तो दे दो। वह बोली—देव ! मैंने इसका कुछ नहीं लिया है। ब्राह्मण बोला—जो मैंने त्रिवाचिक देकर अपना आधा जीवन इसे दिया था, वह दे दे। तब राजा के भय से उसने कहा—त्रिवाचिक जीवन, जो इसने मुझे दिया था, सो मैं लौटा रही हूँ। ऐसा कहते ही वह मर गयी। तब विस्मयपूर्वक राजा बोला—यह क्या हुआ। तब ब्राह्मण ने पहले का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। इसी से मैं कहता हूँ—'यदर्थे स्वकुलं त्यक्तम्' (दे० श्लोक ४४)।

वानर पुनराह—'साधु चेदमुपाख्यानकं श्रूयते—

फिर वानर ने कहा—'यह भी एक अच्छी कथा सुनी जाती है—

न किं दद्यान्न किं कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः।
अनश्वा यत्र ह्रेषन्ते शिरः पर्वणि मुण्डितम्' ॥ ४५ ॥

पत्नी के माँगने पर मनुष्य क्या नहीं देता और क्या नहीं करता अर्थात् सब कुछ देता है और करता है। जब घोड़े न होकर भी मनुष्य हिनहिनाते हैं और पर्व दिन अर्थात् चौदस-अष्टमी आदि निषिद्ध दिनों में भी सिर का मुण्डन कराते हैं।

मकर आह—'कथमेतत्' ? वानरः कथयति—

मगर बोला—'यह कैसे ?' वानर ने कहा—

कथा ७

अति प्रख्यातबलपौरुषोऽनेकनरेन्द्रमुकुटमरीचिजालजटिलीकृत-पादपीठः शरच्छशाङ्ककिरणनिर्मलयशाः समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या भर्ता नन्दो नाम राजा। यस्य सर्वशास्त्राधिगतसमस्ततत्त्वः सचिवो वररुचिर्नाम। तस्य च प्रणयकलहेन जाया कुपिता। सा चातीव वल्लभानेकप्रकारं परितोष्यमाणापि न प्रसीदति। ब्रवीति च भर्ता—'भद्रे! येन प्रकारेण तुष्यसि तं वद। निश्चितं करोमि।' ततः कथञ्चित्तयोक्तम्—'यदि शिरो मुण्डयित्वा मम पादयोर्निपतसि, तदा प्रसादाभिमुखी भवामि।' तथानुष्ठिते प्रसन्नाऽऽसीत्। अथ नन्दस्य भार्यापि तथैव रुष्टा प्रसाद्यमानापि न तुष्यति। तेनोक्तम्—'भद्रे! त्वया विना मुहूर्तमपि न जीवामि। पादयोः पतित्वा त्वां प्रसादयामि।' साऽब्रवीत्–यदि खलीनं मुखे प्रक्षिप्याहं तव पृष्ठे समारुह्य त्वां धावयामि। धावितस्तु यद्यश्ववद्ध्रेषसे, तदा प्रसन्ना भवामि।' राज्ञाऽपि तथैवानुष्ठितम्। अथ प्रभातसमये सभायामुपविष्टस्य राज्ञ समीपे वररुचिरायातः। तं च दृष्ट्वा राजा पप्रच्छ–'भो वररुचे! किं पर्वणि मुण्डितं सिरस्त्वया।' सोऽब्रवीत्—'न किं दद्यात्' इत्यादि (श्लोक ४५)।

किसी देश में पूर्ण प्रख्यात और बल पुरुषार्थयुक्त अनेक राजाओं के मुकुटों के किरणसमूह से सेवित चरण-पीठवाला, शरत्कालीन चन्द्रमा के समान निर्मल और समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का स्वामी नन्द नाम का राजा था। सम्पूर्ण शास्त्र का तत्वज्ञ वररुचि उसका मन्त्री था। एक दिन उसकी स्त्री प्रणय-कलह से क्रोधित हुई। वह उसे बहुत प्यारी थी, अतः अनेक प्रकार से सतुन्ष्ट करने पर भी जब वह प्रसन्न नहीं हुई, तब उसका पति बोला—भद्रे! तुम किस तरह प्रसन्न होगी? सो कहो, उसको मैं अवश्य करूँगा। तब उसने कहा—यदि सिर मुड़ाकर मेरे चरणों में गिरो, तो मैं प्रसन्न हो जाऊँगी। वररुचि के वैसा करने पर वह प्रसन्न हो गई। उधर राजा नन्द की भार्या भी उसी प्रकार रूठी थी और किसी प्रकार सन्तुष्ट नहीं हो रही थी। तब राजा ने कहा—भद्रे! तेरे बिना मैं क्षणभर भी नहीं जी सकता। मैं चरण पकड़कर तुझे मनाता हूँ। वह बोली—तुम मुख में लगाम डालो और तुम्हारी पीठपर चढ़कर शीघ्रता से मैं तुम्हें दौड़ाऊँगी। दौड़ते हुए तुम घोड़े के समान हिनहिनाओ, तो मैं प्रसन्न हो जाऊँगी। राजा ने भी वैसा ही किया। तब प्रातःकाल सभा में बैठे राजा के

समीप वररुचि आया। उसे देखकर राजा ने जब पूछा—अहो वररुचि ! तुमने किस पर्व में सिर मुड़ाया है ? तब वह बोला—'न किं दद्यात्' इत्यादि। (दे० श्लोक ४५)।

तद्भो दुष्ट मकर ! त्वमपि नन्दवररुचिवत्स्त्रीवश्यः। ततो भद्र ! आगतेन त्वया मां प्रति वधोपायप्रयासः प्रारब्धः, परं स्ववाग्दोषेणैव प्रकटीभूतः। अथवा साध्विदमुच्यते—

इसलिए अरे दुष्ट मगर ! तू भी नन्द और वररुचि के समान स्त्री के वशीभूत है। भद्र ! आते ही तुमने मेरे वध का उपाय सोचना प्रारम्भ किया, परन्तु तुम्हारी वाणी के दोष से भेद खुल गया। अथवा ठीक ही कहा है—

आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः।
बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधनम् ॥ ४६ ॥

शुक और सारिकाएँ (मैना) अपने मुख-दोष से (बोलने और गान का सामर्थ्य होने से) पकड़े जाते हैं परन्तु बगुले नहीं पकड़े जाते, अतः चुप रहना, सब कामों का साधक होता है।

तथा च—'सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयन्दारुणं वपुः।
व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नो वाक्कृते रासभो हतः' ॥ ४७ ॥

बड़ी सावधानी से रक्षा किया जाता हुआ, व्याघ्र के चमड़े से ढका हुआ, अत एव भयंकर शरीर दिखाता हुआ (अपने सिंहतुल्य शरीर से क्षेत्रपालों को डराता हुआ) भी गदहा अपने बोलने के कारण मारा गया।

मकर आह—'कथमेतत् ?' वानरः कथयति—

मगर बोला—'यह कैसे ?' वानर ने कहा—

कथा ८

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने शुद्धपटो नाम रजकः प्रतिवसति स्म। तस्य च गर्दभ एकोऽस्ति। सोऽपि घासाभावादतिदुर्बलतां गतः। अथ तेन रजकेनाटव्यां परिभ्रमता मृतव्याघ्रो दृष्टः। चिन्तितं च—अहो ! शोभनमापतितम्। अनेन व्याघ्रचर्मणा प्रतिच्छाद्य रासभं रात्रौ यवक्षेत्रेषूत्स्रक्ष्यामि। येन व्याघ्रं मत्वा समीपवर्तिनः क्षेत्रपाला एनं न निष्कासयिष्यन्ति। तथाऽनुष्ठिते रासभो यथेच्छया यवभक्षणं करोति। प्रत्यूषे भूयोऽपि रजकः स्वाश्रयं नयति। एवं गच्छता कालेन स रासभः पीवर-

तनुर्जातः। कृच्छ्राद् बन्धनस्थानमपि नीयते। अथान्यस्मिन्नहनि स मदोद्धतो दूराद्रासभीशब्दमश्रृणोत्। तच्छ्रवणमात्रेणैव स्वयं शब्दयितुमारब्धः। अथ ते क्षेत्रपाला रासभोऽयं व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्न इति ज्ञात्वा लगुडशरपाषाणप्रहारैस्तं व्यापादितवन्तः। अतोऽहं ब्रवीमि—'सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि' इति (श्लो० ४७)।

किसी स्थान में शुद्धपट नामक धोबी रहता था। उसके पास एक गदहा था परन्तु वह भी घास न मिलने से अत्यन्त दुर्बल हो गया था। एक समय उस धोबी ने जंगल में घूमते हुए मरे हुए व्याघ्र को पाया। तब उसने सोचा—यह बहुत अच्छा हुआ, इस चमड़े को ओढ़ा कर गदहे को रात के समय जौ के खेत में छोड़ दिया करूँगा, जिससे कि इसे बाघ समझ कर पास के खेतवाले खेत से न निकालेंगे। ऐसा करने पर, रात में गदहा इच्छानुसार जौ खाया करता था, प्रातःकाल फिर धोबी अपने घर ले जाता था। कुछ ही दिनों में वह खूब मोटा-ताजा हो गया, बड़ी कठिनता से बाँधने में आता था। एक दिन मदमत्त वह रासभ, दूर से गर्दभी का शब्द सुनकर जोर से चिल्लाने लगा। तब क्षेत्रपालों ने यह समझकर कि—बाघ के चमड़े से ढका हुआ यह रासभ है, लकड़ी-पत्थर और तीर मारकर उसे मार डाला। इसलिए मैं कहता हूँ कि 'सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि' इत्यादि (श्लोक ४७)।

'तत्किं श्यामलकवदत्यपमानसहनादर्धचन्द्रदानेन यास्यसि।'

तो क्या तू श्यामलक के समान अपमान सहकर गलहत्थी देने से जायेगा।

मकर आह—'कथमेतत् ?' वानर आह—

मगर ने कहा—यह कैसे ? वानर ने कहा—

कथा ९

अस्त्यत्र धरापीठे विकण्टकं नाम पुरम्। तत्र महाधन ईश्वरो नाम भाण्डपतिः। तस्य चत्वारो जामातृका अवन्तीपीठात्प्राघूर्णका विकण्टकपुरे समायाताः। ते च येन महता गौरवेणाभ्यर्चिता भोजानाच्छादनादिभिः। एवं तेषां तत्र वसतां मासषट्कं सञ्जातम्। तत ईश्वरेण स्वभार्योक्ता यदेते जामातरः परमगौरवेणावर्जिताः स्वानि गृहाणि न गच्छन्ति, तत्किं कथ्यते ? विनापमानं न यास्यन्ति। तदद्य भोजनवेलायां पादप्रक्षालनार्थं जलं न देयं येनापमानं ज्ञात्वा परित्यज्य

गच्छन्तीति ।' तथानुष्ठिते गर्गः पादप्रक्षालनापमानात्, सोमो लघ्वासन-दानात्, दत्तः कदशनतो यातः । एवं ते त्रयोऽपि परित्यज्य गताः । चतुर्थः श्यामलको यावन्न याति तावदर्धचन्द्रप्रदानेन निष्कासितः । अतोऽहं ब्रवीमि—

गर्गो हि पादशौचाल्लघ्वासनदानतो गतः सोमः ।
दत्तः कदशनभोज्याच्छ्यामलकश्चार्धचन्द्रेण ॥

पृथ्वी तल पर विकण्टक नामक एक नगर है । वहाँ 'ईश्वर' नाम का एक बड़ा धनवान् सौदागर रहता था । अवन्ति (उज्जैन) नगर से उसके चार दामाद अतिथि रूप से विकण्टक नगर में आये । सौदागर ने भोजन-वस्त्रादि द्वारा उनका बड़ा सत्कार किया । इस तरह वहाँ रहते हुए उन्हें छः मास बीत गये । तब ईश्वर ने अपनी पत्नी से कहा कि—ये दामाद अत्यन्त आदर के कारण अपने घर नहीं जाते । कहो इस विषय में तुम्हारी क्या सम्मति है ? (मेरी सम्मति में तो) ये लोग, बिना अपमान के नहीं जायेंगे । इसलिए आज भोजन के समय पैर धोने के लिए जल न देना, जिससे कि अपना अपमान समझकर छोड़कर चले जायें । ऐसा करने पर गर्ग पैर धोने के (जल न मिलने से) अपमान से, छोटा आसन देने से सोम और खराब भोजन मिलने से दत्त चला गया । इस प्रकार तीनों घर छोड़ कर चले गये । चतुर्थ श्यामलक जब नहीं गया, तो गलहत्थी देकर निकाल दिया गया । इसलिए मैं कहता हूँ—'गर्गो हि' इत्यादि । (अर्थ गद्यभाग में ही स्पष्ट है)

तत्किमहं रथकारवन्मूर्खो यतः स्वयमपि दृष्ट्वा ते विकार पश्चाद्विश्वसिमि । उक्तं च—

क्या मैं रथकार के समान मूर्ख हूँ कि जो स्वयं तुम्हारे निन्दित भावों को जानकर भी विश्वास कर लूं ? कहा भी है—

प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे मूर्खः साम्ना प्रशाम्यति ।
रथकारः स्वकां भार्यां सजारां शिरसाऽवहत् ॥ ४८ ॥

मूर्ख मनुष्य अपने सम्मुख किया जाता हुआ पापकर्म देखकर भी सन्तोष-जनक वाक्यों से ही प्रसन्न हो जाता है (जैसा कि) ,किसी रथकार (बढ़ई) ने जार (यार) सहित अपनी पत्नी को सिर पर धारण किया ॥ ४८ ॥

मकर आह—कथमेतत् ? वानर आह—

मगर ने कहा वह कैसे ? वानर ने कहा—

कथा १०

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कश्चिद्रथकारः प्रतिवसति स्म। तस्य भार्या पुंश्चलीति जनापवादसंयुक्ता। सोऽपि तस्याः परीक्षार्थं व्यचिन्तयत्— कथं मयाऽस्याः परीक्षणं कर्तव्यम्। न चैतद्युज्यते कर्तुम्। यतः—

किसी शहर में कोई बढ़ई रहता था, उसकी पत्नी के विषय में किंवदन्ती थी कि यह व्यभिचारिणी है। उसकी परीक्षा के लिए उसने विचार किया— किस तरह मैं इसकी परीक्षा करूँ? परन्तु यह कहना (परीक्षा करना) उचित नहीं है। क्योंकि—

नदीनां च कुलानां च मुनीनां च महात्मनाम्।
परीक्षा न प्रकर्तव्या स्त्रीणां दुश्चरितस्य च॥ ४९॥

नदियों, वंशों, मुनियों, महापुरुषों तथा स्त्रियों के दुराचार की परीक्षा नहीं करनी चाहिए॥ ४९॥

वसोर्वीर्योत्पन्नामभजत मुनिर्मत्स्यतनयां,
तथा जातो व्यासो शतगुणनिवासः किमपरम्।
स्वयं वेदान्व्यस्यञ्छमितकुरुवंशप्रसविता
स एवाभूच्छ्रीमानहह! विषमा कर्मगतयः॥ ५०॥

पराशर मुनि ने वसु (देवविशेष) के वीर्य से उत्पन्न मत्स्यपुत्री सत्यवती के साथ सम्भोग किया। उससे व्यास उत्पन्न हुए, जो इस प्रकार उत्पन्न होकर भी सैकड़ों गुणों के आश्रय थे। अधिक क्या कहें-उन्होंने नष्ट होते हुए कुरुवंश को आगे चलाया और स्वयं वेदों का विभाग किया, वे अत्यन्त तेजस्वी थे। ओहो! कर्मों की गति बड़ी अज्ञेय होती है॥ ५०॥

कुलानामिति पाण्डवानामपि महात्मनां नोत्पत्तिरधिगन्तव्या यतः ते क्षेत्रजा इति। स्त्रीदुश्चरितं संधुक्ष्यमाणमनेकदोषान्प्रकटयति स्त्रीणामिति। तथा च—

महात्मा पाण्डवों की भी उत्पत्ति की परीक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे क्षेत्रज (अन्य पिता से उत्पन्न) थे। (श्लो० ४९ में 'कुलानां' पद से यह बात बोधित की गई है। इसी प्रकार 'स्त्रीणां' पद से) स्त्रियों के चरित्र की छान-बीन करने से अनेक बुराइयाँ प्रकट होती हैं (दर्शाई गई हैं)।

यदि स्यात्पावकः शीतः प्रोष्णो वा शशलाञ्छनः।
स्त्रीणां तदा सतीत्वं स्याद् यदि स्याद्दुर्जनो हितः॥५१॥

यदि अग्नि शीतल, चन्द्रमा अत्यन्त उष्ण और दुष्ट पुरुष हितू हो जाय, तो स्त्रियाँ भी सच्चरित्र हो सकती हैं। जिस प्रकार अग्नि आदि का शीतल आदि होना असम्भव है, इसी तरह स्त्रियों का सच्चरित्र होना असम्भव है ॥ ५१ ॥

यथापि शुद्धामशुद्धां वापि जानामि लोकवचनात्। उक्तं च—

तो भी (यद्यपि स्त्रियों के चरित्र की परीक्षा करना उचित नहीं है) लोगों की बातों को ध्यान में रखते हुए मैं देखूं कि यह सच्चरित्र है या नहीं ? क्योंकि—

यन्न वेदेषु शास्त्रेषु न दृष्टं न च संश्रुतम्।
तत्सर्वं वेत्ति लोकोऽयं यत्स्याद् ब्रह्माण्डमध्यगम् ॥ ५२ ॥

जो बात वेदों और शास्त्रों में नहीं है और न संसार में देखी व सुनी गई है, तथा जो ब्रह्माण्ड में अर्थात् समस्त संसार में कहीं भी मौजूद हो, उस सबको यह संसार जानता है। (तात्पर्य यह है कि मनुष्य किसी भी बात की यथार्थता का ध्यान न रखकर अनर्गल बातें कहा करते हैं, अतः उन पर सर्वथा विश्वास नहीं करना चाहिए। अत एव मुझे अपनी स्त्री के चरित्र की परीक्षा करना उचित ही है।) ॥ ५२ ॥

एवं सम्पधार्य तामवोचत—प्रिये ! अहं प्रातर्ग्रामान्तरं यास्यामि तत्र दिनानि कतिचिल्लगिष्यन्ति; तत्त्वया किञ्चित्पाथेयं मम योग्यं कार्यम्। साऽपि तदाकर्ण्य हर्षितचित्तौत्सुक्येन सर्वकार्याणि सन्त्यज्य सिद्धमन्नं घृतशर्कराप्रायमकरोत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

यह सोचकर उससे (पत्नी से) बोला—प्रिये ! प्रात.काल मैं दूसरे ग्राम को जाऊँगा, वहाँ कुछ दिन लग जायेंगे ? इसलिये तुम मेरे लिए कुछ कलेवा बना दो। यह सुनकर उसने प्रसन्नचित्त हो, बड़ी उत्सुकता से सब काम छोड़-कर, घी और शक्कर से भोजन तैयार किया। अथवा यह ठीक ही कहा जाता है—

दुर्दिवसे घनतिमिरे दुःसंचारासु नगरवीथीषु।
पत्यौ विदेशयाते परमसुखं जघनचपलायाः ॥ ५३ ॥

बादलों के अन्धकार युक्त दुर्दिन में, अन्धकार के कारण न चलने योग्य शहर की गलियों में और पति के विदेश चले जाने पर कुलटा स्त्री को परम आनन्द होता है ॥ ५३ ॥

अथासौ प्रत्यूषे उत्थाय स्वगृहान्निर्गतः। साऽपि तं प्रस्थितं विज्ञाय प्रहसितवदनाङ्गसत्कारं कुर्वाणा कथञ्चित्तं दिवसमत्यवाहयत्। ततश्च पूर्व-परिचितं विटगृहं गत्वा तमभ्यर्थ्योक्तवती यद्— 'ग्रामान्तरं गतः

स दुरात्मा मे पतिः । तदद्य त्वयाऽस्मद्गृहे प्रसुप्ते जने समागन्तव्यम् ।' तथानुष्ठिते स रथकारोऽप्यरण्ये दिनमतिवाह्य प्रदोषे स्वगृहमपरद्वारेण प्रविष्टः शय्यातले निभृतो भूत्वा स्थितः । अत्रान्तरे स देवदत्तः शयन आगत्योपविष्टः । तं दृष्ट्वा रथकारो रोषाविष्टचित्तो व्यचिन्तयत्—किमेनमुत्थाय विनाशयाम्यथवा द्वावप्येतौ सुप्तौ हेलया हन्मि । परं पश्यामि तावच्चेष्टितमस्याः शृणोमि चानेन सहालापान् । अत्रान्तरे सा गृहद्वारं निभृतं पिधाय शयनतलमारूढा । तस्यास्तच्छयनमारोहन्त्या रथकारशरीरे पादो लग्नः । ततो व्यचिन्तयत्—नूनमेतेन दुरात्मना रथकारेण मत्परीक्षणार्थं भाव्यम् । तत्स्त्रीचरित्रविज्ञानं किमपि करोमि । एवं तस्याश्चिन्तयन्त्याः स देवदत्तः स्पर्शौत्सुक्यो बभूव । ततश्च तयाकृताञ्जलिपुटयाऽभिहितम्—भो महानुभाव ! न मे गात्रं त्वया स्प्रष्टव्यं, यतोऽहं पतिव्रता महासती च, नो चेच्छापं दत्त्वा त्वां भस्मसात्करिष्यामि । स आह—यद्येवं तर्हि किमर्थं त्वयाहमाहूतः ? सा प्राह—भोः ! शृणुष्वैकाग्रमनाः । अहमद्य प्रत्यूषे देवतादर्शनार्थं चण्डिकायतनं गता । तत्राकस्मात् खे वाणी सञ्जाता–पुत्रि ! किं करोमि । भक्तासि मे त्वम् । परं षण्मासाभ्यन्तरे विधिनियोगाद्विधवा भविष्यसि । ततो मयाऽभिहितम्–'भगवति ! यया त्वमापदं वेत्सि तथा तत्प्रतीकारमपि जानासि । तदस्ति कश्चिदुपायो येन मे पतिः शतसंवत्सरजीवी भवति ।' ततस्तयाऽभिहितम्—वत्से ! सन्नपि नास्ति यतस्त्वायत्तः स प्रतीकारः ।' तच्छ्रुत्वा मयाऽभिहितम्–'देवि ! यन्मत् प्राणैर्भवति तदादेशय येन करोमि ।' ततो देव्याऽभिहितम्—'यद्यद्य दिने परपुरुषेण सहैकस्मिञ्छयने समारुह्यालिङ्गनं करोषि, तदा तव भर्तृसक्तोऽपमृत्युस्तस्य संचरित, त्वद्भर्ता पुनर्वर्षशतं जीवति । तेन मया त्वमभ्यर्थितः ।' तयो यत्किञ्चित्कर्तुमनास्तत्कुरुष्व, नहि देवतावचनमन्यथा भविष्यतीति निश्चयः । ततोऽन्तर्हासविकासमुखः स तदुचितमाचचार ।

अनन्तर, वह (रथकार) प्रातःकाल उठकर घर के बाहर गया । उसको गया हुआ समझकर रथकार-वधू ने मुस्कराते हुए और अङ्गों का संस्कार (सफाई, सजावट) करते हुए बड़ी कठिनता से वह दिन व्यतीत किया । तब (सायङ्काल) अपने पूर्वपरिचित यार के घर जाकर उससे प्रार्थना करती हुई बोली—वह मेरा दुष्ट पति आज किसी गाँव को गया है, इसलिये आज तुम

मनुष्यों के सो जाने पर हमारे घर आना। ऐसा करने पर इधर रथकार भी जंगल में दिन बिताकर सायङ्काल के समय दूसरे दरवाजे से घर में प्रविष्ट होकर खाट के नीचे छिपकर बैठ गया। इसी समय वह देवदत्त आकर शय्या पर बैठ गया। उसे देखकर रथकार ने क्रुद्ध हो विचार किया—क्या उठकर इसे मार डालूँ अथवा जब ये दोनों सो जावें, तब आसानी से इनको मारूँ, पहिले (मारने से पूर्व) इसकी हरकतें देखूँ और इसके (विट के) साथ इसकी बातचीत सुनूँ। इसी समय (जब सोच रहा था तब) रथकारवधू चुपचाप दरवाजा बन्द कर शय्या पर चढ़ी। चारपाई पर चढ़ते हुए उसका पैर रथकार के शरीर में लग गया। तब वह सोचने लगी—निश्चय ही, यह दुष्ट (जो इस प्रकार आकर छिपा है) रथकार मेरी परीक्षा के लिए छिपा है, इसलिए इसे कुछ त्रिया-चरित्र दिखाऊँ। जब वह इस प्रकार सोच रही थी, तब वह देवदत्त आलिङ्गन करने के लिये उद्यत हुआ। उस समय उसने हाथ जोड़कर कहा—हे महापुरुष ! तुम मेरा शरीर न छूना, क्योंकि मैं पतिव्रता (पति के प्रति भक्तिमती) और परम साध्वी हूँ। अन्यथा शाप देकर तुम्हें भस्म कर दूँगी। उसने कहा—यदि यह बात है, तो तुमने मुझे क्यों बुलाया है ? वह बोली—एकाग्रमन से ध्यान देकर सुनो—आज मैं प्रातःकाल देवता के दर्शन करने के लिये चण्डी देवी के मन्दिर में गई थी। उसी समय, अकस्मात् आकाशवाणी हुई—पुत्रि ! क्या करूँ तू मेरी भक्त है, परन्तु भाग्यवश छः महीने में तू विधवा हो जायेगी। तब मैंने कहा-भगवति ! जैसे तुम विपत्ति को जानती हो, उसी प्रकार उसका प्रतीकार उपाय भी जानती हो, इसलिए बताओ कि क्या ऐसा कोई उपाय है, जिससे मेरा पति शतायु (सौ वर्ष की आयुवाला) हो। तब उसने कहा—वत्से ! होते हुए भी नहीं है, क्योंकि वह उपाय तुम्हारे अधीन है (और तुम वैसा करना स्वीकार नहीं करोगी)। यह सुनकर मैंने कहा—देवि ! अगर मैं अपने प्राण देकर भी कर सकूँगी, तो करूँगी, आप आज्ञा दें, जिससे मैं उसे करूँ। तब देवी ने कहा—यदि आज तू एक शय्या पर बैठकर परपुरुष का आलिङ्गन करेगी, तो तेरे पति की अपमृत्यु उस पुरुष को लग जायगी और तुम्हारा पति सौ वर्ष जियेगा। इसलिए मैंने तुम्हें बुलाया है, अतः तुम जो करना चाहो सो करो, क्योंकि यह निश्चय है कि देवता का वचन अन्यथा (मिथ्या) नहीं हो सकता। उसने जो कुछ कहा है, वह सत्य ही है, इससे मेरा पति अवश्य चिरञ्जीवी होगा। तब मन ही मन प्रसन्न होते हुए उस (देवदत्त) ने जो उचित था सो किया।

सोऽपि रथकारो मूर्खस्तस्यास्तद्वचनमाकर्ण्य पुलकाङ्किततनुः शय्यातलान्निष्क्रम्य तामुवाच—साधु पतिव्रते ! साधु कुलनन्दिनि ! साधु ! अहं दुर्जनवचनशङ्कितहृदयस्त्वत्परीक्षार्थं ग्रामान्तरव्याजं कृत्वाऽत्र निभृतं खट्वातले लीनः स्थितः । तदेहि, आलिङ्गय माम् । त्वं स्वभर्तृभक्तानां मुख्या नारीणाम्, यदेवं ब्रह्मव्रतं परसङ्गेऽपि पालितवती, मदायुर्वृद्धिकृतेऽपमृत्युविनाशार्थंश्च त्वमेवं कृतवती । तामेवमुक्त्वा सस्नेहमालिङ्गितवान् । स्वस्कन्धे तामारोप्य तमपि देवदत्तमुवाच–'भोः महानुभाव ! मत्पुण्यैस्त्वमिहागतः । त्वत्प्रसादात्प्राप्तामद्य मया वर्षशतप्रमाणमायुः । ततस्त्वमपि मां समालिङ्गय स्कन्धं मे समारोह' इति जल्पन्ननिच्छन्तमपि देवदत्तं बलादालिङ्ग्य स्कन्धे समारोपितवान् । ततश्च तूर्यध्वनिच्छन्देन नृत्यन्सकलगृहद्वारेषु बभ्राम । अतोऽहं ब्रवीमि 'प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे' इति । तन्मूढ ! दृष्टविकारस्त्वम्, तत्कथं तत्र गृहं गच्छामि । अथवा यन्मां त्वं विश्वासयसि तत्ते दोषो नास्ति यत् ईदृशी स्वभावदुष्टा युष्मज्जातिर्या शिष्टसङ्गादपि सौम्यत्वं न याति । अथवा स्वभावोऽयं दुष्टानाम् । उक्तं च—

वह मूर्ख रथकार, उसकी ये बातें सुनकर रोमाञ्चित हो शय्या के नीचे से निकलकर उससे बोला—हे पतिव्रते ! तुझे धन्यवाद है । दुष्टों के वचनों से मेरे हृदय में तेरे चरित्र के विषय में सन्देह हो गया था, इसलिए तुम्हारी परीक्षा के लिए गांव जाने का बहाना करके, यहाँ खाट के नीचे छिपा हुआ बैठा था । आओ, मुझे आलिङ्गन करो । तू स्वामिभक्त स्त्रियों में मुख्य है, क्योंकि तूने परपुरुष का संसर्ग होने पर भी इस प्रकार ब्रह्मव्रत का पालन किया है । तूने केवल मेरी आयुवृद्धि तथा अपमृत्यु के नाश के लिए ऐसा किया । यह कहकर प्रेमपूर्वक उसका आलिङ्गन किया और उसे कन्धे पर बैठाकर देवदत्त से भी कहने लगा–'हे महापुरुष ! मेरे पुण्यों के कारण ही तुम यहाँ आये हो, तुम्हारी कृपा से मैंने १०० वर्ष की आयु पायी है, इसलिए तुम भी मुझे आलिङ्गन करो और मेरे कन्धे पर चढ़ो ।' यह कहकर उसकी इच्छा न होते हुए भी देवदत्त को जबरदस्ती आलिङ्गन कर अपने कन्धे पर बैठा लिया । अनन्तर, बाजे के शब्द को सुनकर नाचता हुआ घर के सब दरवाजों पर नाचा । इसलिए मैं कहता हूँ 'प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे' इत्यादि (श्लो० ४८) । अरे मूर्ख ! तेरे चित्त की दुष्ट भावनाएँ मैं देख चुका हूँ । फिर तेरे घर कैसे

जा सकता हूँ ? अथवा जो तू मुझे विश्वास दिला रहा है, इसमें तेरा दोष नहीं है। क्योंकि तुम्हारी जाति स्वभाव से ही ऐसी दुष्ट है कि वह सज्जनों का सङ्ग पाकर भी नहीं सुधरती। यह दुष्टों का स्वभाव ही है। कहा भी है—

सद्भिः सम्बोध्यमानोऽपि दुरात्मा पापपौरुषः।
घृष्यमाण इवाङ्गारो निर्मलत्वं न गच्छति ॥ ५४ ॥

दुष्ट स्वभाव, पाप-कर्म में रत (लगा हुआ) पुरुष सज्जनों से उपदेश दिये जाने पर भी सत्स्वभाव नहीं होता, जैसे कि कोयला घिसने पर भी सफेद नहीं होता ॥ ५४ ॥

तन्मूर्ख ! स्त्रीलुब्ध ! स्त्रीजितः ! अन्येऽपि ये त्वद्विधा भवन्ति ते स्वकार्यं विभवं मित्रं च परित्यजन्ति तत्कृते। उक्तं च—

अरे मूर्ख ! पत्नी-सक्त, भार्याधीन ! अन्य पुरुष भी, जो तेरे समान (स्त्रीवश्य होता है वह) स्त्री के लिये अपना कार्य, ऐश्वर्य तथा मित्र को भी छोड़ देता है। कहा भी है—

या ममोद्विजते नित्यं साद्य मामवगूहते।
प्रियकारक ! भद्रं ते यन्ममास्ति हरस्व तत् ॥ ५५ ॥

जो मेरी पत्नी सर्वदा मुझसे घृणा का व्यवहार करती रही, आज वही मुझे आलिङ्गन कर रही है। हे मेरे अभीष्ट कार्य के करनेवाले ! मेरा जो कुछ है, वह सब तुम ले लो ॥ ५५ ॥

मकर आह—कथमेतत् ? वानरोऽब्रवीत्—

मगर ने कहा यह कैसे ? वानर ने कहा—

कथा ११

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कामातुरो नाम महाधनो वृद्धवणिक्। तेन मृतभार्येण कामोपहतचेतसा काचिन्निर्धनवणिक्सुता प्रभूतं वित्तं दत्त्वोद्वाहिता। अथ सा दुःखाभिभूता तं वृद्धवणिजं द्रष्टुमपि न शशाक। अथवा साध्विदमुच्यते—

किसी नगर में 'कामातुर' नामक एक महाधनवान् वृद्ध बनिया रहता था। उसने पत्नी मर जाने पर भोगवासनाओं में लिप्त-मन होने के कारण किसी गरीब वैश्य की पुत्री के साथ बहुत-सा धन देकर विवाह किया। परन्तु वह (वैश्यपुत्री) दुःखी रहती और उस वृद्ध वैश्य (अपने पति) को देख भी नही सकती थी। यह ठीक ही कहा है—

श्वेतं पदं शिरसि यत्तु शिरोरुहाणां,
स्थानं परं परिभवस्य तदेव पुंसाम् ।
आरोपितास्थिशकलं परिहृत्य यान्ति
चाण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः ।। ५६ ।।

सिर पर केशों का श्वेत चिह्न (बालों का सफेद होना) ही मनुष्यों के अनादर का मुख्य कारण है, क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य, जिस पर हड्डी का टुकड़ा रक्खा हुआ हो, ऐसे चाण्डालों के कुएँ को छोड़कर दूर से ही चले जाते हैं। इसी प्रकार वृद्ध पुरुष को युवतियाँ दूर से ही छोड़ देती हैं—उसके पास भी नहीं फटकतीं, संभोग आदि का तो कहना ही क्या है। (पुराने समय में यह प्रथा थी कि पहचानने के लिये चाण्डालों के कुओं पर हड्डी का टुकड़ा रख दिया जाता था, जिससे अपरिचित मनुष्य भी उसे देखकर समझ जाते थे कि यह चाण्डालों का कूप है) ।। ५६ ।।

तथा च—गात्रं सङ्कुचितं गतिविगलिता दन्ताश्च नाशङ्गताः
दृष्टिर्भ्राम्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते
हा कष्टं जरयाभिभूतपुरुषः पुत्रैरवज्ञायते ।। ५७ ।।

(वृद्ध पुरुष के) अङ्ग सिकुड़ गये हैं, चाल लड़खड़ाने लगी, दाँत टूट गये, दृष्टि घूमने लगी, रूप भी विकृत हो गया है, मुख से लार टपकने लगी हैं। कुटुम्बी लोग आज्ञा नहीं मानते, पत्नी भी सेवा नहीं करती, कितने दुःख की बात है कि बुढ़ापे से आक्रान्त पुरुष का पुत्र भी अनादर करते हैं ।। ५७ ।।

अथ कदाचित् सा तेन सहैकशयने पराङ्मुखी यावत्तिष्ठति तावत्तस्य गृहे चौरः प्रविष्टः। साऽपि तं चौरमवलोक्य भयव्याकुला वृद्धमपि पतिं गाढं समालिलिङ्ग। सोऽपि विस्मयात् पुलकाङ्कितसर्वंगात्रश्चिन्तयामास अहो ! किमेषा मामद्यावगूहते। अहो चित्रमेतत्। ततश्च यावन्निपुणतयावलोकयति तावत् चौरः प्रविष्टः कोणैकदेशे तिष्ठति। पुनरप्यचिन्तयत्—'नूममेषा चौरस्य भयान्मामालिङ्गति। तज्ज्ञात्वा चौरमाह—'या ममोद्विजते नित्यं सा–' इति (श्लो० ५५)। भूयोऽपि निर्गच्छन्तमवादीत्—'भो चोर ! नित्यमेव त्वया रात्रावागन्तव्यम् मदीयोऽयं विभवस्त्वदीयः' इति। अतोऽहं ब्रवीमि—'या ममोद्विजते'

इत्यादि। किं बहुना—तेन च स्त्रीलुब्धेन स्वं सर्वमपि चौरस्य समर्पितम्। त्वयापि तथानुष्ठितम्।

अनन्तर एक समय वह उस (पति) के साथ शय्या पर मुख फेरे हुए सो रही थी। उस समय कोई चोर घर में घुस आया। उस चोर को देखकर वह भयभीत हो वृद्ध पति को आलिङ्गन करने लगी। आश्चर्य के कारण उस वृद्ध के सब अङ्ग रोमाञ्चित हो गये और वह सोचने लगा 'आज यह क्यों मेरा आलिङ्गन कर रही है, यह तो बड़े आश्चर्य की बात है' यह सोच कर जब उसने सावधानी से इधर-उधर देखा, तो घुसे हुए चोर को एक कोने में खड़ा हुआ पाया। उसने फिर यह विचार किया कि—'निश्चय ही यह इस चोर के भय से मुझे आलिङ्गन कर रही है।' यह समझ कर चोर से कहा—'या ममोद्विजते' इत्यादि (श्लो० ५५)। निकलते हुए चोर से फिर भी कहा—'हे चोर! रात में तुम प्रतिदिन यहाँ आना, यह मेरा सारा ऐश्वर्य तुम्हारा ही है।' इसलिये मैं कहता हूँ—'या ममोद्विजते' इत्यादि। और क्या? इस प्रकार उसने अपना सर्वस्व चोर को समर्पित कर दिया। तूने भी वैसा ही किया है।

अथैवं तेन सह वदतो मकरस्य जलचरेणैकेनागत्याभिहितम्—'भो मकर! त्वदीया भार्यानशनोपविष्टा त्वयि चिरयति प्रणयाभिभवाद्विपन्ना!' एवं तद्वज्रपातसदृशवचनमाकर्ण्यातीव्रव्याकुलितहृदयः प्रलपितमेवं चकार—'अहो किमिदं सञ्जातं मे मन्दभागस्य। उक्तं च—

जब वह मगर इस प्रकार उस वानर के साथ बातचीत कर रहा था, तब एक दूसरे जलचर ने आकर कहा—हे मगर! अनशन व्रत धारण किये हुए तुम्हारी भार्या, तुम्हें देर होने पर अपने प्रेम का अपमान समझकर मर गई। यह सुन वह अत्यन्त उद्विग्न हो विलाप करने लगा—मुझ अभागे पर यह क्या आफत आ गई है। कहा भी है—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्ताराम्नातिरिच्यते॥ ५८॥

घर-घर नहीं कहलाता, किन्तु भार्या ही घर कही जाती है। पत्नीशून्य घर जङ्गल से बढ़ कर होता है॥ ५८॥

अन्यच्च—वृक्षमूलेऽपि दयिता यत्र तिष्ठति तद्गृहम्।
प्रासादोऽपि तया हीनोऽरण्यसदृशः स्मृतः॥ ५९॥

और भी—जहाँ वृक्ष के नीचे भी प्रिया मौजूद हो, वह वृक्षमूल ही घर है और दयिता से सूना राजमहल भी अरण्यतुल्य समझा जाता है ॥ ५९ ॥

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या च प्रियवादिनी ।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथाऽरण्यं तथा गृहम् ॥ ६० ॥

जिस पुरुष के घर में माता तथा मधुरभाषिणी पत्नी नहीं है, उसे अरण्य चले जाना चाहिए। क्योंकि उसके लिये जैसा अरण्य है, वैसा ही घर है ॥६०॥

तन्मित्र ! क्षम्यताम् । मया तेऽपराधः कृतः । सम्प्रत्यहं तु स्त्री-वियोगाद्वैश्वानरप्रवेशं करिष्यामि ।' तत् श्रुत्वा वानरः प्रहसन्प्रोवाच—'भोः ! ज्ञातो मया प्रथममेव यत्त्वं स्त्रीवश्यः स्त्रीजितश्च । साम्प्रतं च प्रत्ययः सञ्जातः । तन्मूढ ! आनन्देऽपि जाते त्वं विषादं गतः । तादृग्भार्यायां मृतायामुत्सवः कर्तुं युज्यते । उक्तं च यतः—

सो मित्र ! माफ करना, मैंने तुम्हारा बहुत बड़ा अपराध किया है, मैं अब स्त्रीवियोग से अग्नि में प्रविष्ट होकर जल मरूँगा। यह सुनकर वानर हँसता हुआ बोला—भाई ! यह मैंने पहले ही समझ लिया था कि तुम स्त्री के वशी-भूत और अधीन हो। अब पूरा विश्वास हो गया। ओ मूर्ख ! आनन्द के समय भी तू विषाद करता है ? ऐसी स्त्री के मरने पर तो उत्सव मनाना चाहिए। कहा भी है—

या भार्या दुष्टचारित्रा सततं कलहप्रिया ।
भार्यारूपेण सा ज्ञेया विदग्धैर्दारुणा जरा ॥ ६१ ॥

जिसका चरित्र शुद्ध नहीं और जो सर्वदा कलह (झगड़ा) पसन्द करती है, विद्वानों को चाहिए कि ऐसी पत्नी को भार्यारूप में भयङ्कर वृद्धावस्था ही समझें।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन नामापि परिवर्जयेत् ।
स्त्रीणामिह हि सर्वासां य इच्छेत्सुखमात्मनः ॥ ६२ ॥

इसलिये, इस संसार में जो मनुष्य अपनी भलाई चाहे, वह सब प्रकार की स्त्रियों का नाम भी छोड़ दे, (उनके सम्भोग आदि का तो कहना ही क्या है) ॥ ६२ ॥

यदन्तस्तन्न जिह्वायां यज्जिह्वायां न तद्बहिः ।
यद्बहिस्तन्न कुर्वन्ति विचित्रचरिताः स्त्रियः ॥ ६३ ॥

स्त्रियों के मन में जो रहता है वह जिह्वा में नहीं, जो जिह्वा में रहता है वह बाहर नहीं और जो कल्याण की बात होती है, उसे करने की वे इच्छा नहीं करती हैं। स्त्रियों का चरित्र ही विचित्र होता है ॥ ६३ ॥

के नाम न विनश्यन्ति मिथ्याज्ञानान्नितम्बिनीम् ।
रम्यां ते उपसर्पन्ति दीपाभां शलभा यथा ॥ ६४ ॥

जो मनुष्य बुद्धिभ्रम से स्त्री को मनोहर समझकर सेवन करते हैं, उनमें कौन ऐसा है, जो नष्ट नहीं होता, दीपशिखा पर गिरनेवाले पतङ्गों के समान सब ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः ।
गुञ्जाफलसमाकाराः स्वभावादेव योषितः ॥ ६५ ॥

क्योंकि ये स्त्रियाँ, गुञ्जाफल (चौटली, घूँघची) के समान स्वभाव से ही मन में विषपूर्ण और बाहर मनोरम होती हैं ॥ ६५ ॥

ताडिता अपि दण्डेन शस्त्रैरपि विखण्डिताः ।
न वशं योषितो यान्ति न दानैर्न च संस्तवैः ॥ ६६ ॥

दण्डे से पीटने, शस्त्रों से घायल करने, दान और प्रशंसा के द्वारा भी स्त्रियाँ वश में नहीं होतीं ॥ ६६ ॥

आस्तां तावत्किमन्येन दौरात्म्येनेह योषिताम् ।
विधृतं स्वोदरेणापि घ्नन्ति पुत्रं स्वकं रुषा ॥ ६७ ॥

स्त्रियों की अन्य किसी दुष्टता को जाने दीजिये, उसका वर्णन न करना ही अच्छा है, यही क्या कम है वे अपने उदर में धारण किये हुए अपने पुत्र को भी क्रोध से मार डालती हैं ॥ ६७ ॥

रूक्षायां स्नेहसद्भावं कठोरायां सुमार्दवम् ।
नीरसायां रसं बालो बालिकायां विकल्पयेत् ॥ ६८ ॥

स्त्री के स्वभाव को न समझनेवाला मूर्ख पुरुष कठोर चित्तवाली स्त्री में प्रेमभाव, निष्ठुर में कोमलता और स्नेहशून्य में अनुराग की भले ही कल्पना करे, किन्तु विद्वान् लोग ऐसा नहीं करते ॥ ६८ ॥

मकर आह—'भो मित्र ! अस्त्वेतत् । परं किं करोमि । ममानर्थद्वयमेतत्सञ्जातम् । एकस्तावद् गृहभङ्गः अपरस्त्वद्विधेन मित्रेण सह चित्तविश्लेषः । अथवा भवत्येवं दैवयोगात् । उक्तं च यतः—

मगर ने कहा—हे मित्र ! यह बात (स्त्रियों के संबन्ध में जो आपने कहा) ठीक है । परन्तु मैं क्या करूँ, मेरे तो दो अनर्थ हो गये । प्रथम तो स्त्री-विनाश और द्वितीय तुम्हारे जैसे मित्र के साथ चित्त का फटना । अथवा, भाग्य से सताये हुए पुरुषों को ऐसा हुआ ही करता है । कहा भी है—

यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तव।
नाभूज्जारो न भर्ता च किं निरीक्षसि नग्निके ॥ ६९ ॥

जैसा मेरा चातुर्य है तुम्हारा उसी तरह का मुझ से दूना है। तुम्हारा न तो स्वामी रहा और न यार ही रहा। हे नग्निके ! तू क्या देख रही है ॥६९॥

वानर आह—'कथमेतत् ?' मकरोऽब्रवीत्—

वानर ने कहा—यह कैसे ? मगर ने कहा—

कथा १२

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने हालिकदम्पती प्रतिवसतः स्म। सा च हालिकभार्या पत्युर्वृद्धभावात्सदैवान्यचित्ता न कथञ्चिद् गृहे स्थैर्यमालम्बते। केवलं परपुरुषानन्वेषमाणा परिभ्रमति। अथ केनचित्परवित्तापहारकेण धूर्तेन सा लक्षिता विजने प्रोक्ता च—'सुभगे ! मृतभार्योऽहम्। त्वद्दर्शनेन स्मरपीडितश्च। तद्दीयतां मे रतिदक्षिणा।' ततस्तयाऽभिहितम्—'भोः सुभग ! यद्येवं तदस्ति मे पत्युः प्रभूतं धनम्। स च वृद्धत्वात्प्रचलितुमप्यसमर्थः। ततस्तद्धनमादायाहमागच्छामि। येन त्वया सहान्यत्र गत्वा यथेच्छया रतिसुखमनुभविष्यामि।' सोऽब्रवीत्—'रोचते मह्यमप्येतत्। तत्प्रत्यूषेऽत्र स्थाने शीघ्रमेव समागन्तव्यम्, येन शुभतरं किञ्चिन्नगरं गत्वा त्वया सह जीवलोकः सफलीक्रियते' सापि 'तथा' इति प्रतिज्ञाय प्रहसितवदना स्वगृहं गत्वा रात्रौ प्रसुप्ते भर्तरि सर्वं वित्तमादाय प्रत्यूषसमये तत्कथितस्थानमुपाद्रवत्। धूर्तोऽपि तामग्रे विधाय दक्षिणां दिशमाश्रित्य सत्वरगतिः प्रस्थितः।

किसी स्थान में किसान पति-पत्नी रहते थे। पति के वृद्ध होने के कारण किसान की पत्नी का चित्त सदा अन्य पुरुषों में लगा रहता था, किसी प्रकार भी वह घर में स्थिर नहीं रहती थी। केवल अन्य पुरुषों की तलाश करती हुई घूमा करती थी। एक समय दूसरों का धन हरनेवाले किसी धूर्त उसको देखकर ताड़ गया और एकान्त में उससे कहा—हे सुन्दरि ! मेरी पत्नी मर चुकी है और तुम्हारे सौन्दर्य को देखकर काम ने मुझे हृदय में पीडित कर दिया है। इसलिये मुझे रतिदक्षिणा दो। तब उसने कहा—'हे सुभग ! अगर ऐसा है तो (ठीक है) मेरे पति के पास बहुत धन है परन्तु वृद्ध होने के कारण वह चलने में भी असमर्थ है, इसलिये उसका धन लेकर मैं आती हूँ, जिससे तेरे साथ किसी

दूसरे स्थान पर जाकर रति-सुख भोगूंगी।' उसने कहा—'यह बात मुझे भी पसन्द है। प्रातःकाल तुम यहाँ शीघ्र ही आ जाना, जिससे किसी उत्तम नगर में पहुँचकर तेरे साथ संसार का सुख भोगूँ।' वह भी 'ऐसा ही होगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर प्रसन्न हो अपने घर गई और रात्रि में पति के सो जाने पर सब धन लेकर, प्रातःकाल निर्दिष्ट स्थान पर पहुँची। धूर्त भी उसे आगे करके दक्षिण की तरफ जल्दी-जल्दी रवाना हुआ।

एवं तयोर्व्रजतोर्योजनद्वयमात्रेणाग्रतः काचिन्नदी समुपस्थिता। तां दृष्ट्वा धूर्तश्चिन्तयामास—'किमहमनया यौवनप्रान्ते वर्तमानया करिष्यामि। किं च कदाप्यस्याः पृष्ठतः कोऽपि समेष्यति, तन्मे महाननर्थः स्यात्। तत्केवलमस्या वित्तमादाय गच्छामि।' इति निश्चित्य तामुवाच—'प्रिये! सुदुस्तरेयं महानदा। तदहं द्रव्यमात्रां पारे धृत्वा, समागच्छामि। ततस्त्वामेकाकिनीं स्वपृष्ठमारोप्य सुखेनोत्तारयिष्यामि। सा प्राह–सुभग! एवं क्रियताम्। इत्युक्त्वाशेषं वित्तं तस्मै समर्पयामास। अथ तेनाभिहितम्—'भद्रे! परिधानाच्छादनवस्त्रमपि समर्पय, येन जलमध्ये निःशङ्का व्रजसि।' तथानुष्ठिते धूर्तो वित्तं वस्त्रयुगलं चादाय यथाचिन्तितविषयं गतः। साऽपि कण्ठनिवेशितहस्तयुगला सोद्वेगा नदीपुलिनदेश उपविष्टा यावत्तिष्ठति, तावदेतस्मिन्नन्तरे काचिच्छृगालिका मांसपिण्डगृहीतवदना तत्राजगाम। आगत्य च यावत्पश्यति, तावन्नदीतीरे महान्मत्स्यः सलिलान्निष्क्रम्य बहिः स्थित आस्ते। एतं च दृष्ट्वा सा मांसपिण्डं समुत्सृज्य तं मत्स्यं प्रत्युपाद्रवत्। अत्रान्तरं आकाशादवतीर्य कोऽपि गृध्रस्तं मांसपिण्डमादाय पुनः खमुत्पपात। मत्स्योऽपि शृगालिकां दृष्ट्वा नद्यां प्रविवेश। सा शृगालिका व्यर्थश्रमा गृध्रमवलोकयन्ती तया नग्निकया सस्मितमभिहिता—

इस प्रकार जब वे दोनों जा रहे थे, तब दो योजन (८ कोस) आगे प्राप्त हुई नदी को देखकर धूर्त ने विचार किया—जवानी के किनारे पर (प्रौढ़ावस्था में वर्तमान) पहुँची हुई, इसका मैं क्या करूँगा। और भी यदि कोई इसके पीछे (तलाश करने के लिए) आया, तो मुझे बड़ी भारी विपत् में फँसना पड़ेगा। इसलिए केवल इसका धन लेकर चला जाऊँ। यह निश्चय कर (उसने) उससे कहा—हे प्रिये! इस महानदी का पार करना बड़ा कठिन है, इसलिए (प्रथम) धन को पार में रखकर आता हूँ। फिर तुम्हें अपनी

पीठ पर चढ़ाकर आसानी से पार ले जाऊँगा।' उसने कहा—'सुभग ! ऐसा ही करो।' यह कहकर सारा धन उसे (धूर्त को) सौंप दिया। तब धूर्त ने फिर कहा—'हे भद्रे ! ओढ़ने-पहनने के कपड़े भी दो, जिससे जल में निर्भय चल सकोगी।' वैसा ही करने पर—वस्त्र भी सौंप देने पर—धूर्त धन तथा दोनों वस्त्र लेकर अपने मनचाहे स्थान को चला गया। वह (स्त्री भी) गले में दोनों हाथ डाले हुए (उरोज ढकने के लिए) नदी के किनारे जब बैठी हुई थी, उसी समय मुख में मांसपिण्ड लिये हुए कोई शृगाली वहाँ आई। उसने वहाँ आकर देखा कि एक बड़ा भारी मत्स्य जल से निकलकर बाहर बैठा हुआ है। यह देख, वह शृगाली मांसपिण्ड छोड़कर उस मत्स्य की ओर दौड़ी। इसी समय आकाश से उतर कर कोई गिद्ध उस मांसपिण्ड को लेकर आकाश में उड़ गया। इधर मत्स्य भी शृगाली को देखकर जल में घुस गया। इस प्रकार शृगाली का सारा परिश्रम व्यर्थ हो गया और वह गिद्ध की तरफ देखने लगी। तब उस स्त्री ने मुस्कराकर कहा—

'गृध्रेणापहृतं मांसं मत्स्योऽपि सलिलं गतः।
मत्स्यमांसपरिभ्रष्टे किं निरीक्षसि जम्बुके' ॥ ७० ॥

गिद्ध ने मांस हर लिया और मत्स्य भी जल में घुस गया। हे मत्स्य और मांस दोनों को खानेवाली शृगाली ! अब तू क्या ताक रही है ॥ ७० ॥

तच्छ्रुत्वा शृगालिका तामपि पतिधनजारपरिभ्रष्टां दृष्ट्वा सोपहासमाह—'यादृशं मम पाण्डित्य'मित्यादि (श्लो० ६९)

यह सुन शृगालिका ने भी पति, धन और जार तीनों से बिछुड़ी हुई उस स्त्री से उपहासपूर्वक कहा—'यादृशं मम पाण्डित्यम्' इत्यादि।

एवं तस्य कथयतः पुनरन्येन जलचरेणागत्य निवेदितम्—'यदहो, त्वदीयं गृहमप्यपरेण महामकरेण गृहीतम्।' तच्छ्रुत्वासावतिदुःखितमनास्तं गृहान्निसारयितुमुपायं चिन्तयन्नुवाच—अहो ! पश्यतां मे दैवोपहतत्वम्।

जब वह इस प्रकार कह रहा था उसी समय किसी अन्य जलचर ने आकर कहा 'तुम्हारा घर भी अन्य महामकर ने घेर लिया है।' यह सुनकर वह अत्यन्त दुःखित हो, उस मकर को घर से निकालने का उपाय सोचने लगा, (कहने लगा कि) मेरा दुर्भाग्य देखो—

मित्रं ह्यमित्रतां यातमपरं मे प्रिया मृता।
गृहमन्येन च व्याप्तं किमद्यापि भविष्यति ॥ ७१ ॥

मित्र शत्रु हो गया, मेरी पत्नी भी मर गई और घर भी दूसरे ने घेर लिया, न मालूम अब और क्या होगा ॥ ७१ ॥

अथवा युक्तमिदमुच्यते—

अथवा यह ठीक ही कहा है—

क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णमन्नक्षये वर्धति जाठराग्निः ।
आपत्सु वैराणि समुद्भवन्ति वामे विधौ सर्वमिदं नराणाम् ॥७१॥

घाव में ही हमेशा चोट लगा करती है, धनाभाव में भूख भी बढ़ जाती है, विपत्तिकाल में शत्रुता उठ खड़ी होती है, इस प्रकार मनुष्य की विपन्नावस्था में ही सब अनर्थ बढ़ जाया करते हैं। (पाठान्तर में—भाग्य के प्रतिकूल होने पर मनुष्यों के ऊपर ये सब विपत्तियाँ पड़ती हैं) ॥ ७२ ॥

तत्किं करोमि। किमनेन सह युद्धं करोमि। किं वा साम्नैव सम्बोध्य गृहान्निःसारयामि। किं वा भेदं दानं वा करोमि। अथवाऽमुमेव वानरमित्रं पृच्छामि। उक्तं च—

तब, उसके साथ युद्ध करूँ, अथवा शान्ति से समझाकर ही घर से निकालूं ? किं वा भेद अथवा दान करूँ (किसी दूसरे से लड़ाकर इसका नाश करूँ अथवा कुछ देकर निकालूं) अथवा इस मित्र वानर से ही पूछूं। कहा भी है—

यः पृष्ट्वा कुरुते कार्यं प्रष्टव्यान् स्वहितान् गुरून् ।
न तस्य जायते विघ्नः कस्मिंश्चिदपि कर्मणि ॥ ७३ ॥

जो मनुष्य, पूछने योग्य पुरुषों से (अपने बड़े व मित्रों से), जिनका उपदेश लाभदायक होता है, पूछकर कार्य करता है, उसके किसी भी कार्य में विघ्न उपस्थित नहीं होता ॥ ७३ ॥

एवं सम्प्रधार्य भूयोऽपि तमेव जम्बूवृक्षमारूढं कपिमपृच्छत्—'भो मित्र ! पश्य मे मन्दभाग्यताम्। तत्सम्प्रति गृहमपि मे बलवत्तरेण मकरेण रुद्धम्। तदहं त्वां प्रष्टुमभ्यागतः। कथय किं करोमि ? सामादीनामुपायानां मध्ये कस्यात्र विषयः स आह—'भोः कृतघ्न पापचारिन् ! मया निषिद्धोऽपि किं भूयो मामनुसरसि। नाहं तव मूर्खस्योपदेशमपि दास्यामि।'

यह विचार कर जम्बू-वृक्ष पर चढ़े हुए वानर से फिर पूछा—हे मित्र ! मेरा दुर्भाग्य देखो, मेरा घर भी किसी बलवान् मकर ने घेर लिया है। इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ, कहो क्या करूँ। साम आदि (चार) उपायों में से यहाँ किसका उपयोग है ?' उसने कहा—अरे कृतघ्न ! जब कि मैं तुझे (अपने

पास आने को) मना कर चुका, तब फिर क्यों मेरे पीछे लगा है, मैं तुझ मूर्ख को उपदेश भी देना नहीं चाहता।

तच्छ्रुत्वा मकरः प्राह—'भो मित्र! सापराधस्य मे पूर्वस्नेहमनुस्मृत्य हितोपदेशं देहि।' वानर आह-'नाहं ते कथयिष्यामि। यद्भार्यावाक्येन भवताऽहं समुद्रे प्रक्षेप्तुं नीतः। तदेवं न युक्तम्। यद्यपि भार्या सर्वलोकादपि वल्लभा भवति, तथापि न मित्राणि बान्धवाश्च भार्यावाक्येन समुद्रे प्रक्षिप्यन्ते। तन्मूर्ख! मूढत्वेन नाशस्तव मया प्रागेव निवेदित आसीत्। यतः—

यह सुनकर मकर ने कहा—'हे मित्र! यद्यपि मैं आप का अपराधी हूँ, तथापि प्रथम स्नेह का स्मरण कर मुझे कोई उपाय बताओ।' वानर बोला—मैं नहीं कहूँगा क्योंकि तुम मुझे स्त्री के कहने से समुद्र में डुबाने के लिए ले गये थे। यह उचित नहीं था। यद्यपि यह ठीक है कि पत्नी समस्त संसार से (सब लोगों से) प्यारी होती है तो भी स्त्री के लिए मित्र तथा कुटुम्बी समुद्र में नहीं फेंके जाते। अरे मूर्ख! मूर्खता के कारण तेरे सर्वनाश की बात मैंने पहले ही कही थी। (तुझे धिक्कार है, जो तूने स्त्री के लिए यह दुष्कर्म करना प्रारम्भ किया था। स्त्रियों का तो किसी भी दशा में विश्वास न करना चाहिए।) क्योंकि—

सतां वचनमादिष्टं मदेन न करोति यः।
स विनाशमवाप्नोति घण्टोष्ट्र इव सत्वरम्॥ ७४॥

जो मनुष्य, मूर्खता के कारण सज्जनों के बताये हुए वचनों का तिरस्कार करता है—उनके अनुसार कार्य नहीं करता—वही पुरुष, सिंह से दासेरक—ऊँट के बच्चे के समान नाश को प्राप्त होता है॥ ७४॥

मकर आह—'कथमेतत्?' सोऽब्रवीत्—

मकर ने कहा—'यह कैसे?' उसने कहा—

कथा १३

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने उज्ज्वलको नाम रथकारः प्रतिवसति स्म। स चातीव दारिद्र्योपहतश्चिन्तितवान्-'अहो! धिगियं दरिद्रताऽस्मद्गृहे। यतः सर्वोऽपि जनः स्वकर्मणैव रतस्तिष्ठति। अस्मदीयः पुनर्व्यापारो नात्राधिष्ठानेऽर्हति। यतः सर्वलोकानां चिरन्तनाश्चतुर्भूमिका गृहाः सन्ति। मम च नात्र। तत्किं मदीयेन रथकारत्वेन प्रयोजनम्। इति चिन्तयित्वा

देशान्निष्क्रान्तः। यावत्किञ्चिद्वनं गच्छति तावद्गह्वराकारवनगहन-मध्ये सूर्यास्तमनवेलायां स्वयूथाद् भ्रष्टां प्रसववेदनया पीडचमाना-मुष्ट्रीमपश्यत्। स च दासेरकयुक्तामुष्ट्रीं गृहीत्वा स्वस्थानाभिमुखः प्रस्थितः। गृहमासाद्य रज्जुं गृहीत्वा तामुष्ट्रिकां बबन्ध। ततश्च तीक्ष्णं परशुमादाय तस्याः पल्लवानयनार्थं पर्वतैकदेशे गतः। तत्र च नूतनानि कोमलानि बहूनि पल्लवानि छित्त्वा शिरसि समारोप्य तस्याग्रे निचिक्षेप। तया च तानि शनैः शनैर्भक्षितानि। पश्चात्पल्लवभक्षणप्रभावादहर्निशं पीवरतनुरुष्ट्री सञ्जाता। सोऽपि दासेरको महानुष्ट्रः सञ्जातः। ततः स नित्यमेव दुग्धं गृहीत्वा स्वकुटुम्बं परिपालयति। अथ रथकारेण वल्लभत्वाद्दासेरकग्रीवायां महती घण्टा प्रतिबद्धा। पश्चाद्रथकारो व्यचिन्तयत्—'अहो! किमन्यैर्दुष्कृतकर्मभिः, यावन्ममैतस्मादेवोष्ट्रापरिपालनादस्य कुटुम्बस्य भव्यं सञ्जातम्। तत्किमन्येन व्यापारेण।' एवं विचिन्त्य गृहमागत्य प्रियामाह—'भद्रे! समीचीनोऽयं व्यापारः। तव सम्मतिश्चेत्कुतोऽपि धनिकात्किञ्चिद् द्रव्यमादाय मया गुर्जरदेशे गन्तव्यं कलभग्रहणाय। तावत्त्वयैतौ यत्नेन रक्षणीयौ। यावदहमपरामुष्ट्रीं नीत्वा समागच्छामि।' ततश्च गुर्जरदेशं गत्वोष्ट्रीं गृहीत्वा स्वगृहमागतः। किं बहुना? तेन तथा कृतं यथा तस्य प्रचुरा उष्ट्राः करभाश्च सम्मिलिताः। ततस्तेन महदुष्ट्रयूथं कृत्वा रक्षापुरुषो धृतः। तस्य प्रतिवर्षं वृत्त्या करभमेकं प्रयच्छति। प्रतिवर्षं अन्यच्चाहर्निशं दुग्धपानं तस्य निरूपितम्। एवं रथकारोऽपि नित्यमेवोष्ट्रीकरभव्यापारं कुर्वन्सुखेन तिष्ठति। अथ ते दासेरका अधिष्ठानोपवनाहारार्थं गच्छन्ति। कोमलवल्लीर्यथेच्छया भक्षयित्वा महति सरसि पानीयं पीत्वा सायंतनसमये मन्दं मन्दं लीलया गृहमागच्छन्ति। स च पूर्वदासेरको मदातिरेकात्पृष्ठ आगत्य मिलति। ततस्तैः कलभैरभिहितम्—'अहो! मन्दमतिरयं दासेरको यथा यूथाद् भ्रष्टः पृष्ठे स्थित्वा घण्टां वादयन्नागच्छति। यदि कस्यापि दुष्टसत्त्वस्य मुखे पतिष्यति, तन्नूनं मृत्युमवाप्स्यति। अथ तस्य तद्वनं गाहमानस्य कश्चित्सिंहो घण्टारवमाकर्ण्य समायातः। यावदवलोकयति, तावदुष्ट्रीदासेरकाणां यूथं गच्छति। एकस्तु पुनः पृष्ठे क्रीडां कुर्वन्वल्लरीश्चरन्यावत्तिष्ठति, तावदन्ये दासेरकाः पानीयं पीत्वा स्वगृहे गताः। सोऽपि वनान्निष्क्रम्य यावद्दिशोऽवलोकयति, तावन्न

कञ्चिन्मार्गं पश्यति वेत्ति च। यूथाद् भ्रष्टो मन्दं मन्दं बृहच्छब्दं कुर्वन्यावत्कियद्दूरं गच्छति, तावत्तच्छब्दानुसारी सिंहोऽपि क्रमं कृत्वा निभृतोऽग्रे व्यवस्थितः। ततो यावदुष्ट्रः समीपमागतः, तावत्सिंहेन लम्भयित्वा ग्रीवायां गृहीतो मारितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'सतां वचनमादिष्टम्' इति। (श्लो० ७४)

किसी नगर में उज्ज्वलक नामक बढ़ई रहता था। अत्यन्त दरिद्रता से पीड़ित हो उसने विचार किया—हमारे घर की दरिद्रता को धिक्कार है, क्योंकि सभी मनुष्य अपने-अपने काम में खुशहाल हैं, हमारा काम इस नगर में नहीं चल सकता। सब लोगों के चौमञ्जिले महल हैं, फिर मेरी इस बढ़ईगिरी से क्या लाभ? यह सोचकर वह अपने देश से निकल पड़ा। जब किसी वन में पहुँचा, तब गुफा के आकारवाले घने वन में, सायंकाल के समय, अपने झुण्ड से बिछुड़ी हुई, प्रसववेदना से पीड़ित उसने उष्ट्री देखी। तब वह बच्चे सहित ऊँटनी को लेकर अपने घर की तरफ चल दिया तथा घर पहुँचकर रस्सी से ऊँटनी बाँध दी। अनन्तर, तेज कुठार लेकर उसके लिए पत्ते लाने को पर्वत के पास गया। वहाँ से बहुत से नये कोमल पत्ते काट कर सिर पर रख लाया और उसके सामने डाल दिये। उसने धीरे-धीरे खा लिए। इस प्रकार प्रतिदिन पत्ते खाने के प्रभाव से ऊँटनी मोटी-ताजी हो गई और वह बच्चा भी बड़ा ऊँट हो गया और वह रथकार भी प्रतिदिन दूध पाकर कुटुम्ब पालने लगा। रथकार ने प्रिय होने के कारण ऊँट के गले में बड़ा भारी घण्टा बाँध दिया। तब रथकार ने सोचा—अन्य कठिन काम करने से क्या लाभ? जब कि इस एक ही ऊँटनी के पालने से मेरे कुटुम्ब का भला (कल्याण) हो गया, तब अन्य व्यापार करने से क्या प्रयोजन? यह सोच और घर आकर उसने अपनी पत्नी से कहा—भद्रे! यह व्यापार बहुत अच्छा है। तुम्हारी सम्मति हो तो किसी साहूकार से कुछ धन लेकर ऊँटनी के बच्चे लेने के लिए गुजरात चला जाऊँ, जब तक मैं दूसरी ऊँटनी लेकर लौटूं, तब तक ध्यान से तुम इसकी रक्षा करना। अनन्तर, गुजरात जाकर और वहाँ से ऊँटनी लेकर घर लौट आया। अधिक कहने से क्या लाभ? उसने ऐसा यत्न किया कि उसके पास बहुत से ऊँट और बच्चे इकट्ठे हो गये, तब उसने ऊँटों का झुण्ड बनाकर एक रखवाला रख दिया। उसे वेतन रूप में साल में एक बच्चा देता था और प्रतिदिन दूध भी बाँध दिया। इस प्रकार वह रथकार सदा ऊँटनी और उसके बच्चों का व्यापार (दूध व बच्चे

बेचना) करता हुआ आराम से रहने लगा। वे ऊँट, अपने रहने के स्थान के समीपवर्ती वन में चरने के लिए जाया करते और कोमल लताएँ खाकर और सरोवर में पानी पीकर, सायङ्काल के समय धीरे-धीरे खेलते-कूदते घर आया करते थे। परन्तु सबसे पहिला ऊँट, जवानी के गर्व से पीछे आकर मिलता था। तब उन्होंने कहा—यह ऊँट बड़ा ही दुर्बुद्धि है, जो यूथ से पृथक् हो, पीछे रहकर घण्टा बजाता हुआ आता है। यदि किसी दुष्ट प्राणी की दृष्टि में पड़ गया, तो निश्चय ही मरेगा। (एक दिन) जब वे उस वन में चर रहे थे, तब कोई सिंह घण्टे का शब्द सुनकर वहाँ आया और उसने देखा कि ऊँटनी और ऊँटों का झुण्ड जा रहा है। इधर जब उनमें से एक पीछे रहकर, क्रीड़ा करता हुआ और लताएँ चरता हुआ जा रहा था, तब तक दूसरे ऊँट जल पीकर घर पहुँच गये। जब उसने जंगल से निकलकर इधर-उधर देखा, तब उसे रास्ता समझ में न आया। अपने झुण्ड से बिछुड़कर घण्टे का महाशब्द करता हुआ जब वह कुछ दूर पहुँचा, तब उसके शब्द के अनुसार, आक्रमण के लिए तैयार हो सिंह आगे खड़ा हो गया! अनन्तर, जब वह ऊँट पास आया, तब सिंह ने कूद कर उसकी गर्दन पकड़ ली और मार डाला। इसलिये मैं कहता हूँ—'सतां वचनमादिष्टम्' इत्यादि (श्लो० ७४)।

अथ तच्छ्रुत्वा मकरः प्राह—'भद्र !

उपदेशप्रदातॄणां नराणां हितमिच्छताम्।
परस्मिन्निह लोके च व्यसनं नोपपद्यते ।। ७५ ।।

यह सुनकर मकर ने कहा—भद्र! उपदेश देनेवाले और दूसरों की भलाई चाहनेवाले पुरुषों को इस लोक और परलोक में भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता ।। ७५ ।।

तत् सर्वथा कृतघ्नस्यापि मे कुरु प्रसादमुपदेशप्रदानेन। उक्तं च—

इसलिए, यद्यपि मैं सर्वथा कृतघ्न हूँ, तो भी मुझे उपदेश देकर मेरे ऊपर अनुग्रह करो। कहा भी है—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ।। ७६ ।।

जो मनुष्य अपने साथ उपकार करनेवालों के प्रति सद्व्यवहार करता है, उसकी इन सज्जनता में क्या प्रशंसा है? अपना अहित करनेवालों के प्रति जो सद्व्यवहार करता है, सज्जन लोग उसे ही सत्पुरुष कहते हैं ।। ७६ ।।

तदाकर्ण्य वानरः प्राह—'भद्र ! यद्येवं तर्हि तत्र गत्वा तेन सह युद्धं कुरु'। उक्तं च—

यह सुन वानर ने कहा—भद्र ! यदि यह बात है तो जाकर उसके साथ युद्ध करो। क्योंकि—

हतस्त्वं प्राप्स्यसि स्वर्गं जीवन्गृहमथो यशः।
युध्यमानस्य ते भावि गुणद्वयमनुत्तमम् ॥ ७७ ॥

तुम, यदि युद्ध में मारे गये, तो स्वर्ग पाओगे और यदि (विजयी होकर) जीवित रहे, तो घर और कीर्ति प्राप्त करोगे। इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम्हें दो उत्तम गुणों की प्राप्ति होगी ॥ ७७ ॥

उत्तमं प्रणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत्।
नीचमल्पप्रदानेन समशक्ति पराक्रमैः ॥ ७८ ॥

श्रेष्ठ पुरुष को नम्रता से, बलवान् को भेद से (आपस में फूट डलवाकर), नीच (ओछे मतवाले) को कुछ देकर और समान शक्तिवाले को शूरता के द्वारा वश में करना चाहिये ॥ ७८ ॥

मकरः प्राह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

मकर ने कहा—यह कैसे ? उसने कहा—

कथा १४

आसीत्कस्मिंश्चिद्देशे महाचतुरको नाम श्रृगालः। तेन कदाचिदरण्ये स्वयं मृतो गजः समासादितः तस्य समन्तात्परिभ्रमति, परं कठिनां त्वचं भेत्तुं न शक्नोति। अथात्रावसर इतश्चेतश्च विचरन् कश्चित्सिंहस्तत्रैव प्रदेशे समाययौ। अथ सिंहं समागतं दृष्ट्वा स क्षितितलविन्यस्तमौलिमण्डलः संयोजित करयुगलः सविनयमुवाच—स्वामिन् ! त्वदीयोऽहं लागुडिकः स्थितस्त्वदर्थे गजमिमं रक्षामि। 'तदेनं भक्षयतु स्वामी।' तं प्रणतं दृष्ट्वा सिंहः प्राह-'भोः ! नाहमन्येन हतं सत्त्वं कदाचिदपि भक्षयामि। तत्तवैव गजोऽयं मया प्रसादीकृतः।

किसी वन में महाचतुरक नामक श्रृगाल रहता था। एक समय उसने वन में स्वयं मरा हुआ हाथी पाया। वह उसके चारों तरफ घूमता रहा। परन्तु उसका कड़ा चमड़ा न काट सका। इसी समय, कोई सिंह इधर-उधर घूमता हुआ उसी स्थान पर आ पहुँचा। उसको आया हुआ देखकर वह

शृगाल पृथ्वी में मस्तक रख तथा कमलतुल्य हाथ जोड़कर नम्रता से बोला—हे स्वामिन् ! मैं तुम्हारा सिपाही (रक्षापुरुष) तुम्हारे लिये इस हाथी की रक्षा कर रहा हूँ, इसलिये तुम इसे भक्षण करो। तब सिंह ने कहा—मैं कभी भी दूसरे से मारा हुआ जानवर नहीं खाता, इसलिये यह हाथी मैं तुम्हें ही इनाम में देता हूँ।

तच्छ्रुत्वा शृगालः सानन्दमाह—'युक्तमिदं स्वामिनो निजभृत्येषु। उक्तं च यतः—

यह सुनकर शृगाल आनन्दपूर्वक बोला—'प्रभु के लिये अपने भृत्यों के प्रति यह बात उचित ही है। कहा भी है—

अन्त्यावस्थोऽपि महान्स्वामिगुणान्न जहाति शुद्धतया।
न श्वेतभावमुज्झति शङ्खः शिखिभुक्तमुक्तोऽपि ॥ ७९ ॥

महान् (उदार) पुरुष, विपत्ति की पराकाष्ठा पाकर भी (महासङ्कट में फंसकर भी) पवित्रता के कारण (महोदार होने से) प्रभु के गुणों को नहीं छोड़ता, जैसे कि शंख अग्नि से जलाये जाने पर भी अपने स्वाभाविक गुण सफेदी को नहीं छोड़ता ॥ ७९ ॥

अथ सिंहे गते कश्चिद् व्याघ्रः समाययौ। तमपि दृष्ट्वाऽसौ व्यचिन्तयत्—'अहो ! एकस्तावद् दुरात्मा प्रणिपातेनापवाहितः। तत्कथमिदानीमेनमपवाहयिष्यामि ? नूनं शूरोऽयम्। न खलु भेदं विना साध्यो भविष्यति। उक्तं च यतः—

अनन्तर सिंह के चले जाने पर कोई व्याघ्र आया। उसे देख, शृगाल ने सोचा—एक दुष्ट को तो नम्रता से दूर किया, अब इसे कैसे हटाऊँ ? यह शूर है, अतः भेद के बिना वश में नहीं आयेगा। कहा भी है—

न यत्र शक्यते कर्तुं साम दानमथापि वा।
भेदस्तत्र प्रयोक्तव्यो यतः स वशकारकः ॥ ८० ॥

जहाँ साम अथवा दान न किये जा सकें—जहाँ इनसे काम न चल सके, वहाँ भेद का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि भेद वश में लाने का अच्छा उपाय है ॥ ८० ॥

किञ्च सर्वगुणसम्पन्नोऽपि भेदेन वध्यते। उक्तं च यतः—

क्योंकि, सब गुणों से युक्त भी भेद से नष्ट किया जा सकता है। कहा भी है—

अन्तःस्थेन विरुद्धेन सुवृत्तेनातिचारुणा।
अन्तर्भिन्नेन सम्प्राप्तं मौक्तिकेनापि बन्धनम् ॥ ८१ ॥

इस पद्य के दो अर्थ हैं (१) अत्यन्त निर्मल (श्वेत), बिना बिंधा हुआ, गोल और सुन्दर मोती भी बिंधने पर बन्धन में पड़ जाता है (हार में पिरोया जाता है)। (२) अत्यन्त शुद्ध चरित्र, अनुकूल सदाचारी, प्रियदर्शन और मुक्ति की इच्छा रखनेवाला पुरुष भी परमात्मा से भिन्न होने पर (चित्त की एकाग्रता नष्ट होने पर) संसारबन्धन में पड़ जाता है ।। ८१ ।।

एवं सम्प्रधार्य तस्याभिमुखो भूत्वा गर्वादुन्नतकन्धरः ससम्भ्रममुवाच—'माम ! कथमत्र भवान्मृत्युमुखे प्रविष्टः। येनैष गजः सिंहेन व्यापादितः। स च मामेतद्रक्षणे नियुज्य नद्यां स्नानार्थं गतः। तेन च गच्छता मम समादिष्टम्—'यदि कश्चिदिह व्याघ्र समायाति, त्वया सुगुप्तं मामावेदनीयम्। येन वनमिदं मया निर्व्याघ्रं कर्तव्यम्। यतः पूर्वं व्याघ्रेणैकेन मया व्यापादितो गजः शून्ये भक्षयित्वोच्छिष्टतां नीतः। तद्दिनादारभ्य व्याघ्रान्प्रति प्रकुपितोऽस्मि।' तच्छ्रुत्वा व्याघ्रः संत्रस्तमाह—'भो भागिनेय ! देहि मे प्राणदक्षिणाम्। त्वया तस्यात्र चिरायायातस्यापि मदीया कापि वार्ता नाख्येया।' एवमभिधाय सत्वरं पलायाञ्चक्रे।

यह निश्चय कर, उसके सामने हो, गर्दन उठा जल्दी से बोला—हे मामा ! यहाँ तुम मौत के मुँह में क्यों आ रहे हो, क्योंकि अभी यह हाथी सिंह ने मारा है और वह मुझे इसकी रखवाली में नियुक्त कर स्नान करने गया है। जाते समय उसने मुझे आज्ञा दी है कि यदि कोई व्याघ्र यहाँ आये, तो चुपचाप मुझे सूचित करना, क्योंकि मुझे यह वन व्याघ्रों से खाली कर देना है, एक समय पहिले एक व्याघ्र ने मेरे मारे हुए हाथी को सूने में खाकर जूठा कर दिया था, उसी दिन से मुझे व्याघ्रों के प्रति बड़ा क्रोध है। यह सुनकर व्याघ्र ने भयभीत हो उससे कहा—हे भानजे ! (भगिनी·पुत्र) मुझे प्राणों की दक्षिणा दो, वह चाहे कितनी ही देर में आये तो भी तू, मेरे सम्बन्ध में कोई बात उससे न कहना। यह कहकर वह तुरन्त भाग गया।

अथ गते व्याघ्रे तत्र कश्चिद् द्वीपी समायातः। तमपि दृष्ट्वासौ व्यचिन्तयत्—'दृढदंष्ट्रोऽयं चित्रकः। तदस्य पर्श्वादस्य गजस्य यथा चर्मच्छेदो भवति तथा करोमि।' एवं निश्चित्य तमप्युवाच—'भो भगिनीसुत ! किमिति चिराद् दृष्टोऽसि। कथं च बुभुक्षित इव लक्ष्यसे ? तदतिथिरसि मे। एष गजः सिंहेन हतस्तिष्ठति। अहं चास्य

तदादिष्टो रक्षपालः। परं तथापि यावत्सिंहो न समायाति, तावदस्य गजस्य मांसं भक्षयित्वा तृप्तिं कृत्वा द्रुततरं व्रज।' स आह—'माम! तद्येवं तन्न कार्यं मे मांसाशनेन, यतो 'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति'। उक्तं च—'यच्छक्यं ग्रसितुं यस्य ग्रस्तं परिणमेच्च यत्। इत्यादि (पृ० १३)

तब व्याघ्र के चले जाने पर कोई चीता वहाँ आया। उसे देखकर इसने विचार किया यह चीता है, इसकी दाढ़ें मजबूत हैं। इसी से इस हाथी का चमड़ा कटवा लूं ! यह सोचकर उससे बोला—हे भानजे ! बहुत दिनों बाद क्यों दिखाई पड़े ? और भूखे से क्यों मालूम होते हो ? तुम मेरे अतिथि हो। कहा भी है—(भोजन के) समय जो आये वह अतिथि होता है। सिंह से मारा हुआ यह हाथी पड़ा है और मैं उसका नियुक्त किया हुआ रखवाला हूँ, जब तक वह न आये, तब तक इसका मांस खाकर तृप्ति कर लो और जल्दी चले जाओ। वह बोला—मामा ! अगर यह बात है, तो मुझे इसके मांस से कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि 'यदि मनुष्य जिन्दा रहे तो सैकड़ों भलाइयाँ देखता है।' कहा भी है—यच्छक्यमित्यादि (पृ० १३)।

'तत्सर्वथा तदेव भुज्यते यदेव परिणमति। तदहमितोऽपयास्यामि।'

इसलिये वही वस्तु खानी चाहिए, जो पच सके अर्थात् जिसके भक्षण करने से कोई हानि नहो। इसलिये मैं तो भागता हूँ।

शृगाल आह—'भो अधीर ! विश्रब्धो भूत्वा भक्षय त्वम्। तस्यागमनं दूरतोऽपि तवाहं निवेदयिष्यामि। तथानुष्ठिते द्वीपिना भिन्नां त्वचं विज्ञाय जम्बूकेनाभिहितम्—'भो भगिनीसुत ! गम्यताम्। एष सिंहः समायाति।' तच्छ्रुत्वा चित्रको दूरं प्रनष्टः।

शृगाल ने कहा—अरे अधीर ! तू निश्चिन्त हो खा, दूर से ही मैं उसका आगमन तुझे बता दूँगा। तब चीते के वैसा करने पर खाल को कटा हुआ जान शृगाल ने कहा—भानजे ! भागो भागो, यह सिंह आ रहा है। यह सुन चीता दूर भाग गया।

अथ यावदसौ तद्भेदकृतद्वारेण किञ्चिन्मांसं भक्षयति, तावदतिसंक्रुद्धोऽपरः शृगालः समाययौ। अथ तमात्मतुल्यपराक्रमं दृष्ट्वा—

'उत्तमं प्रणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत्।' इति श्लोकं पठन् तदभि-

मुखकृतप्रयाणः स्वदंष्ट्राभिस्तं विदार्य दिशो भागं कृत्वा स्वयं सुखेन चिरकालं हस्तिमांसं बुभुजे।

जब तक वह श्रृगाल उसके किये हुए छिद्र से कुछ मांस खाने लगा, तब तक अत्यन्त क्रोधी दूसरा श्रृगाल वहाँ आ पहुँचा। तब उसे अपने समान और उसका पराक्रम अनुभूत जानकर 'उत्तमं प्रणिपातेन' इत्यादि श्लोक पढ़ता हुआ वह उसके सामने गया और अपने दाँतों से उसे विदीर्ण (मारा) कर और उसका मांस इधर-उधर (सब दिशाओं में) फेंककर स्वयं सुख से चिरकाल तक हस्तिमांस खाता रहा।

एवं त्वमपि तं रिपुं स्वजातीयं युद्धेन परिभूय दिशोभागं कुरु। नो चेत्पश्चाद् बद्धमूलादस्मात्त्वमपि विनाशमवाप्स्यसि। उक्तं च यतः—

इस प्रकार तुम भी, अपने स्वजातीय शत्रु को युद्ध में मारकर दिशाओं को बलि चढ़ा दो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो पीछे तुम भी जड़ पकड़ जाने पर उसी जलचर से विनाश को प्राप्त होंगे। कहा भी है—

सम्भाव्यं गोषु सम्पन्नं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः।
सम्भाव्यं स्त्रीषु चापल्यं सम्भाव्यं जातितो भयम् ॥ ८२ ॥

गौवों में ऐश्वर्य, ब्राह्मण में तप, स्त्रियों में चपलता तथा कुटुम्बियों से भय की सम्भावना की जा सकती है ॥ ८२ ॥

अन्यच्च—सुभिक्षाणि विचित्राणि शिथिलाः पौरयोषितः।
एको दोषो विदेशस्य स्वजातिर्यद्विरुध्यते ॥ ८३ ॥

और भी—(विदेश में) तरह-तरह के उत्तम अन्न मिल जाते हैं, (यहाँ की) स्त्रियाँ भी असावधान होती हैं परन्तु विदेश में एक ही दोष है कि अपने जाति के पुरुष विरुद्ध हो जाते हैं ॥ ८३ ॥

मकर आह—'कथमेतत् ?' वानरोऽब्रवीत्—

मकर ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

कथा १५

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चित्राङ्गो नाम सारमेयः। तत्र च चिरकालं दुर्भिक्षं पतितम्। अन्नाभावात्सारमेयादयो निष्कुलतां गन्तुमारब्धाः। अथ चित्राङ्गः क्षुत्क्षामकण्ठस्तद्भयाद् देशान्तरं गतः तत्र च कस्मिंश्चित्पुरे कस्यचिद् गृहमेधिनो गृहिण्याः प्रमादेन प्रतिदिनं गृहं

प्रविश्य विविधान्नानि भक्षयन्परां तृप्तिं गच्छति। परं तद्गृहाद् बहिर्निष्क्रान्तोऽन्यैर्मदोद्धतसारमेयैः सर्वदिक्षु परिवृत्य सर्वाङ्गं दंष्ट्राभिर्विदार्यते। ततस्तेन विचिन्तितम्—'अहो! वरं स्वदेशो यत्र दुर्भिक्षेऽपि सुखेन स्थीयते। न च कोऽपि युद्धं करोति। तदेवं स्वनगरं व्रजामि' इत्यवधार्य स्वस्थानं प्रति जगाम।

किसी स्थान में चित्राङ्ग नाम का कुत्ता रहता था। वहाँ एक बड़ा अकाल पड़ा। अन्न न मिलने से कुत्ते आदि सब प्राणी जब नष्ट हो जाने लगे, तब चित्रांग भूख से पीड़ित हो अन्य देश चला गया। वहाँ किसी नगर में किसी गृहस्थ की पत्नी की असावधानी के कारण प्रतिदिन उसके घर में घुस कर तरह तरह के अन्न खाता हुआ अत्यन्त तृप्त हो जाता था; परन्तु उस घर से निकलने पर अन्य मदमत्त कुत्ते सब ओर से घेरकर उसके सम्पूर्ण अङ्गों को दाँतों से काट डालते थे। तब उसने सोचा—अहो! अपना ही देश अच्छा; जहाँ दुर्भिक्ष पड़ने पर भी आराम से तो रहा जाता है। वहाँ कोई युद्ध नहीं करता, इसलिये उसी अपने नगर को जाता हूँ। यह विचार कर अपने स्थान को चला गया।

अथासौ देशान्तरात् समायातः सर्वैरपि स्वजनैः पृष्टः—'भोश्चित्राङ्ग! कथयास्माकं देशान्तरवार्ताम्। कीदृग्देशः? किं चेष्टितं लोकस्य? क आहारः? कश्च व्यवहारस्तत्र' इति। स आह—किं कथ्यते विदेशस्य स्वरूपविषयः—'सुभिक्षाणि विचित्राणि शिथिलाः पौरयोषितः।' इत्यादि पठति (श्लो० ८३)

जब वह विदेश से लौटकर आया, तब सब कुटुम्बियों ने पूछा—हे चित्राङ्ग! हमें, विदेश का समाचार सुनाओ, वह कैसा देश है? वहाँ के रहनेवालों की चेष्टाएँ कैसी हैं? भोजन क्या मिलता है और व्यवहार कैसा है? उसने कहा—विदेश के विषय में क्या कहूँ—'सुभिक्षाणि' इत्यादि (श्लो० ८३) पढ़कर सुना दिया।

सोऽपि मकरस्तदुपदेशं श्रुत्वा कृतमरणनिश्चयो वानरमनुज्ञाप्य स्वाश्रयं गतः तत्र च तेन स्वगृहप्रविष्टेनाततायिना सह विग्रहं कृत्वा दृढसत्त्वावष्टम्भनाच्च तं व्यापाद्य स्वाश्रयं च लब्ध्वा सुखेन चिरकालमतिष्ठत्। साध्विदमुच्यते—

तब वह मगर उसका उपदेश सुनकर और मरने का निश्चय कर वानर की अनुमति से अपने स्थान पर पहुँचा और वहाँ अपने घर में घुसे हुए उस आततायी के साथ युद्ध करके और उत्साह की प्रबलता के कारण उसे मारकर अपना स्थान पा लिया और आराम से चिरकाल तक रहा अथवा ठीक ही कहा है—

अकृत्वा पौरुषं या श्रीः किं तयापि सुभोग्यया ।
जरद्गवः समश्नाति दैवादुपगतं तृणम् ॥ ८४ ॥

पुरुषार्थ न करके प्राप्त हुई अत एव आलसी पुरुषों के भोगने योग्य लक्ष्मी पाने से भी क्या लाभ ? (देखो) भाग्यवश प्राप्त घास को बूढ़ा बैल भी चरता है ॥ ८४ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे लब्धप्रणाशं नाम
चतुर्थं तन्त्रं समाप्तम् ।

॥ श्री ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

१५

श्रीविष्णुशर्मप्रणीतं

पञ्चतन्त्रम्

अपरीक्षितकारकं

नाम पञ्चमं तन्त्रम्

'विमला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः—

डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

लब्धावकाशप्राध्यापकः, पुराणेतिहास-भूगोल-संस्कृति-विभागाध्यक्षश्च

वाराणसेय श्रीसम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

षष्ठं संस्करण १९८७
मूल्य २०-००

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड
दिल्ली ११०००७

*

प्रधान वितरक—
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक—
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

15

PAṄCATANTRA

(APARĪKṢITAKĀRAKA)

OF

ŚRĪ VIṢṆUŚARMĀ

Edited with

'VIMALĀ' SANSKRIT & HINDĪ COMMENTARIES

By

Dr. Shrikrishnamani Tripathi

Former Professor & Head of the Deptt. of Puranetihas.

Sri Sampurnananda Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi.

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

प्राक्कथन

संस्कृत में आख्यान-साहित्य का एक विशिष्ट स्थान है। इसकी मौलिकता, आचारों की कुशलता तथा भावों की उत्कृष्टता का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। भारतीय मनोरञ्जनशील मस्तिष्क की विशुद्ध कल्पनाशक्ति ने इस साहित्य का आविर्भाव किया है।

आख्यान-साहित्य के प्रमुख रूप से दो विभाग हैं—नीतिकथाएँ तथा लोक-कथाएँ। नीतिकथाओं में उपदेशप्रद विषयों की प्रधानता रहती है। आरम्भ काल से चली आती हुई मनुष्य की उपदेशात्मक प्रवृत्ति का ही इसमें स्थान है। धर्म, अर्थ एवं काम सम्बन्धी विषयों के साथ-साथ सदाचार, राजनीतिक तथा व्यावहारिक ज्ञान को इन कथाओं में अत्यन्त रोचक ढंग से उपस्थित किया जाता है। कुछ आध्यात्मिक विषयों को भी सरलता से समझाने का प्रयास किया जाता है। इनमें पात्र प्रायः पशु-पक्षी ही होते हैं, किन्तु इनके द्वारा होने वाला नैतिक एवं व्यावहारिक ज्ञान मनुष्यमात्र के लिए उपयोगी होता है। इनकी शैली बालोचित होनेपर भी इनमें अतिगहन विषय प्रस्तुत किये जाते हैं।

इन कथाओं में गद्य एवं पद्य दोनों का समावेश हुआ है। गद्य में मुख्य कथाएँ हैं और पद्य भाग में गम्भीर तत्त्वों को छोटे-छोटे छन्दों में सरलतापूर्वक प्रस्तुत किया गया है। परम्परागत नीति-वाक्यों को जिज्ञासु जनता के मस्तिष्क में बैठाने के लिए कहानी गढ़ ली गयी है और प्रसंग जोड़ दिये हैं, जिससे एक नये साहित्य का सृजन हो गया है। इसमें एक नीतिवाक्य से दूसरा नीति-वाक्य, एक कथा से दूसरी कथा निकलती चलती है। इस प्रकार नीति-कथाएँ अत्यन्त रोचक, स्पृहणीय एवं उपादेय हो जाती हैं।

संस्कृत के आख्यान-साहित्य में ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों की अपेक्षा विशुद्ध काल्पनिक पात्रों तथा कथानकों का चित्रण है। यह एक ऐसा काल्पनिक जगत् है, जिसमें घटना-वैचित्र्य और पात्र-वैचित्र्य के साथ-साथ कौतूहल, हास्य, व्यंग्य, विनोद एवं उपदेश का एकत्र समावेश है।

इन कथाओं का आविर्भाव कब एवं कैसे हुआ? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, फिर भी ऋग्वेदीय मनु-मत्स्य संवाद के आधार पर इसकी प्रचीनता का आभासमात्र प्रतीत होता है। वस्तुतः पशु-पक्षियों की कथाओं का

प्राचीनतम संग्रह जातक कथाओं में उपलब्ध होता है, जिनका परिमार्जित रूप हमें बृहत्कथामञ्जरी, कथासरित्सागर, शुकसप्तति, पञ्चतन्त्र आदि में प्राप्त होता है।

पञ्चतन्त्र

भारत के इतिहास में यह तथ्य स्पष्टतया प्रसिद्ध है कि पञ्चतन्त्र के द्वारा अल्पकाल में ही नीतिशास्त्र तथा वास्तविक व्यवहार का सारभूत ज्ञान सम्भव है। पञ्चतन्त्र की अतिसरल, रोचक एवं सदुपदेशप्रद कथाओं के आधार पर उसमें निहित नीतिवाक्यों का अभ्यास कर लेने पर कोई भी व्यक्ति अपने वैयक्तिक, पारिवारिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन की समस्याओं को भलीभाँति सुलझा सकता है। इसमें स्थल-स्थल पर अनेक महत्त्वपूर्ण सूक्तियों का भी संग्रह है, जिनका समुचित अवसर पर प्रयोग कर लाभ उठाया जा सकता है। इस प्रकार यह ग्रन्थ एक समुज्ज्वल प्रकाशमान मणि के समान सबका मार्ग-प्रदर्शन करने में सर्वदा समर्थ है।

पञ्चतन्त्र न केवल भारतवर्ष में ही, अपितु समस्त विश्व-साहित्य में एक कथा-साहित्य के रूप में मान्य है। इसकी सरलता, लोकप्रियता एवं उपयोगिता सर्वप्रसिद्ध है। इसमें लेखक ने मुख्य रूप से विचारपूर्वक कार्य करने की नीति पर बल दिया है। पञ्चतन्त्र के अनुशीलन से नीतिशास्त्रविषयक ज्ञान आसानी से हो जाता है, क्योंकि इसके निर्माण का एक मात्र उद्देश्य ही सुकुमारमति राजकुमारों को कथा के व्याज से विनोदपूर्वक राजनीति का ज्ञान कराना है। नीतिज्ञान के अतिरिक्त पञ्चतन्त्र के अध्ययन का एक लाभ और भी है—आरम्भिक सरल संस्कृत पढ़ने एवं लिखने के लिए यह एक आदर्श और स्पृहणीय ग्रन्थ माना गया है। इसीलिए सरलता से संस्कृत भाषा का ज्ञान कराने के निमित्त प्रायः सभी शिक्षण-संस्थाओं की पाठ्य-पुस्तक के रूप में यह स्वीकृत है और प्रेमपूर्वक विद्यालयों में पढ़ाया भी जाता है।

अनुवाद

बाइबिल के बाद पञ्चतन्त्र ही वह ग्रन्थ है, जिसका अनुवाद विश्व की सर्वाधिक सभ्य भाषाओं में हुआ है। पञ्चतन्त्र का सबसे पहला रूपान्तर पहलवी भाषा में हुआ। बाद में उसी के आधार पर अरबी में अनुवाद हुआ। तदनन्तर

योरप का सबसे प्राचीन अनुवाद यूनानी में हुआ। इसके पश्चात् इटैलियन, जर्मन, फ्रेञ्च, अंग्रेजी आदि में पञ्चतन्त्र का अनुवाद प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार संस्कृत पञ्चतन्त्र का अनुवाद पहलवी से अरबी, उससे हिब्रू, यूनानी, इटैलियन, जर्मन आदि के पश्चात् अंग्रेजी साहित्य को उपलब्ध हुआ। जर्मन एवं ब्रिटेन का अनुवाद बहुत ही लोकप्रिय रहा। अंग्रेजी में भी इसके संस्करणों की अनेक आवृत्तियाँ हुईं, किन्तु फ्रेञ्च के संस्करण का यूरोप-वासियों ने सबसे अधिक सम्मान किया।

रचना-काल

पञ्चतन्त्र का प्रणयन कब हुआ? यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, क्योंकि इस ग्रन्थ की मूल प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं है। इसका पहला अनुवाद पहलवी में ईसा की छठी शताब्दी में हुआ था और कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र का उस पर प्रभाव भी है, क्योंकि उसमें दीनार शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः सम्भवतः इसकी रचना गुप्तकाल में संस्कृत के सर्वविध अभ्युदय काल में हुई प्रतीत होती है।

लेखक-परिचय

पञ्चतन्त्र के लेखक, निवास-स्थान, वंश, माता-पिता, पुत्र, पत्नी एवं आश्रयदाता आदि के विषय में कुछ भी विवरण उपलब्ध नहीं होता। हाँ, विश्व के सभी संस्करणों में पञ्चतन्त्र के लेखक के रूप में विष्णुशर्मा का नाम अवश्य उपलब्ध होता है। यद्यपि कुछ विद्वान् इसमें विश्वास नहीं करतें, तथापि अन्य किसी नाम के उपलब्ध न होने के कारण इस सम्बन्ध में सन्देह करना अनावश्यक है। विष्णुशर्मा के परिचय के विषय में पञ्चतन्त्र के कथामुख से यह प्रतीत होता है कि वे दक्षिण देश के महिलारोप्य नामक नगर के राजा के राज्य में रहते थे, किन्तु इस नगर एवं दक्षिण देश का नाम अन्य अनेक कथाओं से सम्बद्ध होने के कारण इसे कल्पना के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहा जा सकता है।

पञ्चतन्त्र के लेखक के विषय में कथामुख से संकेत मिलता है कि विष्णु-शर्मा नाम के विद्वान् भारतीय नीतिशास्त्र में बड़े प्रवीण एवं प्रखर बुद्धि के मनीषी थे। उन्हें प्राचीन नीतिविदों एवं उनके नीतिशास्त्रों का पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने बड़ी श्रद्धा से अपने पूर्वज नीतिज्ञों को प्रणाम किया है और लोक-प्रसिद्ध सभी नीति-ग्रन्थों का सार-संग्रह करके पञ्चतन्त्र नामक ग्रन्थ के निर्माण का उल्लेख किया है।

इस प्रकार उन्हें नीतिशास्त्रों का परिपूर्ण अनुभवात्मक ज्ञान था। उन्होंने समस्त नीतिज्ञों की नीतियों को अपने जीवन में उतार कर जो समुचित समझा उसे अपनी कृति पञ्चतन्त्र में प्रस्तुत किया है। वे बड़े निस्पृह, निर्भीक एवं त्यागी विद्वान् थे। अस्सी वर्ष की अवस्था में जब उनका मन एवं सभी इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर शिथिल हो चुकी थीं तब भी उन्हें राजा अमरशक्ति के द्वारा-दिये जाने वाले शासनशत का लोभ अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सका। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक राजा को उत्तर देते हुए कहा था—

नाऽहं विद्याविक्रयं शासनशतेनापि करोमि।

उन्हें अपने विशिष्टवैदुष्य पर पूर्णतया विश्वास था और वे अपने विद्वज्जनोचित कर्त्तव्य पथ पर सदा सुदृढ़ थे। इसलिए उन्होंने राजा को चुनौती देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था कि यदि मैं छः महीनों में आपके राजकुमारों को नीतिशास्त्रों का ज्ञान न करा सकूँगा तो अपने नाम का त्याग कर दूँगा—

पुनरेतांस्तव पुत्रान् मासषट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञान् न करोमि, ततः स्वनामत्यागं करोमि।

पञ्चतन्त्र की रचना का उद्देश्य

विष्णुशर्मा ने पञ्चतन्त्र का निर्माण कोमलमति राजकुमारों को आसानी से नैतिक व्यवहार सिखाने के निमित्त किया है, न कि कलाचातुर्य्य एवं पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए। पञ्चतन्त्र के कथामुख में उन्होंने अस्सी वर्ष की अवस्था में भी सिंहनाद करते हुए अपनी वास्तविक स्वाभिमान युक्त निस्पृहता को इस प्रकार व्यक्त कर दिया था—

किं बहुना श्रूयतां ममैष सिंहनादः, नाहमर्थलिप्सुर्ब्रवीमि, ममाशीतिवर्षस्य न किञ्चिदर्थेन प्रयोजनम्।

पञ्चतन्त्र का वर्गीकरण

पञ्चतन्त्र अन्वर्थनामा पाँच तन्त्रों (प्रकरणों) में विभक्त है—(१) मित्रभेद, (२) मित्र सम्प्राप्ति, (३) काकोलूकीय, (४) लब्धप्रणाश और (५) अपरीक्षितकारक—इन पाँचों तन्त्रों के नाम अन्वर्थ हैं, इनके वर्ण्य-विषयों का आभास इनके नामों से ही व्यक्त हो जाता है। इनको हृदयङ्गम कर लेने से मनुष्य किसी व्यावहारिक या नैतिक विचारों से वंचित नहीं रहता। इनकी विषय-सामग्री का प्रसङ्ग ऐसे सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि

उनकी अवगति के निमित्त उत्तरोत्तर रुचि बढ़ती ही जाती है। इसकी रोचकता, मधुरता एवं सरलता सर्वप्रसिद्ध है।

अपरीक्षितकारक

इस प्रकार अपरीक्षितकारक पञ्चतन्त्र का अन्तिम भाग (पाँचवां तन्त्र) है जिसमें मुख्यतया विचारपूर्वक सुपरीक्षित कार्य करने की नीति पर ग्रन्थकार ने बल दिया है। इसके नामकरण के कारण का स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया गया है कि बिना भलीभाँति विचार किये एवं बिना अच्छी तरह से देखे-सुने गये किसी कार्य को करने वाले व्यक्ति को कार्य में सफलता नहीं प्राप्त होती, बल्कि जीवन में अनेक कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता है। अतः अन्धानुकरण करने का फल समुचित नहीं होता।

अपरीक्षितकारक में कुल पन्द्रह कथाएँ हैं, जिनका संक्षिप्त-परिचय इस प्रकार है—

(१) क्षपणक-कथा (आमुख)—

इस कथा में बिना अच्छी तरह परीक्षा करके अनुकरण करने वाले एक नाई की कथा है, जिसको मणिभद्र नाम के सेठ का अनुकरण कर जैन-संन्यासियों के वध के दोष पर न्यायाधीशों द्वारा मृत्यु का दण्ड दिया गया है। अतः बिना परीक्षा किये हुए नाई के समान अनुचित कार्य नहीं करना चाहिए—

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम्।
तन्नरेण न कर्त्तव्यं नापितेनात्र यत् कृतम् ॥ १ ॥

(२) ब्राह्मणी-नकुल-कथा—

इसमें बिना सोचे-समझे भ्रम के कारण नेवले की हत्या से ब्राह्मण-पत्नी के पश्चात्ताप का चित्रण है, जिसने साँप से अपने पुत्र की रक्षा करने पर भी भ्रमवश जल से भरे घड़े को नेवले के उपर पटककर मार डाला था। इसलिए पूरी जानकारी के बिना कोई कार्य नहीं करना चाहिए—

अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं कर्त्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चाद् भवति सन्तापो ब्राह्मण्या नकुले यथा ॥ १७ ॥

(३) लोभाविष्ट-चक्रधर-कथा—

इसमें अतिलोभ के भयङ्कर परिणाम का दिग्दर्शन है। यह कथा आगे की सभी कथाओं में अनुस्यूत है। इस कथा के द्वारा यह बतलाया गया है कि चार

ब्राह्मणकुमार दरिद्रता से ऊब गये थे, जो घर से निकल कर अवन्तीपुरी में जा पहुँचे। वहाँ सिप्रास्नान और महाकाल के दर्शन के बाद वे भैरवानन्द योगी से चार सिद्ध गुटिकाओं को प्राप्त कर हिमालय की तरफ प्रस्थान किये। मार्ग में एक को ताँबे की खान मिली, दूसरे को चाँदी की खान प्राप्त हुई तथा तीसरे को सोने की खान उपलब्ध हुई। वे तीनों उन्हें लेकर अपने-अपने घर लौट गये, किन्तु अति लोभ के कारण चौथे को चक्रधर बनना पड़ा। अतः मनुष्य को न तो अधिक लोभ करना चाहिए, न बिलकुल लोभ ही छोड़ देना चाहिए, क्योंकि अतिलोभ के कारण मित्र की बात न मानने पर लोभी मनुष्य को कष्ट ही उठाना पड़ता है, जैसे अतिलोभी के मस्तक पर चक्र घूमने लगा—

अतिलोभो न कर्त्तव्यो लोभं नैव परित्यजेत्।
अतिलोभाभिभूतस्य चक्रं भ्रमति मस्तके॥

(४) सिंहकारक-मूर्खब्राह्मण-कथा—

इसमें यह दिखाया गया है कि लोक-व्यवहार के बिना मूर्ख की विद्या उसी को कष्ट पहुँचाती है। इस कथा के द्वारा तीन शास्त्रज्ञानी, पर लोकव्यवहार से शून्य एवं एक अशास्त्रज्ञ, किन्तु लोकव्यवहार-चतुर ब्राह्मणों का धनोपार्जन के निमित्त विदेश जाने के लिए प्रस्थान करने के बाद मार्गवर्ती किसी वन में मृत सिंह की हड्डियों को इकट्ठाकर विद्या के प्रभाव से उसको जिला देने पर उसके द्वारा तीनों शास्त्रज्ञों के मारे जाने का तथा चौथे अशास्त्रज्ञ, किन्तु लोकव्यवहार-कुशल ब्राह्मण के बच जाने का प्रदर्शन है। अतः शास्त्रज्ञान के साथ-साथ लोक-व्यवहार का ज्ञान भी आवश्यक है, क्योंकि विद्या की अपेक्षा बुद्धि उत्तम मानी गयी है। कहा भी गया है, बिना बुद्धि जरे विद्या—

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति तथा ते सिंहकारकाः॥

(५) मूर्खपण्डित-कथा—

इस कथा में सिद्ध किया गया है कि केवल शास्त्रज्ञान वाले लोकव्यवहार से वञ्चित एवं ज्ञानशून्य व्यक्ति किस प्रकार दुःखी होते हैं। वस्तुतः लोकव्यव-हार से शून्य व्यक्ति केवल शास्त्रज्ञान के आधार पर सफल नहीं हो पाता है। अतः शास्त्रज्ञान के साथ-साथ लोक-व्यवहार का ज्ञान भी आवश्यक है।

इस कथा का सारांश यह है कि चार ब्राह्मण मित्र १२ वर्षों तक विद्याध्ययन करने के बाद अपने घर को लौटे। रास्ते में मृत महाजनपुत्र के शव के पीछे

पीछे चले ।[१] जब वे श्मशान पहुँचे तब वहाँ चरते हुए एक गदहे को देखकर उन्होंने शाब्दिक अर्थ के बल से उसे बन्धु माना[२] और तेज चलने वाले ऊँट को धर्म समझा[३] और उसके गले में गधे को बाँध दिया ।[४]

आगे बढ़ने पर नदी में बहते हुए पत्ते को नाव जानकर जब वे उस पर चढ़े तब उसमें से एक डूबने लगा । बाद सर्वनाश की स्थिति में आधे से कार्य-निर्वाह कर लेने के सिद्धान्त पर उसका शिर काट डाला गया—

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः ।
अर्द्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुःसहः ॥ ४० ॥

अनन्तर शेष तीनों जब एक गाँव में पहुँचे तब गाँव वालों ने उन्हें पण्डित ब्राह्मण समझकर अपने-अपने घरों में भोजन कराने के लिए निमन्त्रण दिया । तीनों को भिन्न-भिन्न घरों में तीन प्रकार के भोजन मिले । एक को खाँड मिली, तो उसने शाब्दिक आधार पर उसे दीर्घसूत्री से विनाश समझकर छोड़ दिया[५] । दूसरे को चौड़ी-चौड़ी रोटियाँ मिलीं तो उसने उसे अतिविस्तार वाली होने के आधार पर आयु घटाने वाली समझकर छोड़ दी[६] । तीसरे को मालपूआ मिला तो वह भी छिद्रों में अनर्थ समझकर उसे छोड़ चला गया[७] । तीनों ने शाब्दिक आधार पर उन्हें अखाद्य समझ कर छोड़ दिया और उपवास किया ।

इस प्रकार केवल पुस्तकीय ज्ञान वाले वे ब्राह्मण लोक-व्यवहार का ज्ञान न होने के कारण अर्थ का अनर्थ करते हुए सदा असफल रहे तथा लोगों ने उनका उपहास किया—

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिता ।
सर्वे ते हास्यतां यान्ति यथा ते मूर्खपण्डिताः ॥ ३८ ॥

---

१. महाजनो येन गतः स पन्थः ।
२. उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ ३९ ॥
३. धर्मस्य त्वरिता गतिः ।
४. इष्टं धर्मेण योजयेत् ।
५. दीर्घसूत्री विनश्यति ।
६. अतिविस्तारविस्तीर्णा न भवेत्तच्चिरायुषम् ।
७. छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ।

(६) मत्स्य-मण्डूक-कथा—

इस कथा में विद्या की अपेक्षा बुद्धि का प्राधान्य प्रदर्शित है। और यदि दैव अनुकूल हो तो कम बुद्धि वाला व्यक्ति भी जीवन में सफल हो सकता है। अतः दैव की प्रतिकूलता से शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि मत्स्य-जाल में फँसकर मारे गये तथा दैव के अनुकूल होने से एक बुद्धिवाला मेढक बच गया—

सुबुद्धयोऽपि नश्यन्ति दुष्टदैवेन नाशिताः।
स्वल्पधीरपि तस्मिंस्तु कुले नन्दति सन्ततम् ॥ ४१ ॥
शतबुद्धिः शिरस्थोऽयं लम्बते च सहस्रधीः।
एकबुद्धिरहं भद्रे ! क्रीडामि विमले जले ॥ ४२ ॥

(७) रासभ-शृगाल-कथा—

छः और सात दोनों कथाओं में ऐसे व्यक्तियों का वर्णन है, जो न तो स्वयं बुद्धिमान् हैं, न मित्रों का कहना ही मानते हैं। यदि शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि अपने मित्र एकबुद्धि मण्डूक का कहा मान कर तालाब से निकल गये होते तो धीवरों द्वारा न मारे जाते। इसी प्रकार गधा यदि अपने मित्र शृगाल की बात मानकर खेत में गीत नहीं गाता तो वह रखवालों द्वारा गले में ओखल-बन्धन के सङ्कट में न पड़ता। अतः जिसमें स्वयं बुद्धि नहीं है, उसे अपने मित्रों की बातें मान लेनी चाहिये—

साधु मातुल ! गीतेन मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः।
अपूर्वोऽयं मणिर्बद्धः साम्प्रतं गीतलक्षणः ॥ ५६ ॥

(८) मन्थर-कौलिक-कथा—

इसमें वर्णन है कि मित्र की बात न मानने ने मनुष्य संकट में पड़ जाता है। यदि अपने मित्र नाई की बात मान कर जुलाहा यक्ष के राज्य माँग लेता और अपनी पत्नी के कहने पर एक शिर तथा दो भुजाएँ और नहीं माँगता तो मार्ग में गाँव वाले उसे दो शिर और चतुर्भुज राक्षस समझ कर नहीं मार डालते। मित्र नाई की बात न मानने से जुलाहे को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। अतः जो स्वयं बुद्धिमान् नहीं है, उसे अपने मित्रों की बात माननी चाहिए—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा मित्रोक्तं न करोति यः।
स एव निधनं याति यथा मन्थर-कौलिकः ॥ ५७ ॥

(९) सोमशर्म-पितृ-कथा—

इसमें अनागत (न आयी हुई) विपत्ति की चिन्ता करने वाले व्यक्ति का उपहास किया गया है। वस्तुतः मनुष्य अनागत बातों की चिन्ता से दुःखी होता है। अर्थात् भविष्य के विषय में व्यर्थ की कल्पना करनेवाला व्यक्ति सत्तू-संग्रही सोमशर्मा के पिता के समान दुःखी होता है। सोमशर्मा के पिता की भविष्य-कल्पना की परम्परा अपूर्व थी। अतः मनुष्य को व्यर्थ भविष्य की कल्पना में व्यस्त नहीं रहना चाहिए—

अनागतवतीं चिन्तामसम्भाव्यां करोति यः।
स एव पाण्डुरः शेते सोमशर्मपिता यथा ॥ ६७ ॥

(१०) चन्द्रभूपति-कथा—

इस कथा में चन्द्रभूपति नामक एक लालची राजा के परिवार के विनाश का चित्रण है। जिसमें एक बन्दर की बात पर विश्वास कर प्रचुर रत्नमाला की प्राप्ति के लिए राक्षसयुक्त एक तालाब में अर्धोदय काल के अवसर पर अपने परिवार एवं परिजनों को स्नान कराकर धोखा खाने का तथा तृष्णा की तरुणाई का वर्णन है। परिणाम का विचार न कर अपने नेता की समुचित बात न मानने वाले व्यक्ति वानरों के समान मारे जाते हैं और लोभवश कार्य करनेवाले व्यक्ति चन्द्रभूपति की तरह धोखा खाते हैं।

अतः बिना परिणाम सोचे अति लोभ से किसी अविश्वासी का सहसा विश्वास कर कोई कार्य नहीं करना चाहिए।

नीति-कुशल व्यक्ति एक ही साधन से अनेक कार्य सिद्ध कर सकता है। वानरों के नीतिज्ञ नेता ने रत्नमाला प्राप्त कर ली, राक्षस को मित्र बना लिया, अपने कुलघातक राजा से बदला ले लिया और राजा को जीवित छोड़ कर स्वामी-भक्ति प्रगट कर उन्हें दुःख का अनुभव भी करा दिया। यह है बन्दर के प्रतिशोध की भावना—

यो लौल्यात् कुरुत कर्म नैवोदर्कमवेक्षते।
विडम्बनामवाप्नोति स यथा चन्द्रभूपतिः ॥ ६८ ॥
तृष्णे देवि ! नमस्तुभ्यं यथा वित्तान्वितो अपि।
अकृत्येषु नियोज्यन्ते भ्राम्यन्ते दुर्गमेष्वपि ॥ ७६ ॥

(११) विकाल-वानर-कथा—

यह कथा इस तथ्य को व्यक्त करती है कि दुःखी व्यक्ति के मित्र भी उसको

छोड़ कर उससे दूर भाग जाते हैं। इस कथा का सारांश यह है कि राजा भद्रसेन की कन्या रत्नवती के अनुपम सौन्दर्य पर आसक्त होकर विकाल नामक एक राक्षस प्रतिदिन आधी रात में आकर उसे कष्ट देता था। अतः उससे ऊबकर एक दिन जब वह उससे छुटकारा पाने के निमित्त अपनी सखी से बात-चीत कर रही थी, तब विकाल उपस्थित होकर दूसरे विकाल राक्षस के भ्रम से घोड़ा बन कर घोड़साल में छिपकर उसकी प्रतीक्षा करने लगा। इसी बीच घोड़ा चुराने के लिए एक चोर आया और उसे उत्तम घोड़ा समझकर उसके मुँह में लगाम लगा कर दौड़ाया। विकाल को तो दूसरे विकाल का भ्रम था ही, चोर को भी बार-बार रुकने के प्रयास करने पर भी न रुकने से उसके प्रति राक्षस का सन्देह हो गया। इस प्रकार वे एक-दूसरे से डरे हुए थे। संयोगवश बरगद के पेड़ के बीच से गुजरते समय पूँछ लटका कर उस पर बैठे हुए अपने मित्र बन्दर के द्वारा चोर को मनुष्य बता कर उसे खा जाने की राय देने पर चोर बन्दर की पूँछ चबाने लगा और उसका मित्र राक्षस आपद्ग्रस्त अपने मित्र बन्दर को छोड़ कर भाग गया।

जिस प्रकार अपने मित्र बन्दर को कष्ट में पड़े देखकर उसको मित्र विकाल नामक राक्षस उसे छोड़ कर भाग गया उसी प्रकार दुःखी को उसके मित्र छोड़ देते हैं—

यस्त्यक्त्वा सापदं मित्रं याति निष्ठुरतां वहन्।
कृतघ्नस्तेन पापेन नरके यात्यसंशयम्॥ ८१॥
यादृशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर।
विकालेन गृहीतोऽसि यः परैति स जीवति॥ ८२॥

(१२) अन्धक-कुब्जक-त्रिस्तनी-कथा—

इस कथा में अदृष्ट का चित्रण करते हुए बताया गया है कि असत्कार्य करने वाले व्यक्ति को भी किस प्रकार कभी-कभी सफलता मिल जाती है। भाग्य के अनुकूल होने पर कुकर्मी व्यक्ति भी कभी जीवन में सफल हो जाता है, जैसे बुरा कर्म करने पर भी अन्धक, कुब्जक और त्रिस्तनी का जीवन अन्तमें पहले से अधिक सुखी हो गया। यद्यपि इन तीनों ने धर्मपूर्वक उचित कार्य नहीं किया था, फिर भी भाग्य अच्छा होने के कारण उनके बुरे कर्म का परिणाम अच्छा ही निकला—

अन्धकः कुब्जकश्चैव त्रिस्तनी राजकन्यका।
त्रयोऽप्यन्यायतः सिद्धाः सम्मुखे कर्मणि स्थिते॥ ८४॥

(१३) राक्षसगृहीत-ब्राह्मण-कथा—

इस कथा में बार-बार पूछनेवाले व्यक्ति के स्वभाव की प्रशंसा की गयी है, क्योंकि सन्देह उपस्थित होने पर बार-बार पूछ लेने का परिणाम अच्छा ही होता है। अतः जिस प्रकार पूछने के स्वभाव के कारण ब्राह्मण के जीवन की रक्षा हुई, उसी प्रकार पृच्छक स्वभाव वाला व्यक्ति लाभ में रहता है। वस्तुतः अपने कन्धे पर बैठे हुए राक्षस से उसके लटके हुए पैर की कोमलता के विषय में पूछकर उसे राक्षस जानकर भाग जाने के कारण उस ब्राह्मण के प्राण बच सके—

यः सततं परिपृच्छति शृणोति सन्धारयत्यनिशम्।
तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीव विवर्द्धते बुद्धिः॥ ८५॥
पृच्छकेन सदा भाव्यं पुरुषेण विशेषतः।
राक्षसेन गृहीतोऽपि प्रश्नान्मुक्तो द्विजः पुरा॥ ८६॥

(१४) भारुण्डपक्षि-कथा—

इसमें आपस में मेल न रहने के कारण दो मुखों का विनाश प्रदर्शित है। परस्पर विरोध के कारण भारुण्ड पक्षी के दोनों मुख विनष्ट हो गये। अतः एक साथ रहने पर भी मेल के बिना जीवन खतरे में रहता है। साथ ही साथ इस कथा में यह बतलाया गया है कि किसी स्वादिष्ट वस्तु को अकेले नहीं खाना चाहिए, अन्य लोगों के सो जाने पर जागते नहीं रहना चाहिए, विचारणीय वस्तु को अकेले नहीं विचारना चाहिए और अकेले ही विदेश नहीं जाना चाहिए—

एकोदरा पृथग्ग्रीवा अन्योऽन्यफलभक्षिणः।
असंहता विनश्यन्ति भारुण्डा इव पक्षिणः॥ ९२॥

(१५) ब्राह्मण-कर्कटक-कथा—

इस कथा द्वारा यह भाव व्यक्त किया गया है कि एकाकी यात्रा करना हानिप्रद है, क्योंकि केकड़े को साथ ले जाने के कारण ही ब्राह्मण के प्राण बच पाये, अन्यथा उसके प्राणपखेरु उड़ जाते। भले ही क्षुद्र जीव क्यों न हो, पर यात्रा में किसी साथी का रहना अत्यावश्यक है—

अपि कापुरुषो मार्गे द्वितीयः क्षेमकारक;।
कर्कटेन द्वितीयेन जीवितं परिरक्षितम्॥ ९४॥'

इस संस्करण में परीक्षार्थी छात्रों के हितार्थ संस्कृत-हिन्दी व्याख्या के साथ-साथ प्रस्तावना में प्रत्येक कथा का दिग्दर्शन भी करा दिया गया है। आशा है इससे छात्रों को विशेष लाभ होगा और वे प्रकाशक के प्रयास को सफल बनायेंगे।

—श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

कथा-सूची

पञ्चतन्त्रस्य

पञ्चमं तन्त्रम्

अपरीक्षितकारकम्

संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतम्

क्षपणक-कथा

अथेवमारभ्यतेऽपरीक्षितकारकं नाम पञ्चमं तन्त्रम्, तस्याऽयमादिमः श्लोकः—

व्याख्या—अत्राथशब्दो मङ्गलार्थः, प्रकरणारम्भकश्च। आरभ्यते= प्रारभ्यते। अपरीक्षितकारकम्=न परीक्षितम्, अपरीक्षितम्, करोतीति कारकः अपरीक्षितस्य कारकः अपरीक्षितकारकः तमधिकृत्य कृतं तन्त्रमिति अपरीक्षित-कारकम्=अपरीक्षितकारकनामकम्। पञ्चमं=पञ्चसंख्याकम्। तन्त्रं=प्रकरणम्। यस्य=अपरीक्षितकारकस्य। आदिमः=प्रथमः। श्लोकः=पद्यम्। इदमस्ति= कुदृष्टमिति।

हिन्दी—अब यह अपरीक्षितकारकनामक पञ्चम तन्त्र (पाँचवाँ प्रकरण) आरम्भ किया जाता है, जिसका प्रथम श्लोक यह है—

> **कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम्।**
> **तन्नरेण न कर्तव्यं नापितेनाऽत्र यत् कृतम्॥ १॥**

अन्वयः—अत्र नापितेन कुदृष्टं कुश्रुतं कुपरीक्षितं (च) यत् कृतं तत् नरेण न कर्तव्यम्॥ १॥

व्याख्या—अत्र=अस्मिन् प्रकरणे। नापितेन=क्षौरकर्मकारिणा। कुदृष्टं=

न सम्यगवलोकितम् । कुपरिज्ञातम्=यथावन्न ज्ञातम् । कुश्रुतं=असम्यगाकर्णितम् । कुपरीक्षितं=न यथावद् विचारितम् । यत्=यादृशं कर्म । कृतं=विहितम् । तत्=तादृशं कर्म । नरेण=अन्येन पुंसा । न कर्तव्यं=नहि अनुष्ठेयम्, किन्तु सम्यग्दर्शनालोचनादिपुरःसरमेव कार्यं करणीयमिति भावः ।

हिन्दी—इस प्रकरण में नाई ने बिना ठीक-ठीक देखे, बिना ठीक जाने-बिना ठीक सुने, बिना ठीक परीक्षा किये जो कार्य किया था, वह दूसरे मनुष्य के द्वारा नहीं किया जाना चाहिये ॥ १ ॥

तद्यथाऽनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे पाटलिपुत्रं नाम नगरम् । तत्र मणिभद्रो नाम श्रेष्ठी प्रतिवसति स्म । तस्य च धर्मार्थकाममोक्षकर्माणि कुर्वतो विधिवशाद्धनक्षयः सञ्जातः । ततो विभवक्षयादपमानपरम्परया परं विषादं गतः । अथाऽन्यदा रात्रौ सुप्तश्चिन्तितवान्—अहो धिगियं दरिद्रता । उक्तं च—

व्याख्या—तत्=नापितवृत्तान्तम् । अनुश्रूयते=कर्णाकर्णिकयाऽऽकर्ण्यते । दाक्षिणात्ये=दक्षिणदिशि वर्तमाने । जनपदे=देशे । पाटलिपुत्रं नाम=पाटलिपुत्रनामकम् । तत्र=पाटलिपुत्रे । श्रेष्ठी=श्रीमान् वणिक् । प्रतिवसति स्म=निवसति स्म । तस्य=मणिभद्रस्य । धर्मार्थकाममोक्षकर्माणि=धर्मादिचतुर्वर्गकार्याणि । कुर्वतः=कुर्वाणस्य । विधिवशात्=दुर्दैवात् । धनक्षयः=वित्तनाशः । सञ्जातः=अभवत् । ततः=तदनन्तरम् । विभवक्षयात्=धननाशात् । अपमानपरम्परया=भूयो भूयो निरादरेण । परं=अत्यन्तम् । विषादं=दुःखम् । गतः=प्राप्तः । अथ=अनन्तरम् । अन्यदा=अन्यस्मिन् दिने । सुप्तः=शयानः । चिन्तितवान्=विचारितवान् । अहो इति खेदे । धिक् माम् । इयं=ईदृशी । दरिद्रता=निर्धनता । (सञ्जाता) उक्तं च=कथितं च केनापि—

हिन्दी—वह कथानक इस प्रकार है, जैसा कि सुना जाता है—दक्षिण देश में पाटलिपुत्र नामक एक नगर था । वहाँ मणिभद्र नाम का एक सेठ रहता था । धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के निमित्त विहित कर्मों को करते हुए दुर्भाग्यवश उसके धन का नाश हो गया । निर्धनता के कारण होनेवाले प्रतिदिन के अपमान से वह अत्यन्त खिन्न रहता था, रात में सोते समय उसने सोचा—ओह ! निर्धनता को धिक्कार है । किसी ने कहा है—

शीलं शौचं क्षान्तिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म ।
न विराजन्ति हि सर्वे वित्तविहीनस्य पुरुषस्य ॥ २ ॥

अन्वयः—शीलं, शौचं, क्षान्तिः, दाक्षिण्यं मधुरता, कुले जन्म च (एते) सर्वे हि वित्तविहीनस्य पुरुषस्य न विराजन्ति ॥ २ ॥

व्याख्या—शीलं=स्वभावः सदाचारो वा शौचं=पवित्रता । क्षान्तिः=क्षमा । दाक्षिण्यं=उदारता, शिष्टता । मधुरता=मधुरभाषित्वम् । कुले जन्म =सत्कुले जन्म । एते सर्वे=पूर्वोक्ता गुणाः । हि=निश्चयेन । वित्तविहीनस्य= धनहीनस्य, निर्धनस्य । पुरुषस्य=पुंसः । न विराजन्ति=न शोभन्ते । शीलादिभि-र्गुणैर्दरिद्रस्य शोभा न भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

हिन्दी—शील शुचिता, क्षमा, उदारता, मधुरभाषिता, उत्तम कुल में जन्म, ये सभी गुण निर्धन पुरुष की शोभा नहीं देते । अर्थात् निर्धन मनुष्य में इनकी कोई मान्यता नहीं ॥ २ ॥

मानो वा दर्पो वा विज्ञानं विभ्रमः सुबुद्धिर्वा ।
सर्वं प्रणश्यति समं, वित्तविहीनो यदा पुरुषः ॥ ३ ॥

अन्वयः—मानः वा, दर्पः वा, विज्ञानं, विभ्रमः, सुबुद्धिर्वा यदा पुरुष वित्तहीनः (भवति, तदा) सर्वं समं प्रणश्यति ॥ ३ ॥

व्याख्या—मानः=सम्मानः । दर्पः=अहङ्कारोऽभिमानो । विज्ञानं=विशेष-ज्ञानं, शिल्पज्ञानम् । विभ्रमः=विलासचेष्टा, सुबुद्धि=सद्बुद्धिर्वा । वित्तविहीनः= निर्धनः । यदा भवति तदा सर्वं=निखिलं शीलादिकम् । समं=धनेन साकमेव । प्रणश्यति=विनष्टं भवति । दारिद्र्यात् मानादयो नश्यन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

हिन्दी—सम्मान, गर्व, विशिष्ट कलाओं का ज्ञान, आनन्द, विलास, विचारशीलता एवं सुबुद्धि ये सभी गुण निर्धन पुरुष के धन के साथ ही चले जाते हैं । अर्थात् निर्धन के सब कुछ एक साथ नष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥

प्रतिदिवसं याति लयं वसन्तवाताहतेव शिशिरश्रीः ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामपि कुटुम्बभरचिन्तया सततम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—बुद्धिमताम् अपि बुद्धिः सततं कुटुम्बभरचिन्तया वसन्तवाताहता शिशिरश्रीः इव प्रतिदिवसं लयं याति ॥ ४ ॥

व्याख्या—बुद्धिमतां=मतिमताम् । बुद्धिः=प्रज्ञा । अपि सततं=निरन्तरम् । कुटुम्बभरचिन्तया—कुटुम्बस्य=परिवारस्य, भरः=पालनपोषणं, तस्य चिन्ता चिन्तनमिति कुटुम्बभरचिन्ता तया कुटुम्बभरचिन्तया । वसन्तवाताहता—वसन्तस्य वातः वसन्तवातः=वसन्तकालीनवातः तेनाहता=प्रताडिता इति वसन्तवाताहता । शिशिरश्रीः—शिशिरस्य श्रीः शिशिरश्रीः=शिशिरर्तुसुषमेव । विनाशं=क्षयं । याति=गच्छति । बुद्धिमन्तोऽपि नराः प्रतिदिनं सर्वदा कुटुम्बभरणपोषणचिन्तया क्षीणबुद्धयो भवन्तीत्यर्थः ।। ४ ।।

हिन्दी—बुद्धिमानों की भी बुद्धि हमेशा परिवार पालन की चिन्ता से उसी प्रकार क्षीण हो जाती है जैसे निरन्तर वसन्तकालीन वायु से शिशिर ऋतु की शोभा प्रतिदिन क्षीण होती जाती है । अर्थात् कौटुम्बिक चिन्ताओं में उलझा हुआ बुद्धिमान् मनुष्य अपनी बुद्धि का उपयोग किसी महत्त्वपूर्ण कार्य में नहीं कर पाता ।। ४ ।।

नश्यति विपुलमतेरपि बुद्धिः पुरुषस्य मन्दविभवस्य ।
घृत-लवण-तैल-तण्डुल-वस्त्रेन्धनचिन्तया सततम् ।। ५ ।।

अन्वयः—विपुलमतेः मन्दविभवस्य पुरुषस्य बुद्धिः सततं घृत-लवण-तैल-तण्डुल-वस्त्र-इन्धनचिन्तया नश्यति ।। ५ ।।

व्याख्या—विपुला मतिर्यस्य स विपुलमतिः तस्य विपुलमतेः=निर्मलमतेः । मन्दविभवस्य=स्वल्पधनस्य । पुरुषस्य=जनस्य । बुद्धिः=मतिः । सततं=निरन्तरम् । घृतं च लवणं च तैलं च तण्डुलं च वस्त्रं च इन्धनं चेति घृत-लवण-तैल-तण्डुल-वस्त्रेन्धनानि तेषां चिन्ता घृत-लवण-तैल-तण्डुल-वस्त्रेन्धनचिन्ता तया घृत-लवण-तैल-तण्डुलवस्त्रेन्धनचिन्तया = कुटुम्बभरणपोषणोपकरणविचारेण । नश्यति=विनश्यति । सुबुद्धिरपि निर्धनो नरः नित्यं घृतलवणादिचिन्तनाद् बुद्धिविहीनो भवतीति भावः ।। ५ ।।

हिन्दी—विशाल बुद्धिवाले धनहीन पुरुष की भी बुद्धि निरन्तर परिवार के भरण-पोषण के साधन घी, नमक, तेल, चावल, वस्त्र और लकड़ी की चिन्ता से नष्ट हो जाती है ।। ५ ।।

गगनमिव नष्टतारकं शुष्कमिव सरः, श्मशानमिव रौद्रम् ।
प्रियदर्शनमपि रूक्षं, भवति गृहं धनविहीनस्य ।। ६ ।।

अन्वयः—प्रियदर्शनम् अपि धनविहीनस्य गृहं नष्टतारकं गगनम् इव शुष्कं सर इव रौद्रं श्मशानम् इव रूक्षं भवति ॥ ६ ॥

व्याख्या—प्रियं दर्शनं यस्य तत् प्रियदर्शनमपि=चारुदर्शनमपि । धनेन विहीनः धनविहीनः तस्य धनविहीनस्य=निर्धनस्य । गृहं=गेहम् । नष्टाः तारा यस्मिंस्तत् नष्टतारं=लुप्तनक्षत्रम् । गगनमिव=आकाशमण्डलमिव । शुष्कं=जलहीनम् । सरः=जलाशय इव, रौद्रं=भयङ्करम् । श्मशानमिव=प्रेतभूमिरिव । रूक्षं=श्रीविहीहम्, अशोभनम् । भवति=जायते । दर्शनीयमपि दरिद्रस्य गृहं न शोभते इति तात्पर्यम् ॥ ६ ॥

हिन्दी—सम्पत्तिहीन व्यक्ति का अत्यन्त सुन्दर घर भी धन के अभाव में तारारहित आकाश-मण्डल की तरह शून्य, सूखे हुए तालाब के समान रूक्ष और भयानक मरघट के समान उदास लगता है ॥ ६ ॥

न विभाव्यन्ते लघवो वित्तविहीनाः पुरोऽपि निवसन्तः ।
सततं जातविनष्टाः पयसामिव बुद्बुदाः पयसि ॥ ७ ॥

अन्वयः—वित्तविहीनाः लघवः पुरः निवसन्तोऽपि पयसि सततं जातविनष्टा पयसां बुद्बुदाः इव न विभाव्यन्ते ॥ ७ ॥

व्याख्या—वित्तेन विहीनाः वित्तविहीनाः=धनहीनाः । लघवः=नगण्या नराः । पुरः=अग्रे । निवसन्तोऽपि=वर्तमाना अपि । सततं=निरन्तरम् । पयसि=जले । जातविनष्टाः=उत्पत्तिमात्रेण नष्टाः । पयसां=जलानाम् । बुद्बुदाः=जलस्फोटाः । इव=यथा । न विभाव्यते=न लक्ष्यन्ते । पुरो वर्तमानं समीपस्थं वा दरिद्रं नरं दृष्टिपातेनापि संसारे न कोऽपि पश्यतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

हिन्दी—धनहीन व्यक्ति तुच्छ हो जाता है । सामने रहने पर भी निरन्तर उत्पन्न एवं विनष्ट होनेवाले पानी के बुलबुले के समान सामने नहीं दिखाई पड़ता । अर्थात् निर्धन व्यक्ति को देखते हुए भी लोग उसकी उपेक्षा कर देते हैं ॥ ७ ॥

सुकुलं कुशलं, सुजनं विहाय, कुलकुशलशीलविकलेऽपि ।
आढ्ये कल्पतराविव नित्यं रज्यन्ति जननिवहाः ॥ ८ ॥

अन्वयः—जननिवहाः सुकुलं कुशलं सुजनं विहाय कुलकुशलशीलविकले अपि आढ्ये कल्पतरौ इव नित्यं रज्यन्ति ॥ ८ ॥

व्याख्या—जनानां निवहा जननिवहाः=जनसंघाः। सुकुलं=श्रेष्ठवंशजम्। कुशलं=प्रवीणम्। सुजनं=सज्जनं निर्धनम्। विहाय=परित्यज्य। कुलं=विशुद्धो वंशः, कुशलं=कौशलम्, शीलं=सद्वृत्तम् कुलं च कुशलं च शीलं च कुलकुशलशीलानि तैः विकलः कुल-कुशल-शीलविकलः तस्मिन् कुलकुशलशील-विकले=कुलीनतादिगुणरहिते अपि। आढये=धनसम्पन्ने जने। कल्पतरौ=सकलमनोरथपूरके=कल्पवृक्षे इव। नित्यं=निरन्तरम्। रज्यन्ति=अनुरक्ता भवन्ति। जनसमूहो लोके सत्कुलीनतादिकमनपेक्ष्य निर्गुणमपि धनिकं समा-द्रियते इत्यर्थः ॥ ८ ॥

हिन्दी—लोग कुलीन, कुशल और उत्तम व्यक्ति को छोड़कर कुलीनता, चतुरता तथा शील से हीन भी धनी पुरुषों में कल्पवृक्ष की भाँति अनुराग करते हैं अर्थात् लोगों की दृष्टि में गुणवान् की अपेक्षा धनवान् का ही अधिक महत्त्व होता है ॥ ८ ॥

विफलमिह पूर्वसुकृतं विद्यावन्तोऽपि कुलसमुद्भूताः।
यस्य यदा विभवः स्यात्तस्य तदा दासतां यान्ति ॥ ९ ॥

अन्वय—इह पूर्वसुकृतं विफलं कुलसमुद्भूता अपि विद्यावन्तः यदा यस्य विभवः स्यात् तदा तस्य दासतां यान्ति ॥ ९ ॥

व्याख्या—इह=अस्मिन् संसारे। पूर्वं च तत् सुकृतं पूर्वसुकृतं=पूर्वो-पार्जितं सत्कर्म। विगतं फलं यस्मिन् तत् विफलं=व्यर्थं भवति। यतो हि कुले सत्कुले समुद्भूताः=इति कुलसमुद्भूताः सत्कुलोत्पन्ना अपि। विद्यावन्तः=विद्वांसः पुरुषाः। यदा=यस्मिन् काले। यस्य=पुरुषस्य। विभवः=धनं स्यात्। तदा=तस्मिन् काले। तस्य=पुरुषस्य। दासतां=आज्ञाकारिताम्। यान्ति=गच्छन्ति, स्वीकुर्वन्ति। विश्वस्मिन् जगति पूर्वोपार्जितं सर्वं सत्कर्मादिकं धनिनां समक्षं व्यर्थं भवति, यतो हि तत् स्वं विस्मृत्य कुलजा अपि विद्वांसः धनिनां दासा भवन्तीति भावः ॥ ९ ॥

हिन्दी—इस संसार में पूर्वोपार्जित पुण्य भी व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि विद्वान् तथा सत्कुल में उत्पन्न व्यक्तियों को भी अकुलीन तथा मूर्ख धनी व्यक्ति की दासता स्वीकार करनी पड़ती है। अर्थात् अकुलीन धनी व्यक्ति के सामने सत्कुलोत्पन्न विद्वान् भी चापलूसी करते दिखाई पड़ते हैं ॥ ९ ॥

लघुरयमाह न लोकः कामं गर्जन्तमपि पतिं पयसाम् ।
सर्वमलज्जाकरमिह, यद् यत् कुर्वन्ति परिपूर्णाः ॥ १० ॥

अन्वय—लोकः कामं गर्जन्तमपि पयसां पतिम् अयं लघुः न आह । इह परिपूर्णाः यत् यत् कुर्वन्ति (तत्) सर्वम् अलज्जाकरं (भवति) ॥१० ॥

व्याख्या—लोकः=जनः । कामं=यथेच्छम् । गर्जन्तमपि=उच्चैर्नादं कुर्वन्तमपि । पयसां=जलानाम् । पतिं=स्वामिनं समुद्रम् । अयं लघुः=अयं क्षुद्र इति न आह=नहि कथयति । यतो हि इह=संसारे । परिपूर्णाः=श्रीमन्तः । यत् यत् कार्यं कुर्वन्ति=यद् यदाचरन्ति । तत्तत् सर्वं=सकलम् । अलज्जाकरम् = अलज्जावहम् । भवति=जायते । यथा हि जनो व्यर्थं प्रलपन्तं समुद्रं न किञ्चिद् ब्रूते यतो हि स महानस्ति तथैव धनिनां किञ्चिदप्याचरणं न लज्जोत्पादकं जायते अपितु तत्कृतं सर्वं प्रशंसास्पदमेव भवति ॥ १० ॥

हिन्दी—व्यर्थं गरजते हुए समुद्र को 'यह नीच है' ऐसा कोई नहीं कहता, क्योंकि बड़े लोग जो कुछ कार्य करते हैं, वह लज्जाकर नहीं कहा जाता ।

भर्थात्—सम्पन्न व्यक्ति अनुचित कार्य करने पर भी निन्दनीय नहीं होता न वह अनुचित कार्य करते हुए लज्जित ही होता है, किन्तु निर्धन व्यक्ति अच्छा कार्य करने पर भी प्रशंसा का पात्र नहीं होता ॥ १० ॥

एवं सम्प्रधार्य भूयोऽप्यचिन्तयत्—तदहमनशनं कृत्वा प्राणानुत्सृजामि । किमनेन नो व्यर्थजीवितव्यसनेन ? एवं निश्चयं कृत्वा सुप्तः । अथ तस्य स्वप्ने पद्मनिधिः क्षपणकरूपो दर्शनं दत्त्वा प्रोवाच—भोः श्रेष्ठिन् ! मा त्वं वैराग्यम् गच्छ । अहं पद्मनिधिस्तव पूर्वपुरुषोपार्जितः । तदनेनैव रूपेण प्रातस्त्वद्गृहमागमिष्यामि । तत्त्वयाऽहं लगुडप्रहारेण शिरसि ताडनीयः, येन कनकमयो भूत्वाऽक्षयो भवामि ।

व्याख्या—एवं=पूर्वोक्तप्रकारेण । सम्प्रधार्य=विचार्य । भूयोऽपि=पुनरपि । अचिन्तयत्=चिन्तयामास । न अशनम् अनशनं=भोजनत्यागम् । कृत्वा=विहाय । प्राणान्=जीवनम् । उत्सृजामि=परित्यजामि । अनेन=धनरहितेन । व्यर्थ-जीवितव्यसनेन=निरर्थकजीवनयापनेन । एवं=इत्थम् । निश्चयं कृत्वा= निर्णयं विधाय । सुप्तः=शयनं कृतवान् । अथ=अनन्तरम् । पद्मनिधिः=पद्म-नामको निधिः । निधयो हि नवसंख्यका विभिन्ननामानो भवन्ति । तथाहि—

महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकर कच्छपौ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव॥

क्षपणकरूपो=जैनभिक्षुरूपी बौद्धभिक्षुरूपी वा। दर्शनं दत्त्वा=प्रत्यक्षीभूय। प्रोवाच=उक्तवान्। तव=भवतः। पूर्वपुरुषोपार्जितः=पूर्ववंशजैः सञ्चितः। अनेनैव रूपेण=क्षपणकरूपेण एव। लगुडप्रहारेण=दण्डघातेन। ताडनीयः=हन्तव्यः। येन=ताडनेन। कनकमयः=सुवर्णमयः। अक्षयः=अनश्वरः, चिरस्थायी वा। भवामि=भविष्यामि।

हिन्दी—इस प्रकार विचार कर उसने पुनः सोचा—मैं अनशन कर प्राण त्याग कर दूँगा। इस निर्धनता में जीने की व्यर्थ दुराशा करने से क्या लाभ है? ऐसा निश्चय कर वह सो गया। पद्मनिधि ने उसके सो जाने पर स्वप्न में जैनभिक्षु के रूप में दर्शन देकर कहा—ओ सेठ जी! तुम विरक्त न होओ, मैं तुम्हारे पूर्वजों द्वारा कमाया हुआ पद्मनिधि नामक कोष हूँ। कल मैं प्रातः-काल इसी रूप में तुम्हारे घर आऊँगा। तुम मेरे शिर पर लाठी से प्रहार करना, जिससे मैं सुवर्णमय होकर तुम्हारे निमित्त कभी कम न होने वाला धन हो जाऊँगा।

अथ प्रातः प्रबुद्धः सन् स्वप्नं स्मरंश्चिन्ताचक्रमारूढस्तिष्ठति–अहो, सत्योऽयं स्वप्नः किं वा असत्यो भविष्यति, न ज्ञायते। अथवा नूनं मिथ्याऽनेन भाव्यम्। यतोऽहमहर्निशं केवलं वित्तमेव चिन्तयामि। उक्तं च—

व्याख्या—अथ=स्वप्नदर्शनानन्तरम्। प्रातः प्रबुद्धः=प्रभातकाले जागृतः। सन् स्वप्नं स्मरन्=स्वप्नं ध्यायन्। चिन्ताचक्रमारूढः=विचारपरम्परामग्नः। सत्यः=वास्तविकः। असत्यः=मिथ्या। नूनं=निश्चयम्। मिथ्याऽनेन भाव्यम्=असत्येन नूनं भवितव्यम्। यतः=यस्मात् कारणात्। अहर्निशम्=अहोरात्रम्। वित्तमेव=धनमेव। चिन्तयामि=अनुशोचामि। उक्तं च=कथितं च।

हिन्दी—बाद प्रातःकाल नींद खुलने पर स्वप्न के विषय में वह तर्क-वितर्क करने लगा कि क्या यह स्वप्न सत्य होगा या असत्य भी हो सकता है? कुछ भी कहना कठिन है। अथवा असत्य ही होगा, क्योंकि मैं रात दिन केवल धन के विषय में ही सोचता हूँ। कहा भी गया है कि—

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना ।
कामार्तेनाऽथ मत्तेन दृष्टः स्वप्नो निरर्थकः ॥ ११ ॥

अन्वयः—व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन कामार्तेन अथ मत्तेन जन्तुना दृष्टः स्वप्नः निरर्थकः (भवति) ॥ ११ ॥

व्याख्या—व्याधितेन=रुग्णेन । सशोकेन=शोकाकुलेन । चिन्ताग्रस्तेन=चिन्तामग्नेन । कामार्तेन=विषयासक्तेन । अथ=यद्वा । मत्तेन=उन्मत्तेन । जन्तुना=जीवेन । दृष्टः=अवलोकितः । स्वप्नः निरर्थकः=निष्फलः भवति, जायते । रुग्णादिभिर्दृष्टः स्वप्नो न किमपि फलं प्रसूत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

हिन्दी—रोगी, दुःखी, चिन्तित, कामासक्त और विक्षिप्त मनुष्य के द्वारा देखा गया स्वप्न निष्फल हो जाता है ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तस्य भार्यया कश्चिन्नापितः पादप्रक्षालनायाहूतः अत्रान्तरे च यथानिर्दिष्टः क्षपणकः सहसा प्रादुर्बभूव । अथ स तमालोक्य प्रहृष्टमना यथासन्नकाष्ठदण्डेन तं शिरस्यताडयत् । सोऽपि सुवर्णमयो भूत्वा तत्क्षणात् भूमौ निपतितः । अथ तं स श्रेष्ठी निभृतं स्वगृहमध्ये कृत्वा नापितं सन्तोष्य प्रोवाच—तवैतद्धनं वस्त्राणि च मया दत्तानि गृहाण । भद्र ! पुनः कस्यचिन्नाख्येयोऽयं वृत्तान्तः ।

व्याख्या—एतस्मिन्नन्तरे=अस्मिन्नेव समये । तस्य=श्रेष्ठिनः । भार्यया=पत्न्या । पादप्रक्षालनाय=पादप्रक्षालन-नखकर्तन-रञ्जनादि-कार्याय । कश्चिन्नापितः=एको नापितः । आहूतः=समाहूतः । अत्रान्तरे=अस्मिन्नेवासरे । यथानिर्दिष्टः=स्वप्ने यथानिर्दिष्टः । सहसा=अकस्मात् । प्रादुर्बभूव=समागतः । सः=श्रेष्ठी । तं=क्षपणकरूपं पद्मनिधिम् । आलोक्य=दृष्ट्वा । प्रहृष्टमनाः=प्रसन्नः सन् यथासन्नकाष्ठदण्डेन=समीपस्थदारुखण्डेन । अताडयत्=प्रहारमकरोत् । सोऽपि=क्षपणकोऽपि । तत्क्षणात्=तस्मिन्नेव काले । सद्यः=तत्काले एव । भूमौ निपतितः=पृथिव्यां पपात । अथ=अनन्तरम् । तं=मृतं सुवर्णमयं क्षपणकम् । स श्रेष्ठी=मणिभद्रः । निभृतं=निगूढम् । स्वगृहमध्ये कृत्वा=निजसद्मनि संस्थाप्य । नापितं सन्तोष्य=धनादिना पुरस्कृत्य । प्रोवाच=कथितवान् । गृहाण=स्वीकुरुष्व । कस्यचित् न आख्येयः=कस्मै अपि न वक्तव्यः । अयं वृत्तान्तः=एष समाचारः ।

हिन्दी—इसी समय उसकी स्त्री ने पैर धोने, नख काटने तथा पैर रंगने के लिए एक नाई को बुलाया। ठीक उसी समय स्वप्न में देखा हुआ जैनभिक्षु एकाएक प्रकट हो गया। उसे देख अत्यन्त प्रसन्न हो सेठजी ने पास पड़े हुए लकड़ी के डण्डे से उसके सिर पर प्रहार कर ही दिया। वह भी तत्काल सुवर्णमय बनकर जमीन पर गिर गया। तब सेठ ने उसे अपने घर में छिपाकर नाई को द्रव्य से सन्तुष्ट कर कहा—मेरे द्वारा दिये गये, ये धन-वस्त्र लो, यह समाचार किसी से भी न बताना।

नापितोऽपि स्वगृहं गत्वा व्यचिन्तयत्—नूनमेते सर्वेऽपि नग्नकाः शिरसि ताडिताः काञ्चनमया भवन्ति। तदहमपि प्रातः प्रभूतानाहूय लगुडैः शिरसि हन्मि, येन प्रभूतं हाटकं मे भवति। एवं चिन्तयतो महता कष्टेन निशा व्यतिचक्राम।

अथ प्रभातेऽभ्युत्थाय बृहल्लगुडमेकं प्रगुणीकृत्य, क्षपणकविहारं गत्वा जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रयं विधाय, जानुभ्यामवनिं गत्वा वक्त्रद्वारन्यस्तोत्तरीयाञ्चलस्तारस्वरेणेमं श्लोकमपठत्—

व्याख्या—स्वगृहं गत्वा=निजगेहमुपसृत्य। व्यचिन्तयत्=विचारितवान्। नूनं=निश्चयेन। नग्नकाः=क्षपणकाः। शिरसि प्रताडिताः=मस्तके प्रहारिताः। काञ्चनमयाः=सुवर्णमयाः। भवन्ति=जायन्ते। प्रभूतान्=प्रचुरान्, अधिकसंख्याकान्। आहूय=समाहूय। लगुडैः शिरसि हन्मि=काष्ठखण्डैः मस्तके प्रहरिष्यामि। येन=प्रहारेण। प्रभूतम्=प्रचुरम्। हाटकं=सुवर्णम्। एवं चिन्तयतः =इत्थं विचारयतः तस्य। महता कष्टेन=अतिकष्टेन, कथञ्चित्। निशा= रात्रिः। व्यतिचक्राम=व्यतीयाय। अथ=तदनन्तरम्। प्रभाते=प्रातःकाले। उत्थाय=शयनादुत्थाय। बृहल्लगुडमेकं=अतिदीर्घमेकं दण्डम्। प्रगुणीकृत्य= सज्जीकृत्य। क्षपणकविहारं=जैनभिक्षुक-निवासभूतं मठम्। गत्वा=समुपस्थाय। जिनेन्द्रस्य=भगवतो जिनस्य। प्रदक्षिणत्रयं=वारत्रयं प्रदक्षिणाम्। कृत्वा=विधाय। जानुभ्यामवनिं गत्वा=जानुभ्यां भूमिं संस्पृश्य। वक्त्रद्वारन्यस्तोत्तरीयाञ्चलः=उत्तरीयवस्त्रेण पिहितमुखः। तारस्वरेण=उच्चस्वरेण। इमं श्लोकम् अपठत्=पद्यमिममुच्चारयत्।

हिन्दी—इसके बाद नाई ने अपने घर जाकर सोचा—अवश्य ही, ये सभी जैन भिक्षु सिर पर प्रहार करने से सोने के हो जाते हैं। तो मैं भी सुबह अपने यहाँ अनेकों को बुलाकर दण्डों से शिर पर चोट करूँगा। जिससे मेरे पास भी अधिक धन हो जायेगा। इस प्रकार चिन्ता करते हुए उसने बड़ी कठिनाई से रात बितायी। पुनः सुबह उठकर एक बड़ी लाठी तैयार की और जैन भिक्षुओं के मठ में जाकर झुककर दुपट्टे के छोर को मुख पर रखते हुए ऊँचे स्वर से यह श्लोक पढ़ा—

जयन्ति ते जिना येषां केवलज्ञानशालिनाम्।
आजन्मः स्मरोत्पत्तौ मानसेनोषरायितम्॥ १२॥

अन्वयः—केवलज्ञानशालिनां येषां आजन्मः स्मरोत्पत्तौ मानसेन उषरायितम्, ते जिनाः जयन्ति॥ १२॥

व्याख्या—केवलज्ञानशालिनाम्=ज्ञानपरायणानाम्। येषां=जैनक्षपणकानाम्। आजन्मनः=जन्मत आरभ्य। स्मरोत्पत्तौ—स्मरस्योत्पत्तिरिति स्मरोत्पत्तिः तस्यां स्मरोत्पत्तौ=कामोत्पत्तौ। मानसेन=चित्तेन। उषरायितं=उषरमिवाचरितम्। ते=प्रसिद्धाः कामहीनाः। जिनाः=जैनसाधवः। जयन्ति=सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। क्षारभूमौ उप्तं बीजमिव जिनानां मनसि कामो नोत्पद्यते इति भावः॥ १२॥

हिन्दी—एकमात्र ज्ञानी, जिनके मन में कामविकार नहीं होता एवं जिन्होंने जन्म से ही कामोत्पत्ति के विषय में अपने मन को ऊसर भूमि के समान बना दिया, उन ज्ञानपरायण जिनों की जय हो॥ १२॥

अन्यच्च—

सा जिह्वा या जिनं स्तौति तच्चित्तं यज्जिने रतम्।
तौ एव तु करौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ करौ॥ १३॥

अन्वयः—सा जिह्वा या जिनं स्तौति, तत् चित्तं यत् जिने रतम्, तौ एव करौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ॥ १३॥

व्याख्या—सा जिह्वा=सैव रसना प्रशंसार्हा। या जिनं=जिनाचार्यम्। स्तौति=प्रार्थयति। तत् चित्तं=तदेव मनः। यत् जिने रतम्=जिनेऽनुरक्तम्,

भवति। तौ एव करौ=हस्तौ। श्लाघ्यौ=प्रशंसनीयौ। यौ तत्पूजाकरौ=जिनपूजकौ स्तः। जिनस्तुत्यादिभिरेव रसनादीनां सार्थक्यमिति भावः॥ १३॥

हिन्दी—और भी, मनुष्य की वही जीभ जीभ है, जो भगवान् जिन की स्तुति करती है। वही मन वास्तविक रूप से मन है, जो जैनभिक्षुओं में लीन रहता है और वे ही हाथ प्रशंसनीय हैं, जो इन जिनों की पूजा करते हैं॥१३॥

तथा च—

ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुः क्षणं
पश्यानङ्गशरातुरं जनमिमं त्राताऽपि नो रक्षसि।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः कुतोऽन्यः पुमान्
सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बौद्धो जिनः पातु वः॥ १४॥

अन्वयः—ध्यानव्याजम् उपेत्य कां चिन्तयसि, क्षणं चक्षुः उन्मील्य अनङ्गशरातुरम् इमं जनं पश्य, त्राता अपि नो रक्षसि, मिथ्याकारुणिकः असि, त्वत्तः निर्घृणतरः अन्यः पुमान् कुतः मारवधूभिः, सेर्ष्यम् इति अभिहितः बौद्धः जिनः वः पातु॥ १४॥

व्याख्या—ध्यानस्य व्याजं ध्यानव्याजं तत् ध्यानव्याजं=कपटसमाधिम्। उपेत्य=विधाय। कां=प्रेयसीम्। चिन्तयसि=ध्यायसि। क्षणं=क्षणमात्रं। चक्षुः=लोचनम्। उन्मील्य=उद्घाट्य। अनङ्गस्य शरा अनङ्गशराः तैः आतुरः अनङ्गशरातुरः तमनङ्गशरातुरं=कामबाणप्रपीडितम्। इमं जनं=पुरोवर्तिनम् जनं मां पश्य=विलोकय। त्राताऽपि=रक्षकोऽपि। नो रक्षसि=रक्षां न करोषि। मिथ्या=असत्यमेव। कारुणिकः=दयालुरसि। त्वत्तः=युष्मत्। निर्घृणतरः=निर्दयः। अन्यः पुमान्=इतरो मनुष्यः। कुतः=कोऽस्ति। इति=इत्थम्। मारवधूभिः=मदनपत्नीरतिसुन्दरीभिः अप्सरोभिः। सेर्ष्यं=ईर्ष्यया सहितम्। अभिहितः=निगदितः। बौद्धः=सावधानो। जिनः=जिनाचार्यः, बौद्ध-भिक्षुः भगवान् बुद्धो वा। वः=युष्मान्। पातु=रक्षतु। समाधिं विहाय कामवधूरतिसमसुन्दर्यः कामाकुला वयं दृष्टिपातादिना नूनं सभाजनीया इति भावः॥ १४॥

हिन्दी—और भी—ध्यान का बहाना बनाकर आप किस सुन्दरी का ध्यान कर रहे हो, थोड़ी देर के लिए आँखों को तो खोलो और काम के बाणों से व्यथित

इस जन–हमारी ओर तो देखो, आश्चर्य है, आप रक्षक होकर भी रक्षा नहीं कर रहे हो, आप झूठ मूठ से दयालु बने हो। आप से बढ़कर निर्दयी कोई दूसरा नहीं है। इस प्रकार ईर्ष्यायुक्त होकर काम की पत्नी रति के समान सुन्दरी अप्सराओं के द्वारा आक्षिप्त जितेन्द्रिय भगवान् जिन आप लोगों की रक्षा करें।

एवं संस्तूय, ततः प्रधानक्षपकणमासाद्य क्षितिनिहितजानुचरणः 'नमोऽस्तु, वन्दे' इत्युच्चार्य, लब्धधर्मवृद्धयाशीर्वादः सुखमालिकाऽनुग्रहलब्धव्रतादेश उत्तरीयनिबद्धग्रन्थिः सप्रश्रयमिदमाह—भगवन् ! अद्य विहरणक्रिया समस्तमुनिसमेतेनास्मद्गृहे कर्त्तव्या।

व्याख्या—एवं=इत्थम्। संस्तुत्य=स्तुतिं कृत्वा। प्रधानक्षपणकं=प्रमुखभिक्षुम्, मठाधीशम्। आसाद्य=प्राप्य। क्षितौ निहितौ जानुचरणौ येन स क्षितिनिहितजानुचरणः=भूमिगतजानुपादप्रदेशः। धर्मस्य वृद्धिः धर्मवृद्धिः धर्मवृद्धेराशीर्वादः धर्मवृद्ध्याशीर्वादोः, लब्धः धर्मवृद्धयाशीर्वादो येन स लब्धधर्मवृद्धयाशीर्वादः=धर्मवृद्धेराशीर्वादमवाप्य। सुखार्थं धारिता मालिका सुखमालिका तस्या अनुग्रहः तेन लब्धः व्रतस्य आदेशो येन स सुखमालिकानुग्रहलब्धव्रतादेशः=अनुग्रहपुष्पमालिकया प्राप्तव्रतादेशः। उत्तरीयेण निबद्धा ग्रन्थिः येन स उत्तरीयनिबद्धग्रन्थिः=दुकूलाबद्धग्रन्थिः। सप्रश्रयं=सानुनयम्। विहरणक्रिया=अशनक्रिया, भिक्षाटनं वा। समस्तमुनिसमेतेन=सकलभिक्षुसहितेन। अस्मद्गृहे=मम गेहे। कर्तव्या=कृपया विधेया।

हिन्दी—इस प्रकार प्रशंसा करके वह नाई प्रमुख भिक्षु के पास गया और पृथ्वी पर घुटना टेककर बैठ गया और विनीत भाव से उनसे यह कहा—आपको नमस्कार है, मैं आपकी वन्दना करता हूँ। मुख्य भिक्षु ने धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया और अपने गले की माला निकालकर उसको प्रदान कर व्रत एवं उपवास आदि की शिक्षा दी। आशीर्वाद पाने के पश्चात् उसने अपने दुपट्टे को गले में लपेटते हुए बड़ी नम्रता से निवेदन किया—भगवन् ! सभी भिक्षुओं के साथ आज का भोजन मेरे घर पर होवे।

स आह—भोः श्रावक ! धर्मज्ञोऽपि किमेवं वदसि, किं वयं ब्राह्मणसमानाः,

यत आमन्त्रणं करोषि ? वयं सदैव तत्कालपरिचर्यया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकमवलोक्य तस्य गृहे गच्छामः। तेन कृच्छ्रादभ्यर्थितास्तद्गृहे प्राणधारणमात्रामशनक्रियां कुर्मः। तद्गम्यताम्, नैवं भूयोऽपि वाच्यम्।

तच्छ्रुत्वा नापित आह—भगवन्! वेद्म्यहं युष्मद्धर्मम्। परं भवतो बहुश्रावका आह्वयन्ति। साम्प्रतं पुनः पुस्तकाच्छादनयोग्यानि कर्पटानि बहुमूल्यानि प्रगुणीकृतानि। तथा पुस्तकानां लेखनार्थं लेखकानां च वित्तं सञ्चितमास्ते। तत्सर्वथा कालोचितं कार्यम्।

व्याख्या—स आह=प्रधानक्षपणकः प्रोवाच। श्रावक!=जिनानुरागिन्। धर्मज्ञोऽपि=धर्मस्वरूपं जानन्नपि। किमेवं वदसि=कथमेतादृशं कथयसि। वयं=जिनाः ब्राह्मणसमानाः—ब्राह्मणैः समाना ब्राह्मणसमानाः=विप्रसदृशा। आमन्त्रणं=निमन्त्रणम्। तत्कालपरिचर्यया=तत्काले परिचर्या तत्कालपरिचर्या तया तत्कलपरिचर्यया=भोजनकालोचितविहारेण। भ्रमन्तः=बंभ्रम्यमाणाः भक्तिभाजं=भक्तिमन्तम्। श्रावकं=जैनगृहम्। अवलोक्य=विलोक्य। कच्छ्रात् अभ्यर्थिता=बहुशः प्रार्थिताः। तद्गृहे=तस्य गेहे। प्राणधारणमात्राम्=जीवनरक्षामात्राम्। अशनक्रियाम्=भोजनव्यापारम्। तद्गच्छ=तस्माद् गम्यताम्। नैवं भूयोऽपि वाच्यम्=एवं पुनरपि त्वया न वक्तव्यम्।

तच्छ्रुत्वा=क्षपणकप्रधानस्य कथनमाकर्ण्य। वेद्म्यहं=सर्वमवगच्छामि। युष्मद्धर्मं=भवद्धर्मम्। बहुश्रावकाः=बहवो भक्ताः। आह्वयन्ति=समाह्वयन्ति। साम्प्रतम्=इदानीम्। पुस्तकाच्छादनयोग्यानि–पुस्तकानामाच्छादनं पुस्तकाच्छादनं तस्य योग्यानि पुस्तकाच्छादनयोग्यानि=पुस्तकबन्धनोचितानि, धर्मग्रन्थवेष्टनोचितानि। कर्पटानि=वस्त्राणि। बहूनि मूल्यानि येषां तानि बहुमूल्यानि=महार्हाणि। प्रगुणीकृतानि=सञ्चितानि। लेखकानां=ग्रन्थलेखकानाम्। वित्तं=धनम्। सञ्चितं=एकत्रीकृतम्। कालोचितं=समयोचितं। कार्यं=विधेयम्।

हिन्दी—उसकी प्रार्थना सुनकर उस प्रमुख भिक्षु ने कहा–श्रावक! धर्मज्ञ होते हुए भी तुम कैसी बातें करते हो, क्या हमलोग ब्राह्मणों के समान हैं कि तुम निमन्त्रण दे रहे हो! हम लोग भोजन के समय स्वयं घूमते फिरते किसी श्रद्धालु गृहस्थ को देखकर उसके घर चले जाते हैं उसके बहुत आग्रह करने पर

केवल जीवन निर्वाह के निमित्त अपेक्षित भोजन करते हैं। तुम यहाँ से तत्काल चले जाओ और भविष्य में पुनः ऐसा नहीं कहना।

उस जैनभिक्षु की बात सुनकर नाई ने कहा—भगवन्! मैं आपके धर्म नियमों को भलीभाँति जानता हूँ, किन्तु आपके बहुतेरे भक्त हैं और आप लोगों को सदा बुलाते रहते हैं। इस समय मैंने धर्म ग्रन्थों को बाँधने के लायक बहुमूल्य वस्त्रों को सञ्चय कर रखा है तथा ग्रन्थों के लिखने वाले विद्वानों के हेतु पारिश्रमिक रूप में देने के लायक द्रव्य भी एकत्र कर रखा है। फिर भी सब प्रकार से विचार कर जैसी इच्छा हो कीजिएगा। (सम्भव है—मैं इस प्रकार पुनः सामानों को इकट्ठा न कर पाऊँगा।)

ततो नापितोऽपि स्वगृहं गतः। तत्र च गत्वा खदिरमयं लगुडं सज्जीकृत्य कपाटयुगलं द्वारि समाधाय सार्द्धप्रहरैकसमये भूयोऽपि विहारद्वारमाश्रित्य सर्वान् क्रमेण निष्क्रामतो गुरुप्रार्थनया स्वगृहमनयत्। तेऽपि सर्वे कपंटवित्तलोभेन भक्तियुक्तानपि परिचितश्रावकान् परित्यज्य प्रहृष्टमनसस्तस्य पृष्ठतो ययुः। अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—ततः=तदनन्तरम्। स्वगृहं गतः=निजगृहं प्राप्तः। तत्र च गत्वा=स्वगृहमुपेत्य। खदिरमयं=खदिरकाष्ठनिर्मितम्। लगुडं=दण्डम्। सज्जीकृत्य=सुसज्जितं कृत्वा। कपाटयुगलं=कपाटद्वयम्। द्वारि=द्वारदेशे। समाधाय=पिधाय परीक्ष्य च। सार्द्धप्रहरैकसमये=दशवादनवेलायाम्। विहारद्वारं=जैनाश्रमद्वारम्। आश्रित्य=उपस्थाय। निष्क्रामतः=निर्गच्छतः। गुरुप्रार्थनया==महता निर्बन्धेन, आग्रहपूर्वकम्। स्वगृहं=निजं गेहम्। आनयत्=आनीतवान्। तेऽपि सर्वे=सकलाः जैनसाधवोऽपि। कपंटवित्तलोभेन=वस्त्रद्रव्यादिलोभेन। भक्तियुक्तान्=विनयान्वितान्, भक्तिमतः। परिचितश्रावकान्=परिचितभक्तान्। परित्यज्य=त्यक्त्वा। प्रहृष्टमनसः=प्रसन्नचेतसः सन्तः। तस्य=नापितस्य। पृष्ठतो ययुः=पश्चादनुययुः। अथवा साधु इदमुच्यते=वा इदं समीचीनं कथ्यते—

हिन्दी—तब नाई अपने घर चला गया। उसने जाकर खैर की लकड़ी की एक लाठी तैयार की और बाहर के दोनों दरवाजों को बन्द कर दिया। डेढ़ पहर दिन आने के बाद वह पुनः जैन विहार के दरवाजे पर जाकर खड़ा हो गया। भिक्षा के निमित्त बाहर निकलते हुए उन जैन भिक्षुओं को बड़ी विनती

से अपने घर ले गया। वे सब वस्त्र एवं द्रव्य के लोभ से परिचित विश्वस्त भक्तिमान् गृहस्थों को छोड़कर अतिप्रसन्न चित्त से उस नाई के पीछे-पीछे चल दिये। अथवा ठीक ही कहा है—

> एकाकी गृहसन्त्यक्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
> सोऽपि संवाह्यते लोके तृष्णया पश्य कौतुकम्॥ १५॥

अन्वयः—(इदम्) कौतुकं पश्य, एकाकी, गृहसन्त्यक्तः पाणिपात्रः दिगम्बरः सोऽपि लोके तृष्णया संवाह्यते॥ १५॥

व्याख्या—इदं कौतुकम्=एतदाश्चर्यम्। पश्य=अवलोकय। एकाकी=एककः यः कलत्रादिरहितः सन्। गृहसन्त्यक्तः=परित्यक्तगृहः। पाणिपात्रः=पाणिरेव पात्रं यस्य स पाणिपात्रः अथवा पाणौ पात्रं यस्य स पाणिपात्रः पाणिनैव पात्रकार्यं निर्वहन् करपात्री। दिगम्बरः=दिश एवाम्बराणि यस्य स दिगम्बरः=दिग्वस्त्रो नग्नः वा। सः=तादृशोऽपि पुरुषः। लोके=विश्वस्मिन्नस्मिन्। तृष्णया=लिप्सया लोभेन वा। संवाह्यते=परिचाल्यते, आकृष्यते। अर्थात् लोभो विरक्तमप्याकर्षति॥ १५॥

हिन्दी—यह आश्चर्य देखो, एकाकी, घर को त्यागकर देने वाला, नग्न रहने वाला, अपने हाथों को ही पात्र समझनेवाला त्यागी मनुष्य भी अनेक लालसाओं में पड़ जाता है॥ १५॥

> जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
> चक्षुः श्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका तरुणायते॥ १६॥

अन्वयः—जीर्यतः (मनुष्यस्य) केशा जीर्यन्ते, जीर्यतः दन्ता जीर्यन्ति चक्षुः श्रोत्रे च जीर्येते। एका तृष्णा तरुणायते॥ १६॥

व्याख्या—जीर्यतः=जीर्णतां, वयोहानिं गच्छतः वृद्धस्य मनुष्यस्य। केशाः शिरोरुहाः, जीर्यन्ते=जीर्णा शुक्ला भवन्ति। जीर्यतो वृद्धस्य दन्ताः=दशना अपि जीर्यन्ति=जीर्णत्वमापन्नाः सन्तः पतन्ति, शिथिला वा भवन्ति। चक्षुः=नेत्रम्। श्रोत्रे=कर्णौ च। जीर्येते=श्रावणदर्शनाक्षमे भवतः। एका=केवला। तृष्णा=लालसा एव। तरुणायते तरुणीवदाचरतीति तरुणायते=न जीर्णा भवतीत्यर्थः॥१६॥

हिन्दी—वृद्ध होने पर मनुष्य के केश पक जाते हैं। दाँत जीर्ण होकर गिर

जाते हैं। आँख और कान शिथिल हो जाते हैं, किन्तु तृष्णा (लालसा) सदा युवती ही बनी रहती है। अर्थात् सभी इन्द्रियों के शिथिल हो जाने पर भी मनुष्य की तृष्णा कम नहीं होती, उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है ॥ १६ ॥

ततः परं गृहमध्ये तान् प्रवेश्य, द्वारं निभृतं पिधाय, लगुडप्रहारैः शिरस्यताडयत्। तेऽपि ताड्यमाना एके मृताः, अन्ये भिन्नमस्तका फूत्कर्तुमुपचक्रमिरे। अत्रान्तरे तमाक्रन्दमाकर्ण्य कोटरक्षपालेनाऽभिहितम्—"भो भो! किमयं कोलाहलो नगरमध्ये? तद्गम्यताम्।"

ते स सर्वे तदादेशकारिणस्तत्सहिता वेगात्तद्गृहं गता यावत् पश्यन्ति तावद्रुधिरप्लावितदेहाः पलायमाना नग्नका दृष्टाः पृष्टाश्च भोः किमेतत्? ते प्रोचुर्यथाऽवस्थितं नापितवृत्तम्।

व्याख्या—ततः परं=तेषां तद्गृहागमनानन्तरम्। गृहमध्ये=स्वगृहाभ्यन्तरे। तान्=क्षपणकान्। प्रवेश्य=तेषां प्रवेशं विधाय। निभृतं=सुप्रच्छन्नं गुप्तरूपेण वा। पिधाय=पिहितं कृत्वा, अवरुध्य वा। लगुडप्रहारैः—लगुडस्य प्रहारा लगुडप्रहाराः तैः लगुडप्रहारैः=दण्डाघातैः। शिरसि=मस्तके, मूर्ध्नि वा। अताडयत्=ताडयामास। तेऽपि=क्षपणका अपि। ताड्यमानाः=व्याहताः सन्तः। तत्र एके=केचन। मृता=प्राणरहिताः जाताः। अन्ये=इतरे अवशिष्टाः। भिन्नमस्तकाः=छिन्नशिरस्काः स्फुटितशिरसो वा, फुत्कर्तुम् उपचक्रमिरे =आरेभिरे, प्रारब्धवन्तः। अत्रान्तरे=अस्मिन्नवसरे। तमाक्रन्दं=तं कोलाहलं, तमाक्रोशं वा। आकर्ण्य=निशम्य। कोटरक्षपालेन=नगररक्षाधिकारिणा। अभिहितम्=निगदितम्। भो भोः=अरे रक्षकाः! किमयं कोलाहलः=कीदृशोऽयमाक्रन्दरवः? नगरमध्ये=नगराभ्यन्तरे श्रूयते इति। तद्गम्यताम्=तस्मात् ज्ञातुं गच्छन्तु भवतः। तदादेशकारिणः=नगराध्यक्षाज्ञापालकाः। ते=सर्वे च नगररक्षकाः। तत्सहिताः=दुर्गपालेन समेताः। वेगात्=झटिति। तद्गृहं गताः=नापितगृहमुपस्थिताः। यावत् पश्यन्ति=अवलोकयन्ति। तावत् रुधिरप्लावितदेहाः=रक्तार्द्रशरीराः। नग्नकाः=क्षपणकाः। इतस्ततः पलायमानाः =धावन्तः। दृष्टाः=निरीक्षिताः। पृष्टाश्च=अपृच्छयन्त। किमेतत्=किमभूत्। ते=क्षपणकाः, जैनभिक्षवः। यथावस्थितं=यथाऽऽदितः सञ्जातम्। नापितवृत्तम् =नापितेन कृतं कर्म। प्रोचुः=कथयामासुः।

हिन्दी—तदुपरान्त उन जैन भिक्षुकों को घर के अन्दर प्रवेश कराकर चुपचाप गुप्त रूप से दरवाजों का बन्द कर दिया और लाठी से उनके सिर पर

मारना शुरू कर दिया। मार खाकर कुछ तो मर गये और अवशिष्ट दूसरे शिर फूटने के कारण हाहाकार करते हुए रोने लगे। इसी बीच नगर के रक्षक कोतवाल ने उस शोर को सुनकर अपने सिपाहियों से कहा—अरे-अरे, नगर के बीच में यह कैसा शोर हो रहा है ? शीघ्र जाओ और पता लगाओ।

उसकी आज्ञा का पालन करने वाले उन सभी सिपाहियों ने उनके साथ तेजी से तत्काल घटनास्थल पर पहुँचकर देखा कि खून से लथपथ क्षपणक इधर-उधर भाग रहे हैं। उन्हें देखकर दुर्गपाल ने पूछा—अरे, यह क्या हुआ ? तब क्षपणकों ने नाई के यहाँ घटित सारे वृत्तान्तों को सप्रसंग कह सुनाया।

तैरपि स नापितो बद्धो हतशेषैः सह धर्माधिष्ठानं नीतः। तैर्नापितः पृष्टः—"भोः, किमेतद् भवता कुकृत्यमनुष्ठितम् ?"

स आह—"किं करोमि। मया श्रेष्ठिमणिभद्रगृहे दृष्टः एवंविधो व्यतिकरः।" सोऽपि सर्वं मणिप्रभवृत्तान्तं यथादृष्टमकथयत्।

ततः श्रेष्ठिनमाहूय, ते भणितवन्तः—"भोः श्रेष्ठिन्! किं त्वया कश्चित्क्षपणको व्यापादितः ?" ततः तेनाऽपि सर्वः क्षपणकवृत्तान्तस्तेषां निवेदितः। अथ तैरभिहितम्—"अहो शूलमारोप्यतामसौ दुष्टात्मा कुपरिक्षितकारी नापितः।"

व्याख्या—तैरपि=नगररक्षकैरपि। कोटपालैः=राजपुरुषैः। स नापितः=क्षौरकर्मकारी। बद्धः=निगडितः। हतशेषैः सह=मृतावशिष्टैः साकम्। धर्माधिष्ठानं=न्यायालयम्। नीतः=प्रापितः। तैः=न्यायाधीशैः। कुकृत्यं=गर्हितं, निन्दितं वा कर्म। अनुष्ठितम्=कृतम्। एवंविधः=इत्थंप्रकारकः। व्यतिकरः=विपरीताचरणयुक्तः प्रसङ्गः। सोऽपि=नापितोऽपि। यथादृष्टम्=येन प्रकारेण दृष्टम्। आहूय=आकारयित्वा। भणितवन्तः=अपृच्छन्। व्यापादितः=हतः। तेनापि=श्रेष्ठिनापि। क्षपणकवृत्तान्तः=स्वद्वारदृष्टक्षपणकप्रसङ्गः। निवेदितः=कथितः। तैः=न्यायाधीशैः। अभिहितं=कथितम्, आज्ञप्तं वा। अहो=नूनम्। शूलम्=वधसाधनम्। आरोप्यताम्। असौ=एष। दुष्टात्मा=दुर्बुद्धिः। कुपरीक्षितकारी=असमीक्ष्यकारी।

हिन्दी—बाद में उन सिपाहियों ने उन नाई को बाँधकर मरने से बचे हुए क्षपणकों के साथ न्यायालय में उपस्थित कर दिया। वहाँ न्यायाधीशों ने नाई से पूछा—अरे, तुमने यह क्या कुकृत्य कर डाला ?

तब नाई ने कहा—हुजूर, मैं क्या करूँ, मैंने सेठ मणिभद्र के घर इसी

प्रकार की घटना देखी थी और मणिभद्र के घर घटे समस्त प्रसंग को यथावत् कह सुनाया।

उस घटना को सुनकर न्यायाधीशों ने मणिभद्र को बुलाकर पूछा—सेठजी, क्या आपने किसी क्षपणक की हत्या की है? इसपर मणिभद्र ने स्वप्न में दृष्ट क्षपणक के समस्त वृत्तान्त को कह सुनाया। मणिभद्र के मुख से सारी घटना सुनने के बाद न्यायाधीशों ने आदेश देते हुए सिपाहियों से कहा—ओह, बिना ठीक ठीक परीक्षा किये कार्य को करनेवाले इस अविवेकी दुष्ट नाई को शूली पर चढ़ा दो।

तथाऽनुष्ठिते तैरभिहितम्—

"कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम्।
तन्नरेण न कर्तव्यं नापितेनाऽत्र यत्कृतम्॥"

अथवा साध्विदमुच्यते

व्याख्या—तथा=तेन प्रकारेण। अनुष्ठिते=कृते, शूलमारोपिते। तैः=न्यायाधीशैः। अभिहितं=कथितम्—कुदृष्टमित्यादि। अत्र नापितेन कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितं यत् कृतं तत् नरेण न कर्तव्यम्। श्लोकोऽयं पूर्वं व्याख्यातोऽतो न पुनर्व्याख्यायते। अथवा साधु=सम्यक्। इदम्=एतत्। उच्यते।

हिन्दी—नाई को शूली पर चढ़ा देने के बाद न्यायाधीशों ने कहा—"बिना भली भाँति देखे, बिना अच्छी तरह जाने एवं सुने और बिना परीक्षा किये किसी काम को नहीं करना चाहिए, जैसा कि इस मूर्ख नाई ने किया।"

अथवा ठीक ही कहा है कि—

"अपरीक्ष्य न कर्तव्यं कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चाद्भवति सन्तापो ब्राह्मण्या नकुले यथा"॥ १७॥

मणिभद्र आह—'कथमेतत्?'

ते धर्माधिकारिणः प्रोचुः—

अन्वयः—अपरीक्ष्य न कर्तव्यम्, सुपरीक्षितं कर्तव्यम्। पश्चात् सन्तापो भवति यथा ब्राह्मण्या नकुले (अभवत्)।

व्याख्या—अपरीक्ष्य=परीक्षां विना, अविचार्य असमीक्ष्य वा। किमपि न कर्तव्यम्=नैव करणीयम्। सुपरीक्षितम्=सम्यगालोचितम्, सुविचारितम्। कर्तव्यं=विधेयम्। पश्चात्=असमीक्ष्यकृते। अनन्तरं सन्तापो भवति=पश्चात्तापो जायते। यथा=येन प्रकारेण। ब्राह्मण्याः=ब्राह्मणपत्न्याः। नकुले=

नकुले मृते, नकुलविषये, अभवत् । तस्मात् असमीक्ष्यकारी पश्चात्तापमवाप्नोतीति भावः ।

मणिभद्र आह=मणिभद्र उवाच । ते धर्माधिकारिणः=न्यायाधीशाः । प्रोचुः=उक्तवन्तः ।

हिन्दी—बिना भली भाँति समझे बूझे तथा परीक्षा किये किसी कार्य को नहीं करना चाहिए, जिस कार्य को करना हो उसकी पूरी जानकारी कर लेनी चाहिए। अन्यथा कार्य कर चुकने पर मनुष्य को पश्चात्ताप करना पड़ता है, जैसा कि नेवले की मृत्यु के बाद ब्राह्मणी को पश्चात्ताप करना पड़ा था ।। १७ ।।

मणिभद्र ने पूछा—यह कैसे ?

न्यायाधीशों ने पुनः कहना शुरू किया—

१. ब्राह्मणी-नकुल-कथा

"कस्मिंश्चिदधिष्ठाने देवशर्मा नाम ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म । तस्य भार्या प्रसुता सुतमजनयत् । तस्मिन्नेव दिने नकुली नकुलं प्रसूय मृता। अथ सा सुतवत्सला दारकवत्तमपि नकुलं स्तन्यदानाऽभ्यङ्गमर्दनादिभिः पुपोष, परं तस्य न विश्वसिति । अपत्यस्नेहस्य सर्वस्नेहातिरिक्ततया सततमेवमाशङ्कते यत्—कदाचिदेष स्वजातिदोषवशादस्य दारकस्य विरुद्धमाचरिष्यति इति । उक्तं च—

व्याख्या—अधिष्ठाने=नगरे । प्रतिवसति स्म=निवसति स्म । तस्य भार्या=विप्रस्य स्त्री । प्रसूता=गर्भिणी । सुतम्=पुत्रम् । अजनयत्=उत्पादयामास । नकुली=नकुलस्य स्त्री । प्रसूय=उत्पाद्य । मृता=मृतवती । अथ=अनन्तरम् । सुतवत्सला=पुत्रस्नेहवती । दारकवत्=स्वपुत्रवत् । तमपि=मातृहीनं नकुलीबालकमपि । स्तन्यदानाऽभ्यङ्गमर्दनादिभिः—स्तने भवं स्तन्यं दुग्धं तस्य दानम्; अभ्यङ्गं=तैलाभ्यञ्जनम्, मर्दनं च तथा स्तन्यदानं च अभ्यङ्गं च मर्दनं च स्तन्यदानाभ्यङ्गमर्दनानि तानि एव आदीनि स्तन्यदानाभ्यङ्गमर्दनादीनि तैः स्तन्यदानाभ्यङ्गमर्दनादिभिः=दुग्धपानतैलादिलेपन-प्रभृतिभिः उपकरणैः । पुपोष=पालयामास । तस्य=नकुलस्य । न विश्वसिति=विश्वासं न करोति । अपत्यस्नेहस्य=पुत्रप्रेम्णः । सर्वस्नेहातिरिक्ततया=अन्यापेक्षया स्नेहाधिकतया । सततं=निरन्तरम् । आशङ्कते=आशङ्कां करोति स्म । स्वजातिदोषवशात्—स्वस्य जातेः दोषः तद्वशात्=निजजातिदोषात् । अस्य दारकस्य=मम पुत्रस्य । विरुद्धम्=अनिष्टम् । आचरिष्यति=करिष्यति । उक्तं च=कथितं च ।

हिन्दी—किसी नगर में देवशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी गर्भिणी स्त्री ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसी दिन एक नेवली भी एक नेवले को उत्पन्न करके मर गयी। तब पुत्र पर स्नेह करनेवाली उस ब्राह्मणी ने पुत्र के समान उस नेवले को भी दुग्धपान, उबटन तथा तेल मालिश आदि क्रिया के द्वारा पाला पोशा। किन्तु वह उसका विश्वास नहीं करती थी। पुत्रस्नेह के सर्वोपरि होने के कारण हमेशा डरती रहती थी कि कभी यह अपने जातिगत दोष के कारण पुत्र का अनिष्ट न कर बैठे ? क्योंकि कहा भी गया है—

कुपुत्रोऽपि भवेत्पुंसां हृदयानन्दकारकः।
दुर्विनीतः कुरूपोऽपि, मूर्खोऽपि, व्यसनी, खलः॥ १८॥

अन्वयः—दुर्विनीतः, कुरूपः, मूर्खः, व्यसनी, खलः, कुपुत्रोऽपि पुंसां हृदयानन्दकारकः भवति॥ १८॥

व्याख्या—दुर्विनीतः=दुर्नयः। कुरूपः—कुत्सितं रूपं यस्य स कुरूपः=असुन्दरः। मूर्खः=अशिक्षितः। व्यसनी—व्यसनमस्ति अस्येति व्यसनी=दुर्वृत्तः। खलः=दुष्टः। कुपुत्रोऽपि=कुत्सितः सूनुरपि। पुंसां=जनानाम्। हृदयानन्दकारकः—हृदयस्यानन्दः इति हृदयानन्दः, हृदयानन्दं करोतीति हृदयानन्दकारकः=हृदयाह्लादको भवति। कुपुत्रेष्वपि पुमांसो नूनमेव स्नेहं कुर्वन्तीत्यर्थः॥१८॥

हिन्दी—अपना पुत्र चाहे कितना भी दर्विनीत, कुरूप, मूर्ख, व्यसनी तथा दुर्वृत्त क्यों न हो, वह अपने माता-पिता के हृदय को आह्लादित करनेवाला ही होता है॥ १८॥

एवं च भाषते लोकश्चन्दनं किल शीतलम्।
पुत्रगात्रस्य संस्पर्शश्चन्दनादतिरिच्यते॥ १९॥

अन्वयः—लोकः च एवं भाषते (यत्) चन्दनं किलं शीतलं (भवति, किन्तु) पुत्रगात्रस्य संस्पर्शः (तु) चन्दनात् अतिरिच्यते॥ १९॥

व्याख्या—लोकः=जननिवहः। एवं=अनेक प्रकारेण। भाषते=वदति। यत् चन्दनं=मलयजम्। किल=खलु। शीतलम्=सुखप्रदम्। भवति। किन्तु पुत्रगात्रस्य—पुत्रस्य गात्रं पुत्रगात्रं तस्य पुत्रगात्रस्य=सुतशरीरस्य। संस्पर्शः=स्पर्शः तु चन्दनात्=पाटीरादपि। अतिरिच्यते=अधिकः सुखकरो भवति। तनयस्याङ्गो जायमानः स्पर्शो मनस्तापं शमयतीत्यर्थः॥ १९॥

हिन्दी—लोग ऐसा कहते हैं कि चन्दन अत्यन्त शीतल होता है किन्तु पुत्र के शरीर का स्पर्श तो चन्दनसे भी बढ़कर शीतल तथा आनन्ददायक होता है॥१९॥

सौहृदस्य न वाञ्छन्ति जनकस्य हितस्य च।
लोकाः प्रपालकस्याऽपि, यथा पुत्रस्य बन्धनम् ॥ २० ॥

अन्वयः—लोकाः यथा पुत्रस्य बन्धनं वाञ्छन्ति (तथा) सौहृदस्य जनकस्य हितस्य च प्रपालकस्य अपि (बन्धनं) न (वाञ्छन्ति) ॥ २० ॥

अन्वयः—लोकाः=जनसमुदायाः। यथा=येन प्रकारेण। पुत्रस्य=सुतस्य। बन्धनं=स्नेहपाशम्। वाञ्छन्ति=इच्छन्ति। तथा सौहृदस्य=सौहार्दस्य, मित्रस्य। जनकस्य=पितुः। हितस्य=हितकारिणो वा। प्रपालकस्य=पोषकस्य। बन्धनं न वाञ्छन्ति। सुतस्य स्नेहपाशः सर्वाधिक इति भावः ॥ २० ॥

हिन्दी—लोग जैसा पुत्र के स्नेह-बन्धन को चाहते हैं वैसा न मित्र के, न पिता के, न हितैषी एवं पालन-पोषण करनेवालों के बन्धन को चाहते हैं ॥२०॥

अथ सा कदाचिच्छय्यायां पुत्रं शाययित्वा जलकुम्भमादाय, पतिमुवाच—"ब्राह्मण ! जलार्थमहं तडागे यास्यामि। त्वया पुत्रोऽयं नकुलाद्रक्षणीयः।"

अथ तस्यां गतायां, पृष्ठे ब्राह्मणोऽपि शून्यं गृहं मुक्त्वा भिक्षार्थं क्वचिन्निर्गतः। अत्रान्तरे दैववशात् कृष्णसर्पो बिलान्निष्क्रान्तः। नकुलोऽपि तं स्वभाववैरिणं मत्वा भ्रातुः रक्षणार्थं सर्पेण सह युद्ध्वा, सर्पं खण्डशः कृतवान्।

ततो रुधिराप्लावितवदनः सानन्दं स्वव्यापारप्रकाशनार्थं मातुः सम्मुखो गतः। माताऽपि तं रुधिरक्लिन्नमुखमालोक्य शङ्कितचित्ता "नूनमनेन दुरात्मना दारको भक्षितः" इति विचिन्त्य कोपात्तस्योपरि तं जलकुम्भं चिक्षेप।

व्याख्या—सा=ब्राह्मणी। कदाचित्=एकदा। शय्यायाम्=पर्यङ्के। शाययित्वा=शयनं कारयित्वा। जलकुम्भं=पानीयार्थघटम्। आदाय=गृहीत्वा। पतिमुवाच=स्वस्वामिनमाह। जलार्थं=जलं नेतुम्। तडागे=सरोवरे। यास्यामि=गच्छामि। त्वया=भवता। रक्षणीयः=संरक्ष्यः। तस्यां=ब्राह्मणपत्न्याम्। गतायां=प्रस्थितायाम्। पृष्ठे=पश्चात्। शून्यं=बालकातिरिक्तजनरहितं निर्जनम्। गृहं=गेहम्। मुक्त्वा=विहाय। भिक्षार्थं=भिक्षाटनाय। क्वचित्=कुत्रापि। निर्गतः=निष्क्रान्तः बहिर्गतः। अत्रान्तरे=अस्मिन्नवसरे। दैववशात्=दुर्भाग्यात्। कृष्णसर्पः=कृष्णकायो भुजङ्गमः। बिलात्=स्वविवरात्। निष्क्रान्तः=बहिरागतः तं=कृष्णसर्पम्। स्वभाववैरिणं=सहजशत्रुम्। मत्वा=ज्ञात्वा। भ्रातुः=ब्राह्मणीपुत्रस्य। रक्षणार्थं=परित्राणाय। युद्ध्वा=युद्धं विधाय। खण्डशः=खण्डं-खण्डम्। कृतवान्=अकरोत्। ततः=तदनन्तरम्। रुधिरप्लावितवदनः—रुधिरेण प्लावितं वदनं यस्य स रुधिरप्लावितवदनः=रक्तक्लिन्नमुखः। सानन्दनम्=

आनन्देन सहितं यथा स्यात्तथा सानन्दम्। स्वव्यापारप्रकाशनार्थं=स्वकृत्यं प्रकटयितुम्। मातुः=ब्राह्मण्याः। सम्मुखे=समक्षे। गतः=उपस्थितः। शङ्कितचित्ता—शङ्कितं चित्तं यस्याः सा शङ्कितचित्ता=आशङ्कितहृदया। रुधिर-क्लिन्नमुखं=रुधिरार्द्रवदनम्। अवलोक्य=विलोक्य। नूनं=निश्चयम्। अनेन=एतेन। दुरात्मना=दुष्टहृदयेन। दारकः=बालकः। भक्षितः=खादितः। इति विचिन्त्य=एवं विचार्य। कोपात्=क्रोधात्। तस्योपरि=तस्मिन्। जलकुम्भं=जलघटम्। चिक्षेप=पातयामास।

हिन्दी—बाद एक दिन उस ब्राह्मणी ने पुत्र को शय्या पर सुलाकर और जल के घड़े को लेकर पति से कहा—स्वामिन्! मैं जल लाने के लिए तालाब पर जा रही हूँ। आप इस नेवले से बालक की रक्षा करना।

उसके चले जाने पर ब्राह्मण भी घर को खाली छोड़कर भीख लाने के लिए कहीं चला गया। इसी समय दुर्भाग्य से एक काला सांप बिल से निकला। नेवले ने उस सर्प को देखते ही उसे अपना स्वभाविक शत्रु समझकर भाई की रक्षा के निमित्त सर्प के साथ लड़कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

फिर ब्राह्मणी के लौटने पर वह नेवला प्रसन्नतापूर्वक अपने कार्य को प्रकट करने के लिए खून से लथपथ मुँहवाला माता के पास पहुँचा। वह उसके रक्तार्द्र मुख को देखते ही शङ्कित हो उठी और यह सोचकर कि इस पापी नेवले ने मेरे पुत्र को मारकर खा लिया है, क्रोधातुर हो उसने जल-से भरे घड़े को नेवले के ऊपर पटक दिया।

एवं सा नकुलं व्यापाद्य यावत्प्रलपन्ती गृहे आगच्छति, तावत्सुतस्तथैव सुप्तस्तिष्ठति। समीपे कृष्णसर्पं खण्डशः कृतमवलोक्य पुत्रवधशोकेनात्मशिरो वक्षःस्थलं च ताडितुमारब्धा।

अत्रान्तरे ब्राह्मणो गृहीतनिर्वापः समायातो यावत्पश्यति, तावत्पुत्रशोकाऽभि-तप्ता ब्राह्मणी प्रलपति—"भो भो लोभात्मन्। लोभाऽभिभूतेन त्वया न कृतं मद्वचः। तदनुभव साम्प्रतं पुत्रमृत्युदुःखवृक्षफलम्।" अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—एवं=अनेन प्रकारेण। नकुलं व्यापाद्य=नकुलं हत्वा। प्रलपन्ती=विलपन्ती। गृहे आगच्छति=गेहं प्रविशति। तथैव=यथास्थापितः। सुप्तः=शयानः। पुत्रवधशोकेन—पुत्रस्य=पुत्रसदृशस्य नकुलस्य यो वधो=हननं तज्जन्यो यः शोकः तेन पुत्रवधशोकेन=पुत्रतुल्यनकुलवधशोकेन। आत्मशिरः=स्वमस्तकम्। वक्षःस्थलं=वक्षःप्रदेशम्। ताडितुमारब्धा=प्रताडितुमारब्धा।

अत्रान्तरे=एतस्मिन्नेव समये । गृहीतनिर्वापः—गृहितः निर्वापः येन स गृहीतनिर्वापः=लब्धभिक्षः, लब्धप्रतिग्रहो वा । समायातः=आगतः । पुत्रशोकाभिसन्तप्ता—पुत्रशोकेन अभिसन्तप्ता पुत्रशोकाभिसन्तप्ता=नकुलवधशोकदुःखिता । प्रलपति=विलपति । लोभाभिभूतेन=लोभाक्रुष्टेन । मद्वचः=मम वचनम् । अनुभव=अनुभवं कुरु । साम्प्रतम्=इदानीम् । पुत्रमृत्युदुःखवृक्षफलम्—पुत्रमृत्योः=नकुलवधस्य यद् दुःख तदेव वृक्षः=तरुः इति पुत्रमृत्युदुःखवृक्षस्तस्य फलम्=सुतवधशोकवृक्षफलम् । साध्विदमुच्यते=सम्यगिदं कथ्यते—

हिन्दी—इस प्रकार नेवले को मारकर विलाप करती हुई वह ब्राह्मणी ज्यों ही घर में आयी । त्यों ही उसने पुत्र को पूर्ववत् सोते हुए देखा और खाट के पास में ही टुकड़े-टुकड़े किये हुए काले साँप को देखकर वह नकुल की मृत्यु से शोकाकुल हो उठी और अपनी छाती एवं माथे को पीट-पीटकर रोने लगी । इतने में भिक्षा लेकर ब्राह्मण भी आ गया । घर के अन्दर जाकर देखा कि नकुल के वध से ब्राह्मणी शोकाकुल हो विलख-विलखकर रो रही है । पति को देखते ही उसने रोकर कहा—अरे लोभी, लोभाभिभूत होकर तुमने मेरी बात नहीं मानी । तो अब पुत्र की मृत्यु के दुःखरूपी वृक्ष के फल को भोगो । अथवा यह ठीक ही कहा गया—

"अतिलोभो न कर्तव्यो लोभं नैव परित्यजेत् ।
अतिलोभाऽभिभूतस्य चक्रं भ्रमति मस्तके" ॥ २१ ॥

ब्राह्मण आह—"कथमेतत् ?" सा प्राह—

अन्वयः—अतिलोभो न कर्तव्यः, लोभं नैव परित्यजेत् । (यतः) अतिलोभाभिभूतस्य (जनस्य) मस्तके चक्रं भ्रमति ॥ २१ ॥

व्याख्या—अतिलोभः=अधिकलोभः । न कर्तव्यः=न कार्यः । सर्वथा लोभं नैव परित्यजेत्=न च दूरीकुर्यात् । अतिलोभाभिभूतस्य—अधिको लोभः अतिलोभः, अतिलोभेन अभिभूत इति अतिलोभाभिभूतः तस्य अतिलोभाभिभूतस्य=अत्यधिकलोभाक्रुष्टस्य जनस्य । मस्तके=मूर्ध्नि, शिरसि । चक्रं=विपद्रूपं चक्रम् । भ्रमति=भ्राम्यति । अतिलोभो हि परिणामे दुःखजनको जायते इति भावः ॥२१॥

कथमेतत्=एतत्कथानकं कथमस्ति । सा आह=ब्राह्मणी ब्रूते—

हिन्दी—अधिक लालच नहीं करना चाहिये और सर्वदा लालच का त्याग भी नहीं करना चाहिए । अति लोभी मनुष्य के मस्तक पर चक्र घूमता है ॥२१॥

ब्राह्मण ने पूछा—यह कैसे ? तब ब्राह्मणी ने कहना आरम्भ किया—

२. लोभाविष्टचक्रधर-कथा

'कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्राः परस्परं मित्रतां गता वसन्ति स्म। ते चाऽपि दारिद्र्योपहताः परस्परं मन्त्रं चक्रुः—"अहो, धिगियं दरिद्रता। उक्तं च—

व्याख्या—अधिष्ठाने=नगरे। ब्राह्मणपुत्राः=ब्राह्मणस्य तनयाः। परस्परं=मिथः अन्योऽन्यम्। मित्रतां गताः=मित्रत्वमापन्नाः। वसन्ति स्म=निवसन्ति स्म। ते=ब्राह्मणपुत्राः। दारिद्र्योपहताः=दारिद्र्यदुःखेन दुःखिताः। मन्त्रं चक्रुः=मन्त्रयामासुः। विचारं कृतवन्त इति यावत्।

हिन्दी—किसी नगर में चार ब्राह्मणपुत्र आपस में मित्रता करके रहते थे। दरिद्रता से दुःखित होकर उन लोगों ने आपस में सलाह की। अहो! इस दरिद्रता को धिक्कार है, क्योंकि कहा गया है—

वरं वनं व्याघ्रगजादिसेवितं,
जनेन हीनं बहुकण्टकावृतम्।
तृणानि शय्या परिधानवल्कलं,
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवितम्॥ २२॥

अन्वयः—व्याघ्रगजादिसेवितं, जनेन हीनं, बहुकण्टकावृतं वनं तृणानि शय्या परिधानवल्कलं वरं (किन्तु) बन्धुमध्ये धनहीनजीवितं न वरं (भवति)।

व्याख्या—व्याघ्रगजादिसेवितम्—व्याघ्राश्च गजादयश्चेति व्याघ्रगजादयः तैः सेवितमिति व्याघ्रगजादिसेवितम्=शार्दूलद्विपादियुतम्। जनेन हीनम्=निर्जनम्। बहुकण्टकावृतम्—बहुभिः कण्टकैः आवृतं बहुकण्टकावृतम्=नानाकण्टकाकीर्णम्। वनं=विपिनम्। तत्र च तृणानि शय्या=तृणमयं शयनीयम्, तृणासनं वा। परिधानवल्कलम्—परिधाने वल्कलं परिधानवल्कलं=भूर्जपत्रादित्वग्मयं परिधानम्। वरं=श्रेष्ठम्। किन्तु बन्धुमध्ये=बन्धूनां मध्यं बन्धुमध्यं तस्मिन् बन्धुमध्ये=ज्ञातिमध्ये। धनहीनजीवितम्—धनेन हीनं जीवितं धनहीनजीवितं=निर्धनजीवनम्। वरं=श्रेष्ठं न भवति। दरिद्रस्य पुंसः बन्धुभिः साकं गृहेऽवस्थानापेक्षया वनवास एव श्रेयानिति भावः॥ २२॥

हिन्दी—सिंह, हाथी आदि हिंस्रजन्तुओं से युक्त, मनुष्यरहित, कुश काँटों से भरा जङ्गल में रहना, और वहाँ वल्कल वस्त्र धारण करना तथा घास-फूस के बिछावन पर सोना अच्छा, किन्तु बन्धु-बान्धवों के बीच निर्धन होकर जीवन व्यतीत करना अच्छा नहीं॥ २२॥

तथा च—

स्वामी द्वेष्टि सुसेवितोऽपि, सहसा प्रोज्झन्ति सद्बान्धवाः,
राजन्ते न गुणास्त्यजन्ति तनुजाः, स्फारीभवन्त्यापदः ।
भार्या साधु सुवंशजाऽपि भजते नो, यान्ति मित्राणि च,
न्यायारोपितविक्रमाण्यपि नृणां येषां न हि स्याद्धनम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—हि येषां नृणां धनं न स्यात्, सुसेवितोऽपि स्वामी (तान्) द्वेष्टि, सद्बान्धवा अपि सहसा प्रोज्झन्ति, गुणा न राजन्ते; तनुजाः त्यजन्ति, आपदः स्फारीभवन्ति, सुवंशजा अपि भार्या साधु न भजते, न्यायारोपित-विक्रमाणि मित्राणि अपि यान्ति ॥ २३ ॥

व्याख्या—हि=निश्चयेन । येषां=मनुष्याणाम् । धनं=वित्तम् । न स्यात्=न भवेत् । सुसेवितोऽपि=सम्यगनुसृतोऽपि । स्वामी=प्रभुः । तान् द्वेष्टि=न मन्यते । सद्बान्धवाः=स्वज्ञातयः । प्रोज्झन्ति=त्यजन्ति । गुणाः=सौजन्यादयः । न राजन्ते=न शोभन्ते, न वा प्रकाशन्ते । तनुजाः=पुत्राः । त्यजन्ति=मुञ्चन्ति । तेषाम् आपदः= विपत्तयः । स्फारीभवन्ति—न स्फारा अस्फाराः अस्फाराः स्फारा भवन्तीति स्फारीभवन्ति=विपुलीभवन्ति, विवर्द्धन्ते । सुवंशजा—सुष्ठु वंशे जाता सुवंशजा=सत्कुलजा अपि । भार्या= स्त्रीः । तान्=मनुष्यान् । साधु=सम्यक् । नो भजते=न सेवते, यथा कथ-ञ्चित् कष्टेन सेवते । अपि न न्यायारोपितविक्रमाणि—न्यायेन=नीत्या आरोपितः =आलम्बितः, विक्रम=पराक्रमः यैस्तानि न्यायारोपितविक्रमाणि=नीतिमार्गा-नुसारीण्यपि । मित्राणि=सुहृदः । यान्ति=गच्छन्ति । दूरे भवन्ति । तथा च निर्धनो मानवः सर्वैरुपेक्ष्यमाण कष्टेनावतिष्ठते इति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

हिन्दी—जिन मनुष्यों के पास धन नहीं है—भली भाँति सेवा करने पर भी स्वामी उनसे द्वेष करता है । अच्छे बन्धुगण भी उनको एकाएक छोड देते हैं । उनके गुण शोभा नहीं देते उनके पुत्र भी उनको छोड़ देते हैं । आपत्तियाँ बढ़ती जाती हैं । अच्छे खानदान में उत्पन्न पत्नी भी भलीभाँति उनकी सेवा नहीं करती तथा न्याय मार्ग पर चलनेवाले मित्र भी दूर हो जाते हैं ॥ २३ ॥

शूरः सुरूपः सुभगश्च वाग्मी,
शस्त्राणि शास्त्राणि विदांकरोतु ।
अर्थं विना नैव यशश्च मानं,
प्राप्नोति मर्त्योऽत्र मनुष्यलोके ॥ २४ ॥

अन्वयः—शूरः सुरूपः सुभगः शस्त्राणि शास्त्राणि (वित्) वाग्मी विदाङ्करोतु (यत्) अत्र मनुष्यलोके मर्त्यः अर्थं विना यशः मानं च नैव प्राप्नोति ॥ २४ ॥

व्याख्या—शूरः=वीरः। सुरूपः=रूपवान्। सुभगः=सुन्दरः। शस्त्राणि =आयुधानि। शास्त्राणि=धर्मशास्त्रादीनि। (वित् यः पुरुषः) वाग्मी= वाचालः। विदाङ्करोतु=जानातु (यत्), अत्र=अस्मिन्। मनुष्यलोके=मर्त्यलोके। मर्त्यः=मानवः। अर्थं विना=धनमन्तरा। यशः=कीर्तिम्। मानं=सम्मानम्। च नैव प्राप्नोति=न लभते। शस्त्र-शास्त्रावगन्तुरपि निर्धनस्य पुंसः यशः-सम्मानौ दुर्लभौ भवत इति भावः ॥ २४ ॥

हिन्दी—शूर-वीर, रूपवान्, सौभाग्यशाली, शस्त्रज्ञ शास्त्रज्ञ, और वाक्पटु मनुष्य यह जान लें कि इस संसार में मनुष्य धन के विना कीर्ति और सम्मान को प्राप्त नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

तानीन्द्रियाण्यविकलानि, तदेव नाम,
सा बुद्धिरप्रतिहता, वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
बाह्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ २५ ॥

अन्वयः—एतत् विचित्रं (यत्) तानि एव अविकलानि इन्द्रियाणि, तदेव नाम, सा एव अप्रतिहता बुद्धिः, तदेव वचनं (तथापि) अर्थोष्मणा विरहितः स एव पुरुषः क्षणेन बाह्यो भवति ॥ २५ ॥

व्याख्या—एतत् विचित्रं=अत्यद्भुतं वर्तते (यत्=यद्यपि पुरुषस्य) तानि एव=पूर्ववदेव। अविकलानि—न विकलानि अविकलानि=अशिथिलानि अनुप-हतानि। इन्द्रियाणि=चक्षुरादीनि। तदेव=पूर्वतनमेव। नाम=अभिधानम्। अस्त्वि। अप्रतिहता—न प्रतिहता अप्रतिहता=अनवरुद्धा सर्वत्र स्फुरद्रूपा सा बुद्धिः =धीः मतिः। तदेव=पूर्ववदेव। वचनम्=वचः वर्तते। किन्तु अर्थोष्मणा—अर्थस्य उष्मा अर्थोष्मा तेन अर्थोष्मणा=धनस्योष्णतया। विरहितः=हीनः। स एव= पूर्वावस्थोऽपि पुरातनः। पुरुषः=मानवः। क्षणेन=झटिति। बाह्यः= सर्वलोकतिरस्कृतोऽन्य इव। भवति=जायते। धनस्योपाये निर्गते स एव नरः सर्वतो बहिर्भूतो लोकानामप्रियो भवतीति भावः ॥ २५ ॥

हिन्दी—यह आश्चर्य है कि शक्ति से परिपूर्ण काम करनेवाली वे ही इन्द्रियाँ हैं, वही नाम है, वही अकुण्ठित (न रुकनेवाली तीव्र) बुद्धि है और वही वाणी भी है, तो भी धन की गर्मी से रहित हुआ वह पुरुष क्षणभर में

ही बाहरी पराया हो जाता है। अर्थात् ऐसा बदल जाता है कि कोई उसे पहचानता तक नहीं ॥ २५ ॥

"तद्गच्छामः कुत्र चिदर्थाय।" इति सम्मन्त्र्य स्वदेशं पुरं च स्वसुहृत्सहितं गृहं च परित्यज्य, प्रस्थिताः। अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—कुत्रचित्=क्वचित्। अर्थाय=अर्थोपार्जनार्थम्। सम्मन्त्र्य= विचार्य। परित्यज्य=त्यक्त्वा। प्रस्थिताः=प्रचलिताः।

हिन्दी—अतः हमें भी अर्थोपार्जन के लिए कहीं जाना चाहिए। ऐसा विचार करके अपने देश, ग्राम, मित्र, बन्धु बान्धव तथा गृह का त्याग करके चारों ब्राह्मण कुमार अर्थोपार्जन के निमित्त चल पड़े। अथवा ठीक ही कहा गया है—

सत्यं परित्यजति मुञ्चति बन्धुवर्गं,
शीघ्रं विहाय जननीमपि जन्मभूमिम्।
सन्त्यज्य, गच्छति विदेशमभीष्टलोकं,
चिन्ताकुलीकृतमतिः पुरुषोऽत्र लोके ॥ २६ ॥

अन्वयः—अत्र लोके चिन्ताकुलीकृतमतिः पुरुषः सत्यं परित्यजति, बन्धुवर्गं मुञ्चति, जननीं जन्मभूमिं अपि विहाय अभीष्टलोकं सन्त्यज्य शीघ्रं विदेशं गच्छति ॥ २६ ॥

अन्वयः—अत्र लोके=अस्मिन् भूमण्डले। चिन्ताकुलीकृतमतिः—चिन्तया अकुलीकृता मतीर्यस्य स चिन्ताकुलीकृतमतिः=चिन्ताव्याकुलचित्तः। पुरुषः= मानवः। सत्यं परित्यजति=सत्यं त्यजति। बन्धुवर्गं=कुटुम्बादिकं। मुञ्चति= त्यजति। जननीं=मातरम्। जन्मभूमिं=स्वोत्पत्तिस्थानम्। शीघ्रं=त्वरितम्। सन्त्यज्य=मुक्त्वा। अभीष्टलोकं=स्वप्रियस्थानम्। विहाय=त्यक्त्वा। गच्छति=याति। गार्हस्थ्यचिन्ताकुलस्य पुंसो विदेशगमनमेव शरणमिति भावः ॥ २६ ॥

हिन्दी—इस संसार में विभिन्न चिन्ताओं से व्याकुल होकर मनुष्य सत्य का परित्याग कर देता है (अर्थात् मनुष्य धन कमाने के लिए झूठ का सहारा लेता है), बन्धु-बान्धवों को छोड़ देता है (अर्थात् परिवार के व्यक्तियों का स्नेह भी उसे रोक नहीं सकता) जननी एवं जन्मभूमि का परित्याग कर देता है और अपने प्रिय स्थान को छोड़कर परदेश चला जाता है ॥ २६ ॥

एवं क्रमेण गच्छन्तोऽवन्तीं प्राप्ताः। तत्र सिप्राजले कृतस्नानाः महाकालं प्रणम्य यावन्निर्गच्छन्ति, तावद् भैरवानन्दो नाम योगी संमुखो बभूव। ततस्तं

ब्राह्मणोचितविधिना, सम्भाव्य, तेनैव सह तस्य मठं जग्मुः अथ तेन पृष्टाः—"कुतो भवन्तः समायाताः ? क्व यास्यथ ? किं प्रयोजनम् ?"

ततस्तैरभिहितम्—"वयं सिद्धियात्रिकाः, तत्र यास्यामो यत्र धनाप्तिर्मृत्युर्वा भविष्यतीत्येष निश्चयः"। उक्तञ्च—

व्याख्या—एवं=इत्थम्। क्रमेण=क्रमशः। गच्छन्तः=चलन्तः। अवन्तीं =उज्जयिनीम्। प्राप्ताः=उपस्थिताः। तत्र=उज्जयिन्याम्। सिप्राजले=सिप्रा-नामनद्याः सलिले। कृतस्नानाः—कृतं=विहितं, स्नानं=स्नानक्रिया, यैस्ते कृत-स्नानाः=स्नानं कृत्वा। महाकालं=महाकालनामकं शिवलिङ्गम्। प्रणम्य= नमस्कृत्य। यावत्=यावदेव। निर्गच्छन्ति=निष्क्रामन्ति। तावत्=तावदेव। भैरवानन्दो नाम=भैरवानन्दनामकः। योगी=गोरक्षसम्प्रदायानुयायी साधकः। सम्मुखे=समक्षे। बभूव=अभवत्। ततः=तदनन्तरम्। तं=भैरवानन्दनामकं योगिनम्। ब्राह्मणोचितविधिना=ब्राह्मणयोग्यविधानेन। सम्भाव्य=सत्कृत्य, अभिवाद्य वा। तेनैव सह=भैरवानन्देन साकम्। मथं=कुटीरम्। जग्मुः= गतवन्तः। सिद्धयात्रिकाः—सिद्धये यात्रिकाः सिद्धियात्रिकाः=धनादिसिद्धये गमनशीलाः। धनाप्तिः—धनस्य आप्तिः धनाप्तिः=धनलाभः। मृत्यु=मरणं वा। एष निश्चयः=निर्णयः।

हिन्दी—इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए वे उज्जयिनी पहुँच गये। वहाँ सिप्रा नदी के जल में स्नान के बाद महाकालनामक शिवजी को प्रणाम करके जैसे ही मन्दिर से निकलते हैं वैसे ही भैरवानन्द नामक योगी सामने आ पहुँचा। तब ब्राह्मणोचित विधि से उसको प्रणाम करने के बाद वे चारों उन्हीं के मठ तक चले गये। वहाँ पहुँचकर भैरवानन्द ने उन लोगों से पूछा—आप लोग कहाँ से आ रहे हैं ? और कहाँ जायेंगे ? तथा क्या काम है ? तब उन लोगों ने कहा—हम अर्थोपार्जन की सिद्धि के लिए यात्रा करने वाले हैं। वहाँ जायेंगे जहाँ धन की प्राप्ति हो अथवा मरण हो जाय। यही हम लोगों का निश्चय है। कहा भी गया है—

दुष्प्राप्याणि बहूनि च लभ्यन्ते वाञ्छितानि द्रविणानि।
अवसरतुलिताभिरलं तनुभिः साहसिकपुरुषाणाम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—साहसिकपुरुषाणां, अवसरतुलिताभिः तनुभिः अलं वाञ्छितानि द्रविणानि बहूनि दुष्प्राप्याणि च लभ्यन्ते ॥ २७ ॥

व्याख्या—साहसिकपुरुषाणां—साहसेन कार्यं कुर्वन्तीति साहसिकाः ते च ते पुरुषा इति साहसिकपुरुषाः तेषां साहसिकपुरुषाणाम्=उद्योगिनां मानवानाम्। अवसरतुलिताभिः—अवसरे तुलिता अवसरतुलिताः ताभिः अवसरतुलिताभिः= समये तुलामारोपिताभिः। परीक्षिताभिः=पूर्णरूपेण कार्यकारिभिः। तनुभिः= शरीरैः। अलं=पर्याप्तम्। वाञ्छितानि=अभिलषितानि। द्रविणानि= धनानि। बहूनि=बहुलानि। दुष्प्राप्याणि=दुर्लभानि कष्टसाध्यानि। लभ्यन्ते= प्राप्यन्ते। शारीरिकैः श्रमैरभिलषितं धनं भवति सुलभमिति भावः॥ २७॥

हिन्दी—कार्य के समय अपने शरीर को तुलापर चढ़ा देने वाले, जान की बाजी लगा लेने वाले, साहसी व्यक्तियों को अभिलषित सम्पत्ति तो मिल ही जाती है, अनेक दुष्प्राप्य वस्तुएँ भी मिल जाती हैं॥ २७॥

तथा च—

पतति कदाचिन्नभसः खाते, पातालतोऽपि जलमेति।
दैवमचिन्त्यं बलवद् बलवान्ननु पुरुषकारोऽपि॥ २८॥

अन्वयः—अचिन्त्यं दैवं बलवत्, ननु पुरुषकारोऽपि बलवान्। कदाचित् जलं नभसः खाते पतति, (कदाचिद्) पातालतोऽपि खातम् एति॥ १३॥

व्याख्या—अचिन्त्यं-चिन्तायोग्यं चिन्त्यं न चिन्त्यमचिन्त्यम्=अचिन्तनीयम्। दैवं=भाग्यम्। बलवत्=शक्तिमत्। ननु=निश्चयम्। पुरुषकारोऽपि=पुरुषार्थोऽपि। बलवान्=शक्तिमान्। भवति। कदाचित्=कस्मिन्नपि काले। जलं=पानीयम्। नभसः=आकाशात् (वृष्टिरूपेण)। खाते=जलाशये पुष्करिण्यादौ। पतति=समागच्छति। कदाचिच्च पातालतोऽपि=पाताललोकादपि, भूगर्भादपि (खननोत्पन्नविवरद्वारा) खाते=कूपादौ, एति=आगच्छति। अर्थात् वर्षाकाले जलम् आकाशात् जलाशयेषु निपतति तथा पुरुषार्थद्वारा भूगर्भादपि उत्खनने जलाशयादौ।

हिन्दी—यद्यपि अचित्य भाग्य तो बलवान् होता ही है, कभी पुरुषार्थ भी बलवान् हो जाता है। क्योंकि, कभी (वर्षा काल में) तो पानी आकाश से जलाशय में गिरता है और पुरुषार्थ से खोदे हुए जलाशय में (कूपतालाब आदि में) पाताल से भी निकलता है। अर्थात् कभी पानी आकाश से जलाशय में गिरता है और कभी पुरुषार्थ द्वारा पाताल से भी जलाशय में (निकलता है)॥ २८॥

अभिमतसिद्धिरशेषा भवति हि पुरुषस्य पुरुषकारेण।
दैवमिति यदपि कथयसि पुरुषगुणः सोऽप्यदृष्टाख्यः॥ २९॥

अन्वयः—पुरुषकारे पुरुषस्य अशेषा अभिमतसिद्धिः भवति, हि यदपि दैवमिति कथयसि अदृष्टाख्यः पुरुषगुणः (एव भवति) ।। २९ ।।

व्याख्या—पुरुषकारेण=पुरुषार्थेन । पुरुषस्य=मनुष्यस्य । अशेषा=निःशेषा सम्पूर्णा । अभिमतसिद्धिः=वाञ्छितार्थसिद्धिः, इष्टसिद्धिः, इच्छितफलप्राप्तिर्वा । भवति=जायते । हि=निश्चयेन । यदपि=यत् किल । दैवं=भाग्यम् । बलवद्=बलान्वितमस्ति । इति कथयसि=ब्रवीषि । सोऽपि=पुरुषगुणः, पुरुषस्यैव प्रयत्नोऽस्ति कर्मणा परिणामस्वरूपमपूर्वमदृष्टं तावद्भाग्यापरपर्यायं पुरुषप्रयत्नेनैव साध्यमिति भावः ।। २९ ।।

हिन्दी—पुरुषार्थ से ही मनुष्य की सारी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं। जिसे अदृष्ट या भाग्य कहा जाता है, वह अदृष्ट नाम का ही पुरुष का एक गुण होता है। अर्थात् पुरुषार्थ के अतिरिक्त दैव कुछ नहीं है। पुरुषार्थ का ही दूसरा नाम भाग्य है ।। २९ ।।

द्वयमतुलं गुरु लोकात्तृणमिव तुलयन्ति साधु साहसिकाः ।
प्राणानद्भुतमेतच्चरितं चरितं ह्युदाराणाम् ।। ३० ।।

अन्वयः—साहसिकाः प्राणान् तृणमिव साधु तुलयन्ति, एतदद्भुतं चरितं हि उदाराणां चरितं च द्वयं लोकात् गुरु अतुलं च भवति ।। ३० ।।

व्याख्या—साहसिकाः=साहससम्पन्नाः पुरुषार्थिनः पुरुषाः । प्राणान्=असून्, जीवनम् । तृणमिव=शष्पमिव मत्वा, साधु=निर्भयम् । तुलयन्ति=पणीकुर्वन्ति कार्यातुलामारोपयन्ति मन्यन्ते वा । एतत्=अद्भुतं । चरितं=इदमपूर्वमाचरणम् । उदाराणाम्=स्वपरशून्यानामुदारपुरुषाणाम् । द्वयम्=एतदुभयमपि । लोकात्=विश्वतः । सर्वतोऽपीत्यर्थः । गुरु=महत्, श्रेष्ठम् । अतुलम्=अतुलनीयम् असाधारणं च भवति । उदारा हि जीवं तृणमिव मत्वा प्राणपणेनापि पौरुषं कुर्वन्तीति भावः ।। ३० ।।

हिन्दी—साहसी व्यक्ति कार्य के समय अपने प्राणों को तृण के समान समझकर प्राण की बाजी लगा देते हैं। साहसी व्यक्तियों का यह अपूर्व चरित्र तथा उदार व्यक्तियों का आचरण ये दोनों लोक सामान्य से महान् एवं अनोखा होता है ।। ३० ।।

क्लेशस्याऽङ्गमदत्त्वा सुखमेव सुखानि नेह लभ्यन्ते ।
मधुभिन्मथनायस्तैराश्लिष्यति बाहुभिर्लक्ष्मीम् ।। ३१ ।।

अन्वयः—इह क्लेशस्य अङ्गमदत्त्वा सुखमेव सुखानि च लभ्यन्ते। (यतो हि) मधुभित् मथनायस्तैः बाहुभिः लक्ष्मीम् आश्लिष्यति ।। ३१ ।।

व्याख्या—इह=अस्मिन् संसारे। क्लेशस्य=कष्टस्य। अङ्गं=शरीरम्। अदत्त्वा=अवितीर्य, असमर्प्य कायक्लेशमननुभूय। सुखपूर्वकमेव आयासेन, सरलतया। सुखानि न लभ्यन्ते=नैवासाद्यन्ते, यतो हि मधुभित्=मधुं=मधुनामकं दैत्यं, भिनत्तीति मधुभित्=मधुदैत्यनाशको भगवान् विष्णुः। मथनायस्तैः—मथनेनायस्ता मथनायस्ताः तैः मथनायस्तैः=समुद्रमथनेन परिश्रान्तैः, बाहुभिः=भुजैः। लक्ष्मीं=श्रियम्। आश्लिष्यति=समालिङ्गति। यथा भगवता विष्णुना समुद्रमन्थनपरिश्रमेणैव लक्ष्मीः लब्धा तथैव क्लेशं सोढ्वैव सुखप्राप्तिः सम्भवति न क्लेशं विना सुखाप्तिः सम्भावनेति भावः ।। ३१ ।।

हिन्दी—इस संसार में शरीर को बिना कष्ट दिये अनायास ही सुख नहीं मिलता। क्योंकि मधुनामक दैत्य को मारने वाले भगवान् विष्णु भी समुद्र-मन्थन से थके हाथों के द्वारा ही लक्ष्मी का आलिङ्गन करते हैं ।। ३१ ।।

तस्य कथं न चला स्यात् पत्नी विष्णोर्नृसिंहकस्यापि।
मासांश्चतुरो निद्रां यः सेवति जलगतः सततम् ।। ३२ ।।

अन्वयः—यः जलगतः चतुरः मासान् सततं निद्रां सेवति नृसिंहकस्य अपि तस्य पत्नी चला कथं न स्यात्? ।। ३२ ।।

व्याख्या—यः=भगवान् विष्णुः। जलगतः=जलमध्ये स्थितः सन्। चतुरः मासान्=मासचतुष्टयम्। सततं=निरन्तरम्। निद्रां सेवति=निद्राति, शेते। नृसिंहकस्य=कार्यवशात् नसिंहरूपधारिणः अपि, श्रेष्ठपुरुषस्यापि। तस्य=प्रसिद्धस्य भगवतो विष्णोः। पत्नी=भार्या, लक्ष्मीः। चला=चञ्चला। कथं न स्यात्=कुतो न भवेत्। यथा चतुर्षु मासेषु क्षीरसमुद्रे निद्रालोर्भगवतो नारायणस्य धर्मपत्नी लक्ष्मीः स्थिरा नास्ति तथैव पौरुषमकुर्वतः श्रेष्ठपुरुषस्यापि लक्ष्मीः कथं चिरं तिष्ठेत् ।। ३२ ।।

हिन्दी—जो चार महीने तक निरन्तर समुद्र में शयन करते हैं, उन नरश्रेष्ठ विष्णु की भी स्त्री लक्ष्मी चञ्चला क्यों न हो जाय! आलसवश विश्राम करने वाले व्यक्ति को भी लक्ष्मी छोड़ देती है ।। ३२ ।।

दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण साहसं न कृतम्।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानिह जलदपटलानि ।। ३३ ।।

अन्वयः—यावत् पुरुषेण साहसं न कृतम्, (तावत्) परभागः दुरधिगमः (भवति)। इह भास्वान् तुलामधिरूढः (एव) जलदपटलानि जयति ॥३३॥

व्याख्या—यावत्=यावत्कालपर्यन्तम् । पुरुषेण=जनेन । साहसं=पौरुषम् । न कृतं=नैव विहितम् । तावत्पर्यन्तम् । परभागः—परस्य भागः परभागः=विजयः । दुरधिगमः—दुःखेनाधिगन्तुं शक्य इति दुरधिगमः=दुष्प्रापः । इह=लोके । भास्वान्=सूर्यः । तुलामधिरूढः=तुलाराशि गतः । जलदपटलानि=मेघमण्डलानि । जयति=पराजयते । यथा शरदतौं तुलाराशिगमनपरिश्रमेणैव दिनमणिना वार्षिकं मेघवृन्दं पराजीयते तथैव विशिष्टः कश्चन गुणः पौरुषेणैव प्राप्तुं शक्यते नान्यथेति भावः ॥ ३३ ॥

हिन्दी—जब तक मनुष्य साहस नहीं करता, तब तक ही उसे विजयप्राप्ति दुर्लभ रहती है । भगवान् सूर्य तुला राशि पर आरूढ होने के बाद ही मेघ-मण्डल को विजित कर पाते हैं । अर्थात् साहसपूर्वक प्राणों की बाजी लगाने पर ही कार्य सिद्ध हो पाता है ॥ ३३ ॥

तत् कथ्यतामस्माकं कश्चित् धनोपायो विवरप्रवेशशाकिनीसाधनश्मशान-सेवनमहामांसविक्रयसाधकवर्तिप्रभृतीनामेकतम इति । अद्भुतशक्तिर्भवान् श्रूयते । वयमप्यतिसाहसिकाः । उक्तञ्च—

व्याख्या—कथ्यताम्=उच्यताम् । अस्माकं=अस्मदर्थम् । धनोपायः=धनलाभोपायः । विवरप्रवेशश्च शाकिनीसाधनञ्च श्मशानसेवनञ्च महामांस-विक्रयश्च साधकवर्तिश्चेति विवरप्रवेश-शाकिनीसाधन-श्मशानसेवन-महामांस-विक्रयसाधकवर्तयः तेषां विवरप्रवेशशाकिनीसाधन-श्मशानसेवनमहामांसविक्रय-साधकवर्तीनाम् तत्र, विवरप्रवेशः=भूगर्भप्रवेशः (पातालयात्रा) । शाकिनी-साधनम्=यक्षिणीसाधनम् । श्मशानसेवनं=श्मशानोपासनं, श्मशानसाधनं वा । महामांसविक्रयः=गोमनुष्यमांसविक्रयः । साधकवर्तिः=साधकगुटिका-कार्यसाधकरूपा, अञ्जनपादलेपनादिरूपा वर्तिः । एकतमः=एषु कश्चन एक उपायः । अद्भुतशक्तिः=अद्भुतपराक्रमः सिद्धपुरुषः । श्रूयते=कर्णाकर्णिकया आकर्ण्यते । वयं=चत्वारोऽपि । अतिसाहसिकाः=साहसपूर्णकार्यकर्तारः । उक्तञ्च=कथितञ्च ।

हिन्दी—अतः हम लोगों के लायक पाताल में प्रवेश, यक्षिणी आदि का साधन, भूत-वेताल आदि के सिद्ध करने के लिए श्मशान में उपासना, पुरुष के मांस का वेचना तथा सिद्धगुटिका बनाने में से कोई एक धन प्राप्त करने का

उपाय बतलाइए। सुना जाता है कि आप एक अद्भुत शक्तिसम्पन्न सिद्ध पुरुष हैं। हम लोग हर स्थिति का सामना करने को प्रस्तुत हैं। कहा भी गया है कि—

महान्त एव महतामर्थं साधयितुं क्षमाः।
ऋते समुद्रादन्यः को बिभर्ति वडवानलम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—महान्त एवं महामर्थं साधयितुं क्षमाः। समुद्रात् ऋते अन्यः कः वडवानलं बिभर्ति ॥ ३४ ॥

व्याख्या—महान्तः=श्रेष्ठाः महापुरुषाः। एव=निश्चयेन। महतां=महापुरुषाणाम्। अर्थं=कार्यम्। साधयितुं=निष्पादयितुम्। क्षमाः=समर्थाः भवन्ति। समुद्रात् ऋते=समुद्रं बिना, सागरं विहाय। अन्यः=इतरः। कः=को जनः। बडवानलं=बडवाग्निम्। बिभर्ति=दधाति ? न कोऽपीत्यर्थः। अर्थात् महतां कार्यं महद्भिरेव सम्पादयितु शक्यं नाऽन्यैरिति भावः ॥ ३४ ॥

हिन्दी—बड़े व्यक्ति ही बड़े व्यक्तियों के प्रयोजन को पूर्ण करने में समर्थ होते हैं, क्योंकि समुद्र के अतिरिक्त दूसरा कौन बडवानल को धारण कर सकता है ? ॥ ३४ ॥

भैरवानन्दोऽपि तेषां सिद्ध्यर्थं बहूपायं सिद्धवर्तिचतुष्टयं कृत्वाऽर्पयत्। आह च—"गम्यतां हिमालयदिशि। तत्र सम्प्राप्तानां यत्र वर्तिः पतिष्यति, तत्र निधानमसन्दिग्धं प्राप्यस्व। तत्र स्थानं खनित्वा निधिं गृहीत्वा व्याघुट्यताम्।"

व्याख्या—तेषां=ब्राह्मणकुमाराणाम्। सिद्ध्यर्थं=कार्यसम्पादनाय। बहूपायं=नानाकार्यसाधनक्षमम्। सिद्धवर्तिचतुष्टयम्=चतस्रः सिद्धगुटिकाः। कृत्वा=निर्माय। अर्पयत्=ददौ। आह च=उक्तवांश्च। हिमालयदिशि=उत्तरस्यां दिशि। सम्प्राप्तानां=गतानां भवताम्। निधानं=भूमिगतं धनम्। असन्दिग्धं=निश्चयम्। प्राप्स्यथ=अवाप्स्यथ यूयम्। निधिं=द्रव्यम्। गृहीत्वा=आदाय। व्याघुट्यताम्=प्रत्यागम्यताम्, निवर्त्यताम्।

हिन्दी—तब भैरवानन्द ने भी उनकी सफलता के लिए बहुत उपायों वाली चार सिद्धवर्तिकाओं को बनाकर उन्हें दे दिया और कहा—हिमालय की ओर चले जाओ। वहाँ पहुँचने पर जहाँ तुम्हारी वर्तिका गिरेगी, वहाँ निःसन्देह तुम्हें बहुत-सा धन मिलेगा। वर्तिका के गिरनेवाले स्थान को खोदकर धन निकाल देना और उसे लेकर लौट जाना।

तथाऽनुष्ठिते तेषां गच्छतामेकतमस्य हस्ताद्वर्तिर्निपपात। अथाऽसौ यावत्तं प्रदेशं खनति तावत्ताम्रमयी भूमिः। ततस्तेनाऽभिहितम्—"अहो, गृह्यतां स्वेच्छया ताम्रम्"।

अन्ये प्रोचुः—"भो मूढ! किमनेन क्रियते यत् प्रभूतमपि दारिद्र्यं न नाशयति। तदुत्तिष्ठ अग्रतो गच्छामः।"

सोऽब्रवीत्—"यान्तु भवन्तः। नाऽहमग्रे यास्यामि।" एवमभिधाय ताम्रं यथेच्छया गृहीत्वा प्रथमो निवृत्तः।

ते त्रयोऽपि अग्रेप्र स्थिताः। अथ किञ्चिन्मात्रं गतस्याऽग्रेसरस्य वर्तिर्निपपात। सोऽपि यावत्खनितुमारब्धस्तावद् रूप्यमयी क्षितिः। ततः प्रहर्षितः प्राह, यत्—"भो भो, गृह्यतां यथेच्छया रूप्यम्। नाऽग्रे गन्तव्यम्।"

तावूचतु—"भोः पृष्ठतस्ताम्रमयी भूमिः, अग्रतो रूप्यमयी। तन्नूनमग्रे सुवर्णमयी भविष्यति। किं चाऽनेन प्रभूतेनाऽपि दारिद्र्यनाशो न भवति। तदावामग्रे यास्यावः।" एवमुक्त्वा द्वावप्यग्रे प्रस्थितौ। सोऽपि स्वशक्त्या रूप्यमादाय निवृत्तः।

व्याख्या–तथाऽनुष्ठिते=तथैव कृते। तेषां=ब्राह्मणकुमाराणाम्। एकतमस्य=एकस्य। ताम्रमयी=ताम्रखनिः। अभिहितं=कथितम्। अन्ये प्रोचुः=अपरे कथितवन्तः। अनेन=ताम्रेण। प्रभूतमपि=अत्यधिकमपि। दारिद्र्यं न नाशयति=दरिद्रतां निर्धनत्वं न निवारयति। अग्रतः=अग्रे। यान्तु=गच्छन्तु। अभिधाय=उक्त्वा। यथेच्छया=स्वेच्छया। निवृत्तः=परावृत्तः। प्रस्थिताः=प्रचलिताः। अग्रेसरस्य=अग्रगामिनः। रूपमयी=रजतमयी। क्षितिः=भूमिः। प्रहर्षितः=आनन्दितः। अनेन=रजतेन। रूप्यं=रजतम्।

हिन्दी—वैसा करने पर जाते हुए उनमें से एक के हाथ से वर्ती गिर गयी। तब वह जैसे ही उस स्थान को खोदता है तो देखा कि तांबे की खान है। तब उनसे साथियों से कहा—'अरे, जितना चाहो तांबा निकाल लो।'

उनकी बात सुनकर दूसरों ने कहा—'अरे मूर्ख, इस तांबे से क्या किया जायेगा, यह अधिक होने पर भी हमारी निर्धनता को नहीं मिटा सकता। उठो, आगे चला जाय।'

उसने कहा—'तुम लोग जाओ, मैं आगे नहीं जाऊंगा।' ऐसा कहकर वह इच्छानुसार तांबा लेकर लौट गया।

उसके लौट जाने पर शेष तीनों आगे बढ़े। अभी वे कुछ ही दूर गये थे

कि आगेवाले की वर्ती गिर पड़ी। उसने भी जब खोदना आरम्भ किया तो चाँदी की खान दिखाई पड़ी। उससे प्रसन्न होकर वह बोला—'मित्रो ! इसमें से इच्छानुसार चाँदी ले लो और लौट चलो, आगे मत जाओ।'

उसकी बात सुनकर शेष दोनों ने कहा—'भाई, पीछे ताँबे की खान मिली थी, उससे आगे चाँदी की खान मिली, इससे आगे निश्चय ही सोने की खान मिलेगी। इसको लेकर हम लोग क्या करेंगे कि अधिक से अधिक लेकर लौटने पर भी हमारी दरिद्रता दूर नहीं हो सकेगी। अतः हम आगे जायेंगे।' यह कहकर वे दोनों आगे बढ़ गये और दूसरा ब्राह्मणकुमार भी यथाशक्ति चाँदी लेकर लौट गया।

अथ तयोरपि गच्छतोरेकस्याग्रे वर्तिः, पपात। सोऽपि प्रहृष्टो यावत् खनति, तावत्सुवर्णभूमिं दृष्ट्वा द्वितीयं प्राह—"भो, गृह्यतां स्वेच्छया सुवर्णम्। सुवर्णादन्यन्न किञ्चिदुत्तमं भविष्यति।"

स प्राह—"मूढ ! न किञ्चिद् वेत्सि। प्राक्ताम्रं, ततो रूप्यं, ततः सुवर्णम्। तन्नूनमतः परं रत्नानि भविष्यन्ति, येषामेकतमेनाऽपि दारिद्र्यनाशो भवति। तदुत्तिष्ठ, अग्रे गच्छावः। किमनेन भारभूतेनाऽपि प्रभूतेन ?"

स आह—"गच्छतु भवान्। अहमत्र स्थितस्त्वां प्रतिपालयिष्यामि।" तथाऽनुष्ठिते, सोऽपि गच्छन्नेकाकी, ग्रीष्मार्कप्रतापसन्तप्ततनुः पिपासाकुलितः सिद्धिमार्गच्युत इतश्चेतश्च बभ्राम।

अथ भ्राम्यन्, स्थलोपरि पुरुषमेकं रुधिरप्लावितगात्रं भ्रमच्चक्रमस्तकमपश्यत्। ततो द्रुततरं गत्वा तमवोचत्—"भोः, को भवान्? किमेवं चक्रेण शिरसि तिष्ठसि ? तत्कथय मे यदि कुत्रचिज्जलमस्ति।"

व्याख्या—सोऽपि=अन्यतमोऽपि। प्रहृष्टः=प्रसन्नः। सुवर्णभूमिं=स्वर्णखनिं। दृष्ट्वा=अवलोक्य। उत्तमं=श्रेष्ठम्। वेत्सि=जानासि। प्राक्=पूर्वम्, आदौ वा। येषां=रत्नानाम्। एकतमेन=एकेन। भारभूतेन=भारस्वरूपेण। प्रतिपालयामि=प्रतीक्ष्ये। एकाकी=एकलः, एको वा। ग्रीष्मार्कप्रतापसन्तप्ततनुः—ग्रीष्मस्य=ग्रीष्मकालिकस्य, यः अर्कः=सूर्यः, ग्रीष्मार्कः तस्य प्रतापः इति ग्रीष्मार्कप्रतापः प्रचण्डः, तेन सन्तप्तः तनुर्यस्य स ग्रीष्मार्कप्रतापसन्तप्ततनुः=ग्रीष्मतापात्तप्तकायः। पिपासाकुलितः=पिपासया। आकुलितः=पिपासाव्याकुलः। सिद्धिमार्गच्युतः—सिद्धेः मार्गः सिद्धिमार्गः, सिद्धिमार्गाद् च्युतः सिद्धिमार्गच्युतः=गन्तव्यस्थानात् स्खलितः अथवा सुवर्णलब्धमार्गभ्रष्टः। इतश्चेतश्च=इतस्ततः। भ्राम्यन्=परिभ्रमन्। स्थलो-

परि=समतलप्रदेशे। रुधिरेण प्लावितं गात्रं यस्य स रुधिरप्लावितगात्रः तं रुधिर-प्लावितगात्रं=रक्ताभिषिक्तशरीरम्। भ्रमच्चक्रं मस्तके यस्य स भ्रमच्चक्र-मस्तकं=चक्रभ्रमितशिरम्। द्रुतम्=शीघ्रातिशीघ्रम्। अवोचत्=अकथयत्।

हिन्दी—बाद शेष उन दोनों के कुछ आगे जाने पर उसमें से भी एक हाथ से वर्ती गिर गयी। प्रसन्न होकर वह भी ज्यों ही खोदता है तो सोने की ख़ान देखकर दूसरे से कहा—'अरे अपनी इच्छा के अनुसार सोना ले लो। सोने से बढ़कर कोई उत्तम वस्तु नहीं मिलेगी।'

दूसरे ने कहा—'मूर्ख, तुम कछ नहीं जानते। देखो, पहले ताँबा, उनके बाद चाँदी, उसके बाद सोने की खान मिली, इसके बाद निश्चय ही रत्नों की खान मिलेगी। उसमें से यदि एक भी मिल गया तो दरिद्रता दूर हो जायेगी। अतः उठो और आगे चला जाय। इस बोझीले बहुत भार से क्या लाभ ?'

यह सुनकर उसने कहा—'तुम आगे जाओ मैं यहीं ठहरा हुआ तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा। अन्त में विवश होकर चतुर्थ को अकेला ही आगे जाना पड़ा। कुछ दूर जाने के बाद वह ग्रीष्म ऋतु की भीषण गर्मी और प्यास से सन्तप्त एवं व्याकुल होकर लक्ष्य से भ्रष्ट हो गया और इधर-उधर घूमने लगा।

इधर-उधर-घूमते हुए उसने उस समतल मरुभूमि पर खून से लथपथ एक व्यक्ति को देखा, जिसके मस्तक पर चक्र घूम रहा था। बड़ी शीघ्रता से जाकर उसने पूछा—'अरे आप कौन हैं ? इस प्रकार शिर पर घूमते हुए चक्र के नीचे क्यों बैठे हो ? यदि पास में कहीं पानी हो तो मुझे बताओ।

एवं तस्य प्रवदतस्तच्चक्रं तत्क्षणात्तस्य शिरसो ब्राह्मणमस्तके चटितम्।

स आह—"भद्र किमेतत् ?"

स आह—"ममाऽप्येवमेतच्छिरसि चटितम् ?"

स आह—"तत्कथय, कदैतदुत्तरिष्यति ? महती मे वेदना वर्तते।"

स आह—"यदा त्वमिव कश्चिदधृतसिद्धवर्तिरेवमागत्य, त्वामालापयिष्यति तदा तस्य मस्तकं चटिष्यति।"

स आह—"कियान् कालस्तवैवं स्थितस्य ?"

स आह—"साम्प्रतं को राजा धरणीतले ?"

स आह—"वीणावादनपटुः वत्सराजः।"

स आह—"अहं तावत्कालसङ्ख्यां न जानामि। परं यदा रामो राजाऽऽसी-

तदाऽहं दारिद्र्योपहतः सिद्धवर्तिमादायानेन पथा समायातः। ततो मयाऽन्यो नरो मस्तकधृतचक्रो दृष्टः, पृष्टश्च। ततश्चैतज्जातम्।"

स आह—"भद्र ! कथं तदेवं स्थितस्य भोजनजलप्राप्तिरासीत् ?"

स आह—"भद्र ! धनदेन निधानहरणभयात्सिद्धानामेतच्चक्रपतनरूपं भयं दर्शितम्। तेन कश्चिदपि नागच्छति। यदि कश्चिदायाति, स क्षुत्पिपासानिद्रा-रहितो जरामरणवर्जितः केवलमेवं वेदनामनुभवति इति। तदाज्ञापय मां स्वगृहाय।" इत्युक्त्वा गतः।

व्याख्या—प्रवदतः=वार्तां कुर्वतः। तत्क्षणात्=तस्मिन्नेव काले। चटितं= आरुरोह। त्वमिव=त्वत्सदृशः। आलापयिष्यति=वार्तां करिष्यति। काल-संख्यां=कालगणनाम्। दारिद्र्योपहृतः—दारिद्र्येण उपहतो दारिद्र्योपहतः= दरिद्रतापीडितः। मस्तके घृतचक्रः=चक्रयुक्तसिरः। धनदेन=कुवेरेण। निधान-हरणभयात्=धनाहरणभीतेः। सिद्धानां=सिद्धयर्थमागतानाम्। क्षुत्-पिपासा-निद्रारहितः—क्षुच्च पिपासा च निद्रा चेति क्षुत्-पिपासानिद्राः ताभिः रहितः क्षुत्पिपासानिद्रारहितः=बुभुक्षापिपासादिविरहितः। जरामरणवर्जितः= वार्द्धक्यमृत्युरहितः। वेदनामनुभवति=कष्टमनुभवति। स्वागृहाय=निज-गेहगमनाय।

हिन्दी—इस प्रकार उससे बातचीत करना आरम्भ करते ही वह चक्र उस व्यक्ति के शिर से उतरकर ब्राह्मणकुमार के सिर पर चढ़ गया। यह देख उसने आश्चर्य-चकित होकर पूछा—'भले आदमी, यह क्या हुआ ?'

उसने उत्तर दिया—'यह मेरे सिर पर भी इसी प्रकार चढ़ गया था।'

उस ब्राह्मण ने पूछा—'तो बताओ, यह कब उतरेगा ? मुझे बहुत कष्ट है।'

उसने उत्तर दिया—'आप ही के समान जब कोई दूसरा व्यक्ति इसी प्रकार सिद्धवर्तिका को लेकर आयेगा और बातचीत करेगा, तब वह आपके मस्तक से उतरकर उसके मस्तक पर चढ़ जायेगा।'

उसने पूछा—'आपको कितने दिनों यहाँ वैठना पड़ा।'

उसने पूछा—'इस समय पृथ्वी पर कौन राजा है ?'

उस ब्राह्मण ने बतलाया—'वीणावादनपटु वत्सराज।'

उस पुरुष ने कहा—'समय की गणना तो मैं नहीं जानता, किन्तु जब राम राजा थे, तब मैं निर्धनता से दुःखी हो सिद्धवर्ती लेकर इस मार्ग से आया था। यहाँ आने पर मैंने एक आदमी को देखा, जिसके सिर पर चक्र घूम

रहा था। इसके विषय में अभी मैं उससे पूछ ही रहा था कि यह (चक्र) मेरे शिर पर आकर चढ़ गया।'

उस ब्राह्मण ने पूछा—'मित्र, इस प्रकार चक्र के नीचे बैठने पर आप को भोजन पानी कैसे मिलता था ?'

उसने उत्तर में कहा—'महाशय, कुबेर ने धन की चोरी के भय से अर्थ की चिन्ता में इधर आनेवाले व्यक्तियों के लिए चक्र के गिरने का यह भय दिखाया है। अतः इधर कोई नहीं आता है। यदि लोभवश कोई आ पड़ा तो वह इसी प्रकार भूख, प्यास, नींद, बुढ़ापा एवं मृत्यु से रहित होकर केवल वेदना का ही अनुभव करता है। अब आप कृपया मुझे घर जाने की आज्ञा प्रदान करें।' वह यह कहकर वहाँ से तत्काल चल दिया।

तस्मिश्चिरयति स सुवर्णसिद्धिस्तस्याऽन्वेषणपरस्तत्पदपङ्क्त्या यावत् किञ्चिद् वनान्तरमागच्छति तावद्रुधिरप्लावितशरीरस्तीक्ष्णचक्रेण मस्तके भ्रमता सवेदनः क्वणन्नुपविष्टतीति ददर्श। ततः तत्समीपवर्तिना भूत्वा सवाष्पं पृष्टः—"भद्र किमेतत् ?"

स आह—"विधिनियोगः।"

स आह—"कथं तत् ? कथय कारणमेतस्य।"

सोऽपि तेन पृष्टः, सर्वं चक्रवृत्तान्तमकथयत्।

तत् श्रुत्वाऽसौ तं विगर्हयन्निदमाह—"भो ! निषिद्धस्त्वं मयाऽनेकशो न शृणोषि मे वाक्यम्। तत्किं क्रियते ? विद्यावानपि, कुलीनोऽपि, (वस्तुतः) बुद्धिरहितः (असि)।" अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—तस्मिन्=ब्राह्मणे। चिरयति=विलम्बिते सति। अन्वेषणतत्परः=सन्धानतत्परः। तत्पदपङ्क्त्या=तच्चरणचिह्नेन। वनान्तरं=काननान्तरम्। तीक्ष्णचक्रेण=तीव्राग्रयुक्तेन चक्रेण। सवेदनः=कष्टयुक्तः। क्वणन्=सशब्दं रुदन्। तत्समीपवर्तिना भूत्वा=तस्य सामीप्यं प्राप्य। सवाष्पं=अश्रुयुक्तनेत्रम्। विधिनियोगः=भाग्यविडम्बितम्। विगर्हयन्=निन्दयन्। निषिद्धः=प्रतिषिद्धः। न शृणोषि=नैवाऽशृणोः।

हिन्दी—उस ब्राह्मण के विलम्ब करने पर सुवर्णसिद्धि (सोना प्राप्त कर प्रतीक्षा करने वाला ब्राह्मणकुमार) उसकी खोज में लगा हुआ उसके पैरों के चिह्नों की परम्परा का अनुसरण करता हुआ वह दूसरे वन में पहुँचा तो देखा

कि उसका मित्र खून से लथपथ दुःखी होकर बैठा है, आह भरकर रो रहा है और उसके शिर पर तीव्र धार का चक्र घूम रहा है। अपने मित्र को इस स्थिति में देखकर अत्यन्त दुःखी हुआ और उसकी आँखों में आँसू भर आये। उस मित्र के पास जाकर उससे उसने पूछा–'मित्र यह क्या हुआ ?'

उसने उत्तर दिया—'मित्र ! भाग्य का चक्कर है।'

सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे हुआ ? इसका कारण तो बताओ।'

इस पर चक्रधर ने समस्त वृत्तान्त कह सुनाया।

यह सुनकर सुवर्णसिद्धि ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—'अरे, मैंने तुमको कितना मना किया कि मत जाओ, किन्तु तुमने मेरी एक बात भी नहीं सुनी। अब क्या किया जा सकता है ? तुम विद्वान एवं कुलीन होकर भी वस्तुतः बुद्धिहीन हो। अथवा ठीक ही कहा है—

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति, यथा ते सिंहकारकाः॥ ३५॥

अन्वयः—बुद्धिः वरं (किन्तु) सा विद्या (वरं) न, यतः विद्याया बुद्धिः उत्तमा (भवति)। बुद्धिहीनाः (तु) विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारकाः (विनष्टा बभूवुः)॥ ३५॥

व्याख्या—बुद्धिः=मतिः। वरं=श्रेष्ठम्। किन्तु सा विद्या वरं=श्रेष्ठं न। विद्यायाः=विद्यातः। बुद्धिरुत्तमा=श्रेष्ठा भवति। यतो हि, बुद्धिहीनाः=मतिविहीना विनश्यन्ति=नाशं यान्ति। यथा=येन प्रकारेण। सिंहकारकाः=शार्दूलनिर्मातारः, केशरीनिष्पादकाः। ब्राह्मणा विनष्टा बभूवुः। अतो लोके बुद्धिरेवोपयुज्यते, न केवला विद्येति भावः॥ ३५॥

हिन्दी—विद्या की अपेक्षा बुद्धि बड़ी होती है। उत्तम विद्यासम्पन्न व्यक्ति भी बुद्धि के अभाव में शेर को जिलानेवाले ब्राह्मणों की तरह नष्ट हो जाते हैं॥ ३५॥

चक्रधर आह—"कथमेतत् ?" सुवर्णसिद्धिराह—

चक्रधर ने पूछा—'यह कैसे ?' तब सुवर्णसिद्धि ने कहा—

३. सिंहकारकमूर्खब्राह्मण-कथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्राः परस्परं मित्रभावमुपगता वसन्ति स्म। तेषां त्रयः शास्त्रपारङ्गताः, परन्तु बुद्धिरहिताः। एकस्तु बुद्धिमान् केवलं

शास्त्रपराङ्मुखः। अथ तैः कदाचिन्मित्रैर्मन्त्रितम्—'को गुणो विद्यायाः, येन देशान्तरं गत्वा, भूपतीन् परितोष्यार्थोपार्जनः न क्रियते। तत्पूर्वदेशं गच्छामः।

तथाऽनुष्ठिते किञ्चिन्मार्गं गत्वा, तेषां ज्येष्ठतरः प्राह—"अहो, अस्माकमेकश्चतुर्थो मूढः, केवलं बुद्धिमान्। न च राजप्रतिग्रहो बुद्ध्या लभ्यते विद्यां विना। तन्नास्मै स्वोपार्जितं दस्यामि। तद् गच्छतु गृहम्।" ततो द्वितीयेनाऽभिहितम्—"भोः! सुबुद्धे! गच्छ त्वं स्वगृहं, यतस्ते विद्या नास्ति। ततस्तृतीयेनाऽभिहितम्—"अहो, न युज्यते एवं कर्तुम्, यतो वयं बाल्यात्प्रभृत्येकत्र क्रीडिताः, तदागच्छतु महानुभावोऽस्मदुपार्जितवित्तस्य समभागी भविष्यतीति। उक्तञ्च—

व्याख्या—अधिष्ठाने=नगरे। तेषां=ब्राह्मणपुत्राणाम्। शास्त्रपारङ्गताः शास्त्रमर्मज्ञाः। शास्त्रपराङ्मुखः=शास्त्रविमुखः, अनधीतशास्त्रः। तैः=ब्राह्मणपुत्रैः। मन्त्रितं=विमर्शः कृतः। देशान्तरं=विदेशम्। भूपतीन्=नृपतीन्, वसुधाधिपान्। पारितोष्य=सन्तोष्य। अर्थोपार्जनं=धनोपार्जनम्। क्रियते=विधीयते। तथाऽनुष्ठिते=तथा कृते सति। एकः=चतुर्थः। मूढः=मूर्खः। राजपरिग्रहः=राज्ञा दत्तं धनादिकं, राजदानम्। अस्मै=अमुष्मै, मूर्खाय। स्वोपार्जितं=निजार्जितम्। बाल्यात् प्रभृति=बाल्यकालादारभ्य। समभागी=समानप्राप्तिशाली।

हिन्दी—किसी नगर में चार ब्राह्मणपुत्र परस्पर मित्र बनकर रहते थे। उनमें से तीन ने शास्त्रों का अध्ययन तो किया था, किन्तु वे बुद्धिहीन थे। तथा एक शास्त्र से विमुख था, परन्तु लोकव्यवहार में बड़ा चालाक था। एक दिन चारों ने आपस में विचार किया, कि—'ऐसी विद्या से क्या लाभ है, जिससे देश विदेश में जाकर राजाओं को सन्तुष्ट करके धन न कमाया जाय। अतः धन कमाने के निमित्त कहीं चलना चाहिए, तो पूर्व दिशा में चलना अधिक लाभप्रद होगा।'

यह निश्चय कर वे चारों धनोपार्जन के लिए चल पड़े। कुछ मार्ग चलकर उनमें सबसे बड़ा बोला—'बन्धुओ, हममें जो चौथा मूर्ख है वह केवल लोकव्यवहार में पटु है। राजाओं का दान विद्या के अभाव में केवल बुद्धि से नहीं मिलता। अतः मैं अपनी कमाई में से इसे हिस्सा न दूंगा। अच्छा तो यह होगा कि यह घर लौट जाय। उसकी यह बात सुनकर द्वितीय ने कहा—'अरे सुबुद्धे! तुम अपने घर लौट जाओ, क्योंकि तुम्हारे पास कोई विद्या नहीं है।' तब तीसरे कहा—'भाई, मेरे विचार से ऐसा करना उचित नहीं है, क्योंकि

हम लोग बचपन से ही एक साथ खेले हैं। अतः इसको भी चलने देना चाहिए। हमारे कमाये हुए धन में से यह भी एक हिस्सा ले लिया करेगा। कहा भी गया है—

किं तया क्रियते लक्ष्म्या, या वधूरिव केवला।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥ ३६ ॥

अन्वयः—या सामान्या वेश्या इव पथिकैः न उपभुज्यते, या केवलं वधूरिव (तिष्ठति) तया लक्ष्म्या किं क्रियते ॥ ३६ ॥

व्याख्या—या = लक्ष्मीः। सामान्या = सर्वसामान्या। वेश्या = वाराङ्गना इव, साधारणगणिकेव। पथिकैः = पान्थैः। न उपभुज्यते = न ह्युपभुक्ता भवति। केवलेनात्मनैवोपभुज्यते। सा = लक्ष्मीः। केवला = एका। वधूः = कुलस्त्री। पतिव्रता इव तिष्ठति। तया = असामान्यया असाधारणया वा। लक्ष्म्या = श्रिया। किं क्रियते = किं विधीयते। व्यर्थैव सा श्रीः, सर्वसाधारणजनभोग्यैव लक्ष्मीः प्रशंसनीया भवतीति भावः ॥ ३६ ॥

हिन्दी—जो साधारण वेश्या की तरह पथिकों के उपयोग में नहीं आ सकती है तथा केवल पतिव्रता कुलवधू के समान एक ही व्यक्ति के उपभोग की वस्तु है उस लक्ष्मी से क्या लाभ है ? ॥ ३६ ॥

तथा च—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ३७ ॥

"तदागच्छत्वेषोऽपि" इति।

अन्वयः—अयं निजः परो वा इति गणना लघुचेतसाम् (भवति)। उदारचरितानां तु वसुधा एव कुटुम्बकम् (भवति) ॥ ३७ ॥

व्याख्या—अयं निजः = स्वकीयः। परः = परकीयः वा। इति गणना = विचारः। लघुचेतसाम्—लघु चेतो येषां ते लघुचेतसः तेषां लघुचेतसाम् = क्षुद्रपुरुषाणाम्, क्षुद्रान्तःकरणानां पुंसां भवति। उदारचरितानाम्—उदारं चरितं येषां ते उदारचरिताः, तेषामुदारचरितानाम् = उदारान्तःकरणवृत्तीनां महात्मनाम्। तु वसुधैव = पृथिवीमात्रम् सर्वं जगदित्यर्थः। कुटुम्बं = परिवारोऽस्ति, आत्मीयं कुटुम्बकमिव वास्ति। महान्तो हि पुरुषाः सर्वत्रात्मीयामेव बुद्धिमालम्बन्ते इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

हिन्दी—यह अपना है, यह पराया है इस प्रकार का विचारसंकुचित भावना के व्यक्ति करते हैं। उदार व्यक्तियों के लिए समस्त संसार ही अपना परिवार है।

अतः इसको भी चलने दो।

तथाऽनुष्ठिते तैर्मार्गाश्रितैरटव्यां कतिचिदस्थीनि दृष्टानि। ततश्चैकेनाभिहितम्—"अहो, अद्य विद्याप्रत्ययः क्रियते। किञ्चिदेतत्सत्त्वं मृतं तिष्ठति। तद् विद्याप्रभावेण जीवनसहितं कुर्मः। अहमस्थिसञ्चयं करोमि"। ततश्च तेनौत्सुक्यादस्थिसञ्चयः कृतः। द्वितीयेन चर्ममांसरुधिरं संयोजितम्। तृतीयोऽपि यावज्जीवनं सञ्चारयति, तावत्सुबुद्धिना निषिद्धः—"भो तिष्ठतु भवान्। एष सिंहो निष्पाद्यते। यद्येनं सजीवं करिष्यसि ततः सर्वानपि व्यापादयिष्यति।"

व्याख्या—तथानुष्ठिते=तथैव स्वीकृते सति। मार्गाश्रितैः=पथि गच्छद्भिः। अटव्यां=वने। अस्थीनि=कीकसानि। दृष्टानि=अवलोकितानि। अभिहितं=कथितम्। विद्याप्रत्ययः=विद्यापरीक्षा, विद्यायाः प्रत्यक्षरनुभवः। सत्त्वं=जीवः। औत्सुक्यात्=औत्कण्ठ्यात्। निषिद्धः=निवारितः। संयोजितम्=समायोजितम्। जीवनं सञ्चारयति=प्राणसञ्चारं करोति। निष्पाद्यते=विनिर्मीयते। व्यापादयिष्यति=मारयिष्यति।

हिन्दी—वैसा स्वीकार कर लेने पर मार्ग में जाते हुए उन्होंने जंगल में कुछ हड्डियाँ देखीं। तब एक ने कहा—'अरे, आज अपनी विद्या की परीक्षा की जाय। यह कोई मरा हुआ प्राणी है। विद्या के प्रभाव से इसको जिलाया जाय। मैं हड्डियों को एकत्र करता हूँ" यह कहकर उसने उत्सुकतापूर्वक हड्डियों को इकट्ठा किया। दूसरे ने हड्डियों में चाम, मांस एवं खून का सञ्चार किया। इसके बाद जब तीसरे व्यक्ति ने उसमें प्राण सञ्चार करना प्रारम्भ कर दिया तब चतुर्थ मूर्ख सुबुद्धि ने उसे रोकते हुए कहा—'अरे आप रुकिये। यह शेर बनाया जा रहा है। यदि तुमने इसको जिला दिया तो यह हम सभी को मार डालेगा।'

इति चेनाऽभिहितः स आह-"धिङ्मूर्ख! नाऽहं विद्याया विफलतां करोमि।" ततस्तेनाऽभिहितम्—'तर्हि प्रतीक्षस्व क्षणं, यावदहं वृक्षमारोहामि।"

तथाऽनुष्ठिते, यावत्सजीवः कृतस्तावत्ते त्रयोऽपि सिंहेनोत्थाय व्यापादिताः। स च पुनर्वृक्षादवतीर्य, गृहं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"वरं बुद्धिर्न सा विद्या" इति। अतः परमुक्तं च सुवर्णसिद्धिना—

व्याख्या—विफलतां=निष्फलताम्। प्रतीक्षस्व=प्रतिपालय, तिष्ठ। सजीवः कृतः=प्राणसञ्चारेण नियोजितः।

हिन्दी—इस प्रकार उसके कहने पर वह जिलानेवाला व्यक्ति बोला–'अरे मूर्ख! तुझे धिक्कार है। मैं अपनी विद्या को निष्फल नहीं कर सकता।' तब

मना करनेवाले ने कहा—'तो थोड़ी देर ठहरो, जब तक मैं इस वृक्ष पर चढ़ जाता हूँ, तब अपनी विद्या का प्रयोग करना।'

उसके पेड़ पर चढ़ जाने के बाद उसने ज्यों ही उस सिंह में प्राण का संचार किया, त्यों ही उठकर सिंह ने उन तीनों मूर्ख पण्डितों को मार डाला और वह सुबुद्धि पेड़ से उतरकर अपने घर चला गया। इसीलिए कहता हूँ—'वैसी विद्या अच्छी नहीं, अपितु बुद्धि अच्छी होती है। अर्थात् विद्या से बुद्धि उत्तम है।' इसके बाद सुवर्णसिद्धि ने कहा—

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिताः।
सर्वे ते हास्यतां यान्ति, यथा ते मूर्खपण्डिताः॥ ३८॥

अन्वयः—शास्त्रेषु कुशला अपि लोकाचारविवर्जिताः ते सर्वे हास्यतां यान्ति, यथा ते मूर्खपण्डिताः॥ ३८॥

व्याख्या—शास्त्रेषु=विद्यासु। कुशलाः=निपुणाः, पटवो, दक्षा वा। अपि। लोकाचारविवर्जिताः—लोकस्य आचारेण विवर्जिताः इति लोकाचारविवर्जिताः= लोकव्यवहारशून्याः। ते सर्वे=सकलाः। हास्यतां=परिहास्यताम्। यान्ति= गच्छन्ति। यथा=येन प्रकारेण। ते=पूर्वोक्ताः लोकानभिज्ञाः। मूर्खपण्डिताः= मूर्खाश्च ते पण्डिताः मूर्खपण्डिताः=अज्ञविद्वांसः। उपहसनीया अभूवन्। शास्त्रज्ञानेन सद्व्यवहारज्ञानमपि नूनमावश्यकमिति भावः॥ ३८॥

हिन्दी—शास्त्रों में कुशल रहने पर भी लोकव्यवहार से अनभिज्ञ व्यक्ति उसी प्रकार उपहास के पात्र होते हैं जैसे वे लोकव्यवहार से हीन मूर्ख पण्डित बने थे॥ ३८॥

चक्रधर आह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

तब चक्रधर ने पूछा—'यह कैसे हुआ ?' सुवर्णसिद्धि ने कहा—

४. मूर्खपण्डित-कथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणाः परस्परं मित्रत्वमापन्ना वसन्ति स्म। बालभावे तेषां मतिरजायत—"भोः! देशान्तरं गत्वा, विद्याया उपार्जनं क्रियते।"

अथाऽन्यस्मिन्दिवसे ते ब्राह्मणाः परस्परं निश्चयं कृत्वा विद्योपार्जनार्थं कान्यकुब्जे गताः। तत्र च विद्यामठे गत्वा पठन्ति। एवं द्वादशाब्दानि यावदेकचित्ततया पठित्वा, विद्याकुशलास्ते सर्वे सञ्जाताः।

ततस्तैश्चतुर्भिर्मिलित्वोक्तम्—"वयं सर्वविद्यापारङ्गताः। तदुपाध्यायमुत्कलापयित्वा स्वदेशं गच्छामः। तथैवाऽनुष्ठीयतामित्युक्त्वा ब्राह्मणाः उपाध्यायमुत्कलापयित्वा अनुज्ञां लब्ध्वा पुस्तकानि नीत्वा, प्रचलिताः। यावत्किञ्चिन्मार्गं यान्ति, तावद् द्वौ पन्थानौ समायातौ उपविष्टाः सर्वे।

व्याख्या—मित्रत्वमापन्नाः=सुहृद्भावमुपगताः। बालभावे=बाल्यकाले। मतिरजायत=बुद्धिरभवत्। देशान्तरं=विदेशं। विद्याया उपार्जनम्=शास्त्राध्ययनम्। विद्योपार्जनार्थं=विद्याशिक्षार्थं। विद्यामठे=विद्यालये। द्वादशाब्दानि=द्वादशवर्षपर्यन्तम्। एकचित्ततया=एकाग्रचित्तेन। विद्याकुशलाः=शास्त्रप्रवीणाः। विद्वांसः। विद्यापारङ्गताः=सकलविद्याविशारदाः। उपाध्यायं=गुरुम्। उत्कलापयित्वा=पृष्ट्वा, आपृच्छ्य। अनुज्ञाम्=अनुमतिम्।

हिन्दी—किसी नगर में चार ब्राह्मण आपस में मित्र बनकर रहते थे। बचपन में उनका विचार हुआ कि दूसरे देश में जाकर विद्या पढ़ी जाय।

दूसरे दिन आपस में विचार करने के बाद वे विद्या पढ़ने के लिए कान्यकुब्ज देश की ओर चल पड़े और वहाँ पहुँचकर किसी पाठशाला में विद्या पढ़ने लगे। एकाग्रचित्त से बारह वर्ष तक अध्ययन करने के बाद ये चारों अद्भुत विद्वान् हो गये।

एक दिन चारों ने आपस में विमर्श किया—हम सभी विद्याओं में निपुण हो चुके। अब गुरुजी की आज्ञा लेकर हमें अपने घर चलना चाहिए। यह निश्चय करके वे गुरुजी के पास गये और उनसे पूछकर अनुमति प्राप्त करके अपनी-अपनी पुस्तकों को साथ लेकर घर के लिए प्रस्थान कर दिये। कुछ दूर जाने के बाद मार्ग दो तरफ जाते हुए देखकर किस मार्ग से चला जाय, यह निश्चय करने के लिए एक जगह बैठ गये।

तत्रैकः प्रोवाच—"केन मार्गेण गच्छामः ?"

एतस्मिन्समये तस्मिन् पत्तने कश्चित् वणिक्पुत्रो मृतः। तस्य दाहाय महाजनो गतोऽभूत्। ततश्चतुर्णां मध्यादेकेन पुस्तकमवलोकितं—"महाजनो येन गतः स पन्थः" इति। तन्महाजनमार्गेण गच्छामः।

अथ ते पण्डिता यावन्महाजनमेलापकेन सह यान्ति, तावद्रासभः कश्चित्तत्र श्मशाने दृष्टः। अथ द्वितीयेन पुस्तकमुद्घाट्यावलोकितम्—

व्याख्या—पत्तने=नगरे। दाहाय=अग्निसंस्कारणाय। महाजनः=

वणिक्समूहः, श्रेष्ठजनो वा। महाजनमेलापकेन=वणिक्समूहेन। रासभः=गर्दभः। श्मशाने=श्मशानभूमौ। दृष्टः=अवलोकितः।

हिन्दी—उनमें से एक ने पूछा—'किस मार्ग से चला जाय ?'

उसी समय पास के नगर में एक बनिये का लड़का मर गया था। उसके दाह संस्कार के लिए वाणिक् लोग जा रहे थे। उस शवयात्रा को देखकर उन चारों में से एक ने पुस्तक देखकर कहा—'महाजन लोग जिस रास्ते से जायँ, उसी रास्ते से अन्य लोगों को भी जाना चाहिए।' अतः हमें भी वणिक्समूह के साथ चलना चाहिए।

उनके कथन पर चारों व्यक्ति उस वणिक्समूह के पीछे चल दिये, जैसे ही वे पण्डित महाजनों के साथ चलते हैं वैसे ही वहाँ श्मशान पर उन्होंने कोई गधा देख लिया। तब दूसरे ने पुस्तक खोलकर देखा और कहा—

उत्सवे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसङ्कटे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—उत्सवे व्यसने दुर्भिक्षे शत्रुसङ्कटे च प्राप्ते राजद्वारे श्मशाने च यः तिष्ठति स (एव) बान्धवः (भवति) ॥ ३९ ॥

व्याख्या—उत्सवे=माङ्गलिके कार्ये, हर्षोल्लाससमये वा। व्यसने=आपत्तौ, दुःखे कष्टे वा। दुर्भिक्षे=दुष्काले, अन्नसंकटे वा। शत्रुसङ्कटे=वैरिकृते भये, शत्रु-सम्बाधे। राजद्वारे=राजकीयभवनद्वारे, राजसभायाम्, न्यायाधिकरणे वा। श्मशाने=श्मशानभूमौ च। यः तिष्ठति=वर्तते। स एव बान्धवः कथ्यते,वस्तुतः त एव सन्ति बान्धवा ये उत्सवव्यसनादौ सम्मिलिता भवन्तीति भावः ॥ ३९ ॥

हिन्दी—उत्सव के समय, आपत्तिकाल में, दुर्भिक्ष पड़ने पर, शत्रुओं से घिर जाने पर, राजसभा में और श्मशान में जो साथ रहता है वही बन्धु होता है ॥ ३९ ॥

तदहो ! अयमस्मदीयो बान्धवः। ततः कश्चित्तस्य ग्रीवायां लगति, कश्चित् पादौ प्रक्षालयति।

अथ यावत्ते पण्डिताः दिशामवलोकनं कुर्वन्ति तावत्कश्चिदुष्ट्रो दृष्टः। तैश्चोक्तम्—"एतत्किम् ?"

तावत्तृतीयेन पुस्तकमुद्घाट्योक्तम्—"धर्मस्य त्वरिता गतिः। तन्नूनमेष धर्मस्तावत्।" चतुर्थेनोक्तम्—"इष्टं धर्मेण योजयेत्"।

अथ तैश्च रासभ उष्ट्रग्रीवायां बद्धः—तत्तु केनचित्तत्स्वामिनो रजकस्याग्रे कथितम्। यावद्रजकस्तेषां मूर्खपण्डितानां प्रहारकरणाय समायातस्तावत्ते प्रनष्टाः।

ततो तावदग्रे किञ्चित्स्तोकं मार्गं यान्ति तावत्काचिन्नदी समासादिता। तस्य जलमध्ये पलाशपत्रमायातं दृष्ट्वा पण्डितेनैकेनोक्तम्—

"आगमिष्यति यत्पत्रं तदस्मांस्तारयिष्यति" एतत्कथयित्वा तत्पत्रस्योपरि पतितो यावन्नद्या नीयते तावत्तं नीयमानमलोक्याऽन्येन पण्डितेन केशान्तं गृहीत्वोक्तम्—

व्याख्या—त्वरिता=सत्वरा। गतिः=गमनम्। इष्टं=मित्रम्। धर्मेण योजयेत् =धर्मेण सह नियोजयेत्। बद्धः=निबद्धः। तत्तु=तद्वृत्तान्तम्। रजकस्य=निर्णेजकस्य। प्रहारकरणाय=ताडनाय। ते=पण्डिताः। प्रनष्टाः=पलायिताः। स्तोकं=अल्पम्। सामासादिता=प्राप्ता। पलाशपत्रं=पलाशवृक्षस्य पत्रम्। तारयिष्यति=पारं प्रापयिष्यति। पतितः=पपात। नद्या नीयते=जले निमज्जति। केशान्तं=शिरोरुहम्।

हिन्दी—अतः यह गदहा भी हमारा स्वजन ही होगा। उसके वचन को सुनकर उसमें कोई तो उस गदहे के गले लगा और कोई उसका पैर धोकर पोंछने लगा। तदनन्तर जब तक उन लोगों ने चारों ओर देखा तो उन्हें एक ऊँट दिखाई पड़ा। उसे देखकर सबों ने आपस में तर्क किया कि यह क्या है?

तब तीसरे पण्डित ने पुस्तक खोल देखकर कहा कि—'धर्म की गति तीव्र होती है। तो निश्चय ही यह धर्म होगा।' इसपर चौथे पण्डित ने कहा—'मित्र को धर्म के साथ जोड़ देना चाहिए।'

यह विचार करके उन लोगों ने गदहे को ऊँट के गले में बाँध दिया। उस समाचार को किसी ने उस गधे के स्वामी धोबी से कह दिया। जब तक धोबी उन पण्डितों को पीटने के लिए आया तब तक वे वहाँ से भाग गये थे।

इसके बाद जब वे और कुछ दूर आगे गये तो एक नदी मिल गयी। उसकी धार में पलाश का एक पत्ता कहीं से बहता हुआ आ रहा था। उसे देखकर उनमें से एक ने कहा—

'आने वाला पत्ता हमें उस पार पहुँचा देगा।' यह कहकर वह मूर्ख पण्डित नदी में कूद पड़ा। जब वह नदी की धारा में बहने लगा तो दूसरे पण्डित ने उसकी चोटी पकड़कर कहा—

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः।
अर्द्धेन कुरुते कार्यं, सर्वनाशो हि दुःसहः॥ ४०॥

अन्वयः—पण्डितः सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति, अर्द्धेन च कार्यं कुरुते। हि सर्वनाशः दुःसहः (भवति)॥ ४०॥

व्याख्या—पण्डितः = विद्वान् । सर्वनाशे समुत्पन्ने=सर्वनाशस्यावसरे । अर्द्धं= तदर्द्धभागम् । त्यजति = विजहाति । अर्द्धेन = अर्द्धभागेन । कार्यं कुरुते = सम्पादयति । हि = यतः सर्वनाशः । दुःसहः = दुःखेन सोढुं शक्यो भवति । सर्वनाशापेक्षयाऽर्द्धनाशे एव ज्यायानिति भावः ॥ ४० ॥

हिन्दी—सर्वनाश की स्थिति उत्पन्न होने पर समझदार व्यक्ति आधा भाग छोड़ देता है और आधे से सन्तोषपूर्वक अपना कार्य चलाता है, क्योंकि सम्पूर्ण नाश वहन करना कठिन हो जाता है ॥ ४० ॥

इत्युक्त्वा तस्य शिरश्छेदो विहितः ।

ऐसा कहकर आधा बचाने के लिए डूबते हुए उस पण्डित का सिर काट लिया ।

अथ तैश्च पश्चात् गत्वा कश्चित् ग्राम आसादितः । तेऽपि ग्रामीणैर्निमन्त्रितः पृथग् गृहेषु नीताः । ततः एकस्य सूत्रिका घृतमण्डसंयुता भोजने दत्ता । ततो विचिन्त्य पण्डितेनोक्तं यत् "दीर्घसूत्री विनस्यति" । एवमुक्त्वा भोजनं परित्यज्य गतः । तथा द्वितीयस्य मण्डका दत्ताः, तेनाऽयुक्तम्—'अतिविस्तारविस्तीर्णं तद्भवेन्न चिरायुषम्" । स भोजनं त्यक्त्वा गतः । अथ तृतीयस्य वाटिका भोजने दत्ता । तत्राऽपि तेन पण्डितेनोक्तम्—"छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ।" एवं ते त्रयोऽपि पण्डिताः क्षुत्क्षामकण्ठाः,लोके हास्यमानास्ततः स्थानात् स्वदेशं गताः ।

व्याख्या—तैः = शेषैः । ग्रामीणैः = ग्रामवासिभिः । निमन्त्रिताः = भोजनार्थमामन्त्रिताः घृतखण्डसंयुक्ताः = घृतशर्करामिश्रिताः । दीर्घसूत्री = दीर्घसूत्रवान्, सालस्यो जनो वा । मण्डका = रोटिका । वटिका = वाडानाम्ना प्रसिद्धं वस्तु । छिद्रेषु = छिद्रयुक्तेषु । अनर्थाः = आपत्तयः । बहुलीभवन्ति = स्फारीभवन्ति । क्षुत्क्षामकण्ठाः = क्षुधया शुष्ककण्ठा, बुभुक्षिताः । लोकैः = जनैः । हास्यमानः = उपहासविषयं नीयमानाः ।

हिन्दी—उसके बाद आगे चलकर उन्हें कोई गाँव मिला । गाँववालों ने उन्हें ब्राह्मण समझकर निमन्त्रित किया और भोजन करने के लिए पृथक्-पृथक् अपने-अपने घरों में ले गये । किसी गृहस्थ ने एक को घी-चीनी में बनी हुई सेवई खाने को दी । उसे देखकर उस ब्राह्मण ने सोचा—'दीर्घसूत्री (लम्बे सूतोंवाला) व्यक्ति नष्ट हो जाता है ।' अतः इसे खाकर मैं भी नष्ट हो जाऊँगा । यह विचार कर वह भोजन को छोड़कर चला गया । दूसरे व्यक्ति को रोटी खाने को मिली तो उसने सोचा—'अधिक विस्तृत वस्तु चिरस्थायी नहीं होती ।'

अतः इसे खाकर मैं भी क्षीणायु हो जाऊँगा। यह सोचकर उसने भी भोजन करना छोड़ दिया। तीसरे को बड़ा मिला। उसने विचार किया कि छिद्र (सदोष होने) पर आपत्तियाँ और बढ़ जाती हैं। कहीं इसे खाकर मैं भी किसी आपत्ति में न फँस जाऊँ। यह सोचकर वह भी भोजन छोड़कर चला आया। इस प्रकार वे तीनों ही भूखे रह गये और लोगों के उपहास के पात्र बने। अन्ततोगत्वा वे विना खाये-पिये अपने घर लौट गये।

अथ सुवर्णसिद्धिराह—"यस्त्वं लोकव्यवहारमजानन्मया वार्यमाणोऽपि न स्थितः तत ईदृशीमवस्थामुपगतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"अपि शास्त्रेषु कुशलाः" इति।

तत् श्रुत्वा चक्रधर आह—अहो, अकारणमेतत्। यतो हि—

व्याख्या—वार्यमाणोऽपि=निवार्यमाणोऽपि। ईदृशीं=एतादृशीं चक्राच्छन्न-मस्तकरूपाम्। अवस्थां=स्थितिम्। कुशलाः=प्रवीणाः। अकारणं=निरर्थकम्।

हिन्दी—पूर्वकथा को सुनकर सुवर्णसिद्धि ने कहा—तुम लोकव्यवहार को न जानते हुए मेरे रोकने पर भी नहीं रुके। इसलिए ऐसी दशा को प्राप्त हुए हो। अतः मैं कहता हूँ—"शास्त्रों में कुशल भी" आदि।

उसे सुनकर चक्रधर ने कहा—अरे, यह तो विना कारण के ही है, क्योंकि

सुबुद्धयो विनश्यन्ति दुष्टदैवेन नाशिताः।
स्वल्पधीरपि तस्मिंस्तु कुले नन्दति सन्ततम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—दुष्टदैवेन नाशिताः सुबुद्धयः अपि विनश्यन्ति, तु तस्मिन् कुले स्वल्पधीः अपि सन्ततं नन्दति ॥ ४१ ॥

व्याख्या—दुष्टदैवेन=प्रतिकूलभाग्येन। नाशिताः=नाशं प्रापिताः। सुबु-द्धयः=सुधियः। विनश्यन्ति=नाशं प्राप्नुवन्ति। तु तस्मिन् कुले=तत्रैव। स्वल्पधीः—स्वल्पा धीर्यस्यासौ स्वल्पधीः=मन्दबुद्धिः अपि। सन्ततं=निरन्तरम्। नन्दति=मोदते। दैवप्रातिकूल्येन बुद्धिमन्तोऽपि विनश्यन्ति, दैवानुकूल्यादेव मन्दबुद्धिरपि मोदते इति भावः ॥ ४१ ॥

हिन्दी—भाग्य को प्रतिकूलता से बुद्धिमान् व्यक्ति भी कष्ट उठाते हैं और अनुकूल भाग्य के कारण मूर्ख भी आनन्द मनाता है ॥ ४१ ॥

उक्तं च—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं, सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः, कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ ४२ ॥

अन्वयः—दैवरक्षितम्, अरक्षितम् (अपि) तिष्ठति, किन्तु दैवहतं सुरक्षितमपि नश्यति। वने विसर्जितः अनाथोऽपि जीवति, कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति।४२।

व्याख्या—दैवरक्षितम्—दैवेन रक्षितं दैवरक्षितम्=भाग्यरक्षितम्। वस्तु। अरक्षितं—न रक्षितमरक्षितम्=मनुष्यद्वारा न रक्षितमपि वस्तु। तिष्ठति=स्थिरो भवति। किन्तु दैवहतम्—दैवेन हतं=नाशितं सत्। सुरक्षितमपि=लोकैः साधु संरक्षितमपि। नश्यति=नाशं गच्छति। वने विसर्जितः=अरण्ये त्यक्तः। अनाथोऽपि—नास्ति नाथो यस्य स अनाथो=निराश्रितः सहायहीनोऽपि। दैवसाहाय्येन जीवति=प्राणान् धत्ते। गृहे कृतप्रयत्नोऽपि=कृतः विहितः प्रयत्न उद्योगः रक्षणप्रयासः यस्मै यस्य वा स कृतप्रयत्नः। न जीवति=नश्यति। भाग्याभिहतः पुरुषप्रयत्नः विफलतामेतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

हिन्दी—कहा भी गया है कि दैव (भाग्य) के द्वारा रक्षा किया गया पुरुष या पदार्थ मनुष्य द्वारा रक्षा न किया गया भी विद्यमान रहता है। किन्तु दैव के द्वारा नष्ट की गयी मनुष्य के द्वारा भलीभाँति रक्षित भी वस्तु नष्ट हो जाती है। वन में छोड़ा गया बिना स्वामी का भी पुरुष जी जाता है, किन्तु प्रयास किया गया भी घर में नहीं जीता। अर्थात्—भाग्य द्वारा सुरक्षित वस्तु बिना किसी रक्षा के भी बची रहती है और भाग्य के प्रतिकूल होने से सुरक्षित रहकर भी वह नष्ट हो जाती है। सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं के बीच वन में अनाथ छोड़ा हुआ व्यक्ति जीवित रह जाता है तथा प्रयत्नपूर्वक घर में सुरक्षित व्यक्ति भी जीवित नहीं रह पाता ॥ ४२ ॥

तथा च—

> शतबुद्धिः शिरस्थोऽयं लम्बते च सहस्रधीः।
> एकबुद्धिरहं भद्रे! क्रीडामि विमले जले ॥ ४३ ॥

अन्वयः—भद्रे! अयं शतबुद्धिः शिरस्थः, सहस्रधीः च लम्बते। किन्तु एकबुद्धिः अहं विमले जले क्रीडामि ॥ ४३ ॥

व्याख्या—भद्रे!=भद्रकारिणि! सुन्दरि! अयं=पुरो दृश्यमानः। शतबुद्धिः=तन्नामकः मत्स्यः। शिरस्थः—शिरसि तिष्ठतीति शिरस्थः=मस्तके अस्ति। सहस्रधीः=सहस्रबुद्धिनामको मत्स्यश्च। लम्बते=हस्ते लम्बमानो विद्यते। एकबुद्धिः=एकबुद्धिनामा मण्डूकोऽहम्। विमले जले=निर्मले सलिले। क्रीडामि=विहरामि, विलसामि। अत्यधिका बुद्धिर्नाशहेतुका भवतीति भावः ॥ ४३ ॥

हिन्दी—और भी—यह शतबुद्धि (सौ बुद्धिवाला) नामक मछली सिर

पर रखा है और सहस्रधी (हजार बुद्धिवाला) नामक मछली बांह में लटक रहा है। किन्तु हे भद्रे ! एक बुद्धिवाला मैं तो स्वच्छ जल में खेल रहा हूँ ॥४॥

सुवर्णसिद्धिराह—"कथमेतत् !" स आह—

सुवर्णसिद्धि ने कहा—'यह कैसे हुआ !' तब चक्रधर ने कहना आरम्भ किया—

५. मत्स्यमण्डूक-कथा

"कस्मिंश्चिज्जलाशये शतबुद्धिः सहस्रबुद्धिश्च द्वौ मत्स्यौ निवसतः स्म। अथ तयोरेकबुद्धिर्नाम मण्डूको मित्रतां गतः। एवं ते त्रयोऽपि जलतीरे वेलायां सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभूय, भूयोऽपि सलिलं प्रविशन्ति।

अथ कदाचित्तेषां गोष्ठीगतानां जालहस्ता धीवराः प्रभूतैर्मत्स्यैर्व्यापादितैर्मस्तके विधृतैरस्तमनवेलायां तस्मिञ्जलाशये समायाताः। ततः सलिलाशयं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः—"अहो ! बहुमत्स्योऽयं ह्रदो दृश्यते, स्वल्पसलिलश्च। तत्प्रभातेऽत्रागमिष्यामः"। एवमुक्त्वा स्वगृहं गताः।

व्याख्या—जलाशये=सरोवरे। शतबुद्धिः सहस्रबुद्धिश्च=शतबुद्धि-सहस्रबुद्धिनामानौ। तयोः=मत्स्ययोः। मित्रतां गतः=मित्रभावमुपगतः। एकबुद्धिर्नाम=एकबुद्धिनामकः। मण्डूकः=दर्दुरः। जलतीरे=सलिलतटे। वेलायाम्=सायंकाले। सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभूय=सूक्तिकाव्यालापसभासुखमवाप्य। गोष्ठीगतानां=एकत्रोपविष्टानाम्। जालहस्ताः=जालपाणयः। धीवराः=कैवर्ताः। प्रभूतैः=प्रचुरैः। मत्स्यैः=मीनैः। व्यापादितैः=निहतैः। मस्तके=शिरसि। विधृतैः=न्यस्तैः। अस्तमनवेलायां=सूर्यास्तसमये। सलिलाशयं=सरोवरम्, प्रोचुः=मन्त्रयामासुः। ह्रदः=तडागः। स्वल्पसलिलः=अत्यल्पजलः। प्रभाते=प्रातःकाले।

हिन्दी—किसी तालाब में शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि नाम की दो मछलियाँ रहती थीं। उनसे किसी एकबुद्धि नामक मेढक की मित्रता हो गयी थी। वे तीनों शाम को तालाब के किनारे बैठकर कुछ समय काव्यादि का आनन्द लेने के बाद पुनः जल में चले जाते थे।

एक दिन शाम को उनकी गोष्ठी के समय में ही कहीं से मछलियों को मारकर शिर पर रखे हुए कुछ केवट उस तालाब के किनारे आये। उस तालाब को देखकर उन लोगों ने आपस में यह विचार किया—

इस तालाब में काफी मछलियाँ हैं और पानी भी कम है। तो कल सुबह में यहीं आया जायेगा। यह निश्चय करके वे चले गये।

मत्स्याश्च विषण्णवदना मिथो मन्त्रं चक्रुः। ततो मण्डूक आह—"भोः, शतबुद्धे ! श्रुतं धीवरोक्तं भवता ? तत्किमत्र युज्यते कर्तुम्, पलायनमवष्टम्भो वा ? यत् कर्तुं युक्तं भवति तदादिश्यतामद्य।"

तत् श्रुत्वा सहस्रबुद्धिः प्रहस्य आह—"भोः ! मित्र, मा भैषीः, तयोः वचनश्रवणमात्रादेव भयं न कार्यम्। न भेतव्यम्। उक्तं च—

व्याख्या—विषण्णवदनाः=म्लानाननाः, चिन्ताग्रस्ताः। मन्त्रं=विचारम्। चक्रुः=विदधुः। पलायनम्=अन्यत्र गमनम्। अवष्टम्भः=अवस्थानम्। मा भैषीः=भयं मा कुरु। वचनश्रवणमात्रादेव=वार्तालापश्रवणेनैव। न भेतव्यं=भयं न कार्यम्। युक्तं=उचितम्। आदिश्यतां=आज्ञाप्यताम्। प्रहस्य=हसित्वा।

हिन्दी—उन केवटों के चले जाने पर मछलियों ने खिन्न होकर आपस में एक विचार-गोष्ठी की। उस गोष्ठी में मेढक ने कहा—'अरे शतबुद्धि ! आपने केवटों के वार्तालाप को सुना ? कहिए, इस परिस्थित में हमें क्या करना चाहिए ? यहाँ रहना ठीक है या अन्यत्र कहीं भाग जाना चाहिए ? जैसा करना उचित हो, आदेश दें।'

उस बात को सुनकर सहस्रबुद्धि ने हँसकर कहा—'अरे मित्र, डरो मत। उनके कथन मात्र से ही नहीं डरना चाहिए। कहा भी गया है—

सर्पाणां च खलानां च सर्वेषां दुष्टचेतसाम्।
अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत् ॥ ४४ ॥

अन्वय—सर्पाणां च खलानां च सर्वेषां दुष्टचेतसाम् अभिप्रायाः (इह) न सिध्यन्ति, तेन इदं जगत् वर्तते ॥ ४४ ॥

व्याख्या—सर्पाणां=भुजङ्गानाम्। खलानां=दुष्टानाम् च। सर्वेषां=समस्तानाम्। दुष्टचेतसां—दुष्टानि चेतांसि येषां ते, तेषां दुष्टचेतसाम्=मलिनान्तःकारणानाम्। अभिप्रायाः=मनोरथाः, अभिलषितार्था वा, न सिध्यन्ति=न सिद्धिं प्राप्नुवन्ति, व्यर्था भवन्ति। तेन=हेतुना, जगदिदं=लोकोऽयम्। वर्तते=तिष्ठति। सर्पाणां दुष्टानाञ्चाभिलषितार्थसिद्धौ नूनमेव जगतो विनाशः स्यादित्यर्थः ॥४४॥

हिन्दी—सर्पों के, दुष्टों के तथा बुरे हृदयवालों के मनोरथ संसार में पूरे नहीं होते। इस कारण यह संसार विद्यमान है। अर्थात् उनकी विफलता के कारण ही यह संसार चल रहा है ॥ ४४ ॥

तत्तावत्तेषामागमनमपि न सम्पत्स्यते। भविष्यति तर्हि त्वां बुद्धिप्रभावेणात्मसहितं रक्षयिष्यामि। यतोऽनेकां सलिलचर्यामहं जानामि।

तदाकर्ण्य शतबुद्धिराह—"भो। युक्तमुक्तं भवता। सहस्रबुद्धिरेव भवान्। अथवा साध्विदमुच्यते।

व्याख्या—तेषां=धीवराणाम्। न सम्पत्स्यते=न भविष्यति। बुद्धिप्रभावेण=बुद्धिबलेन। आत्मसहितं=आत्मना साकम्। सलिलगतिचर्याम्=जल-सञ्चरणकौशलम्। जानामि=अवगच्छामि। आकर्ण्य=श्रुत्वा।

हिन्दी—मैं तो समझता हूँ कि उनका आगमन ही नहीं होगा। यदि हुआ भी तो, से अपनी बुद्धिके प्रभाव से अपने साथ ही तुम्हारी भी रक्षा कर दूंगा, क्योंकि मैं जल में चलने की कई कलाएँ जानता हूँ।

उसको सुनकर शतबुद्धि ने कहा—'अरे आपने ठीक कहा है। सचमुच आप सहस्रबुद्धि ही हैं।' अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

> बुद्धेर्बुद्धिमतां लोके नाऽस्त्यगम्यं हि किञ्चन।
> बुद्धया यतो हता नन्दाश्चाणक्येनासिपाणयः॥ ४५॥

अन्वयः—लोके बुद्धिमतां बुद्धेः किञ्चन अगम्यं नास्ति, हि यतः चाणक्येन बुद्धया असिपाणयः नन्दा हताः॥ ४५॥

व्याख्या—लोके=संसारे। बुद्धिमतां=धीमताम्। बुद्धेः=धियः। किञ्चन=किमपि। अगम्यं—गन्तुं योग्यं गम्यं न गम्यमगम्यं=अविषयः। नास्ति=न विद्यते। हि=निश्चयेन। यतः=यस्मात्कारणात्। चाणक्येन=तन्नामधारिणा नीतिशास्त्रप्रवर्तकेन विदुषा विष्णुगुप्तेन। बुद्धया=बुद्धिप्रभावेण विवेकशक्त्या। असिपाणयः—असिः पाणौ येषां ते असिपाणयः=खड्गहस्ताः। नन्दाः=नन्दवंशीयाः नवसंख्याकाः राजानः। हताः=नाशिताः। विश्वस्मिन् बुद्धया सर्वं कार्यं सम्पद्यते इति भावः॥ ४५॥

हिन्दी—इस विश्व में बुद्धिमानों की बुद्धि के लिए कोई भी स्थान अगम्य नहीं है क्योंकि चाणक्य ने अपनी बुद्धि के ही बल पर खड्गधारी नन्द वंश का विनाश किया था॥ ४५॥

तथा—

> न यत्राऽस्ति गतिर्वायो रश्मीनां च विवस्वतः।
> तत्रापि प्रविशत्याशु बुद्धिर्बुद्धिमतां सदा॥ ४६॥

अन्वयः—यत्र वायोः विवस्वतः रश्मीनां च सदा गतिर्नास्ति, तत्रापि बुद्धिमतां बुद्धिः आशु प्रविशति॥ ४६॥

व्याख्या—यत्र=यस्मिन् स्थाने। वायोः=वातस्य। विवस्वतः=सूर्यस्य। रश्मीनां=किरणानाम् च। गतिः=प्रवेशः। नास्ति=न भवति। तत्रापि स्थाने। बुद्धिमतां=धीमताम्। बुद्धिः=मतिः। सदा=सर्वस्मिन् काले। आशु=शीघ्रम्। प्रविशति=प्रविष्टा भवति, गच्छति। बुद्धिमतो हि बुद्धिः सर्वत्र सदा सत्त्वरं प्रसरतीत्यर्थः।

हिन्दी—जिस स्थान पर वायु और सूर्य की किरणों का प्रवेश नहीं हो पाता, वहाँ बुद्धिमानों की बुद्धि तत्काल पहुँच जाती है ॥ ४६।

ततो वचनश्रवणमात्रादपि पितृपर्यायागतं जन्मस्थानं त्यक्तुं न शक्यते। उक्तं च—

व्याख्या—वचनश्रवणमात्रादपि=वाक्यश्रवणमात्रेणापि धीवरोक्तं वचनं श्रुत्वैव। पितृपर्यायागतं=पितृपरम्पराप्राप्तम्, वंशक्रमादागतम्। जन्मस्थानं=मातृभूमिः, निवासस्थानम्। त्यक्तुं=परित्यक्तुम्। न शक्यते=न पार्यते।

हिन्दी—अतः मल्लाहों के वार्तालापमात्र सुनने से ही पूर्व पुरुषों द्वारा परम्परागत जन्मस्थान को छोड़ना ठीक नहीं है। कहा भी गया है कि—

न तत् स्वर्गेऽपि सौख्यं स्याद्दिव्यस्पर्शेन शोभने।
कुस्थानेऽपि भवेत्पुंसां जन्मनो यत्र सम्भवः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—शोभने स्वर्गेऽपि दिव्यस्पर्शेन तत्सौख्यं न (भवति, यत्) पुंसां यत्र जन्मनः सम्भव (तत्र) कुस्थाने अपि भवेत् ॥ ४७ ॥

व्याख्या—शोभने=रमणीये। स्वर्गे=दिवि। दिव्यस्पर्शेन=देवाङ्गनालिङ्गनसम्पर्केण। तत्सौख्यं=तत्सुखम्। न=नहि भवति। यत् पुंसां=प्राणिनाम्। यत्र जन्मनः=उत्पत्तेः। सम्भवः=जन्मस्थानम्। तत्र कुस्थानेऽपि=कष्टप्रदेऽपि स्थाने। भवेत्=जायेत्। स्वर्गेऽप्यलभ्यं सुखं जन्मभूमौ लभ्यते इति भावः। अत एवोक्तं—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' ॥ ४७ ॥

हिन्दी— रमणीय स्वर्ग में देवाङ्गनाओं के स्पर्श से भी वह सुख नहीं प्राप्त होता, जो मनुष्य को अपनी जन्मभूमि में अनायास ही मिलता है। चाहे वह स्थान असुविधाजनक ही क्यों न हो ॥ ४७ ॥

तन्न कदाचिदपि गन्तव्यम्। अहं त्वां बुद्धिप्रभावेण रक्षयिष्यामि।

हिन्दी—अतः तुमको अपनी मातृभूमि का परित्याग नहीं करना चाहिए। मैं अपनी बुद्धि के प्रभाव से तुम्हारी रक्षा करूँगा।

मण्डूक आह—"भद्रौ ! मम तावदेकैव बुद्धिः पलायनपरा। तदहमन्य-

जलाशयमद्यैव सभार्यो यास्यामि।" एवमुक्त्वा स मण्डूको रात्रावेवाऽन्यजलाशयं गतः।

धीवरैरपि प्रभाते आगत्य, जघन्यमध्यमोत्तमजलचराः मत्स्यकूर्ममण्डूककर्कटादयो गृहीताः। तावपि शतबुद्धिसहस्रबुद्धी सभार्यौ पलायमानौ चिरमात्मानं गतिविशेषविज्ञानैः कुटिलचारेण रक्षन्तौ जाले निपतितौ, व्यापादितौ च।

व्याख्या—भद्रौ=महाशयौ! पलायनपरा=अन्यत्र गमनपरा। सभार्यः=सपत्नीकः। यास्यामि=गमिष्यामि। धीवरैः=कैवर्तैः। जघन्यमध्यमोत्तमजलचराः=लघुमध्यमोत्तमजलजीवाः, बालमध्यवृद्धजलजीवाः। सभार्यौ=सपत्नीकौ। चिरं=बहुकालं यावत्। गतिविशेषविज्ञानैः=जलतरणज्ञानविशेषैः। कुटिलचारेण=चक्रगमनेन। रक्षन्तौ=त्रायन्तौ। व्यापादितौ=निहतौ।

हिन्दी—शतबुद्धि के वचन को सुनकर मेढक ने कहा—सज्जनो! मैं एक बुद्धिवाला हूँ, तो यहाँ से भाग जाना ही उचित समझता हूँ। मैंने तो यह निश्चय कर लिया है कि आज ही रात में अपनी स्त्री के साथ किसी अन्य जलाशय में चला जाऊँगा। और यह कहकर वह मेढक उसी रात में दूसरे तालाब में चला गया।

दूसरे दिन सुबह में उन मल्लाहों ने आकर छोटे-बड़े तथा मध्यजाति की मछलियों, कछुओं, मेढकों तथा केकड़ों आदि सभी जलचरों को पकड़ लिया। शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि ने भी अपनी स्त्रियों के साथ इधर-उधर भागते हुए अपनी जलसञ्चरण सम्बन्धी विभिन्न कलाओं की जानकारी के कारण कुटिल गमन द्वारा अपने को बहुत देर तक बचाने की कोशिश की, किन्तु अन्ततोगत्वा वे दोनों जाल में फँस गये और मार डाले गये।

अथाऽपराह्णसमये प्रहृष्टास्ते धीवराः स्वगृहं प्रति प्रस्थिताः। गुरुत्वाच्चैकेन शतबुद्धिः स्कन्धे कृतः सहस्रबुद्धिः प्रलम्बमानो नीयते। ततश्च वापीकण्ठोपगतेन मण्डूकेन तौ तथा नीयमानौ दृष्ट्वा अभिहिता स्वपत्नी—"प्रिये! पश्य पश्य—

> शतबुद्धिः शिरःस्थोऽयं, लम्बते च सहस्रधीः।
> एकबुद्धिरहं भद्रे! क्रीडामि विमले जले॥

अतश्च "वरं बुद्धिर्न सा विद्या" यद्भवतोक्तं तत्रेयं मे मतिर्यत् न एकान्तेन बुद्धिरपि प्रमाणम्।"

सुवर्णसिद्धिः प्राह—यद्यप्येतदस्ति, तथापि मित्रवचनं न लङ्घनीयम्। परं

किं क्रियते, निवारितोऽपि मया न स्थितोऽसि, अतिलौल्यात् विद्याहङ्काराच्च। अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—अपराह्णसमये=दिवसावसानसमये। गुरुत्वात्=भाराधिक्यात्। वापीकण्ठोपगतेन=वापीतीरोपविष्टेन। तौ=शतबुद्धिससहस्रबुद्धी। अभिहिता=कथिता। स्वपत्नी=निजभार्या। प्रमाणं=कार्यसिद्धौ हेतुभूतम्। न लङ्घनीयम्=नो लङ्घनीयम्। निवारितोऽपि=वर्जितोऽपि। अतिलौल्यात्=अतिलोभात्, विद्याहङ्काराच्च=विद्यागर्वाच्च।

हिन्दी—जब तीसरे पहर प्रसन्न हुए वे केवट अपने घर की ओर लौटने लगे तो भारी होने के कारण उनमें से एक ने शतबुद्धि को अपने शिर पर रख लिया और लम्बा होने से सहस्रबुद्धि को कन्धे से लटकाकर घसीटता हुआ ले जाने लगा। तब वापी के किनारे पर बैठा हुआ मेढक उन दोनों की उस दुर्गति को देखकर अपनी स्त्री से बोला—प्रिये! देखो—

हे भद्रे! यह शतबुद्धि सिर पर रखा हुआ है और सहस्रबुद्धि लटकता हुआ जा रहा है और एक बुद्धिवाला मैं निर्मल जल में खेल रहा हूँ।

इसलिए बुद्धि अच्छी, वह विद्या नहीं, यह आपने जो कहा—उस विषय में मेरा विचार यह है कि अकेली बुद्धि भी कार्य का साधन नहीं है।

यह सुनकर सुबुद्धि ने कहा—यद्यपि ऐसा ही है तथापि मित्र का कहना नहीं टालना चाहिए, किन्तु क्या किया जाय, मेरे द्वारा रोके जाने पर भी तुम अति लोभ और विद्या के घमण्ड से नहीं माने। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

साधु मातुल! गीतेन, मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः।
अपूर्वोऽयं मणिबंद्धः सम्प्राप्तं गीतलक्षणम्॥ ४८॥

अन्वयः—मातुल! गीतेन साधु, मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः। (अतः) अपूर्वोऽयं बद्धः मणिः (इदानीं भवता) गीतलक्षणं सम्प्राप्तम्॥ ४८॥

व्याख्या—हे मातुल!=मातुर्भ्रातः! गीतेन=गानेन। साधु=अलम्। समीचीनं त्वया कृतम् धन्योऽसीत्यर्थः। अनुचितं त्वया कृतमिति यावत्। मया प्रोक्तोऽपि=कथितोऽपि वारितोऽपि। त्वं न स्थितः=न गानाद्विरतोऽभूः। अतोऽयमपूर्वः=विलक्षणः अद्भुतः। मणिः=उलूखलरूपरत्नम्। गले बद्धः, इदानीं भवता। गीतलक्षणम्=गानचिह्नम्। गीतस्य पारितोषिकस्वरूपं चिह्नं सम्प्राप्तम् सम्यग्लब्धम्। अतो मित्र वचनस्योल्लङ्घनं न श्रेयसे भवतीत्यर्थः। कस्यचित् शृगालस्य रासमं मित्रं प्रति सस्मितं सपरिहासोक्तिरियम्॥ ४८॥

हिन्दी—हे मामा ! गाना न गाओ, आपका गाना जरा भी अच्छा नहीं लगता। इस प्रकार मेरे बार-बार कहने पर भी तुम नहीं रुके और गाने लगे। तुम्हारे गले में यह कितना सुन्दर अद्भुत मणि बांध दिया गया है। वस्तुतः तुम अब अपने गाने का वास्तविक पुरस्कार पा गये हो ॥ ४८ ॥

चक्रधर आह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

चक्रधर ने पूछा—'यह कैसे हुआ।' तब सुवर्णसिद्धि ने कहना आरम्भ किया—

६. रासभश्रृगाल-कथा

कस्मिश्चिदधिष्ठाने उद्धतो नाम गर्दभः प्रतिवसति स्म। सः सदैव रजकगृहे भारोद्वहनं कृत्वा रात्रौ स्वेच्छया पर्यटति। ततः प्रत्यूषे बन्धनभयात्स्वयमेव रजकगृहमायाति। रजकोऽपि ततस्तं बन्धनेन नियुनक्ति।

अथ तस्य रात्रौ क्षेत्राणि पर्यटतः कदाचिच्छृगालेन सह मैत्री सञ्जाता स च पीवरत्वाद् वृत्तिभङ्गं कृत्वा कर्कटिकाक्षेत्रे श्रृगालसहितः प्रविशति। एवं तौ यदृच्छया चिर्भटिकाभक्षणं कृत्वा, प्रत्यहं प्रत्यूषे स्वस्थानं व्रजतः।

अथ कदाचित्तेन मदोद्धतेन रासभेन क्षेत्रमध्यस्थितेन श्रृगालोऽभिहितः— "भोः, भगिनीसुत ! पश्य पश्य, अतीव निर्मला रजनी, तदहं गीतं करिष्यामि। तत्कथय कतमेन रागेन करोमि ?"

व्याख्या—रजकगृहे=निर्णेजकगृहे। भारोद्वहनम्=वस्त्रादिभारोद्वहनम्। रात्रौ=निशायाम्। स्वेच्छया=यथेच्छम्। पर्यटति=भ्रमति। प्रत्यूषे=प्रातः-काले। बन्धनभयात्=बन्धनप्रहारादि-दण्डभयात्। आयाति=आगच्छति। नियु-नक्ति=बध्नाति। तस्य=गर्दभस्य। क्षेत्राणि पर्यटतः=क्षेत्राणि परिभ्रमतः। श्रृगालेन सह=जम्बूकेन साकम्। पीवरत्वात्=स्थूलत्वात्। वृत्तिभृङ्गम्=क्षेत्र-प्राचीरभङ्गम्। कर्कटिका=उर्वारुः। तौ=रासभश्रृगालौ। चिर्भटिका=कर्कटिका। व्रजतः=गच्छतः। मदोद्धतेन=मदोन्मत्तेन। क्षेत्रमध्यस्थितेन=क्षेत्रान्तर्गतेन। भगिनीसुत=भागिनेय ! निर्मला=गतकल्मषा, धवला। रजनी=रात्रिः। गीतम्=गानम्। करोमि=गायामि।

हिन्दी—किसी स्थान में उद्धत नाम का गदहा रहता था। वह हमेशा धोबी के घर में दिन भर कपड़े का गट्ठर ढोने के बाद रात में मनमाना इधर-उधर घूमता रहता था। सुबह होते ही बांधे जाने या मार खाने के भय से वह प्रतिदिन धोबी के यहाँ आ जाता था और धोबी भी उसे आते ही बांध दिया करता था।

किसी दिन रात के समय खेतों में घूमते हुए गधे की एक शृगाल से मित्रता हो गयी। खूब मोटा हो जाने के कारण वह खेत के घेरे को तोड़कर उस शृगाल के साथ ककड़ी के खेत में घुस जाता था और दोनों भर पेट ककड़ी खाने के बाद सुबह अपने-अपने स्थानों पर चले जाया करते थे।

किसी दिन उन्मत्त गधे ने ककड़ी के खेत में खड़े-खड़े शृगाल से कहा—भानिज! देखो, यह रात कितनी स्वच्छ है। मैं गाना गाना चाहता हूँ, तो बताओ किस राग से आरम्भ करूँ?

स आह—"माम! किमनेन वृथाऽनर्थप्रचालनेन? यतश्चौरकर्मप्रवृत्तावावाम्, निभृतैश्च चौरजारैरत्र स्थातव्यम्। उक्तं च—

व्याख्या—माम!=मातुल! अनर्थप्रचालनेन=विपदामन्त्रणेन। चौरकर्मप्रवृत्तौ=स्तेयकर्मणि प्रवृत्तौ। निभृतैः=निगूढैः। चोरजारैः=चौरैः, परस्त्रीगामिभिश्च। स्थातव्यम्=भवितव्यम्।

हिन्दी—गदहे की बात सुनकर शृगाल ने कहा—मामा, आपत्ति को व्यर्थ निमन्त्रण देने से क्या लाभ है? हम लोग यहाँ चोरी करने के लिए आये हैं। चोरों और व्यभिचारियों को चाहिए कि वे शान्त और अपने को छिपाकर रहें। अतः मौन रहना ही ठीक है, क्योंकि कहा गया है—

कासयुक्तस्त्यजेच्चौर्यं निद्रालुश्चेत्स पुंश्चलीम्।
जिह्वालौल्यं रुजाक्रान्तो जीवितं योऽत्र वाञ्छति॥ ४९॥

अन्वयः—यः अत्र जीवितं वाञ्छति (सः) कासयुक्तः चौर्यं, निद्रालुः पुंश्चलीं, रुजाक्रान्तश्च जिह्वालौल्यं त्यजेत्॥ ४९॥

व्याख्या—यः=मनुष्यः। अत्र=लोके। जीवितं=जीवनम्। वाञ्छति=तच्छति, जीवितुमिच्छति। सः कासयुक्तः—कासेन युक्तः कासयुक्तः=कासरोगयुक्तः, कासरोगेणाक्रान्तः पुरुषः। चौर्यं—चोरस्य कर्म चौर्यं=स्तेयम्। निद्रालुः=निद्रातुरः। पुंश्चलीं=व्यभिचारिणीं स्त्रियम्। रुजाक्रान्तः=रोगेणाभिभूतः। च जिह्वालौल्यम्=रसनाचापल्यम्। त्यजेत्=परित्यजेत्।

अयं भावः यो हि मानवो विश्वस्मिन् जीवितुमिच्छति। कासरोगग्रस्ते तस्मिन् चौर्यकर्म कर्तुं प्रवृत्ते तदानीं तस्य कासोद्गमेन जनाः जागृयुः। निद्रालुश्चौर्यपरः पुंश्चलीसेवनपरश्च तत्रैव निद्रां प्राप्तः मानवैः ज्ञातः स्यात्। रोगग्रस्तो जनो जिह्वायाश्चापल्येन लोभादपथ्यं सेवेत। एवं सति सर्वत्रानर्थसम्भावनया तेषां कदाचिदपि चौर्यादिकं न हितकरं सम्भवतीति भावः॥ ४९॥

हिन्दी—इस संसार में जो खाँसीवाला हो उसे चोरी नहीं करना चाहिए, अधिक सोनेवाले व्यक्ति को परस्त्रीगमन नहीं करना चाहिए और रोगी व्यक्ति को जीभचटोरी नहीं करना चाहिए। अर्थात् जो मनुष्य संसार में जीना चाहता है उसे ये दोष रहने पर ये कर्म नहीं करने चाहिये ॥ ४९ ॥

अपरं त्वदीयं गीत न मधुरस्वरम्, शङ्खशब्दानुकारं दूरादपि श्रूयते। तदत्र क्षेत्रे रक्षापुरुषाः सुसुप्ताः सन्ति। ते उत्थाय वधं बन्धनं वा करिष्यन्ति। तद्भक्षय तावदमृतमयीश्चिर्भटीः। मा त्वमत्र गीतव्यापारपरो भव।"

तच्छ्रुत्वा रासभ आह—"भोः, वनाश्रयत्वात्त्वं गीतरसं न वेत्सि, तेनैतद् ब्रवीषि। उक्तं च—

व्याख्या—शङ्खशब्दानुकारं=शङ्खध्वनिसदृशम्। रक्षापुरुषाः=क्षेत्रपालाः। अमृतमयीः=अमृतुल्यमधुराः। गीतव्यापारः=गानतत्परः। वनाश्रयत्वात्=वनवासित्वात्। गीतरसं=सङ्गीतमाधुर्यम्। न वेत्सि=नावगच्छसि।

हिन्दी—दूसरी बात यह है कि आपके गाने का स्वर मधुर नहीं है। शङ्ख की आवाज के समान दूर से सुनाई पड़ जाता है। यहाँ खेत में रखवाले सोये रहते हैं। यदि वे जग जायेंगे तो बध या बन्धन दो में एक होना अनिवार्य है। अतः शान्त होकर इस अमृतमय ककड़ी को खाओ, व्यर्थ गाने के फेर में मत पड़ो। शृगाल की यह बात सुनकर गधे ने कहा जंगली होने के कारण तुम संगीत का रस नहीं जान सकते हो इसलिए ऐसा कह रहे हो। देखो, कहा गया है कि—

शरज्ज्योत्स्नाहते दूरं तमसि प्रियसन्निधौ।
धन्यानां विशति श्रोत्रे गीतझङ्कारजा सुधा ॥ ५० ॥

अन्वयः—तमसि दूरं शरज्ज्योत्स्नाहते नभसि प्रियसन्निधौ धन्यानां श्रोत्रे गीतझङ्कारजा सुधा विशति ॥ ५० ॥

व्याख्या—तमसि=अन्धकारे। दूरं=दूरदेशपर्यन्तम्। शरज्ज्योत्स्नाहते—शरदि शरत्काले या ज्योत्स्ना तया हते दूरीकृते इति शरज्ज्योत्स्नाहते=शरत्कालीनचन्द्रिकया नाशिते। प्रियसन्निधौ=प्रियजनस्य सामीप्ये च सति। धन्यानां=भाग्यशालिनाम्। श्रोत्रे=कर्णे। गीतझङ्कारजा—गीतस्य झङ्कारः तालस्वरसमन्वितः शब्द ततो जाता समुत्पन्ना इति गीतझङ्कारजा=गानतालस्वरसमन्वितसमुत्पन्ना गीतरवोत्था। सुधा=सङ्गीतामृतम्। विशति=प्रविशति। अमृतमयमधुरगीतश्रवणसुखं पुण्यवन्त एव पिबन्ति नाकृतपुण्याः इतिभावः ॥ ५० ॥

हिन्दी—शरत्कालीन चाँदनी से जब रात का अन्धकार दूर हो जाता है

और अपना प्रिय व्यक्ति पास में खड़ा रहता है उस समय गाये गये संगीत का अमृतमय रस भाग्यशालियों के ही कान में पड़ता है ॥ ५० ॥

शृगाल आह—"माम ! अस्त्येतत्, परं न वेत्सि त्वं गीतम्। केवलमुन्नदसि। तत्किं तेन स्वार्थभ्रंशकेन ?"

रासभ आह—"धिग्धिङ्मूर्ख ! किमहं न जानामि गीतम् ? तद्यथा तस्य भेदान् शृणु—

व्याख्या—अस्त्येत्=सत्यमिदम्। न वेत्सि गीतम्=गान न जानासि। उन्नदसि=उच्चैः शब्दं करोषि। स्वार्थभ्रंशकेन=स्वार्थविघातकेन। किमहं न जानामि=अपि तु जानाम्येव। तस्य भेदान्=गीतस्यावान्तरभेदान्।

हिन्दी—गधे के दुराग्रह को सुनकर शृगाल ने कहा—मामा ! तुम ठीक कहते हो, किन्तु तुम्हें गाना तो आता नहीं है, केवल जोर-जोर से रेंकते हो। अतः व्यर्थ की हानि करने से क्या लाभ है ?

यह सुनकर गधे ने कहा—अरे मूर्ख ! क्या मैं गाना ही नहीं जानता हूँ। अच्छा तो संगीत के जितने भेद होते हैं उनको मैं सुनाता हूँ सुनो—

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनाश्चैकविंशतिः।
तानास्त्वेकोनपञ्चाशत्तिस्रो मात्रा लयास्त्रयः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—सप्त स्वराः, त्रयः ग्रामाः, एकविंशतिः मूर्च्छनाः, एकोनपञ्चाशत् तानाः, तिस्रः मात्रा, त्रयः लया च ॥ ५१ ॥

व्याख्या—स्वरो नाम श्रुत्यनन्तरं जायमानोऽनुरणनात्मकः स्निग्धः स्वरविशेषः। एवं सप्त स्वराः=षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषादनामानः सप्त स्वरभेदाः सन्ति। त्रयः=त्रिसंख्याकाः, ग्रामश्च स्वराणां सन्दोहः (एकीभावः) ते च ग्रामाः—षड्जग्रामो मध्यग्रामो गान्धारग्रामश्चेति सङ्केतिताः। तथा च ग्रामाः=षड्जमध्यमनिषादसंज्ञकाः स्वरसमूहाः। एकविंशतिसंख्यकाः। मूर्च्छनाः=स्वरस्यारोहावरोहक्रमः। एकोनपञ्चाशत्=एकोनपञ्चाशत्संख्याकाः। तानाः=तालाः। येन च मूर्च्छनाशेषसंश्रयाः प्रयोगा विस्तार्यन्ते स तानः। तिस्रः=तिस्रसंख्याका एव मात्रा भवन्ति। यावता समयेन स्वरो जानुमण्डले परिपतति सा मात्रा=ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतात्मिका। त्रय एव लयाः भवन्ति। लयो हि गीतादीनां क्रियाकालयोः साम्यम्। तथा च सङ्गीतशास्त्रानुसारं सप्तस्वराः, त्रयो ग्रामाः एकविंशतिः मूर्च्छना एकोनपञ्चाशत् तालाः, तिस्रो मात्राः, त्रयश्च लया भवन्ति ॥ ५१ ॥

हिन्दी—स्वरों के सात भेद होते हैं। इनके तीन समूह होते हैं, जिसको ग्राम कहते हैं। संगीत की इक्कीस मूर्च्छनाएँ होती हैं। उनचास ताल होते हैं। स्वरों की तीन मात्राएँ होती हैं और तीन ही ताल होते हैं ॥ ५१ ॥

स्थानत्रयं यतीनां च षडास्यानि रसा नव।
रागा षट्त्रिंशतिर्भावाश्चत्वारिंशत्ततः स्मृताः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—स्थानत्रयं यतीनां च, षड् आस्यानि, नव रसाः, षड्विंशतिः रागाः, ततः चत्वारिंशत् भावाः स्मृताः ॥ ५२ ॥

व्याख्या—स्थानं=स्वनिर्गमस्थानम्। स्थानत्रयं=हृदयादूर्ध्वं मूर्ध्नश्चाधस्तात् यत्र हि प्राणः सञ्चरति तत् किल स्थानमुच्यते। तच्च उरः कण्ठः शिरश्चेति। स्थानत्रयं=स्वराणामुत्पत्तेः क्षेत्रं कथ्यते। तालच्छन्दसोर्ज्ञानाय वाद्यैर्हीनः श्रुतिसुखो यः किल विरामो भवति। स एव यतिर्विच्छेदो नाम। यतीनां=विरामाणाम्। आस्यानि=मुखानि। तानि चाऽत्र षण्णां रागाणां षड् भवन्ति। षड्जं विहाय षण्णां स्वराणां वा षण्मुखानि सन्ति। रसाः=नवरसभेदाः शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-भयानक-वीर-वीभत्स-अद्भुत-शान्तनामानः। रागाः=रागिण्यः। षड्विंशतिः=षड्विंशतिसंख्याकाः ततः चत्वरिंशत्=चत्वारिंशत्संख्याकाः भावाः। भावाः स्मृता उक्ताः सन्ति। य रसान् भावयन्ति=उद्भावयन्ति ते भावाः अभिधीयन्ते। तथाहि विभावैः अनुभावैः सञ्चारिभिश्च व्यक्तः आस्वाद्य-योग्यतां नीतः स्थायिभावो रसपदवीं प्रयाति ॥ ५२ ॥

हिन्दी—स्वरों के तीन उद्गम स्थान होते हैं। यति के भी तीन भेद कहे गये हैं। आस्य आरम्भ छः प्रकार के होते हैं। रसों की संख्या नव होती है। रागों के छत्तीस भेद बताये गये हैं और भावों के चालीस भेद होते हैं ॥५२॥

पञ्चाशीत्यधिकं ह्येतद् गीताङ्गानां शतं स्मृतम्।
स्वयमेव पुरा प्रोक्तं भरतेन श्रुतेः परम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—एतत् हि गीताङ्गानां पञ्चाशीत्यधिकं शतं स्मृतम्। (एतत् च) श्रुतेः परं पुरा स्वयमेव भरतेन प्रोक्तम् ॥ ५३ ॥

व्याख्या—एतत् हि=पूर्वोक्तं हि। गीताङ्गानां=गीतावयवानाम्। पञ्चाशीत्यधिकं शतम्=शतोत्तरं पञ्चाशीतिः। स्मृतम्=उक्तम्। एतच्च श्रुतेः परं=वेदस्य सारभूतं तत्त्वं, श्रवणस्यात्यन्तं सुखदम्। पुरा=पूर्वस्मिन् काले। स्वयमेव=निजमुखद्वारैव भरतेन भरतमुनिना। एव प्रोक्तं=कथितम् ॥ ५३ ॥

हिन्दी—पञ्चम वेद स्वरूप तथा श्रवण सुखद संगीत के एक सौ पचासी भेदों को संगीत के प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि ने स्वयं अपने मुख से कहा है ॥५३॥

नान्यद्गीतात्प्रियं लोके देवानामपि दृश्यते ।
शुष्कस्नायुस्वराह्लादात् त्र्यक्षं जग्राह रावणः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—लोके देवानामपि गीतात् अन्यत् प्रियं न दृश्यते । (यतः) रावणः शुष्कस्नायुस्वराह्लादात् त्र्यक्षं जग्राह ॥ ५४ ॥

व्याख्या—लोके=भुवने ! देवानामपि=सुराणामपि । गीतात्=गानात् । अन्यत्=द्वितीयम् । किमपि वस्तु । प्रियं=मनःसन्तोषदायकं मनोहरम् । न दृश्यते=नहि विलोक्यते । यतो हि रावणः=दशाननो लङ्काधिपतिः । शुष्कस्नायुस्वराह्लादात्—शुष्काः=तपःक्लेशात् शोषं गताः, स्नायवो=वस्नसाः अङ्गप्रत्यङ्गसन्धिबन्धनरूपाः यस्य स, शुष्कस्नायुः=कण्ठः तस्मादुत्पन्नो यः स्वरः—गीतशब्दः तेन आह्लादः=आनन्दः तस्मात् शुष्कस्नायुस्वराह्लादात्=शुष्कतन्त्रीस्वरानन्दात् । त्र्यक्षं–त्रीणि अक्षीणि यस्य स त्र्यक्षः तं त्र्यक्षं=त्रिनेत्रम् शिवं भगवन्तं सदाशिवम् । जग्राह=प्रसादयामास । नीरसेनापि स्वरेण स्तुतिगीतिं कृत्वा दशाननो भगवन्तमाशुतोषं प्रसाद्य ततो वरं लब्धवान् । अतो देवा अपि गानप्रिया भवन्तीत्यत्र नास्ति कश्चन सन्देहलेशः ॥ ५४ ॥

हिन्दी—मनुष्यों की तो बात ही छोड़ दो, देवताओं को भी संगीत से बढ़कर कोई वस्तु प्रिय नहीं है । रावण ने तपस्या के क्लेश से सूखे नीरस कण्ठ के स्वरालाप से ही भगवान् शङ्कर को सन्तुष्ट किया था ॥ ५४ ॥

तत्कथं भगनीसुत ! मामनभिज्ञं वदन्निवारयति ?"

शृगाल आह—"माम ! यद्येवं यावद् वृत्तेर्द्वारस्थितः क्षेत्रपालमवलोकयामि, त्वं पुनः स्वेच्छया गीतं कुरु ।"

तथाऽनुष्ठिते रासभरटनमाकर्ण्य क्षेत्रपः क्रोधात् दन्तान्घर्षयन् प्रधावितः । यावद्रासभो दृष्टस्तावल्लगुडप्रहारैस्तथा हतो, यथा प्रताडितो भूपृष्ठे पतितः । ततश्च सच्छिद्रमुलूखलं तस्य गले बद्ध्वा क्षेत्रपालः प्रसुप्तः । रासभोऽपि स्वजातिस्वभावाद्गतवेदनः क्षणेनाऽभ्युत्थितः । उक्तं च—

व्याख्या—भगिनीसुत !=भागिनेय ! अनभिज्ञं=आज्ञातारम् । निवारयसि=प्रतिषेधयसि । वृत्तेः=वेष्टनस्य क्षेत्ररोधकस्य । रासभरटनम्=गर्दभरवम् । क्षेत्रपः क्षेत्रपालः । प्रताडित=हतः । भूपृष्ठे=पृथिव्याम् । गतवेदनः=विगतदुःखः । स्वजातिस्वभावात्=निजजातिप्रकृतेः । अभ्युत्थितः=उत्थितः ।

हिन्दी—संगीत के पूर्वोक्त भेदों को बताकर गधे ने कहा—'इतना जानते हुए भी मुझे अनभिज्ञ कहकर क्यों मना कर रहे हो ?'

इसपर शृगाल ने उत्तर दिया—'मामा ! यदि ऐसी बात है तो मैं घेरे से बाहर बैठकर खेत के रखवालों को देखता हूँ, आप निश्चिन्त होकर गाइए।'

शृगाल के चले जाने के बाद गधे ने जोर-जोर से रेंकना शुरू कर दिया। उसकी आवाज सुनकर क्रुद्ध क्षेत्रपाल अपने दाँतों को पीसता हुआ दौड़ा। खेत में पहुँचकर जब उसने गधे को देखा तो डण्डे से इस प्रकार पीटना शुरू किया कि वह गधा मार खाकर वहीं गिर गया। जी भरकर पीटने के बाद क्षेत्रपाल ने छेदवाली उलूखल को लाकर उसके गले में बाँध दिया और पुनः जाकर सो गया। क्षेत्रपाल के जाते ही वह गधा अपने जातिगत स्वभाव के कारण उस मार को भूलकर तत्काल उठकर खड़ा हो गया। कहा भी गया है कि—

सारमेयस्य चाऽश्वस्य रासभस्य विशेषतः।
मुहूर्तात्परतो न स्यात्प्रहारजनिता व्यथा ॥ ५५ ॥

अन्वयः—सारमेयस्य अश्वस्य च विशेषतः रासभस्य प्रहारजनिता व्यथा मुहूर्तात् परतः न स्यात् ॥ ५५ ॥

व्याख्या—सारमेयस्य=कुक्कुरस्य। अश्वस्य=घोटकस्य। विशेषतः=एतदुभयापेक्षया विशेषरूपेण। रासभस्य=गर्दभस्य च। प्रहारजनिता=ताडनोत्पन्ना। व्यथा =पीडा। मुहूर्तात्=घटिकाद्वयात्। परतः=अनन्तरम्। न स्यात्=न भवेत्। सारमेयादयो हि न चिरकालपर्यन्तं प्रहारपीडामनुभवन्तीति भावः ॥ ५५ ॥

हिन्दी—कुत्ते, घोड़े तथा विशेषकर गधे की मारजनित पीडा केवल कुछ ही क्षणों तक रहती है ॥ ५५ ॥

ततस्तमेवोलूखलमादाय वृत्तिं चूर्णयित्वा पलायितुमारब्धः। अत्रान्तरे शृगालोऽपि दूरादेव दृष्ट्वा सस्मितम् आह—

व्याख्या—वृत्तिं चूर्णयित्वा=बन्धनं विदार्य। सस्मितं=प्रहसन्। आह= अकथयत्।

हिन्दी—गधे ने उलूखल के साथ खेत के घेरे को तोड़कर वहाँ से भागना शुरू कर दिया। शृगाल ने दूर से ही जब उसको इस प्रकार भागते हुए देखा तो मुस्कराकर कहा—

'साधु मातुल ! गीतेन, मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः।
अपूर्वोऽयं मणिबंद्धः साम्प्रतं गीतलक्षणः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—मातुल ! गीतेन साधु (एवं) मया प्रोक्तः अपि (भवान्) न स्थितः। अत एव साम्प्रतं गीतलक्षणः अपूर्वः, अयं मणिः (भवता) बद्धः ॥ ५६ ॥

व्याख्या—मातुल !=माम ! गीतेन=गानेन । साधु=युक्तम् । व्यर्थं गीतं न गेयं भवता इत्येवं मया प्रोक्तः अपि वारितोऽपि भवान् । न स्थितः=स्वदुराग्रहे आरूढः । अत एव साम्प्रतम्=इदानीम् । गीतलक्षणः—गीतस्य लक्षणं पुरस्कारः यस्य सः गीतलक्षणः=गीतपुरस्काररूपेण । अपूर्वः=अद्भुतः । अयं मणिः=इदं रत्नम् । भवता=त्वया । बद्धः=स्वगलालङ्कारः कृतः । अनवसरदुराग्रहिणामेषैव दशा भवति ॥ ५६ ॥

हिन्दी—मैंने तो कितना मना किया कि गाना रहने दो, किन्तु मेरे मना करने पर भी तुमने गाना गाया ही। देखो, यह कितना सुन्दर मणि तुम्हारे गले में बांध दिया गया है। वस्तुतः तुमको गाने का समुचित पुरस्कार मिला है ॥ ५६ ॥

"तद्भवानपि मया वार्यमाणोऽपि न स्थितः।"

तत् श्रुत्वा चक्रधर आह—"भो मित्र, सत्यमेतत् ।" अथवा साध्विदमुच्यते—

हिन्दी—इस कथा को सुनाने के पश्चात् सुवर्णसिद्धि ने कहा—'आप भी मेरे मना करने पर नहीं रुके थे।'

यह सुनकर चक्रधर ने कहा—'मित्र ! सत्य कहते हो।' अथवा किसी ने ठीक ही कहा है—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा मित्रोक्तं न करोति यः।
स एव निधनं याति, यथा मन्थरकौलिकः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—यस्य स्वयं प्रज्ञा नास्ति, यः मित्रोक्तं न करोति, स एव निधनं याति यथा मन्थरकौलिकः ॥ ५७ ॥

व्याख्या—यस्य=पुरुषस्य । स्वयं=स्वतः । प्रज्ञा=बुद्धिः । नास्ति=न विद्यते । यश्च पुरुषः मित्रोक्तं=सुहृत्कथितम् । न करोति=नानुतिष्ठति । सः=पुरुषः । निधनं=नाशं । याति=गच्छति । यथा=येन प्रकारेण । मन्थरकौलिकः=मन्थरो नाम कश्चन तन्तुवायो । मन्दबुद्धिर्मित्रस्य वचनमुपेक्ष्य नाशं गतवानतो मन्दबुद्धिना पुंसा मित्रोक्तं नोपेक्षणीयमिति भावः ॥ ५७ ॥

हिन्दी—जो स्वयं बुद्धिहीन है ही, मित्र का कहना भी नहीं मानता है, वह व्यक्ति मन्थर नामक जुलाहे की तरह मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

सुवर्णसिद्धिराह—'कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे हुआ ?' तब उसने कहना आरम्भ किया—

७. मन्थरकौलिक-कथा

कस्मिश्चिदधिष्ठाने मन्थरको नाम कौलिकः प्रतिवसति स्म । तस्य कदाचित् पटकर्माणि कुर्वतः सर्वपटकर्मकाष्ठानि भग्नानि । ततः स कुठारमादाय वने काष्ठार्थं गतः । स च समुद्रतटे यावद् भ्रमन् प्रयातः तावत्तत्र शिंशपापादपस्तेन दृष्टः । ततश्चिन्तितवान्—"महानयं वृक्षो दृश्यते । तदनेनैव कर्तितेन प्रभूतानि पटकर्मोपकरणानि भविष्यन्ति ।" इत्यवधार्य तस्योपरि कुठारमुत्क्षिप्तवान् ।

व्याख्या—कौलिकः=तन्तुवायः । पटकर्माणि=वस्त्रनिर्माणकार्याणि । सर्वपटकर्मकाष्ठानि=वस्त्रनिर्माणक्षमानि, तुरीवेमादीनि उपकरणानि । भग्नानि=त्रुटितानि । कुठारमादाय=परशुं गृहीत्वा । तत्र=समुद्रतीरे । शिंशपापादपः=शिंशपानामकतरुः । कर्तितेन=छिन्नेन । पटकर्मोपकरणानि=तुरीवेमादीनि वस्त्रनिर्माणोपकरणानि । अवधार्य=विचार्य । तस्योपरि=शिंशपावृक्षोपरि । उत्क्षिप्तवान्=प्रक्षिप्तवान् ।

हिन्दी—किसी नगर में मन्थरक नाम का जुलाहा रहता था । एक दिन कपड़ा बनाते समय उसके कपड़ा बनाने के सभी औजार टूट गये । तब वह कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी काटने के लिए वन में गया । इधर-उधर घूमता हुआ जैसे ही सागर के किनारे पहुँचा वैसे ही उसने एक शीशम का पेड़ देखा । तब उसने सोचा कि यह पेड़ बहुत बड़ा दिखाई पड़ रहा है । इसके काटने से पर्याप्त उपकरण तैयार हो सकते हैं । ऐसा सोचकर उसने उस पर कुल्हाड़ी चलायी ।

अथ तत्र वृक्षे कश्चिद् व्यन्तरः समाश्रित आसीत् । अथ तेनाभिहितम्—"भोः मदाश्रयोऽयं पादपः सर्वथा रक्षणीयः । यतोऽहमत्र महासौख्येन तिष्ठामि, समुद्रकल्लोलस्पर्शनाच्छीतवायुनाप्यायितः ।"

कौलिक आह—"भोः ! किमहं करोमि, दारुसामग्रीं विना मे कुटुम्बं बुभुक्षया पीड्यते । तस्मादन्यत्र शीघ्रं गम्यताम् । अहमेनं कर्त्तयिष्यामि ॥"

व्यन्तर आह—"भोः ! तुष्टस्तवाऽहम् । तत्प्रार्थ्यतामभीष्टं किञ्चित् । रक्षैमं पादपम्" इति ।

कौलिक आह—"यद्येव तदहं स्वगृहं गत्वा स्वमित्रं, स्वभार्यां च पृष्ट्वा आगमिष्यामि, ततस्त्वया देयम् ।"

व्याख्या—व्यन्तरः=यक्षः । समाश्रितः=स्थितः । तेन=व्यन्तरेण । मदाश्रयोऽयं=मम निवासभूतः । सर्वथा=सर्वोपायेन । सौख्येन=सुखेन । समुद्रकल्लोल-

स्पर्शात्=सागरतरङ्गसम्पर्कात्। शीतवायुना=शीतवातेन। आप्यायितः=सन्तुष्टः। दारुसामग्रीं विना=काष्ठोपकरणं विना। कुटुम्बं=कलत्रादिकम्। बुभुक्षया=भोक्तुमिच्छया। तुष्टः=प्रसन्नः। अभीष्टं=स्वाभिमतं वस्तु। ततस्त्वया देयम्=पृष्ट्वा समागते सति प्रदातव्यम्।

हिन्दी—उस पेड़ पर एक यक्ष रहता था। वृक्ष को काटते हुए देखकर उस यक्ष ने कहा—'मैं इस पेड़ पर रहता हूँ। तुम्हें इस वृक्ष की रक्षा करनी चाहिए। इस वृक्ष को तुम नहीं काट सकते हो, क्योंकि मैं यहाँ समुद्र की लहरों के सम्पर्क से शीतल वायु का आनन्द लेकर सुखपूर्वक निवास करता हूँ।'

कौलिक ने विनयपूर्वक कहा—'महाशय! मैं क्या करूँ, वस्त्र बुनने के लिए आवश्यक काष्ठ साधनों (तुरी, वेमा आदि) के अभाव में मेरा परिवार भूखों मर रहा है। आप कृपया कहीं अन्यत्र चले जाइए, मैं इस वृक्ष को अवश्य काटूंगा।'

कौलिक की उक्त बात सुनकर यक्ष ने कहा—'मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे कोई अभिलषित वर माँगो, इस पेड़ की रक्षा करो।

कौलिक ने कहा—'यदि ऐसी बात है, तो मैं अपने घर जाकर अपने मित्र और अपनी स्त्री से पूछ लेता हूँ, फिर मेरे लौटने पर वर दीजिएगा।'

अथ "तथा" इति व्यन्तरेण प्रतिज्ञाते, स कौलिकः प्रहृष्टः स्वगृहं प्रति निवृत्तो यावदग्रे गच्छति, तावद् ग्रामप्रवेशे निजसुहृदं नापितमपश्यत्। ततः तस्य व्यन्तरवाक्यं निवेदयामास, यत्—"अहो मित्र! मम कश्चिद् व्यन्तरः सिद्धः। तत्कथय किं प्रार्थये? अहं त्वां प्रष्टुमागतः"।

नापित आह—"भद्र! यद्येवं तद्राज्यं प्रार्थयस्व, येन त्वं राजा भवसि, अहं त्वन्मन्त्री। द्वावपीह सुखमनुभूय, परलोकसुखमनुभवावः। उक्तञ्च—

व्याख्या—अथ=कौलिकस्य प्रार्थनानन्तरम्। तथा=तथाऽस्तु। प्रतिज्ञाते=कथिते। निवृत्तः=परावर्तितः। ग्रामप्रवेशे=पुरप्रवेशे। निजसुहृदं=स्वमित्रम्। तस्य=नापितस्य। सिद्धः=सन्तुष्टः। द्वौ=आवाम्। सुखमनुभूय=आनन्दमनुभूय। परलोकसुखम्=आनन्दसुखम्। अनुभवावः=अनुभवं कुर्वः।

हिन्दी—कौलिक की बात सुनकर यक्ष ने—'अच्छा जाओ' कहकर अनुमति दे दी। बाद जुलाहा खुश होकर अपने घर की ओर लौट गया। मार्ग में गाँव के बाहर ही अपने मित्र एक नाई को आते देखा और यक्ष की पूरी

बात को उससे कह सुनाया। और कहा—मित्र, मेरे ऊपर एक यक्ष खुश हो गया है, उसने मुझसे वरदान माँगने को कहा है, तो बताओ, मैं उससे क्या माँग लूं। यही पूछने के लिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ।'

नाई ने कहा—'मित्र ! यदि ऐसी बात है, तो राज्य माँग लो, जिससे तुम राजा हो जाओ और मैं तुम्हारा मन्त्री बन जाऊँगा। दोनों यहाँ सुख भोगकर स्वर्ग में भी सुख भोगेंगे।' कहा भी गया है—

राजा दानपरो नित्यमिह कीर्तिमवाप्य च।
तत्प्रभावात्पुनः स्वर्गे स्पर्धते त्रिदशैः सह ॥ ५८ ॥

अन्वयः—नित्यं दानपरो राजा इह कीर्तिमवाप्य तत्प्रभावात् पुनः स्वर्गे त्रिदशैः सह स्पर्धते ॥ ५८ ॥

व्याख्या—नित्यं=निरन्तरम्। दानपरः=दानपरायणः। राजा=नृपतिः। इह=संसारे। कीर्तिमवाप्य=यशो लब्ध्वा। पुनः=भूयः। तत्प्रभावात्=नित्यदानसामर्थ्यात्। त्रिदशैः=देवैः। सह=साकम्। स्पर्धते=स्पर्धां करोति, मोदते इत्यर्थः। धर्मिष्ठो राजा भूलोकसुखमनुभूय स्वर्गलोकसुखान्यपि भोक्तुं प्रभवतीति भावः ॥ ५८ ॥

हिन्दी—हमेशा दान देनेवाला राजा इस लोक में यश को प्राप्त कर उसके प्रभाव से फिर स्वर्ग में भी देवताओं के साथ होड करता है। अर्थात् सुखपूर्वक विचरता है ॥ ५८ ॥

कौलिक आह—"अस्त्येतत् तथापि गृहिणीं पृच्छामि।"

स आह—"भद्र ! शास्त्रविरुद्धमेतत् यत्स्त्रिया सह मन्त्रः। यतस्ताः स्वल्पमतयो भवन्ति। उक्तञ्च—

व्याख्या—अस्त्येतत्=उचितमेतत्। गृहिणीं=भार्यां। शास्त्रविरुद्धं=शास्त्रप्रतिषिद्धम्। मन्त्रः=परामर्शः। ताः=स्त्रियः। स्वल्पमतयः=अल्पबुद्धयः।

हिन्दी—जुलाहे ने कहा—'मित्र ! यद्यपि तुम ठीक कहते हो, फिर भी अपनी पत्नी से परामर्श कर लेना आवश्यक समझता हूँ। अतः उससे पूछ लेता हूँ।' यह सुन नाई ने कहा—'मित्र ! स्त्री से परामर्श लेना शास्त्रविरुद्ध है, क्योंकि स्त्रियाँ स्वाभाविक रूप से कम बुद्धिवाली होती हैं।' कहा भी गया है—

भोजनाच्छादने दद्यादृतुकाले च सङ्गमम्।
भूषणाद्यं च नारीणां न ताभिर्मन्त्रयेत्सुधीः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सुधीः नारीणां भोजनाच्छदने भूषणाद्यं (दद्यात्) ऋतुकाले सङ्गमं च दद्यात् (किन्तु) ताभिः (सह) न मन्त्रयेत् ॥ ५९ ॥

व्याख्या—सुधीः=विद्वान् पुरुषः । नारीणां=स्त्रीभ्यः । भोजनाच्छादने= अन्नवस्त्रे । भूषणाद्यं=भूषणालङ्कारादिकं च । दद्यात्=प्रयच्छेत् । अन्नवस्त्रा-लङ्कारादिदानेन ताः सन्तोषयेदित्यर्थः । ऋतुकाले=ऋतौ प्राप्ते, समागमयोग्य-काले । सङ्गमं=समागमं च । दद्यात्=समर्पयेत् । किन्तु=परन्तु । ताभिः= स्त्रीभिः सह । न मन्त्रयेत्=गुप्तपरामर्शादिकं न कुर्यात् । रहस्यभङ्गभिया विद्वद्भिः भार्यया सह मन्त्रणा न कर्तव्येति भावः ॥ ५९ ॥

हिन्दी—बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वे स्त्रियों को भोजन एवं वस्त्र दें, ऋतुकाल में गर्भाधान के समय उन्हें सहवास का सुख दें तथा गहने आदि आव-श्यक पदार्थ भी उन्हें दें, किन्तु उनके साथ कभी परामर्श न करें ॥ ५९ ॥

यत्र स्त्रीः, यत्र कितवो, बालो यत्र प्रशासिता ।
तद्गृहं क्षयमायाति, भार्गवो ह्रीदमब्रवीत् ॥ ६० ॥

अन्वयः—यत्र स्त्रीः, यत्र कितवः, यत्र बालः (वा) प्रशासिता । तद् गृहं क्षयम् आयाति । हि इदं भार्गवः अब्रवीत् ॥ ६० ॥

व्याख्या—यत्र=यस्मिन् गृहे । स्त्री=योषित् । यत्र=यस्मिन् गृहे । कितवः= धूर्तः । यत्र वा बालः=बालकः, शिशुः । एषु अन्यतमः कोऽपि । प्रशासिता=नियन्त्रकः व्यवस्थापको वर्तते । तद् गृहम्=गेहम् । क्षयं=नाशम् । आयाति=प्राप्नोति, विनश्यति । हि=निश्चयेन । इदं=इत्थम्, एतत्किल वचनम् । भार्गवः=भृगुपुत्रः शुक्राचार्यः । अब्रवीत्=अकथयत् । अप्रौढबुद्धिभिः—शिशु-धूर्त-स्त्रीभिः कृतं शासनं गृहस्य नाशायैव भवति, अतो यत्र नारीपरामर्शदात्री, कितवः परामर्शदाता, बालकश्च नियन्ता भवति तद्गृहं नूनं विनश्यतीत्यर्थः ॥ ६० ॥

हिन्दी—क्योंकि जिस घर में स्त्री का प्राधान्य होता है, जहाँ धूर्त, जुआडी आदि सलाह देते हैं और जहाँ बालक शासन करने वाला होता है निश्चय ही वह घर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । यह शुक्राचार्य ने अपने नीतिशास्त्र में कहा है ॥ ६० ॥

तावत्स्यात्सुप्रसन्नास्यस्तावद् गुरुजने रतः ।
पुरुषो योषितां यावन्न शृणोति वचो रहः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—पुरुषः यावत् रहः योषितां वचः न शृणोति, तावत् सुप्रसन्नास्यः (तावत्) गुरुजने रतः स्यात् ॥ ६१ ॥

व्याख्या—पुरुषः=जनः। यावत्=यावत्कालपर्यन्तम्। रहः=एकान्ते। योषितां=स्त्रीणाम्। वचः=वचनम्। न शृणोति=नाकर्णयति। तावत्=तदवधि। सुप्रसन्नास्यः–सुप्रसन्न आस्यो यस्य सः सुप्रसन्नास्यः=प्रसन्नमुखः। गुरुजने=श्रेष्ठजने च, रक्तः=अनुरक्तः। स्यात्=भवेत्। नारीवचनविमोहितानां पुंसां मानसिकः सद्भावो विनश्यति। अतो नारीवचनं सदा न श्रोतव्यमिति भावः॥ ६१॥

हिन्दी—पुरुष जब तक एकान्त में स्त्री की बात नहीं सुनता, तभी तक वह प्रसन्न रहता है और अपने बड़े व्यक्तियों में अनुरक्त रहता है॥ ६१॥

एताः स्वार्थपरा नार्यः, केवलं स्वसुखे रताः।
न तासां वल्लभः कोऽपि सुतोऽपि स्वसुखं विना॥ ६२॥

अन्वयः—एताः नार्यः स्वार्थपराः केवलं स्वसुखे रता (भवन्ति)। तासां स्वसुखं विना कोऽपि सुतोऽपि वल्लभो न (भवति)॥ ६२॥

व्याख्या—एता नार्यः=इमाः स्त्रियः। स्वार्थपराः=स्वसुखपरायणाः केवलं स्वसुखे रताः=आत्मनः सौख्ये दत्तचित्ता भवन्ति। तासां=स्त्रीणाम्। स्वसुखं विना=आत्मनः सुखं विहाय। सुतोऽपि=पुत्रोऽपि। वल्लभः=प्रियो न भवति। तथा च निरन्तरमात्मसुखसाधनपरायणानां नारीणां प्रेम लोकेऽतिदुर्लभमित्यर्थः॥ ६२॥

हिन्दी—ये स्त्रियाँ स्वभाव से परम स्वार्थी होती हैं। केवल अपना ही सुख देखती हैं। इनका कोई भी प्रिय नहीं होता है। यहाँ तक कि अपना औरस पुत्र भी स्वात्मसुख के अभाव में प्रिय नहीं लगता॥ ६२॥

कौलिक आह—'तथाऽपि प्रष्टव्या सा मया। यतः पतिव्रता सा। अपरं, तामपृष्ट्वाऽहं न किञ्चित्करोमि।" एवं तमभिधाय सत्वरं गत्वा तामुवाच—"प्रिये! अद्यास्माकं कश्चिद् व्यन्तरः सिद्धः। स वाञ्छितं प्रयच्छति। तदहं त्वां प्रष्टुमागतः। तत्कथय किं प्रार्थये? एष तावन्मम मित्रं नापितो वदत्येवं यत्—"राज्यं प्रार्थयस्व"। साऽऽह—आर्यपुत्र! का मतिर्नापितानाम्? तन्न कार्यं तद्वचः। उक्तञ्च—

व्याख्या—सा=मम भार्या। पतिव्रता=पतिपरायणा साध्वा। तं=नापितम्। सत्वरं=शीघ्रम्। तां=भार्याम्। सः=व्यन्तरः। वाञ्छितं=मनोरथम्। का मतिः=का बुद्धिः। तद्वचः=नापितस्य वचनम्।

हिन्दी—जुलाहे ने कहा—'फिर भी मैं उससे अवश्य पूछूँगा, क्योंकि वह पतिव्रता है। इसके अतिरिक्त एक और बात है कि मैं बिना उससे परामर्श

लिये कोई भी कार्य नहीं करता हूँ।' इस तरह नाई से कहकर उसने अपनी स्त्री के पास जाकर कहा—'प्रिये ! आज मुझपर एक यक्ष प्रसन्न हो गया है। वह मुझे वरदान देना चाहता है, तो बताओ, उससे क्या माँग लूँ, यही पूछने के लिए तुम्हारे पास मैं आया हूँ। मेरा मित्र नाई कहता है कि राज्य माँगो।' तब उसकी स्त्री ने कहा—'आर्यपुत्र ! नाई की क्या बुद्धि होती है, उसका कहना किसी तरह न मानियेगा।' कहा भी गया है—

चारणैर्बन्दिभिर्नीचैर्नापितैर्बालकैरपि ।
न मन्त्रं मतिमान्कुर्यात्सार्धं भिक्षुभिरेव च ॥ ६३ ॥

अन्वयः—मतिमान् चारणैः वन्दिभिः नीचैः नापितैः च बालकैः च भिक्षुभिः अपि सार्द्धं मन्त्रं न कुर्यात् ॥ ६३ ॥

व्याख्या—मतिमान्=बुद्धिमान्। चारणैः=एतन्नामकैः प्रसिद्धैर्नटविशेषैः। राजवंशप्रशंसकैः। वन्दिभिः=स्तुतिपाठकैः। नीचैः=अधमैर्दुष्टैः। नापितैः=क्षुरकर्मकारिभिः। बालकैरपि=स्वल्पवयस्कैरपि। तथा भिक्षुभिः=भिक्षावृत्तिभिः, क्षपणकैः पुरुषैः सार्द्धम्। मन्त्रं न कुर्यात्=न मन्त्रयेत्। पूर्वोक्तैरेभिः सह कृतो विचारः न स्थिरो भवतीत्यर्थः॥ ६३ ॥

हिन्दी—चारणों, बन्दीजनों, अधम दुष्ट व्यक्तियों, बालकों एव संन्यासियों से बुद्धिमान् व्यक्ति को परामर्श नहीं करना चाहिये ॥ ६३ ॥

अपरं महती क्लेशपरम्परैषा राज्यस्थितिः सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावादिभिः कदाचित्पुरुषस्य सुखं न प्रयच्छतीति। यतः—

व्याख्या—अपरं=किञ्च। क्लेशपरम्परा=कष्टपरिपाटी। राज्यस्थितिः=राज्यव्यवस्था। सन्धिः=शत्रुभिः सन्धानम्। विग्रहः=युद्धम्। यानं=युद्धाक्रमणम्। आसनम्=युद्धप्रतीक्षायामवस्थानम्। संश्रयः=अन्याश्रयः। द्वैधीभावः=भेदः। न प्रयच्छति=न ददाति।

हिन्दी—इसके अतिरिक्त राज्य अत्यन्त कष्टकारक है। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव आदि राज्य का कार्य अत्यन्त कष्टप्रद होता है। वह कभी भी राजा को सुख नहीं देता। क्योंकि—

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव याति व्यसनेषु बुद्धिः।
घटा नृपाणामभिषेककाले सहाऽम्भसैवापदमुद्गिरन्ति ॥ ६४ ॥

अन्वयः—यदैव राज्ये अभिषेकः क्रियते तदैव बुद्धिः व्यसनेषु याति, नृपाणां अभिषेककाले एव घटा अम्भसा सह आपदम् उद्गिरन्ति ॥ ६४ ॥

व्याख्या—यदैव=यस्मिन्नेव काले। राज्ये=राजपदे। अभिषेकः=राज्याभिषेचनम्। क्रियते=विधीयते, पुरुषो राज्याभिषिक्तो भवतीत्यर्थः। तदैव=तस्मिन्नेव समये। तस्य बुद्धिः=मतिः। व्यसनेषु=विपत्तिषु, कष्टेषु। याति=गच्छति प्रवेशं कुरुते। नृपाणां=राज्ञाम्। अभिषेककाले=राज्याभिषेकस्य समये। घटाः=जलपूर्णाः कलशाः। अम्भसा=जलेन, सहैव=साकम्। आपदम्=विपत्तिम्। उद्गिरन्ति=उद्वमन्ति, निपातयन्ति। राजनो हि राज्यप्राप्तिसमनन्तरमेव दुष्करानेकराजकीयसाधनबुद्धयः सन्तः विविधैश्वर्यसुखेऽपि जीवनं कष्टमयं भावयन्तीति भावः ॥ ६४ ॥

हिन्दी—राज्याभिषेक होते ही व्यक्ति की बुद्धि जटिल समस्याओं की ओर चली जाती है और विभिन्न चिन्ताएँ आकर घेर लेती हैं। राजाओं के अभिषेक का घट जल के साथ अनेक आपत्तियों को भी उद्गिरण करता है ॥ ६४ ॥

तथा च—

रामस्य व्रजनं वने निवसनं पाण्डोः सुतानां वने,
वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम्।
सौदासं तदवस्थमर्जुनवधं सञ्चिन्त्य लङ्केश्वरं,
दृष्ट्वा राज्यकृते विडम्बनगतं तस्मान्न तद्वाञ्छयेत् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—रामस्य वने व्रजनं, पाण्डोः सुतानां वने निसतम्, वृष्णीनां निधनं, नृपतेः नलस्य राज्यात् परिभ्रंशनम्, सौदासं तदवस्थम् अर्जुनवधं सञ्चिन्त्य राज्यकृते विडम्बनगतं लङ्केश्वरं दृष्ट्वा तस्मात् तत् न वाञ्छयेत् ॥ ६५ ॥

व्याख्या—रामस्य=श्रीरामचन्द्रस्य, कैकेय्या वचनात् पितुराज्ञया चतुर्दशवर्षपर्यन्तम्। वने=विपिने। व्रजनं=गमनम्। पाण्डोः सुतानां=पाण्डवानां युधिष्ठिरादीनाम्। वने=अरण्ये। निवसनं=द्वादशवर्षाणि यावत् राज्यार्थं काननस्थितिम्। वृष्णीनां=भगवतः श्रीकृष्णस्य लीलया वृष्णिवंशीयानाम्। यादवानां निधनं=नाशम्। नलस्य नृपतेः=द्यूते भ्रात्रा पराजितस्य राज्ञः। राज्यात्=राज्यपदात्। परिभ्रंशनम्=परिपतनम्। सौदासं=सुदासनामकमिक्ष्वाकुवंशीयं भूपतिम्। तदवस्थं=राक्षसयोनिगमनम्, गुरोः वसिष्ठस्य शापात् सौदासस्य राक्षसयोनौ गमनम्। अर्जुनवधं=कार्तवीर्यार्जुनस्य परशुरामकर्तृकं नाशम्। सञ्चिन्त्य=विचार्य। राज्यकृते=राज्यार्थम्। विडम्बनगतं=विडम्बने पतितम्, कालवशं गतं सीतापहारहेतोः समूल नाशमनुभवन्तम्। लङ्केश्वरं=लङ्काधिपतिरावणं त्रिलोकत्रस्तकारकं दशाननं वा। दृष्ट्वा=विलोक्य। तस्मात्=कारणात्। तत्=

राज्यम् । न वाञ्छयेत्=नेच्छेत् । अतः सर्वथाऽनर्थस्य कारणं राज्यं नाहमभिलष्येयमित्यर्थः ।। ६५ ।।

हिन्दी—देखो, राज्य के लिए राम को बन जाना पड़ा था। पाण्डवों को वन में वास करना पड़ा था। यदुवंशियों का विनाश भी राज्य के लिए ही हुआ था। राजा नल राज्य के लिए ही अनेक कष्ट झेलते रहे। सौदास राजा को कुलगुरु वसिष्ठजी के शाप से राक्षसयोनि में जाना पड़ा। कार्तवीर्य अर्जुन को राज्य के लिए ही परशुराम ने मार डाला और लङ्केश्वर रावण की राज्य के लिए ही कितनी कष्टप्रद मृत्यु हुई। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति को राज्यप्राप्ति की इच्छा नहीं करनी चाहिए ।। ६५ ।।

यदर्थं भ्रातरः पुत्रा अपि वाञ्छन्ति ये निजाः ।
वधः राज्यकृतां राज्ञां, तद्राज्यं दूरतस्त्यजेत् ।। ६८ ।।

अन्वयः—ये निजा भ्रातरः, पुत्राः ते अपि यदर्थं राज्यकृतां राज्ञां वधं वाञ्छन्ति तत् राज्यं दूरतः परित्यजेत् ।। ६६ ।।

व्याख्या—ये किल निजाः=स्वकीयाः। भ्रातरः=सहोदराद्याः। पुत्राः=तनुजाः सन्ति। ते अपि यदर्थं=यस्मै राज्याय, यस्य राज्यस्य प्राप्तये। राज्यकृतां-राज्यशासनाधिकारिणाम्, राज्ञां=नृपतीनाम्। वधं=नाशम्। वाञ्छन्ति=प्राणान् ग्रहीतुमिच्छन्ति। तत्=अनर्थावहं राज्यम्। दूरतः=दूरादेव। त्यजेत्=मुञ्चेत्। राज्यलोभो हि स्वीयत्वबुद्धिं विघातयति। विवादास्पदं राज्यं महतेऽनर्थाय कल्पते। अतः तत् सर्वथा हेयमित्यर्थः ।। ६६ ।।

हिन्दी—जिस राज्य के लिए अपने सहोदर भाई तथा पुत्र भी राजा का वध कर डालना चहते हैं, उस राज्य को दूर से ही छोड़ देना चाहिए ।। ६६ ।।

कौलिक आह—"सत्यमुक्तं भवत्या। तत्कथय किं प्रार्थये ?"

साऽऽह—"त्वं तावदेकं पटं नित्यमेव निष्पादयसि ! तेन सर्वा व्ययशुद्धिः सम्पद्यते। इदानीं त्वमात्मनोऽन्यद्बाहुयुगलं द्वितीयं शिरश्च याचस्व, येन पटद्वयं सम्पादयसि पुरतः पृष्ठतश्च। एकस्य मूल्येन गृहे यथापूर्वं व्ययं सम्पादयिष्यसि, द्वितीयस्य मूल्येन विशेषकृत्यानि करिष्यसि। एवं सौख्येन स्वजातिमध्ये श्लाध्यमानस्य कालो यास्यति, लोकद्वयस्योपार्जना च भविष्यति।"

व्याख्या—प्रार्थये=याचे। नित्यमेव=प्रत्यहम्। निष्पादयसि=विरचयसि। व्ययशुद्धिः=गृहव्ययनिर्वाहः। अन्यद्बाहुयुगलं=द्वितीयं बाहुद्वयम्। याचस्व=प्रार्थयस्व। पुरतः=अग्रतः। यथापूर्वं=पूर्ववत्। विशेषकृत्यानि=अतिरिक्त-

कार्याणि । सौख्येन=सुखेन । स्वजातिमध्ये=स्वकीयजातौ । श्लाघ्यमानस्य=प्रशस्यमानस्य । कालः=समयः । यास्यति=व्यतिगमिष्यति । लोकद्वयस्य=भूलोकस्य स्वर्गस्य च । उपार्जना=प्राप्तिः ।

हिन्दी—अपनी स्त्री की बात सुनकर जुलाहे ने कहा—'प्रिये, तुम ठीक कहती हो, पर बताओ कि उससे क्या मागूं ?'

स्त्री ने कहा—'तुम प्रतिदिन एक कपड़ा तैयार करते हो । उसी से घर का सब खर्च चलता है । तुम जाकर दो और हाथ एवं एक शिर माँग लो । इससे तुम रोज वस्त्र बुन सकोगे, एक आगे से और दूसरा पीछे से । एक के दाम से घर का खर्च चलेगा और दूसरे के मूल्य से अन्य कार्य किया जायेगा । इस प्रकार अपनी जाति के लोगों में प्रतिष्ठापूर्वक सुख से समय कट जायेगा और परलोक भी बन जायेगा ।

सोऽपि तदाकर्ण्य प्रहृष्टः प्राह—"साधु पतिव्रते ! साधु, युक्तमुक्तं भवत्या । तदेवं करिष्यामि । एष मे निश्चयः ।"

ततोऽसौ गत्वा व्यन्तरं प्रार्थयाञ्चक्रे—"भो, यदि ममेप्सितं प्रयच्छसि तद् देहि मे द्वितीयं बाहुयुगलं शिरश्च ।"

एवमभिहिते, तत्क्षणादेव स द्विशिराश्चतुर्बाहुश्च सञ्जातः । ततो हृष्टमना यावद् गृहमागच्छति तावल्लोकैः "राक्षसोऽयमिति मान्यमानैर्लगुडपाषाणप्रहारैस्ताडितो मृतश्च ।"

अतोऽहं ब्रवीमि—"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा" इति ।

चक्रधर आह—"भोः, सत्यमेतत् । सर्वोऽपि जनोऽश्रद्धेयामाशापिशाचिकां प्राप्य हास्यपदवीं याति । अथवा साध्विदमुच्यते केनाऽपि—

व्याख्या—तदाकर्ण्य=भार्याया वचनं श्रुत्वा । प्रहृष्टः=सुप्रसन्नः । असौ=कौलिकः । प्रार्थयाञ्चक्रे=प्रार्थयामास । ममेप्सितं=मम मनोरथम् । बाहुयुगलं=भुजद्वयम् । तत्क्षणात्=झटिति । लोकैः=जनैः । मन्यमानैः=स्वीकुर्वद्भिः । ताडितः=व्यापादितः । अश्रद्धेयां=अनादरणीयाम् । आशापिशाचिकाम्=आशारूपां पिशाचीम् । प्राप्य=अवाप्य । हास्यपदवीं=हास्यताम् । याति=गच्छति ।

हिन्दी—स्त्री के परामर्श को स्वीकार करते हुए जुलाहे ने प्रसन्न होकर कहा—'प्रिये, तुम ठीक कह रही हो । मैं तुम्हारे परामर्श के अनुसार करूँगा । मैं तुमसे सत्य कहता हूँ । यही मेरा भी निश्चय है ।'

बाद यक्ष के पास जाकर उनसे नम्रतापूर्वक कहा—'यदि आप मेरी मनोभिलषित वस्तु देना चाहते हैं तो मुझे दो भुजाएँ और एक शिर और प्रदान कीजिए।'

इस प्रकार प्रार्थना करते ही उसे चार बाहु और दो शिर हो गये। वह खुश होकर जब घर लौटने लगा तो रास्ते में ही लोगों ने उसे राक्षस समझकर घेर लिया और लाठी एवं पत्थरों से उस पर प्रहार करना शुरू कर दिया। इस प्रकार वह मार खाकर वहीं मर गया।

सुवर्णसिद्धि ने कहा—'इसलिए मैं कहता हूँ कि जिसकी स्वयं बुद्धि नहीं होती और मित्रों का कहना भी नहीं मानता है उसकी जुलाहे की तरह ही कष्टप्रद मृत्यु होती है।'

यह सुनकर चक्रधर ने कहा—'आप ठीक कहते हैं। अविश्वसनीय दुराशा पिशाची के फन्दे में पड़ने वाला प्रत्येक आदमी उपहास का पात्र होता है।' अथवा ठीक ही कहा गया है—

अनागतवतीं चिन्तामसम्भाव्यां करोति यः।
स एव पाण्डुरः शेते सोमशर्मपिता यथा ॥ ६७ ॥

अन्वयः—यः अनागतवतीम् असम्भाव्यां चिन्तां करोति, स एव सोमशर्मपिता यथा पाण्डुरः शेते ॥ ६७ ॥

व्याख्या—यः=पुरुषः। अनागतवतीं=अनागतां, भविष्यन्तीम्। असम्भाव्यां=असम्भावनीयाम्। चिन्तां=विचारपरम्पराम्। करोति=विधत्ते। स एव=पुरुषः। निश्चयेन। सोमशर्मपिता=सोमशर्मणो जनकः। यथा=यद्वत् इव। चिन्तयाऽऽक्रान्तः। पाण्डुरः=पीतः सन्। शेते=दुःखमग्न उदासीनो भवति। कश्चन स्वभावकृपणः सोमशर्मानामा ब्राह्मणः सक्तुं चिन्तयन् पाण्डुरतां गतवानित्यर्थः ॥ ६८ ॥

हिन्दी—असम्भाव्य और अनागत चिन्ता को करने वाला व्यक्ति ही सोमशर्मा के पिता के समान पाण्डु रोगग्रस्त रोगी की भाँति पीला होकर सोता है ॥ ६७ ॥

सुवर्णसिद्धिराह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

हिन्दी—सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे हुआ ?' तब उसने कहना आरम्भ किया—

८. सोमशर्मपितृ-कथा

कस्मिंश्चिन्नगरे कश्चित्स्वभावकृपणो नाम ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म। तेन भिक्षाऽर्जितैः सक्तुभिर्भुक्तशेषैः कलशः सम्पूरितः। तं च घटं नागदन्तेऽवलम्ब्य, तस्याऽधस्तात्खट्वां निधाय सततमेकदृष्ट्या तमवलोकयति।

अथ कदाचिद्रात्रौ सुप्तश्चिन्तयामास—यत् परिपूर्णोऽयं घटस्तावत्सक्तुभिर्वर्त्तते। तद्यदि दुर्भिक्षं भवति, तदनेन रूप्यकाणां शतमुत्पत्स्यते। ततस्तेन मयाऽजाद्वयं ग्रहीतव्यम् ततः षाण्मासिकमाप्रसववशात्ताभ्यां यूथं भविष्यति। ततोऽजाभिः प्रभूता गा ग्रहीष्यामि। गोभिर्महिषीः। महिषीभिर्वडवाः। वडवाप्रसवतः प्रभूता अश्वा भविष्यन्ति। तेषां विक्रयात्प्रभूतं सुवर्णं भविष्यति। सुवर्णेन चतुःशालं गृहं सम्पत्स्यत।

व्याख्या—स्वभावकृपणः=अतिकदर्यः। तेन=ब्राह्मणेन। भिक्षार्जितैः=भिक्षायां प्राप्तैः। सक्तुभिः=पिष्टान्नविशेषैः। भुक्तशेषैः=भोजनावशिष्टैः। कलशः=घटः। सम्पूरितः=आपूरितः। नागदन्ते=भित्तिनिविष्टे काष्ठे। अवलम्ब्य=समारोप्य। तस्याधस्तात्=नागदन्तावलम्बितघटस्याधस्तात्। ताभ्यां=छागमिथुनाभ्याम्। यूथं=छागवृन्दम्। अजाभिः=छागैः। प्रभूताः=विपुलाः। वडवाः=अश्वाः-। प्रसवतः=प्रसवक्रमेण। प्रभूतं=प्रचुरं चतुःशालम्=चतुःप्राकारकम्।

हिन्दी—किसी नगर में अति कृपण स्वभाव का एक ब्राह्मण रहता था। उसने अपनी भिक्षा में मिले हुए भोजन में अवशिष्ट सत्तू को सञ्चित करके एक घड़ा भर लिया था। उस घड़े को खूंटी में टांग दिया था और उसी के नीचे चारपाई बिछाकर सोया करता था। चारपाई पर सोये-सोये वह निरन्तर ध्यानपूर्वक उस घड़े को देखा करता था।

एक दिन सोते-सोते उसने सोचा कि यह घड़ा सत्तू से भर गया है। यदि अकाल पड़ जाता तो इसे बेचकर सौ रुपया मिल जाता। उन रुपयों से दो बकरियाँ खरीद लेता। फिर उनसे प्रति ६-६ माह में बच्चे पैदा होते और क्रमशः मेरे पास बकरियों का झुण्ड हो जाता। उन बकरियों को बेचकर मैं गायें खरीदता और गायों को बेचकर भैंस खरीद लेता, फिर भैंस को बेचकर घोड़ियाँ खरीदता। धीरे-धीरे घोड़ियाँ बच्चा पैदा करतीं तो अनेक घोड़े तैयार हो जाते। उन घोड़ों को बेचने से अधिक सोना मिलता। पुनः मैं उस स्वर्णराशि से सुन्दर चौसाल घर बनवाता।

ततः कश्चिद् ब्राह्मणो मम गृहमागत्य प्राप्तवयस्कां रूपाढ्यां कन्यां मह्यं दास्यति। तत्सकाशात्पुत्रो मे भविष्यति। तस्याऽहं "सोमशर्मा" इति नाम करिष्यामि। ततस्तस्मिञ्जानुचलनयोग्ये सञ्जातेऽहं पुस्तकं गृहीत्वाऽश्वशालायाः पृष्ठदेशे उपविष्टस्तदवधारयिष्यामि। अत्राऽन्तरे सोमशर्मा मां दृष्ट्वा, जनन्युत्सङ्गाज्जानुचलनपरोऽश्वखुरासन्नवर्ती मत्समीपमागमिष्यति। ततोऽहं ब्राह्मणीं कोपाविष्टोऽभिधास्यामि—"गृहाण तावद् बालकम्।" साऽपि गृहकर्मव्यग्रतयाऽस्मद्वचनं न श्रोष्यति। ततोऽहं समुत्थाय, तां पादप्रहारेण ताडयिष्यामि।

एवं तेन ध्यानस्थितेन तथैव पादप्रहारो दत्तो यथा स घटो भग्नः, स्वयञ्च सक्तुभिः पाण्डुरतां गतः।

अतोऽहं ब्रवीमि—"अनागतवतीं चिन्ताम्" इति।

सुवर्णसिद्धिराह—"एवमेतत्। कस्त दोषः। यतः सर्वोऽपि लोभेन विडम्बितो बोध्यते। उक्तञ्च—

व्याख्या—ब्राह्मणः=विप्रः। प्राप्तवयस्कां=युवतीम्। रूपाढ्यां=रूपवतीम्। दास्यति=विवाहे प्रदास्यति। तत्सकाशात्=भार्यासकाशात्। तस्य=पुत्रस्य। तस्मिन्=बालके। जानुचलनयोग्ये=जानुद्वयचलनसमर्थे। पृष्ठदेशे=पृष्ठभागे। तदवधारयिष्यामि=तस्य परीक्षां करिष्यामि। जनन्युत्सङ्गात्=मातुः क्रोडात्। जानुचलनपरः=जानुभ्यां चलन्। अश्वखुरासन्नवर्ती=अश्वपादनिकटचरः। कोपाविष्टः=क्रुद्धः सन्। अभिधास्यामि=कथयिष्यामि। गृहकर्मव्यग्रतया=गेहकार्यव्यस्ततया। अस्मद्वचनम्=ममाज्ञाम्। समुत्थाय=उत्थाय। पादप्रहारेण=चरणाघातेन। ध्यानस्थितेन=विचारमग्नेन। भग्नः=त्रुटितः। पाण्डुरतां=पीतवर्णताम् सक्तुभिरासिक्तशरीरः पीतवर्णः। गतः=प्राप्तः, बभूव। कस्ते दोषः=न कोऽपि दोषो भवतः। विडम्बितः=प्रतारितः। बोध्यते=पीड्यते।

हिन्दी—मेरा घर बन जाने के बाद कोई ब्राह्मण आकर अपनी युवती तथा रूपवती कन्या के साथ मेरा विवाह कर देगा। उसके गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न होगा, उसका नाम मैं सोमशर्मा रखूंगा। जब वह घुटने से चलने योग्य हो जायेगा, तो मैं पुस्तक लेकर उसकी परीक्षा में घोड़साल के पीछे जाकर बैठूंगा। सोमशर्मा वहां मुझे बैठा हुआ देखकर अपनी माता की गोद से उतरकर मेरे पास आने के लिए घुटने के बल चलता हुआ घोड़ों के पास होकर गुजरता मेरे पास आयेगा। तब मैं क्रुद्ध होकर अपनी स्त्री को आज्ञा दूंगा—लड़के को पकड़ो। पर

घर के कार्य में व्यस्त होने के कारण जब वह मेरी आज्ञा को नहीं सुनेगी तो मैं उस पर चरणप्रहार करूँगा।

इस प्रकार सोचते-सोचते उस ब्राह्मण ने तन्मय होकर ब्राह्मणी को मारने के लिए पाद प्रहार किया। उसके पाद-प्रहार से वह घड़ा फूट गया और वह ब्राह्मण सत्तू से पीला (सराबोर) हो उठा।

इसलिए कहता हूँ कि अनावश्यक चिन्ता को करनेवाला व्यक्ति सोमशर्मा के पिता की तरह दुर्गति को प्राप्त होता है।

सुवर्णसिद्धि कहा—'तुम्हारा इसमें दोष ही क्या है ? सभी लोभ से वशीभूत होने पर प्रताडित होते हैं।' कहा भी गया है—

यो लौल्यात्कुरुते कर्म, नैवोदर्कमवेक्षते।
विडम्बनामवाप्नोति स यथा चन्द्रभूपतिः॥ ६८॥

अन्वयः—यः लौल्यात् कर्म कुरुते उदर्कं न अवेक्षते स विडम्बनाम् अवाप्नोति यथा चन्द्रभूपतिः (अवाप्तवान्) ॥ ६८॥

व्याख्या—यः=पुरुषः। लौल्यात्=चञ्चलतया। कर्म कुरुते=कार्यं करोति। उदर्कं=उत्तरं कालम्, तत्परिणामं वा। कालेन न अवेक्षते=न पूर्वं पर्यालोचयति। सः=जनः। विडम्बनाम्=वञ्चनाम्। अवाप्नोति=लभते, लोकेन प्रताडितो भवतीत्यर्थः। यथा=यद्वत्। चन्द्रभूपतिः=चन्द्रो नाम कश्चिद् राजा विडम्बनां प्राप्तवान्। परिणामं विचार्यैव कार्यं कर्तव्यम्। अन्यथा विचारमन्तरा क्रियमाणं कार्यमनर्थायैव प्रभवतीत्यर्थः॥ ६८॥

हिन्दी—जो व्यक्ति अतिचपलता के कारण कार्य के परिणाम को सोचे बिना किसी कार्य को करता है वह अन्त में धोखा खा ही जाता है। चन्द्रभूपति भी इसी प्रकार चपलता के कारण धोखा खा गया था॥ ६८॥

चक्रधर आह—"कथमेतत् ?" स आह—

हिन्दी—चक्रधर ने पूछा—'यह कैसे ?' इस पर सुवर्णसिद्धि ने कहा—

९. चन्द्रभूपति-कथा

कस्मिंश्चिन्नगरे चन्द्रो नाम भूपतिः प्रतिवसति स्म। तस्य पुत्रा वानरक्रीडारता वानरयूथं नित्यमेवाऽनेकभोजनभक्ष्यादिभिः पुष्टिं नयन्ति स्म। अथ वानरयूथाऽधिपो यः स औसनस-बार्हस्पत्य-चाणक्य-मतवित्, तदनुष्ठाता च तत्सर्वानप्यध्यापयति स्म।

अथ तस्मिन् राजगृहे लघुकुमारवाहनयोग्यं मेषयूथमस्ति। तन्मध्यादेको

जिह्वालौल्यादहर्निशं निःशङ्कं महानसे प्रविश्य, यत्पश्यति तत्सर्वं भक्षयति ते च सूपकारा यत्किञ्चित्काष्ठं, मृण्मयं भाजनं कांस्यपात्रं, ताम्रपात्रं वा पश्यन्ति, तेनाशु ताडयन्ति ।

व्याख्या—नगरे=पुरे। प्रतिवसति स्म=अवसत् । तस्य=चन्द्रभूपतेः । वानरक्रीडारताः=मर्कटैः सत क्रीडानुरक्ताः वानरखेलक्रिया वा । वानरयूथं=मर्कटवृन्दम् । अनेकभोजनभक्ष्यादिभिः=विविधभोजनभक्ष्यपदार्थैः । पुष्टि=पालनम् नियन्ति स्म=पालयन्ति स्म । वानरयूथाधिपः=मर्कटवृन्दाधिराजः । उशनस इदम्, औशनसम्=भार्गवमुनिनिगदितम् । बार्हस्पत्यं–बृहस्पतेरिदं बार्हस्पत्यं=बृहस्पतिनिर्मितं नीतिशास्त्रम् । चाणक्यमतवित्=चाणक्यप्रोक्तनीतिशास्त्रवेत्ता । सकलनीतिशास्त्रकुशलः=समस्तनीतिशास्त्रपारङ्गतः । तदनुष्ठाता=नीतिसम्मताचरणशीलः । सर्वान्=वानरान् । अध्यापयति स्म=पाठयति स्म । लघुकुमारस्य=अल्पवयस्क-राजकुमारस्य । वाहनयोग्यं=वहनक्षमम्, अल्पकायम् मेषयूथं=अजवृन्दम् । तन्मध्यात्=यूथमध्यात् । जिह्वालौल्यात्=रसनास्वादग्रहणचापल्यात् । अहर्निशं=अहोरात्रम् । निःशङ्कं=निर्भयम् । महानसे=भोजनालये । भक्षयति=खादयति स्म । सूपकाराः=पाचकाः । यत्किञ्चित् काष्ठं=लभ्येन्धनम् । मृण्मयं=मृत्तिकानिर्मितम् । भाजनं=पात्रम् । कांस्यपात्रं=कांस्यधातुनिर्मितपात्रम् । आशु=शीघ्रमेव । ताडयन्तिस्म=घ्नन्ति स्म ।

हिन्दी—किसी नगर में चन्द्र नाम का एक राजा रहता था । उसके पुत्र बन्दरों के खेल में विशेष रुचि रखते थे । इसलिये बन्दरों के झुण्ड को विभिन्न प्रकार की खाद्य सामग्रियों को देकर वे उनका पालन-पोषण करते थे । वानरों के झुण्ड का नायक उशनस्, बृहस्पति तथा चाणक्य आदि नीतिविदों द्वारा रचित नीतिशास्त्रों का ज्ञाता था । वह स्वयं भी नीतिसम्मत आचरण करता तथा अन्य बन्दरों को भी नीतिशास्त्र पढ़ाया करता था ।

उस राजघराने के छोटे छोटे राजकुमारों को चढ़ने के लिए भेंड़ों का एक झुण्ड भी पाला गया था । उनमें से एक भेंड़ अपने जिह्वास्वाद की चपलता के कारण रात-दिन जब भी अवसर पाता था निडर होकर रसोई घर में घुस जाया करता और जो कुछ पाता था, खा जाया करता था । भण्डारी भी उसे देखते ही लकड़ी, मिट्टी का बर्तन, या तांबे का बर्तन जो कुछ पा जाते तुरन्त चलाकर मार दिया करते थे ।

सोऽपि वानरयूथपस्तद्दृष्ट्वा अचिन्तयत्—'अहो, मेषसूपकारकलहोऽयं

वानराणां क्षयाय भविष्यति। यतोऽन्नरसास्वादलम्पटोऽयं मेषो, महाकोपाश्च सूपकारा यथासन्नवस्तुना प्रहरन्ति। तद्यदि वस्तुनोऽभावात्कदाचिदुल्मुकेन ताडयिष्यन्ति, तदोर्णाप्रचुरोऽयं मेषः स्वल्पेनापि वह्निना प्रज्वलयिष्यति। तद्दह्यमानः पुनरश्वकुटयां समीपवर्तिन्यां प्रवेक्ष्यति। साऽपि तृणप्राचुर्याज्ज्वलिष्यति। ततोऽश्वा वह्निदाहमवाप्स्यन्ति।

शालिहोत्रेण पुनरेतदुक्तं यत्—"वानरवसयाऽश्वानां वह्निदाहदोषः प्रशाम्यति", नन्नूनमेतेन भाव्यम्। एषोऽत्र निश्चयः। एवं निश्चित्य सर्वान् वानरानाहूय रहसि प्रोवाच, यत्—

व्याख्या—तद्दृष्ट्वा=मेषसूपकारयोर्विवादमवलोक्य। व्यचिन्तयत्=चिन्तयामास। कलहः=विवादः। क्षयाय=विनाशाय। यतः=यस्माद्धि। अन्नरसास्वादलम्पटः=सिद्धान्नभक्षणलोलुपः। महाकोपाः=अतीवक्रुद्धाः। यथासन्नवस्तुना=निकटस्थपदार्थेन। उल्मुकेन=ज्वलत्काष्ठेन। ऊर्णाप्रचुरः=लोमबहुलः। स्वल्पेन=अत्यल्पेन। दह्यमानः=प्रज्वल्यमानः। अश्वकुटयां=घोटकशालायाम्। सा=अश्वशाला। तृणप्राचुर्यात्=तृणबाहुल्यात्। वह्निदाहं=अग्निदाहम्। शालिहोत्रेण=शालिहोत्रनाम्ना घोटकचिकित्सकेन। महर्षिणा=महामुनिना। वानरवसया=मर्कटवपया। वह्निदाहदोषः=अग्निदाहजन्यदोषः। एतेन भाव्यम्=अवश्यमेवेयं घटना घटिष्यति। रहसि=एकान्ते। प्रोवाच=उवाच।

हिन्दी—वानरों के यूथप ने जब इस घटना को देखा तो उसे बड़ी चिन्ता हुई। उसने मन ही मन सोचा–इस भेड़ और भण्डारियों के बीच होने वाला यह नित्य का कलह किसी दिन वानरों के विनाश का कारण होगा, क्योंकि यह भेड़ अन्न खाने का लोभी है और भण्डारी भी क्रुद्ध होकर पास में पड़ी हुई किसी भी वस्तु को चलाकर मारा करते हैं। कभी संयोगवश किसी अन्य वस्तु के न मिलने पर अवश्य ही ये जलती हुई लकड़ी से ही मारेंगे। इस भेड़ की देह में ऊन है, वह चिनगारी लगते ही जल उठेगी। मार खाने पर भेड़ निकटवर्ती घुड़शाल की ओर दौड़ेगा। घासों के इधर-उधर पड़े रहने के कारण वह तत्काल जलने लगेगी। परिणामतः घोड़े जलने लगेंगे। शालिहोत्र ने यह लिखा है कि घोड़ों के जलने का घाव बन्दरों की चर्बी से अच्छा होता है। एक न एक दिन घटना अवश्य घटेगी और वानरों की चर्बी की तलाश की जायेगी। यह निर्विवाद है। यह सोच-विचार कर उसने सभी वानरों को एकान्त में ले जाकर कहा—

मेषेण सूपकाराणां कलहो योऽत्र जायते ।
स भविष्यत्यसन्दिग्धं वानराणां क्षयावहः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—अत्र मेषेण (सह) सूपकाराणां यः कलहः जायते असन्दिग्धं सः वानराणां क्षयावहः भविष्यति ॥ ६९ ॥

व्याख्या—अत्र = अस्मिन् स्थाने । मेषेण = एडकेन सह । सूपकाराणां = भोजननिर्मातॄणां सूदानाम् । कलहः = विवादः । जायते = भवति । तत्र असन्दिग्धं = निःसंशयम् । सः = कलहः । वानराणां = मर्कटानाम् । क्षयावहः–क्षयमावहति करोति वा इति क्षयावहः = विनाशकारकः । भविष्यति = यास्यति । मेषसूपकारयोः नित्यकलहान्नूनं वानराणां विनाशो भविष्यतीति भावः ॥ ६९ ॥

हिन्दी—यहाँ भेड़ों के साथ भण्डारियों का जो प्रतिदिन विवाद चलता रहता है, वह निश्चित ही वानरों के विनाश का कारण होगा ॥ ६९ ॥

तस्मात् स्यात् कलहो यत्र गृहे नित्यमकारणः ।
तद्गृहं जीवितं वाञ्छन् दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७० ॥

अन्वयः—तस्मात् यत्र गृहे नित्यम् अकारणं कलहः स्यात् तत् गृहं जीवितं वाञ्छन् दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७० ॥

व्याख्या—तस्मात् = पूर्वोक्तकारणात् । यत्र गृहे = यस्मिन् गेहे । नित्यम् = निरन्तरं, प्रतिदिनम् । अकारणः = कारणमन्तरा व्यर्थः । कलहः = विवादः । स्यात् = भवेत् । तद्गृहम् = तत् सदनम् । जीवितं वाञ्छन् = जीवनमभिलषन् । दूरतः दूरादेव । परिवर्जयेत् = त्यजेत् । जिजीविषुभिः पुरुषैः कलहस्थले न स्थेयमिति भावः ॥ ७० ॥

हिन्दी—जिस घर प्रतिदिन व्यर्थ का कलह होता रहता हो उस घर को जीवित रहने की इच्छा वाले व्यक्ति को तत्काल छोड़ देना चाहिए ॥ ७० ॥

कलहान्तानि हर्म्याणि कुवाक्यान्तं च सौहृदम् ।
कुराजान्तानि राष्ट्राणि कुकर्मान्तं यशो नृणाम् ॥ ७१ ॥

अन्वयः—हर्म्याणि कलहान्तानि सौहृदं कुवाक्यान्तं, राष्ट्राणि कुराजान्तानि, च नृणां यशः कुकर्मान्तं (भवति) ॥ ७१ ॥

व्याख्या—हार्म्याणि = गृहाणि । कलहान्तानि–कलहेन वैमनस्येन विवादेन अन्तो नाशो येषां तानि कलहान्तानि = विवादान्तानि भवन्ति । सौहृदं = मित्रता, सख्यम् । कुवाक्यान्तम्—कुत्सितेन वाक्येनदुर्वचनेन अन्तो यस्य तत् कुवाक्यान्तम् =

कटुवाक्यान्तं भवति। राष्ट्राणि=राज्यानि, देशाः। कुराजान्तानि—कुत्सितेन राज्ञा दुष्टभूपतिना अन्तो येषां तानि कुराजान्तानि=दुष्टभूपतिपर्यन्तानि। जायन्ते। नृणां=मनुष्याणाम्। यशः=कीर्तिः। कुकर्मान्तं—कुकर्मणा=नीचकार्येण अन्तो यस्य तत् कुकर्मान्तम्। भवति। अर्थात् कलहेन गृहाणि, दुर्वचनेन मैत्री, दुष्टेन राज्ञा राज्यम्, असत्कर्मणा च नृणां यशो नाशमुपयान्तीत्यतः कलहो नूनं हेयः ॥७१॥

हिन्दी—प्रतिदिन के कलह से अच्छे-अच्छे घर नष्ट हो जाते हैं। कटुवाक्यों के प्रयोग से सुदृढ़ मित्रता भी टूट जाती है। कुराजा के कारण राज्य का विनाश हो जाता है और व्यक्ति का यश दुष्कर्म करने से समाप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रतिदिन के झगड़े से अच्छे-अच्छे घर, कुवाक्यों से मित्रता; दुष्ट राजा से राष्ट्र और कुकर्म से मनुष्यों का यश नष्ट हो जाता है ॥ ७१ ॥

तन्न यावत्सर्वेषां संक्षयो भवति, तावदेवैतद्राजगृहं सन्त्यज्य वनं गच्छामः।

अथ तत्तस्य वचनमश्रद्धेयं श्रुत्वा मदोद्धता वानराः प्रहस्य प्रोचुः—"भो! भवतो वृद्धभावाद् बुद्धिवैकल्यं सञ्जातं, येनैतद् ब्रवीषि। उक्तञ्च—

व्याख्या—सन्त्यज्य=त्यक्त्वा। तत्=वृन्दम्। तस्य=यूथपस्य। अश्रद्धेयम्=अविश्वसनीयम्। मदोद्धताः=मदोन्मत्ताः। वृद्धभावात्=वार्द्धक्यात्। बुद्धिवैकल्यं=मतिविभ्रमः। ब्रवीषि=कथयसि।

हिन्दी—इसलिए वानरों का विनाश आने के पूर्व ही इस राजघराने को छोड़कर किसी जङ्गल में चले जाना चाहिए।

यूथप के इस अविश्वसनीय वाक्य को सुनकर मतवाले वानरों ने हँसकर कहा—'अरे, बुढ़ापे के कारण आपकी बुद्धि भ्रम में पड़ गयी है। इसीलिए आप ऐसी सलाह दे रहे हैं। कहा भी गया है—

वदनं दशनैर्हीनं, लाला स्रवति नित्यशः।
न मतिः स्फुरति क्वापि बाले वृद्धे विशेषतः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—दशनैः हीनं वदनं, नित्यशः लाला स्रवति बाले वृद्धे विशेषतः क्वापि मतिः न स्फुरति ॥ ७२ ॥

व्याख्या—दशनैः=दन्तैः। हीनं=विरहितम्। वदनं=मुखम्। भवति। नित्यशः=सर्वदा। मुखात् लाला=स्यन्दिनी, जलम्। स्रवति=निःसरति। बाले वृद्धे च=बाल्यावस्थायां वृद्धावस्थायां च, बालकानां वृद्धानां च। विशेषतः=विशेषरूपेण। क्वापि=कस्मिन्नपि विषये। मतिः=बुद्धिः। न स्फुरति=न प्रवर्तते। बाला वृद्धाश्च बुद्धिहीना भवन्तीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

हिन्दी—मुंह में दांत न रहने के कारण निरन्तर लार टपकती रहती है। अतः बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में विशेषकर किसी विषय में बुद्धि स्फुरित नहीं होती है॥ ७२ ॥

न वयं स्वर्गसमानोपभोगान् नानाविधान् भक्ष्यविशेषान् राजपुत्रैः स्वदत्तानमृतकल्पान् परित्यज्य तत्राऽटव्यां कषायकटुतिक्तक्षाररूक्षफलानि भक्षयिष्यामः।" तच्छ्रुत्वाऽश्रुकलुषां दृष्टिं कृत्वा स प्रोवाच—

"रे रे मूर्खाः! यूयमेतस्य सुखस्य परिणामं न जानीथ। किम्पाकरसास्वादनप्रायमेतत्सुखं परिणामे विषवद् भविष्यति। तदहं कुलक्षयं स्वयं नावलोकयिष्यामि। साम्प्रतं वनं यास्यामि। उक्तं च—

व्याख्या—वयं=वानराः। स्वर्गसमानोपभोगान्=स्वर्गसदृशसुखभोगान्। नानाविधान्=अनेकप्रकारान्। स्वहस्तदत्तान्=निजकरैः प्रेम्णा समर्पितान्। अमृतकल्पान्=अमृतोपमान्, सुधासदृशास्वादान्। तत्र=तस्मिन्। अटव्यां=अरण्ये। कषायकटुतिक्तक्षाररूक्षफलानि—कषायाणि=कषायरसयुक्तानि, कटूनि=कटुरसमिश्रितानिः तिक्तानि, क्षाराणि=लवणरससहितानि, रूक्षाणि=विरसानि च तानि कषायकटुतिक्तक्षाररूक्षाणि तादृशानि फलानि=विभिन्नास्वादयुक्तानि फलानि। अश्रुकलुषां=बाष्पकलुषाम्। दृष्टिं=नेत्रम्। एतस्य=अस्य। परिणामं=विपाकम्, फलम्। किम्पाकरसास्वादनप्रायं=विषवृक्षफलास्वादोपमम्। नावलोकयिष्यामि=न विलोकयिष्यामि। साम्प्रतम्=इदानीम्। यास्यामि=गमिष्यामि।

हिन्दी—हम लोग दिव्य उपभोगों को और अनेक प्रकार के भक्ष्यों एवं राजकुमारों के हाथ से स्नेहपूर्वक दिये गये अमृत के समान स्वादिष्ट पदार्थों को छोड़कर वन में कसैले, कडवे, तीते, खट्टे एवं नीरस फलों को खाने के लिए कभी भी नहीं जायेंगे। यूथप ने वानरों के इस निर्णय को जब सुन लिया, तब आंखों में आंसू भरकर रोता हुआ उनकी ओर देखकर बोला—

अरे मूर्खों! खाने में सुस्वादु विषमय फल के समान यह सुख परिणाम में कितना विषमय होगा। सुख की उस अन्तिम परिणति को तुम लोग नहीं जानते हो। मैं अपनी इन आंखों से अपने ही कुल का विनाश नहीं देख सकता हूं। अतः मैं अभी वन में चला जाता हूं, क्योंकि—

मित्रं व्यसनसम्प्राप्तं स्वस्थानं परपीडितम्।
धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम्॥ ७३ ॥

अन्वयः—व्यसनसम्प्राप्तं मित्रं, परपीडितं स्वस्थानं, देशभङ्गं कुलक्षयं च यै न पश्यन्ति ते धन्याः (भवन्ति)॥ ७३ ॥

व्याख्या—व्यसनसम्प्राप्तं—व्यसनं=कष्टं, सम्प्राप्तं=लब्धं येन तत् व्यसन-सम्प्राप्तं=कष्टे पतितम् । मित्रं=सुहृदम् । परपीडितम्=परैः शत्रुभिः पीडितम् =आक्रान्तमिति परपीडितम् तत् परपीडितं=शत्रुसमाक्रान्त्रम् । स्वस्थानम्= आत्मनो निवासभूमिम् । देशभङ्गं—देशस्य=देशखण्डस्य भङ्गं=विच्छेदम् विध्वसं वा । कुलक्षयं—कुलस्य=वंशस्य क्षयो=विनाशः कुलक्षयः तं कुलक्षयं=कुल-नाशम् । च ये नराः । न पश्यन्ति=नावलोकयन्ति । ते किल । धन्याः=श्रेष्ठाः भवन्ति । भाग्यवन्तो जना एव कुलक्षयादिकं नावलोकयन्ति ॥ ७३ ॥

हिन्दी—दुःख में पड़े हुए मित्रों को और शत्रुओं द्वारा आक्रान्त अपने देश को नहीं देखना चाहिए । वे मनुष्य धन्य हैं जो अपने नेत्रों द्वारा अपने निवास-स्थान एवं कुल का विनाश नहीं देखते हैं ॥ ७३ ॥

एवमभिधाय सर्वांस्तान् परित्यज्य स यूथाधिपोऽटव्यां गतः । अथ तस्मिन्गते-ऽन्यस्मिन्नहनि स मेषो महानसे प्रविष्टो, यावत्सूपकारेण नान्यत्किञ्चित्समासादितं तावदर्धज्वलितकाष्ठेन ताड्यमानो जाज्वल्यमानशरीरः शब्दायमानोऽश्वकुट्यां प्रत्यासन्नवर्तिन्यां प्रविष्टः ।

तत्र तृणप्राचुर्ययुक्तायां क्षितौ तस्य प्रलुठतः सर्वत्राऽपि वह्निज्वालास्तथा समुत्थिता यथा केचिदश्वाः स्फुटितलोचनाः पञ्चत्वं गताः । केचिद् बन्धनानि त्रोटयित्वा, अर्द्धदग्धशरीरा इतश्चेतश्च ह्रेषायमाणा धावमानाः, सर्वमपि जन-समूहमाकुलीचक्रुः ।

व्याख्या—एवमभिधाय=पूर्वोक्तं वाक्यमुक्त्वा । तान्=वानरान् । परि-त्यज्य=त्यक्त्वा । यूथाधिपः=यूथपः । अटव्याम्=वने । गतः=अगच्छत् । गते=वनं गते सति । अन्यस्मिन्नहनि=कस्मिंश्चिद्दिने । महानसे=पाक शालायाम् । समासादितम्=अवाप्तम् । अर्द्धज्वलितकाष्ठेन=अर्द्धदग्धेन्धनेन ताड्यमानः=हन्यमानः । जाज्वल्यमानशरीरः=प्रज्वलिताङ्गः । शब्दायमानः शब्दं कुर्वन् । प्रत्यासन्नवर्तिन्यां=निकटवर्तिन्याम् । तृणप्राचुर्ययुक्तायाम्= तृणबहुलायम् । क्षितौ=पृथिव्याम् । प्रलुण्ठतः=लुण्ठतः । वह्निज्वाला= अग्निज्वाला । समुत्थिता=उत्थिता । स्फुटितलोचनाः=नष्टदृष्टयः । पञ्चत्वं =निधनम् । बन्धनानि=बन्धनसूत्राणि । त्रोटयित्वा=खण्डयित्वा । अर्द्ध

दग्धशरीरा:=ज्वलितार्द्धकायाः। ह्लेषायमाणाः=शब्दायमानाः। जनसमूहं=मनुष्यसमुदायम्। आकुलीचक्रुः=व्याकुलयामासुः।

हिन्दी—ऐसा कहकर उन सबको छोड़कर वह समूह का स्वामी (नेता) बन्दर वन में चला गया। उसके चले जाने के बाद एक दिन भेड़ ने पाकशाला में ज्यों ही प्रवेश किया, त्यों ही भण्डारियों ने अन्य वस्तु के अभाव में आधी जली हुई लकड़ी चलाकर मारा, अर्द्धदग्ध लकड़ी के लगते ही उस भेड़ की देह में आग लग गयी। जलता हुआ वह भेड़ चिल्लाकर पास की घोड़साल में घुस गया और अपनी आग को बुझाने के निमित्त जमीन पर लोटने लगा।

सूखी घासों के इधर-उधर पड़ने के कारण घोड़साल में भी आग लग गयी। थोड़ी ही देर में वहाँ ऐसी अग्निज्वाला उठी कि कुछ घोड़ों की आँखें फूट गयीं और वे तत्काल मर भी गये। कुछ घोड़ों ने अपने बन्धनों को तोड़ दिया और आधी जली देह लेकर इधर उधर हिनहिनाते हुए दौड़ लगाने लगे। उनकी इस भागदौड़ के कारण सम्पूर्ण जनसमुदाय व्याकुल हो उठा।

अत्राऽन्तरे राजा सविषादः शालिहोत्रज्ञान् वैद्यानाहूय, प्रोवाच—"भोः! प्रोच्यतामेषामश्वानां कश्चिद्दाहोपशमनोपायः।" तेऽपि शास्त्राणि विलोक्य प्रोचुः "देव! प्रोक्तमत्र विषये भगवता शालिहोत्रेण, यद्—

व्याख्या—अत्रान्तरे=अस्मिन्नेवावसरे। सविषादः=दुःखितः। शालिहोत्रज्ञान्=अश्वचिकित्सकान्। प्रोच्यतां=कथ्यताम्। दाहोपशमनोपायः=अग्निदाहनाशकोपायः। तेऽपि=चिकित्सकाः। शास्त्राणि=अश्वचिकित्साशास्त्राणि। प्रोचुः=उक्तवन्तः। प्रोक्तं=कथितम्। अत्र विषये=अश्वानामग्निदाहावसरे। शालिहोत्रेण=तन्नाम्ना महर्षिणा।

हिन्दी—घोड़ों के जलने का समाचार पाकर राजा अत्यन्त दुःखी हुआ और अश्वचिकित्सा में निपुण वैद्यों को बुलाकर कहा—घोड़ों के जलने पर जो कोई उपचार हो सकता है तो आप लोग कृपया बतायें। वैद्यों ने चिकित्साशास्त्र देखकर कहा—महाराज, इस विषय में भगवान् शालिहोत्र ने लिखा है कि—

कपीनां मेदसा दोषो वह्निदाहसमुद्भवः।
अश्वानां नाशमभ्येति तमः सूर्योदये यथा॥ ७४॥

अन्वयः—अश्वानां वह्निदाहसमुद्भवः दोषः कपीनां मेदसा नाशमभ्येति, यथा सूर्योदये तमः (नाशमभ्येति)॥ ७४॥

व्याख्या—अश्वानां=घोटकानाम् । वह्निदाहसमुद्भवः—वह्नेः अग्नेः दाहात् सन्तापात् समुद्भवः=अनलदाहसमुत्थितः । दोषः=विकारः । कपीनां=वानराणाम् । मेदसा=वसया । तथैव नाशमभ्येति=क्षयं प्राप्नोति, शाम्यति । यथा=येन प्रकारेण । सूर्योदये=प्रातःकाले । तमः=अन्धकारः । नाशमभ्येति =नाश्यति । अर्थात् वानराणां वसा अश्वानां वह्निदाहजनितं दोषं दूरीकरोतीत्यर्थः ॥ ७४ ॥

हिन्दी—घोड़ों के जलने का दाह वानरों की चर्बी से उसी प्रकार समाप्त हो जाता है जैसे कि सूर्योदय होने से अन्धकार समाप्त हो जाता है ॥ ७४ ॥

तत्क्रियतामेतच्चिकित्सतं द्राक्, यावदेते न दाहदोषेण विनश्यन्ति ।

सोऽपि तदाकर्ण्य समस्तवानरवधमादिष्टवान् । किं बहुना—सर्वेऽपि ते वानरा विविधायुधलगुडपाषाणादिभिर्व्यापादिताः इति ।

अथ सोऽपि वानरयूथपस्तं पुत्रपौत्रभ्रातृसुतभागिनेयादिसंक्षयं ज्ञात्वा विषादमुपगतः, सन्त्यक्ताहारक्रियो वनाद्वनं पर्यटति । अचिन्तयच्च—"कथमहं तस्य नृपापसदस्यानृणतां कृत्येनाऽपकृत्यं करिष्यामि । उक्तञ्च—

व्याख्या—एतत्=वानरवसारूपम् । चिकित्सितं=उपचारः । द्राक्= त्वरितम् । सोऽपि=राजाऽपि । तदाकर्ण्य=तच्छ्रुत्वा । वानरवधं=वानराणां विनाशं । आदिष्टवान्=आज्ञापितवान् । व्यापादिताः=हताः । पुत्रपौत्रभ्रातृसुतभागिनेयादिसंक्षयं=स्वकुलविनाशम् । ज्ञात्वा=अवगत्य । परम्= अत्यन्त । विषादमुपगतः=शोकग्रस्तः । संत्यक्ताहारक्रियः=भोजनं विहाय । पर्यटति=भ्रमति । नृपापसदस्य=दुष्टस्य राज्ञः । अनृणतां=वैरसन्धानेनानृण्यम् । कृत्येन=स्वकृत्येन । अपकृत्य=अपकारं कृत्वा । करिष्यामि= विधास्यामि ।

हिन्दी—अग्निदाह के कारण उत्पन्न दोष से इन घोड़ों के मरने के इस उपचार को करने का तत्काल आदेश दे दिया जाय ।

राजा ने वैद्यों की राय से समस्त वानरों को मार डालने का आदेश दे दिया । तदनुसार विचारे बन्दर विभिन्न प्रकार के आयुधों, लाठियों और पत्थरों द्वारा मार डाले गये ।

उस यूथप ने जब इस समाचार को सुना तब अपने पुत्र-पौत्र, भतीजे, भागिनेय आदि सगे-सम्बन्धियों की मृत्यु से अत्यन्त दुःखी हुआ । खाना-पीना छोड़कर इधर-उधर जङ्गलों में घूमने लगा और निरन्तर यह सोचता रहा कि मैं किस प्रकार इस कृतघ्न राजा का अपकार करके अपने सम्बन्धियों की मृत्यु का बदला चुका लूँ । कहा भी गया है—

मर्षयेद्धर्षणां योऽत्र वंशजां परनिर्मिताम् ।
भयाद्वा यदि वा कामात् स ज्ञेयः पुरुषाऽधमः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—यः अत्र भयात् यदि वा कामात् परनिर्मितां वंशजां धर्षणां मर्षयेत् स पुरुषाधमः ज्ञेयः ॥ ७५ ॥

व्याख्या—यः=पुमान् । अत्र=संसारे । भयात्=भीतेः कारणात् । यदि वा= अथवा । कामात्=अभिलाषात् । केनाप्यभिप्रायेण । परनिर्मितां—परेण इतरेण= पुंसा, निर्मितां=शत्रुकृताम् । वंशजां=कौटुम्बिकीम् । धर्षणां=पराभवम् । मर्षयेत्=क्षमते । सः=पुमान् । पुरुषाधमः=नराधमः । ज्ञेयः=ज्ञातव्यः । कुलस्यापमानं नीचा एव सहन्ते नोत्तमाः, ते तु तं सोढुमक्षमाः, एव भवन्तीति भावः ॥ ७५ ॥

हिन्दी—भय के कारण अथवा लोभ से वशीभूत होकर जो व्यक्ति शत्रुओं द्वारा उत्पन्न की हुई अपने वंश की अवमानना को मौन होकर सह लेता है, उसे नराधम समझना चाहिए ॥ ७५ ॥

अथ तेन वृद्धवानरेण कुत्रचित्पिपासाकुलेन भ्रमता पद्मिनीखण्डमण्डितं सरः समासादितम् । तद्यावत्सूक्ष्मेक्षिकयाऽवलोकयति तावद् वनचरमनुष्याणां पद-पङ्क्तिप्रवेशोऽस्ति न निष्क्रमणम् । ततश्चिन्तितम् "नूनमत्र आक्रान्ते दुष्टग्राहेण भाव्यम् । तत्पद्मिनीनालमादाय दूरस्थोऽपि जलं पिबामि ।"

तथाऽनुष्ठिते तन्मध्याद्राक्षसो निष्क्रम्य, रत्नमालाविभूषितकण्ठस्तमुवाच— "भोः ! अत्र यः सलिले प्रवेशं करोति स मे भक्ष्यः इति । तन्नास्ति धूर्ततर-स्त्वत्समोऽन्यो यः पानीयमनेन विधिना पिबति । ततस्तुष्टोऽहं, प्रार्थयस्व हृदयवाञ्छितम् ।"

कपिराह—"भोः ! कियती ते भक्षणशक्तिः ?"

स आह—"शतंसहस्रायुतलक्षाण्यपि जलप्रविष्टानि भक्षयामि । बाह्यतः शृगालोऽपि मां धर्षयति ।"

वानर आह—"अस्ति मे केनचिद् भूपतिना सहाऽत्यन्तं वैरम् । यद्येनां रत्नमालां मे प्रयच्छसि, तत्सपरिवारमपि तं भूपतिं वाक्यप्रपञ्चेन लोभयित्वाऽत्र सरसि प्रवेशयामि ।"

सोऽपि श्रद्धेयं वचस्तस्य श्रुत्वा रत्नमालां दत्त्वा प्राह—"भो मित्र ! यत्स-मुचितं भवति तत् कर्त्तव्यम्" इति ।

व्याख्या—अथ=पश्चात् । कुत्रचित=इतस्ततः । वृद्धवानरेण=वृद्धेन यूथा-धिपवानरेण । पिपासाकुलेन=पिपासितेन, तृषातुरेण । पद्मिनिखण्डमण्डितं=

पद्मिनीखण्डेन=कमलिनीसमूहेन, मण्डितं=शोभितमिति, पद्मिनीखण्डमण्डितं=कमलिनीकदम्बालङ्कृतम् । सरः=तडागः । समासादितम्=अवाप्तम् । सूक्ष्मेक्षिकया=सूक्ष्मदृष्ट्या । अवलोकयति=पश्यति । वनचरमनुष्याणां—वनचराश्च ते मनुष्याश्च वनचरमनुष्याः तेषां वनचरमनुष्याणाम्=वनचरजीवानाम् । पदपङ्क्तिः=चरणचिह्नावलिः । प्रवेशः, न निष्क्रमणं=नहि निर्गमः, न हि बहिरागमनस्य चिह्नं दृश्यते । जलान्ते=जलमध्ये । दुष्टग्राहेण=दुष्टमकरेण । भाव्यम्=भवितव्यम् । पद्मिनीनालं=कमलिनीदण्डम् । दूरस्थोऽपि=बहिःस्थितः सन् । निष्क्रम्य=बहिरागत्य । रत्नमालाविभूषितकण्ठः=रत्नस्य मालया विभूषितः कण्ठो यस्य स रत्नमालाविभूषितकण्ठः=रत्नमालाऽलङ्कृतकण्ठः । तं=यूथाधिपं वानरम् । उवाच=प्रोवाच । धूर्ततरः=अतिशयेन धूर्तो धूर्ततरः=प्रवञ्चकः, चतुरः । पानीयं=जलम् । तुष्टः=प्रसन्नः । हृदयवाञ्छितं=मनोऽभिलषितम् । भक्षणशक्तिः=भोजनसामर्थ्यम् । अयुतं=दशसहस्रम् । जलप्रविष्टानि=जलान्तर्गतानि । बाह्यतः=बहिः स्थितः सन् । घर्षयति=तिरस्करोति, प्रवञ्चयति । भूपतिना=राज्ञा । वैरं=द्वेषः । वाक्प्रपञ्चेन=वाग्जालेन । लोभयित्वा=प्रवञ्च्य । प्रवेशयामि=निवेशयामि । श्रद्धेयं=विश्वासयोग्यम् । यत् समुचितं=यद् युक्तम् । तत् कर्तव्यम्=तद् विधेयम् ।

हिन्दी—कभी उस वृद्ध वानर ने प्यास से व्याकुल होकर इधर उधर पानी की खोज में घूमते हुए कमलिनी से सुशोभित एक तालाब को देखा । उसने जब ध्यान से देखा तो वहाँ तालाब में प्रवेश करनेवाले जीवों का पदचिह्न दिखाई दिया, किन्तु उनके निकलने का कोई चिह्न नहीं था । इसे देखकर उसने सोचा कि इस तालाब में कोई न कोई दुष्ट मगर अवश्य रहता है । अतः अन्दर प्रवेश करना ठीक नहीं होगा । बाहर से ही कमलनाल के सहारे पानी पी लेता हूँ ।

वह कमलनाल के द्वारा पानी पी रहा था कि तालाब के अन्दर से एक राक्षस निकला । वह रत्न की अत्यन्त सुन्दर माला पहने हुए था । वानर को देखकर उसने कहा—अरे वानर ! इस पानी के अन्दर जो प्रवेश करता है, वह मेरा भक्ष्य होता है । तुम्हारे समान धूर्त मैंने नहीं देखा, क्योंकि तुम पानी में प्रवेश किये किये बिना ही कमलनाल से पानी पी रहे हो । मैं तुम्हारी चतुरता से तुझ पर प्रसन्न हूँ । तुम्हारा जो मनोकामना हो वह मुझसे माँग लो ।

वानर ने पूछा—तुम कितने जीवों को खा सकते हो ?

राक्षस ने कहा—पानी में प्रविष्ट एक सौ, हजार, लाख व्यक्तियों को भी

खा सकता हूँ, किन्तु पानी से बाहर निकलने पर एक सियार भी मुझे विजित कर सकता है।

यह सुनकर उस वानर ने कहा—एक राजा के साथ मेरा आत्यन्तिक वैर हैं। यदि इस रत्नमाला को तुम मुझे दे दो तो मैं अपनी वाक्चातुरी से प्रलोभित करके सकुटुम्ब उस राजा को इस तालाब के अन्दर प्रवेश करा सकता हूँ।

राक्षस ने उस वानर की विश्वास योग्य बात को सुनकर रत्नमाला को देते हुए कहा—मित्र ! जो तुम्हें उचित प्रतीत हो वह करना।

वानरोऽपि रत्नमालाविभूषितकण्ठो वृक्षप्रासादेषु परिभ्रमञ्जनैर्दृष्टः, पृष्टश्च-"भो यूथप ! भवानियन्तं कालं कुत्र स्थितः ? भवता ईदृग्रत्नमाला कुत्र लब्धा, दीप्त्या सूर्यमपि तिरस्करोति।"

वानरः प्राह—"अस्ति कुत्रचिदरण्ये गुप्ततरं महत्सरो धनदनिर्मितम्। तत्र सूर्येऽर्धोदिते रविवारे यः कश्चिन्निमज्जति, स धनदप्रसादादीदृग्रत्नमालाविभूषितकण्ठो निःसरति।"

अथ भूभुजा तदाकर्ण्य, स वानरः समाहूतः, पृष्टश्च-"भो यूथाधिप ! किं सत्यमेतत्, रत्नमालासनाथं सरोऽस्ति क्वाऽपि ?"

कपिराह—"स्वामिन् ! एष प्रत्यक्षतया मत्कण्ठस्थितया रत्नमालया प्रत्ययस्ते। तद्यदि रत्नमालया प्रयोजनं तन्मया सह कमपि प्रेषय, येन दर्शयामि।"

तच्छ्रुत्वा नृपतिराह—"यद्येवं तदहं सपरिजनः स्वयमेष्यामि, येन प्रभूता रत्नमाला उत्पद्यन्ते।"

व्याख्या—रत्नमालाविभूषितकण्ठः=रत्नमालालङ्कृतकण्ठः। वृक्षप्रासादेषु—वृक्षाश्च प्रासादाश्चेति वृक्षप्रासादाः तेषु वृक्षप्रासादेषु=वृक्षेषु प्रासादेषु च। इयन्तं कालम्=एतावद्दिनपर्यन्तम्। लब्धा=प्राप्ता। दीप्त्या=कान्त्या। तिरस्करोति=परिभवति। गुप्ततरं=सुगोप्यम्। धनपतिनिर्मितं—धनपतिना=कुबेरेण निर्मितं खनितमिति धनपतिनिर्मितम्=कुबेरकृतम्। सूर्येऽर्धोदिते=अर्धोदिते भास्करे। निमज्जति=स्नाति। धनदप्रसादात्=कुबेरकृपया। ईदृक्=एतादृक्। निःसरति=सरोवरान्निष्क्रामति भूभुजा=राज्ञा। समाहूतः=आकारितः। रत्नमालासनाथं=रत्नमालायुतम्। क्वापि=कुत्रापि। प्रत्यक्षतया=प्रत्यक्षरूपया। प्रत्ययः=विश्वासः। सपरिजनः=सपरिकरः सानुचरश्च। एष्यामि=गमिष्यामि। प्रभूताः=विपुलाः। उत्पद्यन्ते=मिलन्ति।

हिन्दी—राक्षस की दी हुई माला को कण्ठ में धारण करके वह वानर वृक्षों एवं भवनों पर क्रमशः घूमता हुआ पुरवासियों की दृष्टि में पड़ गया। नगरनिवासियों ने प्रेमपूर्वक उससे पूछा—अरे यूथप ! आप इतने दिनों तक कहाँ रहे, इतनी सुन्दर रत्न की माला आपको कहाँ से मिल गयी। यह तो अपनी कान्ति से सूर्य को भी तिरस्कृत कर दे रही है।

बन्दर ने उत्तर दिया—वन में कुबेर द्वारा निर्मित एक अत्यन्त गुप्त तालाब है। उस तालाब में रविवार को अर्ध सूर्योदय काल में जो स्नान करता है, वह कुबेर की कृपा से ऐसी ही रत्नमाला से सुशोभित कण्ठवाला होकर तालाब से बाहर निकलता है।

राजा ने जब यह समाचार सुना तो उसने उस यूथप को बुलाकर उससे पूछा—यूथाधिप ! क्या यह बात सत्य है ? कहीं पर रत्नमालाओं से युक्त तालाब है ?

उस यूथप बन्दर ने कहा—स्वामिन् ! इतना तो मेरे कण्ठ में प्रत्यक्ष रूप से स्थित इस रत्नमाला को देखकर ही विश्वास किया जा सकता है। यदि श्रीमान् को रत्नमाला की आवश्यकता है, तो मेरे साथ किसी को भेज दीजिए। मैं उसे भी वह सरोवर दिखा दूँगा।

यह सुनकर राजा ने कहा—यदि यह बात सत्य है तो मैं स्वयं अपने समस्त परिवार के साथ वहाँ चलूँगा। चलने से मेरे पास बहुत-सी रत्नमालाएँ हो जायेंगी।

वानर आह—"एवं क्रियताम्।"

वानर ने कहा—ठीक है, आप स्वयं चल सकते हैं।

तथाऽनुष्ठिते, भूपतिना सह रत्नमालालोभेन सर्वे कलत्रभृत्याः प्रस्थिताः। वानरोऽपि राज्ञा दोलाऽधिरूढेन स्वोत्सङ्गे आरोपितः सुखेन प्रीतिपूर्वमानीयते। अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—तथाऽनुष्ठिते = तथैव स्वीकृते। भूपतिना = राज्ञा। रत्नमाला-लोभेन = रत्नमालाप्राप्तिलालसया। कलत्रभृत्याः—कलत्राणि च भृत्याश्चेति कलत्रभृत्याः = भार्याः सेवकाश्च। प्रस्थिताः = प्रचलिताः। दोलाधिरूढेन—दोलायामधिरूढो दोलाधिरूढस्तेन दोलाधिरूढेन = प्रेङ्खाश्रितेन। स्वोत्सङ्गे—स्वस्योत्सङ्गः स्वोत्सङ्गः तस्मिन् स्वोत्सङ्गे = आत्मनः क्रोडे। आरोपितः = स्थापितः, उपवेशितः। आनीयते = नीयते।

हिन्दी—राजा के प्रस्थान करने पर रत्नमाला के लोभ से राजा की स्त्रियाँ तथा नौकर भी राजा के साथ चल पड़े। पालकी बैठे हुए राजा ने प्रेमपूर्वक उस वृद्ध वानर को अपनी गोद में बैठा लिया और वह सुखपूर्वक चलने लगा। अथवा ठीक ही कहा गया है—

तृष्णे ! देवि ! नमस्तुभ्यं, यया वित्ताऽन्विता अपि।
अकृत्येषु नियोज्यन्ते भ्राम्यन्ते दुर्गमेष्वपि ॥ ७६ ॥

अन्वयः—तृष्णे ! देवि ! तुभ्यं नमः, (यतो हि) यया वित्तान्विता अपि अकृत्येषु नियोज्यन्ते, दुर्गमेषु अपि भ्राम्यन्ते ॥ ७६ ॥

व्याख्या—हे तृष्णे देवि !=तृष्णानामिके देवते। तुभ्यं=ते। नमः=नमस्कारोऽस्तु। यतो हि, यया=त्वया। वशीभूताः वित्तान्विताः—वित्तेन अन्विताः वित्तान्विता=धनिनोऽपि। अकृत्येषु=अकार्येषु। नियोज्यन्ते=प्रवर्त्यन्ते। तथा दुर्गमेषु=गन्तुं दुःशकेषु अपि स्थानेषु। भ्राम्यन्ते=भ्रमणे प्रवृत्ताः क्रियन्ते। तृष्णयाऽभिभूता धनाढ्या अपि अकार्येषु प्रवर्तन्ते इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

हिन्दी—हे देवि तृष्णे ! तुमको प्रणाम है, क्योंकि जिस तेरे द्वारा वशीभूत होकर धनवान व्यक्ति भी अनुचित कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं और दुर्गम स्थानों में भी भटकते फिरते हैं ॥ ७६ ॥

तथा च—

इच्छति शती सहस्रं, सहस्री लक्षमीहते।
लक्षाऽधिपस्तथा राज्यं, राज्यस्थः स्वर्गमीहते ॥ ७७ ॥

अन्वयः—शती सहस्रं इच्छति, सहस्री लक्षम् ईहते, लक्षाधिपः राज्यं तथा राज्यस्थः स्वर्गम् ईहते ॥ ७७ ॥

व्याख्या—शती—शतं शतसंख्याकं परिमितं धनमस्यास्तीति शती=शताधिपः। लक्षं=लक्षसंख्यापरिमितं द्रव्यम्। ईहते=कामयते। लक्षाधिपः=लक्षसंख्याकधनवान्। राज्यं=नृपत्वम्। ईहते=वाञ्छति। तथा राज्यस्थः—राज्ये तिष्ठतीति राज्यस्थः=राज्यसिंहासनाधिरूढः सन्। स्वर्गं=देवलोकम्। ईहते=कामयते। उत्तरोत्तरं तृष्णा वर्द्धते इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

हिन्दी—सौ रुपयेवाला व्यक्ति हजार रुपये चाहता है, हजार रुपयेवाला लाख रुपये चाहता है, जो लखपति है वह सम्पन्न राज्य चाहता है उसी प्रकार राज्याधिरूढ सब सुविधाओं वाला स्वर्ग चाहता है। (इस तृष्णा के वशीभूत

होकर प्रत्येक व्यक्ति आगे बढ़ना चाहता है, किन्तु मनुष्य की कामनाएँ अपरिमित होती हैं, उनका कभी अन्त नहीं होता है ॥ ७७ ॥

जीर्यन्ते जीर्यतः केशाः, दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
जीर्यतश्चक्षुषी श्रोत्रे, तृष्णैका तरुणायते ॥ ७८ ॥

अन्वयः—जीर्यतः केशाः जीर्यन्ते, जीर्यतः दन्ता जीर्यन्ति, जीर्यतः चक्षुषी श्रोत्रे (जीर्येते, किन्तु) एका तृष्णा तरुणायते ॥ ७८ ॥

व्याख्या—जीर्यतः–जीर्यतीति जीर्यन् तस्य जीर्यतः=जीर्यमाणस्य वृद्धस्य जनस्य । केशाः=लोमानि । दन्ताः=रदाः । चक्षुषी=नेत्रे । श्रोत्रे=कर्णौ च जर्यन्ते । केवलम् एका तृष्णा=स्पृहा । तरुणायते—तरुणीवाचरदीति तरुणायते=नवीनत्वमाप्नोति । अर्थात् केवलमेका तृष्णैव सर्वदा उत्तरोत्तरमेधते इति भावः ॥ ७८ ॥

हिन्दी—वृद्ध व्यक्ति का बाल, दाँत, आँख और कान आदि सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं । किन्तु उसकी एकमात्र तृष्णा–कामना–इच्छा नित्य प्रति युवती सी बनी रहती है। अर्थात् मनुष्य की कामनाएँ कभी भी पूर्ण नहीं होती हैं, वे हमेशा नवयौवना युवती के समान नवीन होती रहती हैं ॥ ७८ ॥

अथ तत्सरः समासाद्य वानरः प्रत्यूषसमये राजानमुवाच—"देव ! अत्राऽर्धोदिते सूर्येऽन्तःप्रविष्टानां सिद्धिर्भवति तत्सर्वोऽपि जन एकदैव प्रविशतु । त्वया पुनर्मया सह प्रवेष्टव्यं, येन पूर्वदृष्टस्थानमासाद्य, प्रभूतास्ते रत्नमाला दर्शयामि ।"

अथ प्रविष्टास्ते लोकाः सर्वे भक्षिता राक्षसेन । अथ तेषु चिरमाणेषु राजा वानरमाह—"भो यूथाधिप ! किमिति चिरायते मे परिजनः ?"

तच्छ्रुत्वा वानरः सत्वरं वृक्षमारुह्य, राजानमुवाच—"भो दुष्टनरपते ! राक्षसेनान्तःसलिलस्थितेन भक्षितास्ते परिजनः । साधितं मया कुलक्षयजं वैरम्, तद् गम्यताम् । त्वं स्वामीति मत्वा नाऽत्र प्रवेशितः । उक्तं च—

व्याख्या—अथ=तदन्तरम् । समासाद्य=प्राप्य । प्रत्यूषसमये=प्रभातकाले । अत्र=सरसि । अर्धोदिते=अर्धोदयकालिके । अन्तःप्रविष्टानाम्=मध्ये प्रविष्टानाम् । सिद्धिः=मनोरथपूर्तिः, रत्नप्राप्तिः । एकदैव=एकस्मिन् काले । लोकाः=जनसमुदायः । अथ=कियत्कालानन्तरम् । तेषु=राजपरिवारेषु । चिरमाणेषु=विलम्बायमानेषु । चिरायते=अतिकालयते । सत्वरम्=अतिशीघ्रम् । अन्तःसलिलस्थेन=जलमध्यगतेन । साधितं=सम्पादितम् । कुलक्षयजं=कुटुम्ब-

क्षयेणोत्पन्नम् । स्वामीति मत्वा=कुलप्रभुः मम पालकश्चेति विचार्य । अत्र= सरसि । न प्रवेशितः=न प्रवेशाय प्रयत्नः कृतः ।

हिन्दी—इसके बाद प्रातःकाल में उस सरोवर पर पहुँचकर बन्दर ने राजा से कहा—राजन् ! सूर्य के अर्धोदय काल में ही इस सरोवर में प्रवेश करने से अभीष्ट की सिद्धि होती है । अतः सभी लोग एक ही समय में प्रवेश करें तो अच्छा होगा । और आप अभी रुक जाइए, मेरे साथ प्रवेश कीजिएगा, जिससे मैं पूर्वपरिचित स्थान में आपको ले चलकर असंख्य रत्नमालाओं को दिखलाऊँगा ।

उस सरोवर में प्रवेश करते ही राजा के समस्त परिवार को वह राक्षस खा गया । अपने परिजनों को देर करते देखकर राजा ने वानर से पूछा—यूथाधिप ! मेरे अनुयायी लोग अभी तक बाहर नहीं निकले, उनके निकलने में देर क्यों हो रही है ?

राजा के प्रश्न को सुनकर वह वानर तत्काल एक वृक्ष पर चढ़ गया और ऊपर से ही उत्तर दिया—अरे नीच राजा ! पानी में रहने वाले राक्षस ने तुम्हारे परिवार को खा लिया है । मैंने अपने कुल के विनाश का बदला चुका लिया । अब तुम वहाँ से जा सकते हो । तुमको अपना पालक समझकर मैंने इस सरोवर में प्रवेश नहीं करने दिया । कहा भी गया है कि—

कृते प्रतिकृतं कुर्याद्धिंसिते प्रतिहिंसितम् ।
न तत्र दोषं पश्यामि, यो दुष्टे दुष्टमाचरेत् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—यः कृते प्रतिकृतं कुर्यात्, हिंसिते प्रतिहिंसितं च कुर्यात्, दुष्टे, दुष्टम् आचरेत् तत्र दोषं न पश्यामि ॥ ७९ ॥

व्याख्या—यः पुरुषः कृते=केनापि पुरुषेण उपकारेऽपकारे वा विहिते सति । प्रतिकृतिं=प्रतिकारं यथोचितमुपकारमपकारं वा कुर्यात्=विदध्यात् । हिंसिते=हिंसायाम् । मारणे सति प्रतिहिंसितं=प्रतिहिंसा प्रतिवधं कुर्यात् । दुष्टे=दुर्जने दुष्टप्रकृतिके जने । दुष्टं=दोषयुक्तम्, कर्मदण्डं दौर्जन्यं वा । समाचरेत्=अनुतिष्ठेत् । तत्र=तस्मिन् विषये । दोषं न पश्यामि=नावलोकयामि । अर्थात् यो मानवः अपकारं कृते प्रतिकारं कुर्यात्, वधे प्रतिवधं विदध्यात्, दुष्टप्रकृतौ नरे दण्डं दद्यात् तत्र न कश्चन भवति दोष इति भावः ॥ ७९ ॥

हिन्दी—अपकार करनेवाले व्यक्ति का अपकार करना, मारनेवाले व्यक्ति को मारना और दुष्ट प्रकृति व्यक्ति के प्रति दुष्टता करना उचित है । ऐसा करने

पर कोई दोष नहीं होता। अतः तुम्हारे प्रति किये गये आचरण को मैं दोष-युक्त नहीं समझता हूँ ।। ७९ ।।

"तत्त्वया मम कुलक्षयः कृतः, मया पुनस्तव" इति।

अथैतदाकर्ण्य, राजा कोपाविष्टः पदातिरेकाकी यथायातमार्गेण निष्क्रान्तः। अथ तस्मिन् भूपतौ गते राक्षसस्तृप्तो जलान्निष्क्रम्य सानन्दमिदमाह—

व्याख्या—त्वया=भूपतिना। कुलक्षयः=वंशविनाशः। मया=वानरेण। कोपाविष्टः=क्रोधाभिभूतः। पदातिः=पादचारी। यथायातमार्गेण=येनायातस्तेन मार्गेण। निष्क्रान्तः=गतः। गते=प्रयाते। तृप्तः=सुतृप्तः। आह=उवाच।

हिन्दी—तुमने मेरे कुल का विनाश किया। अतः मैंने भी तुम्हारे कुल का नाश कर दिया। वानर की इस बात को सुनकर राजा क्रोधाभिभूत हो पैदल ही जिस रास्ते से आये थे उसी रास्ते से वापस चले गये। राजा के चले जाने के बाद राक्षस ने जलाशय से बाहर निकलकर अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कहा—

"हतः शत्रुः, कृतं मित्रं, रत्नमाला न हारिता।
नालेन पिबता तोयं भवता साधु वानर! ।। ८० ।।

अन्वयः—हे वानर! भवता शत्रुः हतः, मित्रं कृतम्, रत्नमाला (च) न हारिता नालेन तोयं पिबता साधु (कृतम्) ।। ८० ।।

व्याख्या—हे वानर! =हे कपे! भवता=त्वया। शत्रुः=शत्रुभूतः कुलनाशकारिणो राज्ञः परिवारः। हतः=नाशितः। मित्रं कृतं=मल्लक्षणं, सखा प्राप्तः। रत्नमाला=मत्प्रसादेन लब्धा रत्नमयी मालिका च। न हारिता=न हस्तान्मोचिता। नालेन=कमलदण्डेन। तोयं=पानीयम्। पिबता=आस्वादयता। साधु=सम्यक् (कृतम्)। प्रज्ञाप्रभावेण कमलनालेन पानीयं पीत्वा भवान् सर्वं स्वकार्यं कृतवानित्यहो प्रशंसनीयास्ति ते बुद्धिः ।। ८० ।।

हिन्दी—कमलनाल से पानी पीने की निपुणता दिखाकर तुमने अपने शत्रु का विनाश कर दिया, मेरे साथ मित्रता कर ली और रत्नमाला को कहीं खोया भी नहीं। वानरराज! तुम्हारी बुद्धि धन्य है। वस्तुतः तुम एक चतुर वानर हो ।। ८० ।।

अतोऽहं ब्रवीमि—"यो लौल्यात्कुरुते कर्म" इति।

हिन्दी—अतः मैं कहता हूँ कि जो लोभ के कारण कार्य करता है'''इत्यादि।

एवमुक्त्वा, भूयोऽपि स चक्रधरमाह—"भो मित्र! प्रेषय मां, येन स्वगृहं गच्छामि।"

चक्रधर आह—"भद्र ! आपदर्थे धनमित्रसङ्ग्रहः क्रियते। तन्मामेवंविधं त्यक्त्वा क्व यास्यसि ? उक्तं च—

व्याख्या—एवमुक्त्वा=एवं कथयित्वा भूयोऽपि=पुनरपि। प्रेषय मां=गमनायानुमतिं प्रयच्छ। आपदर्थे=आपत्तिनिवारणाय। धनमित्रादिसङ्ग्रहः=धनानां मित्राणां च सङ्ग्रहः=सञ्चयः। एवंविधं=चक्राकुलम्। क्व यास्यसि=कुत्र गच्छसि।

हिन्दी—उक्त कथा को सुनने के बाद सुवर्णसिद्धि ने चक्रधर से कहा—मित्र ! अब मुझे जाने की अनुमति दो, जिससे मैं घर जा सकूँ।

चक्रधर ने कहा—भद्र ! विपत्तिकाल में सहयोग करने के लिए ही धन और मित्र संग्रह किया जाता है। मुझे इस स्थिति में छोड़कर कहाँ जाओगे, क्योंकि—

यस्त्यक्त्वा सापदं मित्रं याति निष्ठुरतां वहन्।
कृतघ्नस्तेन पापेन नरके यात्यसंशयम्॥ ८१॥

अन्वयः—यः सुहृद् सापदं मित्रं त्यक्त्वा निष्ठुरतां वहन् याति कृतघ्नः (सः) तेन पापेन असंशयं नरके याति॥ ८१॥

व्याख्या—यः=यो हि। सुहृद्=सखा। सापदं—आपदा सहितं सापदं=विपद्ग्रस्तम्। मित्रं=सुहृदम्। त्यक्त्वा=विहाय। निष्ठुरतां=निर्दयत्वम्। वहन्=धारयन्। याति=प्रयाति। कृतघ्नः—कृतं हन्तीति कृतघ्नः=अकृतज्ञः, तत्कृतं पूर्वोपकारं विस्मृतवान्। सः=पुरुषः। तेन पापेन=मित्रोपेक्षारूपेण पातकेन। असंशयम्=निःसन्देहम्। नरके=निरये। याति=गच्छति। मित्रस्यापदो दूरीकरणं मित्रस्यास्ति धर्म इति भावः॥ ८१॥

हिन्दी—जो व्यक्ति आपत्ति में पड़े हुए मित्र को छोड़कर निष्ठुरतापूर्वक चला जाता है वह कृतघ्न उसी पाप के कारण निःसन्देह नरक का भागी बनता है॥ ८१॥

सुवर्णसिद्धिराह—भोः, सत्यमेतद्यदि गम्यस्थाने शक्तिर्भवति। एतत्पुनर्मनुष्याणामगम्यस्थानम्। नास्ति कस्याऽपि त्वामुन्मोचयितुं शक्तिः अपरं यथा यथा चक्रभ्रमवेदनया तव मुखविकारं पश्यामि तथा-तथाऽहमेतज्जानामि यत्—द्राग् गच्छामि मा कश्चिन्ममाऽप्यनर्थो भवेदिति। यतः—

व्याख्या—गम्यस्थाने=गमनयोग्ये स्थले। मोचयितुं=उन्मोचयितुम्, कष्टान्निवारयितुम्। शक्तिः=सामर्थ्यम्। चक्रभ्रमवेदनया=चक्रभ्रमणजन्यकष्टेन। मुखविकारं=वदनविकृतिम्। द्राक्=त्वरितम्। अनर्थः=आपत्तिः।

हिन्दी—सुवर्णसिद्धि ने कहा—तुम ठीक कहते हो यदि इस स्थान में रहने की शक्ति होती तो मैं अवश्य रह जाता। यह स्थान मनुष्य के ठहरने योग्य नहीं है और तुम्हें इस चक्र से छुड़ाने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। दूसरी बात यह है कि जैसे चक्र के घूमने से पीड़ा के कारण तुम्हारी बदलती हुई मुखाकृति को देखता हूँ तो उसमें मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि मुझे यहाँ से अतिशीघ्र चला जाना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि मैं भी किसी आपत्ति में पड़ जाऊँ, क्योंकि कहा गया है—

याद्दशी वदनच्छाया द्दश्यते तव वानर।
विकालेन गृहीतोऽसि, यः परैति स जीवति॥ ८२॥

अन्वयः—हे वानर! यादृशी तव वदनच्छाया दृश्यते (तेन ज्ञायते) विकालेन (राक्षसेन) गृहीतोऽसि, (तस्मात्) यः परैति स (एव) जीवति॥ ८२॥

व्याख्या—हे वानर !=भो कपे! यादृशी=यथा (म्लानतां गता)। तव=भवतः। वदनच्छाया=मुखश्रीः। दृश्यते=प्रत्यक्षतयानुमीयते। यत्त्वं विकालेन=दुष्टकालेन राक्षसेन। गृहीतः=आक्रान्तः। असि। अतः यः=पुरुषः। परैति=पलायते। स एव जीवति=प्राणान् धर्तुं शक्नोति। अर्थात् दुर्दशाग्रस्तं पुमांसमनर्थापातशङ्कया परित्यज्य ततः स्थानात् पलायनमेव प्राणिनां प्राणरक्षणोपाय इति भावः॥ ८२॥

हिन्दी—हे वानर! जैसी तुम्हारे मुख की कान्ति दिखाई देती है उससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि तुम विकाल नामक राक्षस से अभिभूत हो चुके हो। अतः जो यहाँ से दूर भाग जायेगा वही जीवित बच सकेगा॥ ८२॥

चक्रधर ने पूछा—यह कैसे? सुवर्णसिद्धि ने कहा—

चक्रधर आह—कथमेतत्? सोऽब्रवीत्—

१०. विकाल-वानर-कथा

कस्मिंश्चिन्नगरे भद्रसेनो नाम राजा प्रतिवसति स्म। तस्य सर्वलक्षणसम्पन्ना रत्नवती नाम कन्याऽस्ति। तां कश्चिद्राक्षसो जिहीर्षति। रात्रावागत्योपभुङ्क्ते, परं कृतरक्षोपधानां तां हर्तुं न शक्नोति। साऽपि तत्समये रक्षःसान्निध्यजामवस्थामनुभवति कम्पादिभिः।

एकमतिक्रामति काले कदाचित्स राक्षसो मध्यनिशायां गृहकोणे स्थितः।

साऽपि राजकन्या स्वसखीमुवाच—"सखि ! पश्यैष विकालः समये नित्यमेव मां कदर्थयति । अस्ति तस्य दुरात्मनः प्रतिषेधोपायः कश्चित् ?"

तच्छ्रुत्वा राक्षसोऽपि व्यचिन्तयत्—"नूनं यथाहं, तथाऽन्योऽपि कश्चिद्विकाल-नामास्या हरणाय नित्यमेवागच्छति, परं सोऽप्येनां हर्तुं न शक्नोति । तत्तावदश्व-रूपं कृत्वाऽश्वमध्यगतो निरीक्षयामि—किंरूपः सः किंप्रभावश्चेति ?" एवं राक्षसोऽश्वरूपं कृत्वाऽश्वानां मध्ये तिष्ठति ।

व्याख्या—सर्वलक्षणसम्पन्ना—सर्वैः लक्षणैः सम्पन्ना सर्वलक्षणसम्पन्ना= सर्वलक्षणयुक्ता सकलशुभलक्षणोपेता वा । कन्या=पुत्री । जिहीर्षति=हर्तुमिच्छति । उपभुङ्क्ते=तया सह कामक्रीडां करोति । कृतरक्षोपधानां—कृतं रक्षाया उप-धानं यस्याः सा तां कृतरक्षोपधानां=मन्त्रतन्त्रादिद्वारा रक्षिताम् । हर्तुं=नेतुम् । तत्समये=राक्षसस्यागमनकाले, रतिसमये वा । रक्षःसान्निध्यजां=राक्षसागमन-कालिकीम् । कम्पादिभिः=शरीरकम्पनादिभिः । अतिक्रामति=गच्छति । मध्यनिशायाम्=अर्धरात्रे । विकालः=विकालनामा, विकरालाकृतिर्वा । समये= निशीथे । कदर्थयति=पीडयति । प्रतिषेधोपायः=निरोधोपायः । अन्योऽपि= इतरोऽपि । अस्याः=कन्यायाः । एनां=कन्याम् । अश्वरूपं कृत्वा=घोटकरूपं विधाय । अश्वमध्यगतः=अश्वानां मध्ये स्थितः । निरीक्षयामि=पश्यामि । किंप्रभावः=किंविक्रमः कीदृक्शक्तिसम्पन्नो वा ।

हिन्दी—किसी नगर में भद्रसेन नाम का राजा रहता था । उसकी सभी लक्षणों से सम्पन्न रत्नवती नाम की एक कन्या थी । कोई राक्षस उस कन्या को हरना चाहता था । वह रात में आकर उस कन्या के साथ काम-क्रीडा किया करता था । किन्तु मन्त्र-यन्त्र आदि के द्वारा अभिरक्षित होने के कारण उसका अपहरण नहीं कर सकता था । रात के समय वह अपने शरीर के प्रकम्पन आदि से राक्षस के आगमन का आभास पा जाती थी ।

इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होने पर एक दिन कभी वह राक्षस आधी रात में उस कन्या के घर के कोने में आकर बैठ गया । उसी समय वह राज-कन्या भी अपनी सखी से बोली—हे सखि ! देख, यह विकाल नाम का राक्षस नित्य रात में निश्चित समय पर मुझे कष्ट पहुँचाता है । क्या उस पापी के रोकने का कोई उपाय है ?

उस कन्या के कथन को सुनकर उस राक्षस ने सोचा, मालूम पड़ता है कि जिस प्रकार मैं इसका अपहरण करना चाहता हूँ उसी प्रकार कोई दूसरा भी

विकाल नामक राक्षस इसको हरने के लिए नित्य आया करता है, किन्तु यह भी इसको हरने में समर्थ नहीं होता। मैं घोड़े का रूप धारण कर घोड़ों के बीच बैठ जाता हूँ और देखता हूँ कि वह कितना सुन्दर और कैसा प्रभावशाली है। तदनुसार वह राक्षस घोड़ा बनकर घोड़ों के मध्य में खड़ा हो गया।

तथाऽनुष्ठिते निशीथसमये राजगृहे कश्चिदश्वचौरः प्रविष्टः। स च सर्वानश्वान् अवलोक्य, तं राक्षसमश्वतमं विज्ञायाधिरूढः।

अत्राऽन्तरे राक्षसश्चिन्तयामास—"नूनमेष विकालनामा मां चौरं मत्वा कोपान्निहन्तुमागतः। तत्किं करोमि ?" एवं चिन्तयन् सोऽपि तेन खलीनं मुखे निधाय, कशाघातेन ताडितः। अथाऽसौ भयत्रस्तमनाः प्रधावितुमारब्धः।

चौरोऽपि दूरं गत्वा, खलीनाकर्षणेन तं स्थिरं कर्तुमारब्धवान्। स तु वेगाद्वेगतरं गच्छति। अथ तं तथाऽगणितखलीनाकर्षणं मत्वा चौरश्चिन्तयमास—"अहो, नैवंविधा वाजिनो भवन्त्यगणितखलीनाः। तन्नूनमनेनाश्वरूपेण राक्षसेन भवितव्यम्। यद्यपि कञ्चित्पांसुलं भूमिदेशमवलोकयामि तदात्मानं तत्र पातयामि। नाऽन्यथा मे जीवितव्यमस्ति।

व्याख्या—तथाऽनुष्ठिते=तथाकृते सति। निशीथसमये=अर्धरात्रे। अश्वतमं=श्रेष्ठमश्वम्। मत्वा=विज्ञाय। निहन्तुं=मारयितुम्। सोऽपि=राक्षसोऽपि। तेन=चौरेण। खलीनं—खे=मुखे लीनं, खलीनं=कविकाम्। मुखे=मुखमध्ये। निधाय=आरोप्य। कशाघातेन=कशाप्रहारेण। भयत्रस्तमनाः=भयभीतः। प्रधावितुं=धावितुमारब्धः। खलीनाकर्षणेन=कविकाकर्षणेन। तं=राक्षसाश्वम्। सः=अश्वः। वेगाद्वेगतरं=तीव्रात्तीव्रतरम्। गच्छति=प्रधावति। अगणितखलीनाकर्षणं=विगणितकविकाकर्षणम्। वाजिनः=अश्वाः। पांसुलं=सिकताबहुलम्। जीवितव्यं=जीवनम्।

हिन्दी—वैसा करने पर आधी रात के समय कोई घोड़ों का चोर राजभवन में घुसा और सब घोड़ों को देखकर उस राक्षस को सबसे अच्छा घोड़ा समझकर उसी पर सवार हो गया।

इसके बाद राक्षस सोचने लगा—निःसन्देह यही विकाल नाम का वह राक्षस है, जो मुझे चोर समझकर मारने के लिए आया है। तो क्या करूँ ? अभी वह सोच ही रहा था कि उस चोर ने उसके मुख में लगाम लगाकर कोड़े से मारा। कोड़े की मार खाकर वह भयभीत हो उठा और दौड़ना प्रारम्भ किया।

कुछ दूर जाने के बाद चोर लगाम को खींचकर उसे रोकने लगा। लगाम को खींचने पर वह राक्षस और भी वेग से भागने लगा। लगाम के अवरोध को न मानते हुए देखकर चोर चिन्ता में पड़ गया और सोचने लगा—इस प्रकार के घोड़े नहीं हो सकते हैं, जो लगाम के अवरोध को न मानें। जान पड़ता है कि घोड़ा बना हुआ कोई राक्षस है। यदि कहीं बालूवाली जमीन मिल जाय तो मैं वहाँ कूद पड़ूँ, अन्यथा मेरा प्राण बचना कठिन है।

एवं चिन्तयत इष्टदेवतां स्मरतस्तस्य सोऽश्वो वटवृक्षस्य तले निष्क्रान्तः। चौरोऽपि वटप्ररोहमासाद्य तत्रैव विलग्नः ततो द्वावपि तौ पृथग्भूतौ परमानन्दभाजौ, जीवितविषये लब्धप्रत्याशौ सम्पन्नौ।

अथ तत्र वटे कश्चिद्राक्षससुहृद्वानरः स्थित आसीत्। तेन राक्षसं त्रस्तमालोक्य व्याहृतं—"भो मित्र! किमेव पलाय्यतेऽलीकभयेन? तद्भक्ष्योऽयं मानुषः, भक्ष्यताम्।"

सोऽपि वानरवचो निशम्य; स्वरूपमाधाय शङ्कितमनाः स्खलितगतिर्निवृत्तः। चौरोऽपि तं वानराहूतं ज्ञात्वा, कोपात्तस्य लाङ्गूलं लम्बमानं मुखे निधाय, चर्वितवान्।

वानरोऽपि तं राक्षसाऽभ्यधिकं मन्यमानो भयान्न किञ्चिदुक्तवान्। केवलं व्यथार्तो निमीलितनयनस्तिष्ठति। राक्षसोऽपि तं तथाभूतमवलोक्य श्लोकमेनमपठत्—

याद्दशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर!
विकालेन गृहीतोऽसि, यः परैति स जीवति॥

इत्युक्त्वा प्रनष्टश्च।

व्याख्या—एवं चिन्तयतः=इत्थं विचारयतः। इष्टदेवतां स्मरतः=स्वेष्टदेवतां प्रार्थयतः। तस्य=चौरस्य। तले=अधस्तात्। निष्क्रान्त=निर्गतः। वटप्ररोहं=वटवृक्षजटाम्। आसाद्य=धृत्वा। तत्रैव=वटमूले। विलग्नः=प्रलग्नः। द्वौ=चोरराक्षसौ। पृथग्भूतौ=पृथग्जातौ। जीवितविषये=स्वस्वजीवनविषये। लब्धप्रत्याशौ=प्राप्ताशौ। त्रस्तमालोक्य=भयग्रस्तं विलोक्य। व्याहृतं=कथितम्। पलाय्यते=पलायनं क्रियते। अलीकभयेन=मिथ्याभयेन। भक्ष्यः=खाद्यभूतः। निशम्य=श्रुत्वा। स्वरूपमाधाय=स्वकीयं रूपं धृत्वा। स्खलितगतिः=स्खलितवेगः। वानराहूतं=वानरेणावाहितम्। कोपात्=क्रोधात्। लाङ्गूलं=पुच्छम्। चर्वितवान=खादितवान्। राक्षसाभ्यधिकं=राक्षसादपि बलवत्तरम्।

व्यथार्तः=पीडया दुःखितः। निमीलितनयनः=निमीलितलोचनः। तथाभूतं= दुःखितं मौनं च। प्रनष्टः=पलायितः।

हिन्दी—उसके ऐसा सोचते हुए और इष्ट देवता का स्मरण करते हुए वह घोड़ा एक वटवृक्ष के नीचे से निकला। चोर वट की जटाओं को पकड़कर वहीं चिपक गया। तब वे दोनों अलग हुए तथा अत्यधिक प्रसन्न हुए एवं जीवन के विषय में आशावान् हो गये।

उस वटवृक्ष पर राक्षस का मित्र एक वानर रहता था। राक्षस को भयभीत होकर भागते हुए जब उसने देखा तो उसे रोकते हुए कहा—अरे, झूठमूठ के भय से तुम क्यों भाग रहे हो? यह तो तुम्हारा भक्ष्य मनुष्य है। इसे पकड़कर खा जाओ।

वानर की बात सुनकर वह राक्षस अपना स्वरूप प्रकट करके भयत्रस्त सा धीरे-धीरे अपनी गति को रोकते हुए खड़ा हो गया। चोर भी उस राक्षस को वानर द्वारा आवाहित समझकर क्रोध के कारण उसकी लटकती हुई पूंछ को चबाने लगा। उस चोर को राक्षस से भी अधिक बलवान् समझकर डर के मारे वानर ने कुछ नहीं कहा, केवल अपनी दोनों आँखों को बन्द करके मौन रह गया। राक्षस ने जब उसको इस प्रकार मौन देखा तो इस श्लोक को पढ़ा—'यादृशी वदनच्छाया' आदि। इस श्लोक को पढ़ने के बाद वह तत्काल वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

"तत्प्रेषय मां येन गृहं गच्छामि। त्वं पुनरनुभुङ्क्ष्वात्र स्थित एव लोभवृक्षफलम्।"

चक्रधर आह—"भोः अकारणमेतत्। दैववशात्सम्पद्यते नृणां शुभाऽशुभम्। उक्तं च—

व्याख्या—भुङ्क्ष्व=अनुभव। लोभवृक्षफलम्=लोभरूपपादपस्य फलं, परिणामम्। दैववशात्=भाग्यवशात्।

हिन्दी—सुवर्णसिद्धि ने कहा—अब आज्ञा दो कि मैं घर चला जाऊँ। तुम यहाँ रहकर लोभरूपी वृक्ष का फल भोगो।

चक्रधर ने कहा—मैं तुम्हारी इस बात से सहमत नहीं हूँ। भाग्य के कारण मनुष्य शुभाशुभ फल का उपभोग करता है। कहा भी गया है—

दुर्गस्त्रिकूटः परिखा समुद्रो रक्षांसि योधा धनदाच्च वित्तम्।
शास्त्रं च यस्योशनसा प्रणीतं स रावणो दैववशाद्विपन्नः॥ ८३॥

अन्वयः—यस्य त्रिकूटः दुर्गः, समुद्रः परिखा, योधा रक्षांसि, धनदाच्च वित्तम्, उशनसा प्रणीतं शास्त्रम्, स रावणः दैववशात् विपन्नः ॥ ८३ ॥

व्याख्या—यस्य=रावणस्य। त्रीणि कूटानि शिखराणि यस्य स त्रिकूटः=त्रिकूटनामधेयः पर्वतः। दुर्गः=परेषां दुर्गमं सुगुप्तं स्थानमासीत्। समुद्रः=शतयोजविस्तीर्णो जलनिधिः। तस्य=दुर्गस्य। परिखा=खेयम्; दुर्गस्य समन्तात् स्थापितो जलसमूह आसीत्। रक्षांसि=राक्षसाः। योधाः=योद्धारो भटा आसन्। धनदात्—धनं ददातीति धनदः तस्मात् धनदात्=निजपराक्रमेण जितात् कुबेरात् च यस्य धनं=धनप्राप्तिरासीत्। यस्य शास्त्रं=ज्ञानसम्पादकं नीतिशास्त्रम्। उशनसा=दैत्यगुरुणा शुक्राचार्येण। प्रणीतं=निर्मितम् आसीत्। सोऽपि रावणः। दैववशात्=भाग्यस्य प्रतिकूलतया। विपन्नः=विपत्तिं प्राप्तः विनष्टः। अर्थात् भाग्ये विरुद्धे सति महदैश्वर्यसम्पन्नो रावणोऽपि यदि विपत्तिमनुभूतवान् तर्हि का कथाऽन्येषामित्यर्थः ॥ ८३ ॥

हिन्दी—त्रिकूट पर्वत ही जिसका दुर्ग था, समुद्र खाई का काम करता था, राक्षस ही जिसके योद्धा थे, कुबेर का समस्त धन ही जिसका अपना था और शुक्राचार्य द्वारा निर्मित नीतिशास्त्र ही जिसका ज्ञानवर्द्धक शास्त्र था, वह रावण भी भाग्य की प्रतिकूलता के कारण मारा गया ॥ ८३ ॥

तथा च—अन्धकः, कुब्जकश्चैव, त्रिस्तनी राजकन्यका।
त्रयोऽप्यन्यायतः सिद्धाः सम्मुखे कर्मणि स्थिते ॥ ८४ ॥

अन्वयः—कर्मणि सम्मुखे स्थिते अन्धकः, कुब्जकः, त्रिस्तनी राज्यकन्यका च त्रयोऽपि अन्यायतः सिद्धाः ॥ ८४ ॥

व्याख्या—कर्मणि=कर्मफले। सम्मुखे स्थिते=अनुकूलतां गते। अन्धकः=नेत्रहीनः। कुब्जकः=कुब्जः। त्रिस्तनी—त्रीणि स्तनानि यस्याः सा त्रिस्तनी=स्तनत्रयवती। राजकन्यका=राजसुता च। त्रयोऽपि=एते त्रयः। अन्यायतः=अनीत्या असत् कार्यं कुर्वन्तः, अन्यायं कुर्वन्तो वा। सिद्धाः=सफलतां गताः। स्वं स्वमर्थं प्राप्ता इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

हिन्दी—और भी—अन्ध, कुब्ज तथा त्रिस्तनी राजकुमारी इन तीनों ने ही असत् कार्य किया था, किन्तु भाग्य की अनुकूलता से तीनों के मनोरथ पूर्ण हो गये ॥ ८४ ॥

सुवर्णसिद्धिः प्राह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे ?" चक्रधर ने कहना शुरू किया—

११ अन्धक-कुब्जक-त्रिस्तनी-कथा

"अस्त्युत्तरापथे मधुपुरं नाम नगरम्। तत्र मधुसेनो नाम राजा बभूव। तस्य कदाचिद्विषयसुखमनुभवतस्त्रिस्तनी कन्या बभूव। अथ तां त्रिस्तनीं जातां श्रुत्वा, स राजा कञ्चुकिनं प्रोवाच—यत्—"भोः! त्यज्यतामियं त्रिस्तनी, गत्वा दूरेऽरण्ये यथा कश्चिन्न जानाति।"

तत् श्रुत्वा कञ्चुकिनः प्रोचुः—'महाराज! ज्ञायते यदनिष्टकारिणी त्रिस्तनी कन्या भवति। तथापि ब्राह्मणं आहूय प्रष्टव्याः, येन लोकद्वयं न विरुध्यते। यतः—

व्याख्या—उत्तरापथे=उत्तरस्यां दिशि। कदाचित्=कस्मिंश्चित् काले। विषयसुखं=स्त्रीसुखम्, रतिसुखम्। त्रिस्तनी=स्तनत्रययुक्ता। जाताम्=उत्पन्नाम्। कञ्चुकिनः=अन्तःपुररक्षकान्। त्यज्यताम्=दूरं परित्यज्यताम्। अरण्ये=बने। अनिष्टकारिणी=कष्टदायिनी। लोकद्वयं=लोकपरलोकौ। न विरुध्यते=न विरुद्धं भवति।

हिन्दी—उत्तर दिशा में मधुपुर नामक एक नगर था, वहाँ मधुसेन नाम का राजा रहता था। विषयों का सुख अनुभव करते हुए उसके यहाँ कभी त्रिस्तनी (तीन स्तनोंवाली) कन्या उत्पन्न हुई। तब उस त्रिस्तनी कन्या के जन्म को सुनकर राजा बहुत चिन्तित हुआ। उसने कंचुकियों को बुलाकर कहा—इस कन्या को ले जाकर कहीं दूर वन में छोड़ दो। और ध्यान रखना कि इस बात को कोई जानने न पाये।

राजा के इस आदेश को सुनकर कंचुकियों ने कहा—महाराज हम लोग इस बात को जानते हैं कि त्रिस्तनी कन्या अनिष्टकारिणी होती है फिर भी ब्राह्मणों को बुलाकर पूछ लेना चाहिए जिससे इस लोक में निन्दा और पर-लोक में असद्गति न हो। क्योंकि—

> यः सततं परिपृच्छति, शृणोति, सन्धारयत्यनिशम्।
> तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीव विवर्द्धते बुद्धिः॥ ८५॥

अन्वयः—यः सततं परिपृच्छति, शृणोति, अनिशं सन्धारयति च, तस्य बुद्धिः दिवाकरकिरणैः नलिनी इव विवर्द्धते॥ ८५॥

व्याख्या—यः=पुरुषः। परिपृच्छति=पृष्ट्वा कार्यं करोति। शृणोति=आकर्णयति। अन्यान् पृच्छति, अन्यस्य वचनं च शृणोति। अनिशं=नित्यम्।

सन्धारयति=धारयति । तस्य=पुरुषस्य । बुद्धिः=मतिः । दिवाकरकिरणैः=सूर्यरश्मिभिः । नलिनी=कमलिनी । इव=यथा । विबर्द्धते=विकसिता भवति । अर्थात् यो हि पुमान् अन्यानपि परिपृच्छति । अन्येषां वचनं शृणोति, अन्योक्तं सन्धारयति च तस्य बुद्धिः सूर्यकिरणैः कमलिनीव विकसिता भवतीत्यर्थः ॥८५॥

हिन्दी—जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से परामर्श करता है, दूसरे की बात को ध्यान से सुनता है और उसके अनुसार आचरण करता है, उसकी बुद्धि सूर्य की किरणों से विकसित होने वाली कमलिनी के समान हमेशा विकसित होती रहती है ॥ ८५ ॥

तथा च—

पृच्छकेन सदा भाव्यं पुरुषेण विजानता ।
राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि प्रश्नान्मुक्तो द्विजः पुरा ॥ ८६ ॥

अन्वयः—विजानता पुरुषेण (अपि) सदा पृच्छकेन भाव्यम्, (यतः) पुरा राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि द्विजः प्रश्नात् मुक्तः ॥ ८६ ॥

व्याख्या—विजानता–विजानातीति विजानन् तेन विजानता=अवगच्छता । पुरुषेणापि । सदा=सर्वदा । पृच्छकेन—पृच्छतीति पृच्छकस्तेन पृच्छकेन=प्रश्नकर्त्रा जिज्ञासुना । भाव्यं=भवितव्यम् । पुरा=पूर्वस्मिन् काले । राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि—राक्षसानामिन्द्रः राक्षसेन्द्रः तेन गृहीतः राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि=राक्षसराजधृतोऽपि । द्विजः=ब्राह्मणः । प्रश्नात्=प्रश्नकारणात् । मुक्तः=उन्मुक्तो बभूव ॥ ८६ ॥

हिन्दी—और भी, सब कुछ जानते हुए भी मनुष्य को जिज्ञासु होना चाहिए, क्योंकि राक्षस के द्वारा गृहीत ब्राह्मण उससे पूछने के कारण ही मुक्त हुआ था ॥ ८६ ॥

राजा आह—कथमेतत् ? ते प्रोचुः—

राजा ने पूछा—"यह कैसे हुआ ?" तब कञ्चुकियों ने कहा—

"देव ! कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे चण्डकर्मा नाम राक्षसः प्रतिवसति स्म । एकदा तेन भ्रमताऽटव्यां कश्चिद् ब्राह्मणः समासादितः । ततस्तस्य स्कन्धमारुह्य प्रोवाच—"भो ! अग्रेसरो गम्यताम् ।"

ब्राह्मणोऽपि भयत्रस्तमनास्तमादाय प्रस्थितः । अथ तस्य कमलोदरकोमलौ पादौ दृष्ट्वा ब्राह्मणो राक्षसमपृच्छत्—"भोः ! किमेवंविधौ ते पादावतिकोमलौ ? राक्षस आह—"भोः ! व्रतमस्ति, नाहमार्द्रपादो भूमिं स्पृशामि ।"

ततस्तच्छ्रुत्वात्मनो मोक्षोपायं चिन्तन् स सरः प्राप्तः। ततो राक्षसेनाऽभिहितं—"भो ! यावदहं स्नानं कृत्वा, देवतार्चनविधिं विधायागच्छामि, तावत्त्वयाऽतः स्थानादन्यत्र न गन्तव्यम्।"

व्याख्या—अटव्यां=वने। समासादितः=संलब्धः। अग्रेसरः=अग्रे गन्ता। तमादाय=राक्षसमादाय। कमलोदरकोमलौ—कमलस्योदरोऽभ्यन्तरभागः तद्वत्कोमलौ कमलोदरकोमलौ=बाह्याभ्यन्तरकोमलौ। पादौ=चरणौ। व्रतमस्ति=प्रतिज्ञाऽस्ति। आर्द्रपादः=क्लिन्नचरणः। मोक्षोपायं—मोक्षस्योपायो मोक्षोपायस्तं मोक्षोपायं=मुक्तिसाधनम्। सरः=सरोवरः। देवतार्चनविधिं=देवपूजनविधानम्। विधाय=कृत्वा। न गन्तव्यं=नाग्रे व्रजनीयम्।

हिन्दी—स्वामिन् ! किसी वनप्रान्त में चण्डवर्मा नाम का राक्षस रहता था। एक दिन वन में घूमते हुए उसने एक ब्राह्मण को देखा। तब उस ब्राह्मण के कन्धे पर चढ़कर बोला—अरे ! आगे चलो।

वह ब्राह्मण भयभीत होकर चला। कुछ दूर जाने के बाद राक्षस के कमलवत् कोमल चरणों को देखकर ब्राह्मण ने पूछा—आपका चरण इतना कोमल क्यों है ? राक्षस ने उत्तर दिया, मेरी यह प्रतिज्ञा है कि मैं भीगे हुए चरणों से पृथ्वी का स्पर्श नहीं करूँगा।

राक्षस की बात सुनकर वह ब्राह्मण अपनी मुक्ति का उपाय सोचता हुआ उस सरोवर तक जा पहुँचा। राक्षस ने सरोवर को देखकर कहा—मैं स्नान कर देवताओं का पूजन कर लेता हूँ। जब तक मैं वापस न लौटूं तब तक तुम आगे न बढ़ना।

तथाऽनुष्ठिते द्विजश्चिन्तयामास—"नूनं देवताऽर्चनविधेरूर्ध्वं मामेष भक्षयिष्यति। तद् द्रुततरं गच्छामि, येनैष आर्द्रपादो न मम पृष्ठमेष्यति।"

तथाऽनुष्ठिते, राक्षसो व्रतभङ्गभयात्तस्य पृष्ठं न गतः।" अतोऽहं ब्रवीमि—"पृच्छकेन सदा भाव्यम्" इति।

अथ तेभ्यस्तच्छ्रुत्वा, राजा द्विजानाहूय प्रोवाच—"भो ब्राह्मणाः ! त्रिस्तनी मे कन्या समुत्पन्ना, तत्किं तस्याः प्रतिविधानमस्ति, न वा ?"

ते प्रोचुः—देव ! श्रूयताम्—

व्याख्या—तथाऽनुष्ठिते=तथैव कृते। द्विजः=ब्राह्मणः। चिन्तयामास=अशोचत्। द्रुततरं=शीघ्रम्। पृष्ठमेष्यति=अनुगमिष्यति। व्रतभङ्गभयात्=

प्रतिज्ञाभङ्गभीतेः । तेभ्यः=कञ्चुकिभ्यः । तस्या=समुत्पन्नायाः । प्रतिविधानम्=दोषपरिहारोपायः ।

हिन्दी—राक्षस के स्नान करने के लिए चले जाने पर ब्राह्मण ने विचार किया—'अवश्य ही देवार्चन विधि के पश्चात् वह राक्षस मुझको खा जायेगा । अतः शीघ्र ही यहाँ से चला जाऊँ, जिससे यह गीले पैर होने के कारण मेरे पीछे न आ सकेगा ।

ब्राह्मण के ऐसा करने पर अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग होने के डर से राक्षस उसके पीछे नहीं गया । इसलिए मैं कहता हूँ–सदा प्रश्न करनेवाला होना चाहिए ।

तब उन कञ्चुकियों से उस बात को सुन कर राजा ने ब्राह्मणों को बुला कर पूछा—हे ब्राह्मणो ! मुझे त्रिस्तनी कन्या पैदा हुई है । तो उसके प्रतीकार की कोई विधि है अथवा नहीं है ? उन्होंने कहा—महाराज सुनिए—

हीनाङ्गी वाऽधिकाङ्गी वा या भवेत् कन्यका नृणाम् ।
भर्तुः स्यात् सा विनाशाय स्वशीलनिधनाय च ॥ ८७ ॥

अन्वयः—नृणां हीनाङ्गी वा अधिकाङ्गी वा या कन्यका भवेत् सा भर्तुः विनाशाय स्वशीलनिधनाय च स्यात् ॥ ८७ ॥

व्याख्या—नृणां=मनुष्याणाम् । हीनाङ्गी=न्यूनाङ्गी । वा अधिकाङ्गी=अधिकावयवा वा । या कन्यका=पुत्री । भवेत्=स्यात् । सा कन्यका भर्तुः=स्वपतेः । विनाशाय=नाशाय । स्वशीलनिधनाय=निजचारित्र्यभङ्गाय च स्यात् =जायेत् ॥ ८७ ॥

हिन्दी—मनुष्यों के यहाँ कम अङ्गवाली या अधिक अङ्गवाली जो कन्या उत्पन्न होती है, वह पति के विनाश के लिए और अपने चरित्र के हनन के लिए होगी ॥ ८७ ॥

या पुनस्त्रिस्तनी कन्या याति लोचनगोचरम् ।
पितरं नाशत्येव सा द्रुतं नात्र संशयः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—पुनः या त्रिस्तनी कन्या लोचनगोचरा याति (तर्हि) सा (तु) द्रुतमेव पितरं नाशयति अत्र संशयः न ॥ ८८ ॥

व्याख्या—पुनः=भूयः । या त्रिस्तनी=स्तनत्रयवती । कन्या=पुत्री । लोचनगोचरा—लोचनयोः=नेत्रयोः, गोचरा=विषयीभूता । याति=भवति । तर्हि सा तु द्रुतमेव=शीघ्रमेव । पितरं=जनकम् । नाशयति=विनाशयति । अत्र=अस्मिन् विषये । संशयः=सन्देहः । न=नास्तीत्यर्थः ॥ ८८ ॥

हिन्दी—यदि त्रिस्तनी कन्या पिता के समक्ष उपस्थित होती है तो अपने पिता का शीघ्र ही नाश कर देती है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ८८ ॥

तस्मादस्या दर्शनं परिहरतु देवः। तथा यदि कश्चिदुद्वाहयति, तदेनां तस्मै दत्त्वा, देशत्यागेन स नियोजयितव्यः इति। एवंकृते लोकद्वयाऽविरुद्धता भवति।"

अथ तेषां तद्वचनमाकर्ण्य, स राजा पटहशब्देन सर्वत्र घोषणामाज्ञापयामास—"अहो! त्रिस्तनीं राजकन्यां यः कश्चिदुद्वाहयति, स सुवर्णलक्षमाप्नोति देशत्यागश्च।"

एवं तस्यामाघोषणायां क्रियमाणायां महान् कालो व्यतीतः। न कश्चित्तां प्रतिगृह्णाति। साऽपि यौवनोन्मुखी सञ्जाता सुगुप्तस्थानस्थिता, यत्नेन रक्ष्यमाणा तिष्ठति।

व्याख्या—तस्मात्=अत एव। अस्याः=कन्यायाः। परिहरतु=वर्जयतु। उद्वाहयति=विवाहयति। देशत्यागेन=राज्यत्यागेन। नियोजयितव्यः=समायोजयितव्यः। पटहशब्देन=आनकोद्घोषेण। आप्नोति=प्राप्नोति। महान् कालः=अधिकसमयः। यत्नेन=प्रयत्नेन। तिष्ठति=निवसति।

हिन्दी—इसलिए महाराज! आप इस कन्या का दर्शन न करें। यदि कोई इसके साथ विवाह करना चाहे तो उसके साथ इसका विवाह करके इसको राज्य से निकाल दिया जाय। ऐसा करने से आपके दोनों लोक बना रहेगा।

तब उन ब्राह्मणों के वचन को सुनकर राजा ने नगाड़ा पीटकर घोषणा कराने की आज्ञा दे दी कि मेरी त्रिस्तनी कन्या के साथ जो विवाह करेगा उस व्यक्ति को एक लाख सुवर्ण मुद्राएँ दी जायेंगी और साथ ही उसको राज्य से निकाल भी दिया जायेगा।

राजा की इस घोषणा के हुए बहुत दिन बीत गये, परन्तु कोई व्यक्ति उस कन्या से विवाह करने के लिए तैयार नहीं हुआ। वहाँ कन्या भी धीरे-धीरे युवती हो गयी। उसको गुप्त स्थान में अत्यन्त प्रयत्न के साथ सुरक्षित रखा गया।

अत्र तत्रैव नगरे कश्चिदन्धस्तिष्ठति। तस्य च मन्थरकनामा कुब्जोऽग्रेसरो यष्टिग्राही। ताभ्यां तं पटहशब्दमाकर्ण्य, मिथो मन्त्रितं—स्पृश्यतेऽयं पटहः। यदि कथमपि दैवात् कन्या लभ्यते, सुवर्णप्राप्तिश्च भवति, तथा सुखेन सुवर्णप्राप्त्या

कालो व्रजति। अथ यदि तस्य दोषतो मृत्युर्भवति, तदा दारिद्र्योपात्तस्याऽस्य क्लेशस्य पर्यन्तो भवति। उक्तं च—

व्याख्या—अथ = कियद्दिनानन्तरम्। कुब्जः=खञ्जः। अग्रेसरः = अग्रगः। यष्टिग्राही=यष्टिग्रहीता। मिथः=परस्परम्। मन्त्रितं=विचारितम्। कालो व्रजति=समयो याति। तस्याः=कन्यायाः। मृत्युः=मरणम्। दारिद्र्योपात्तस्य =दारिद्र्यजनितस्य। क्लेशस्य=दुःखस्य। पर्यन्तः=अवसानं समाप्तिर्वा।

हिन्दी—उसी नगर में एक अन्धा भी रहता था और मन्थरक नाम का एक लंगड़ा व्यक्ति उसका मित्र था, जो उसकी लाठी पकड़कर आगे-आगे चलता था। उन दोनों ने जब राजा की घोषणा को सुना तो आपस में विचार किया—चलो, पटह को छू लिया जाय, संयोग से राजकन्या मिल गयी तो एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ भी मिल जायेंगी, उनसे हम लोगों का समय सुख से बीतेगा। यदि उसके कुलक्षणी होने से मृत्यु होती है तो निर्धनता से होनेवाले इस कष्ट का अन्त हो जायेगा। क्योंकि कहा भी गया है—

लज्जा स्नेहः स्वरमधुरता बुद्धयो यौवनश्रीः,
कान्तासङ्गः स्वजनममता दुःखहानिर्विलासः।
धर्मः शास्त्रं सुरगुरुमतिः शौचमाचारचिन्ता,
पूर्णे सर्वे जठरपिठरे प्राणिनां सम्भवन्ति॥ ८९॥

अन्वयः—लज्जा, स्नेहः, स्वरमधुरता, बुद्धयः, यौवनश्रीः, कान्तासङ्गः, स्वजनममता; दुःखः, हानिः, विलासः, धर्मः, शास्त्रं, सुरगुरुमतिः, शौचम्, आचारचिन्ता, प्राणिनां (एते) सर्वे (व्यापाराः) जठरपिठरे पूर्णे एव सम्भवन्ति।

व्याख्या—लज्जा=ह्रीः। स्नेहः=अनुरागः। स्वरमधुरता—स्वरस्य मधुरता स्वरमधुरता=शब्दमाधुरी प्रियभाषित्वम्। बुद्धयः=मतयः विवेकाः। यौवनश्रीः–यौवनस्य श्रीः शोभा यौवनश्रीः=युवावस्था। कान्तासङ्गः–कान्ताया= भार्याया, सङ्ग=प्रसङ्गः, कान्तासङ्गः=स्त्रीप्रसङ्गः। स्वजनममता—स्वजनस्य ममता स्वजनममता=निजजनमोहः। दुःख=कष्टम्। हानिः=नाशः। विलासः= शृङ्गारचेष्टा। धर्मः=धर्माचरणम्। शास्त्रं=शास्त्रानुशीलनम्। सुरगुरुमतिः– सुरेषु=देवेषु, गुरुषु=पूज्येषु च मतिः=बुद्धिरिति सुरगुरुमतिः=देवगुरुपूज्यबुद्धिः। शौचं=पवित्रता आचारचिन्ता–आचारस्य=सदाचारस्य चिन्ता=विवेक इति आचारचिन्ता=आचरणविवेकः। जठरपिठरे=उदरभाण्डे। पूर्णे=पूरिते। सम्भवन्ति=सम्पद्यन्ते॥ ८९॥

हिन्दी—लज्जा, प्रेम, प्रियभाषिता, विचारशीलता, युवावस्था का सौन्दर्य, स्त्री का साथ, प्रिय व्यक्तियों का मोह, कष्ट, हानि, विलास, सुखोपभोग, धर्माचरण, शास्त्राध्ययन, देवता तथा गुरुजनों में श्रद्धा, आचार, पवित्रता आदि का प्रादुर्भाव (विचार) मनुष्य के मन में तभी तक होता है जब तक उसका उदरभाण्ड (पेट) भरा रहता है, पेट के खाली रहने पर कोई भी बात अच्छी नहीं लगती ॥ ८९ ॥

एवमुक्त्वाऽन्धेन गत्वा, स पटहः स्पृष्टः । उक्तं च—"भोः, अहं तां कन्यामुद्वाहयामि, यदि राजा मे प्रयच्छति ।"

ततस्तै राजपुरुषैर्गत्वा, राज्ञे निवेदितम्—"देव ! अन्धेन केनचित्पटहः स्पृष्टः । तदत्र विषये देवः प्रमाणम् ।"

राजा प्राह—

व्याख्या—एवमुक्त्वा = एवं कथयित्वा । अन्धेन = नेत्रहीनेन । गत्वा = उपगम्य । पटहः = घोषणापटहः । स्पृष्टः = पस्पर्श । प्रयच्छति = ददाति । राजपुरुषैः = राजभृत्यैः । निवेदितम् = कथितम् । तदत्र विषये देवः प्रमाणम् = भवान् यदिच्छेत् तत् कुर्यात् ।

हिन्दी—इस प्रकार आपस में विचार करके अन्धे ने जाकर पटह को पकड़ लिया और कहा—यदि महाराज प्रस्तुत हों तो मैं उस कन्या के साथ विवाह करना चाहता हूँ ।

राजपुरुषों ने राजा के पास जाकर इस समाचार को सुनाते हुए राजा से निवेदन किया—देव ! एक अन्धे ने पटह को पकड़ लिया है । इस विषय में आपका जो आदेश हो उसका पालन हम लोग करेंगे । सिपाहियों के वचन को सुनकर राजा ने कहा—

अन्धो वा वधिरो वाऽपि कुष्ठी वाप्यन्त्यजोऽपि वा ।
प्रतिगृह्णातु तां कन्यां सलक्षां स्याद्विदेशगः ॥ ९० ॥

अन्वयः—अन्धो वा वधिरोऽपि वा कुष्ठी अपि, अन्त्यजोऽपि, सलक्षां तां कन्यां प्रतिगृह्णातु विदेशगः (च) स्यात् ॥ ९० ॥

व्याख्या—अन्धः = नेत्रहीनो वा । वधिरः = श्रोत्रहीनः, अपि वा । कुष्ठी = कुष्ठरोगान्वितोऽपि वा । अन्त्यजः = नीचोऽपि वा । सलक्षां—लक्षेण रूप्यकेन सह सलक्षा, तां सलक्षां = लक्षरूप्यकसहिताम् । तां = त्रिस्तनीम् । कन्यां = दुहितरम् । प्रतिगृह्णातु = स्वीकरोतु । अथ च विदेशगः—विदेशं गच्छतीति विदेशगः = परदेशगः राज्याद् बहिर्गतः । स्यात् = भवेत् ॥ ९० ॥

हिन्दी—चाहे वह अन्धा हो, बहिरा हो, कोढ़ी हो या अन्त्यज हो, मैं उसके साथ इस कन्या का विवाह करने को प्रस्तुत हूँ। वह एक लाख स्वर्ण-मुद्राओं के साथ इस कन्या को ग्रहण कर सकता है। केवल शर्त यह है कि उसे तत्काल यह राज्य छोड़ देना होगा ॥ ९० ॥

अथ राजादेशात्तै राजपुरुषैस्तं नदीतीरे नीत्वा सुवर्णलक्षेण समं विवाहविधिना त्रिस्तनीं तस्मै दत्वा, जलयाने निधाय कैवर्ताः प्रोक्ताः—"भो ! देशान्तरं नीत्वा कस्मिश्चिदधिष्ठानेऽन्धः सपत्नीकः, कुब्जकेन सह मोचनीयः"।

तथानुष्ठिते विदेशमासाद्य, कस्मिश्चिदधिष्ठाने कैवर्तदर्शिते त्रयोऽपि मूल्येन गृहं प्राप्ताः सुखेन कालं नयन्तिस्म। केवलमन्धः पर्यङ्के सुप्तः तिष्ठति, गृहव्यापारं मन्थरकः करोति। एवं गच्छता कालेन त्रिस्तन्या कुब्जकेन सह विकृतिः सम-पद्यत। अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—राजादेशात्=नृपाज्ञया। तं=अन्धम्। नदीतीरे=तदीतटे। नीत्वा=उपस्थाप्य। तस्मै=अन्धाय। जलयाने—जलस्य यानमिति जलयानं तस्मिन् जलयाने=नौकायाम्। निधाय=उपवेश्य। कैवर्ताः=धीवराः। सप-त्नीकः=सस्त्रीकः। मोचनीयः=परित्याज्यः। असाद्य=प्राप्य। कस्मिश्चिदधि-ष्ठाने=कस्मिन्नपि स्थाने। कैवर्तदर्शिते=धीवरनिर्दिष्टे। मूल्येन=भाटकेन। गृहं प्राप्ताः=गेहमासादिताः। सुखेन=सुखपूर्वकं। कालं नयन्ति स्म=समयं यापयन्ति स्म। पर्यङ्के=मञ्चके शय्यायाम्। गृहव्यापारं=गृहप्रबन्धम्। विकृतिः =मनोविकारः, पापसम्बन्धः। समपद्यत=अजायत।

हिन्दी—तब राजा के आदेश से उन राजपुरुषों ने उस अन्धे को नदी के किनारे पर ले जाकर विधि से विवाह कर त्रिस्तनी को एक लाख स्वर्णमुद्राओं के साथ उसे देकर उन्हें नौका में बैठाकर मल्लाहों से कहा—'अरे, दूसरे देश में ले जाकर कुबड़े के साथ पत्नी सहित इस अन्धे को छोड़ देना।

वैसा करने पर विदेश को प्राप्त कर केवटों द्वारा दिखाये गये किसी नगर में भाड़े पर मकान लेकर वे तीनों ही सुख से रहने लगे। अन्धा रात-दिन चार-पाई पर पड़ा रहता था और मन्थरक घर का सारा प्रबंन्ध किया करता था। इस प्रकार कुछ दिन बीत जाने पर त्रिस्तनी की लंगड़े मन्थरक के साथ मनो-विकृति (अवैध सम्बन्ध) हो गयी। अथवा ठीक ही कहा गया है—

यदि स्याच्छीतलो वह्निश्चन्द्रमा दहनात्मकः।
सुस्वादुः सागरः स्त्रीणां तत्सतीत्वं प्रजायते ॥ ९१ ॥

अन्वयः—यदि वह्निः शीतलः स्यात्, यदि (वा) चन्द्रमा दहनात्मकः स्यात् यदि सागरः सुस्वादुः स्यात् तत् स्त्रीणां सतीत्वं प्रजायते ॥ ९१ ॥

व्याख्या—यदि=कदाचित् । वह्निः=अग्निः । शीतलः=शीतः । स्यात्=भवेत् । यदि चन्द्रमाः=चन्द्रः । दहनात्मकः=दाहको भवेत् । यदि वा सागरः=लवणसमुद्रः । सुस्वादुः=सुपेयो मधुरस्वादिष्टो वा भवेत् । तत्=तर्हि । स्त्रीणां=नारीणाम् । सतीत्वम्=पातिव्रात्यम् । प्रजायते=सम्भवति ॥ ९१ ॥

हिन्दी—यदि आग अपनी स्वाभाविक उष्णता को छोड़कर शीतल हो जाय, चन्द्रमा शीतलता को छोड़कर उष्ण हो जाय और क्षार समुद्र सुपेय—मधुर हो जाय तो कदाचित् स्त्री अपने सतीत्व का पालन कर सकती है ॥९१॥

अथाऽन्येद्युस्त्रिस्तन्या मन्थरकोऽभिहितः—"भो सुभग ! यद्येषोऽन्धः कथञ्चित् व्यापाद्यते, तदावयोः सुखेन कालो याति । तदन्विष्यतां कुत्रचिद्विषम्, येनाऽस्मै तत् प्रदाय सुखिनी भवामि ।"

अन्यदा कुब्जकेन परिभ्रमता, मृतः कृष्णसर्पः प्राप्तः । तं गृहीत्वा, प्रहृष्टमना गृहमभ्येत्य, तामाह—"सुभगे ! लब्धोऽयं कृष्णसर्पः । तदेनं खण्डशः कृत्वा, प्रभूतशुण्ठ्यादिभिः, संस्कार्यास्मै विकलनेत्राय मत्स्यामिषं भणित्वा प्रयच्छ, येन द्राग्विनश्यति । यतोऽस्य मत्स्यामिषं सदा प्रियम् ।" एवमुक्त्वा मन्थरको बहिर्गतः ।

व्याख्या—अन्येद्युः=एकस्मिन्नहनि । अभिहितः=कथितः । कथञ्चित्=कथमपि । व्यापाद्यते=हन्यन्ते । आवयोः=तव मम च । अस्मै=अन्धाय । प्रदाय=दत्वा । सुखिनी=चिन्तारहिता, विगतभया । अन्यदा=अन्यस्मिन् काले । मृतः=गतप्राणः । कृष्णसर्पः=कृष्णाहिः । लब्धः=प्राप्तः । प्रहृष्टमनाः=प्रसन्नचेता । अभ्येत्य=आगत्य । खण्डशः कृत्वा=खण्डं खण्डं विधाय । शुण्ठ्यादिभिः=शुण्ठी-मरीच्यादिभिः । संस्कार्य=संसाध्य । विकलनेत्राय=दृष्टिशून्याय । आमिषं=मांसम् । भणित्वा=कथयित्वा । द्राक्=झटिति । बहिर्गत=बहिर्निर्गतः ।

हिन्दी—इसके बाद त्रिस्तनी ने एक दिन मन्थरक से कहा—हे प्रिय ! यदि यह अन्धा किसी प्रकार मार दिया जाता तो हम दोनों का समय सुखपूर्वक बीतता । तो तुम कहीं से विष खोजकर लाओ जिससे इसको विष खिलाकर निश्चित एवं निर्भय हो जाऊँ ।

इसके उपरान्त एक बार घूमते हुए कुबड़े को एक मरा हुआ काला साँप मिल गया । उसे लेकर वह प्रसन्नतापूर्वक लौटा और त्रिस्तनी से कहा—प्रिये !

यह काला साँप मिला है, तो इसे टुकड़े-टुकड़े करके सोंठ, मिर्च, नमक आदि से छौंककर खूब बढ़िया बना दो और मछली का मांस कहकर इस अन्धे को खिला दो जिससे यह शीघ्र ही मर जायेगा। क्योंकि इसे मछली का मांस हमेशा अच्छा लगता है। यह कहकर मन्थरक कहीं बाहर चला गया।

साऽपि प्रदीप्ते वह्नौ कृष्णसर्पं खण्डशः कृत्वा तक्रस्थाल्यामधाय गृहव्यापाराकुला तं विकलाऽक्षं सप्रश्रयमुवाच–"आर्यपुत्र ! तवाऽभीष्टं मत्स्यमांसं समानीतम्। यतस्त्वं सदैव तत्पृच्छसि। ते च मत्स्या वह्नौ पाचनाय तिष्ठन्ति। तद्यावदहं गृहकृत्यं करोमि, तावत्त्वं दर्वीमादाय क्षणमेकं तान् प्रचालय।"

सोऽपि तदाकर्ण्य हृष्टमनाः सृक्कणी परिलिहन् द्रुतमुत्थाय दर्वीमादाय प्रमथितुमारब्धः। अथ तस्य मत्स्यान् मथ्नतो विषगर्भबाष्पेण संस्पृष्टं नीलपटलं चक्षुर्भ्यामगलत्। असावप्यन्धस्तं बहुगुणं मन्यमानो विशेषान्नेत्राभ्यां बाष्पग्रहणमकरोत्।

व्याख्या—सापि=त्रिस्तनी अपि। प्रदीप्ते वह्नौ=प्रज्वलितेऽग्नौ। तक्रस्थाल्यां=तक्रभाण्डे। विकलाक्षं=विकृतनेत्रं दृष्टिशून्यम्। सप्रश्रय=सस्नेहं सविनयं वा। उवाच=उक्तवती। आर्यपुत्र ! तवाभीष्टं=तवाभिलषितम् प्रियं वस्तु। मत्स्यमांसं=मीनामिषम्। समानीत=अनीतमस्ति। पाकाय=पाचनाय। गृहकृत्यं=गेहकार्यम्। दर्वीमादाय=कम्बि खजाकं वा गृहीत्वा। प्रचालय=मन्थय। तदाकर्ण्य=तत् श्रुत्वा। हृष्टमनाः=प्रसन्नचेताः। सन् सृक्कणी=ओष्ठप्रान्तौ। परिलिहन्=जिह्वया लिहन्। द्रुतं=शीघ्रम्। उत्थाय=उत्थितो भूत्वा। प्रमथितुं=परिचालयितुम्। आरब्धः=समारब्धः। मथ्नतः=परिचालयतः विषगर्भबाष्पेण=गरलमिलितबाष्पेण। नीलपटलं=नेत्रयोर्नीलमावरणम्। अगलत् =अस्रवन्। द्रवरूपेण पपात। बहुगुणं=लाभप्रदम्। विशेषात्=विशिष्टरूपे। नेत्राभ्यां=लोचनाभ्याम्। बाष्पग्रहणं=बाष्पस्वेदम्। अकरोत्=अकार्षीत्।

हिन्दी–उस त्रिस्तनी ने उस साँप को टुकड़े टुकड़े काटकर छाँछ की हँड़िया में रख उसे आग पर रखकर गृह कार्य की व्यस्तता के कारण प्रेमपूर्वक उस अन्धे से कहा–आर्यपुत्र ! आपकी प्रिय वस्तु मछली मँगायी गयी है, क्योंकि आप उसके विषय में बार-बार पूछा करते हैं। उन मछलियों को पकने के लिए मैंने आग पर चढ़ा दिया है, आप चम्मच लेकर उसे तब तक चलाते रहिये जब तक मैं घर का अन्य कार्य कर लेती हूँ।

उसकी बात को सुनकर अन्धे ने प्रसन्नतापूर्वक अपने दोनों ओठों के किनारे को जीभ से चाटते हुए चम्मच को लेकर उसको चलाना प्रारम्भ किया। मछली को चलाते समय उसके नेत्रों में विषमिश्रित बाष्प के लगने से आँख का मोतियाबिन्द गलकर गिरने लगा। बाष्प के प्रिय लगने के कारण अन्धे ने भी अपनी आँखों को खूब सेका।

ततो लब्धदृष्टिर्जातो यावत्पश्यति, तावत्तक्रमध्ये कृष्णसर्पखण्डानि केवलान्येवाऽवलोकयति ततो व्यचिन्तयत्—"अहो, किमेतत्? मम मत्स्यामिषं कथितमासीदनया। एतानि तु कृष्णसर्पखण्डानि। तत्तावद्विजानामि सम्यक् त्रिस्तन्याश्चेष्टितं, किं मम वधोपायक्रमः कुब्जस्य वा। उताहो अन्यस्य वा कस्यचित्।" एवं विचिन्त्य स्वाकारं गूहयन्नन्धवत्कर्म करोति यथापुरा।

अत्रान्तरे कुब्जः समागत्य, निःशङ्कतयालिङ्गनचुम्बनादिभिस्त्रिस्तनीं सेवितुमुपचक्रमे। सोऽप्यन्धस्तमवलोकयन्नपि यावन्न किञ्चिच्छस्त्रं पश्यति, तावत्कोप व्याकुलमनाः पूर्ववच्छयनं गत्वा कुब्जं चरणाभ्यां सङ्गृह्य, सामर्थ्यात्स्वमस्तकोपरि भ्रामयित्वा त्रिस्तनीं हृदये व्यताडयत्।

अथ, कुब्जप्रहारेण तस्यास्तृतीयः स्तन उरसि प्रविष्टः। तथा बलान्मस्तकोपरि भ्रमणेन कुब्जः प्राञ्जलतां गतः।

अतोऽहं ब्रवीमि—अन्धकः कुब्जकश्चैव इति।

सुवर्णसिद्धिराह—"भोः! सत्यमेतत्। दैवाऽनुकूलतया सर्वं कल्याणं सम्पद्यते। तथापि पुरुषेण सतां वचनं कार्यम्। पुनरेवमेव वर्तितव्यम्। अथ एवमेव यो वर्तते, स त्वमिव विनश्यति। तथा च—

व्याख्या—ततः=तदनन्तरम्। लब्धदृष्टिः—लब्धा दृष्टिः येनाऽसौ लब्धदृष्टिः=प्राप्तदर्शनशक्तिः। तक्रमध्ये=तक्रभाण्डमध्ये। अवलोकयति=ददर्श। व्यचिन्तयत्=विचारितवान्। अनया=त्रिस्तन्या मम भार्यया। विजानामि=विस्तरेणावगच्छामि। चेष्टितं=ईहितं कृत्यम्। वधोपायक्रमः=हननप्रयासः। उताहो=अथवा। स्वाकारं=स्वस्वरूपम्। गूहयन्=अप्रकटयन्। समागत्य=उपस्थाय। निःशङ्कतया=निर्भयतया। आलिङ्गनचुम्बनादिभिः=संश्लेषमुखचुम्बनप्रभृतिभी रतिक्रीडया। सेवितुं=रमितुम्। उपचक्रमे=आरब्धवान्। अवलोकयन्नपि=पश्यन्नपि। यावत्=यावत्पर्यन्तम्। शस्त्रं=प्रहारसाधनमस्त्रम्। पूर्ववत्=अन्धवत्। कोपव्याकुलमनाः=क्रोधाक्रान्तचित्तः। चरणाभ्याम्=पद्भ्याम्। संगृह्य=धृत्वा। सामर्थ्यात्=पूर्णशक्त्या। स्वमस्तकोपरि=निज-

शिरसि । भ्रामयित्वा=भ्रमणं कारयित्वा । हृदये=वक्षःस्थले । व्यताडयत्=आघातितवान् । कुब्जप्रहारेण=कुब्जपादाघातेन । तृतीयः स्तनः=त्रितयं मध्यस्थमुरोजम् । उरसि=हृदये । प्रविष्टः=अन्तरितः । बलात्=बलाघातात् वेगात् । मस्तकोपरि=शिरसि । भ्रामणेन=परिभ्रामणेन चालनेन । प्राञ्जलतां गतः=ऋजुतां, सामान्यस्वरूपतां प्राप्तः । दैवानुकूलतया=अदृष्टाकूल्येन । सम्पद्यते=सम्पन्नं भवति । सतां=सज्जनानाम् । वचनं=कथनम् । कार्यं=विधेयम् । वर्तितव्यं=व्यवहारः कार्यः । विनश्यति=नाशं गच्छति ।

हिन्दी—भापके सेवन से अन्धे की आँखें खुल गयी । बाद में उसने देखा कि मट्ठे में काले साँप के टुकड़े पड़े हुए हैं । यह देखकर उसने सोचा—अरे ! यह क्या है ? त्रिस्तनी ने तो मुझसे कहा था कि मछली का मांस है । ये तो काले साँप के टुकड़े हैं । अच्छा, जरा समझ तो लूँ त्रिस्तनी की चाल को । यह मुझे मारने का उपाय किया गया है, या कुब्जे को अथवा किसी अन्य को । यह सोच कर वह अपने स्वरूप को छिपाते हुए अन्धे की तरह पूर्ववत् कार्य करने लगा ।

इसी समय वह कुबड़ा घर में आकर त्रिस्तनी का आलिङ्गन एवं चुम्बन आदि करके उसके साथ रमण करने लगा । अन्धे ने उन्हें इसे अवस्था में देख कर मारने के निमित्त जब दूसरी वस्तु नहीं पायी, तो क्रोध से व्याकुल होकर पूर्ववत् टटोलता हुआ खाट के पास जाकर कुबड़े की दोनों टाँगों को पकड़ लिया और पूर्ण बल लगाकर अपने शिर के ऊपर घुमाने के बाद त्रिस्तनी की छाती पर दे मारा ।

अन्धे के इस प्रहार से त्रिस्तनी का तीसरा स्तन उसकी छाती में घुस गया और बलपूर्व घुमाने के कारण कुबड़ा भी सीधा हो गया, इसलिए मैं कहता हूँ कि भाग्य के अनुकूल होने पर अन्धा, लंगड़ा एवं त्रिस्तनी तीनों का दोष बुरा कर्म करते हुए भी मिट गया ।

यह सुनकर सुवर्णसिद्धि ने कहा–भाई, तुम ठीक कहते हो । भाग्य के अनुकूल रहने पर सर्वत्र कल्याण लाभ होता है । फिर भी मनुष्यों को सज्जन व्यक्तियों का आदेश मानना चाहिए अपने मन का नहीं करना चाहिए । दूसरों की बात न मानकर अपने मन से कार्य करनेवाला व्यक्ति तुम्हारी ही तरह कष्ट उठाता है । क्योंकि कहा भी गया है—

एकोदराः पृथग्ग्रीव अन्योन्यफलभक्षिणः ।
असंहता विनश्यन्ति, भारुण्डा इव पक्षिण ॥" ८२ ॥

अन्वयः—असंहताः एकोदराः पृथग्ग्रीवाः अन्योन्यफलभक्षिणः भारुण्डाः पक्षिणः इव विनश्यति ॥ ९२ ॥

व्याख्या—असंहताः—न संहता असंहताः=असम्मिलिताः परस्परविरुद्धाः सन्तः। एकोदराः—एकं समानमुदरं येषां ते एकोदराः=अभिन्नकुक्षयः। पृथग्-ग्रीवा—पृथक् ग्रीवा येषां ते पृथग्ग्रीवाः=भिन्नकण्ठाः। अन्योन्यफलभक्षिणः—अन्योऽन्यं फलं भक्षितुं शीलं येषां ते अन्योन्यफलभक्षिणः=परस्परविषम-फलाशिनः। भारुण्डाः=भारुण्डाख्याः। पक्षिणः=खगाः। इव=यथा। विन-श्यन्ति=नाशं प्राप्नुवन्ति। विनाशकारणं पारस्परिको विरोधो न श्रेयसे जायते इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

हिन्दी—एकमत होकर कार्य करनेवाले व्यक्ति एक-उदर, किन्तु दो मुख वाले और परस्पर में पृथक्-पृथक् फलों को खानेवाले भारुण्ड नामक पक्षी के समान विनष्ट हो जाते हैं ॥ ९२ ॥

चक्रधर आह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

चक्रधर ने पूछा—'यह कैसे ?' सुवर्णसिद्धि ने कहा—

१३. भारुण्डपक्षि-कथा

कस्मिंश्चित् सरोवरे भारुण्डनामा पक्षी एकोदरः, पृथग्ग्रीवः प्रतिवसति स्म। तेन च समुद्रतीरे परिभ्रमता किञ्चित्फलममृतकल्पं तरङ्गक्षिप्तं सम्प्राप्तम्। सोऽपि भक्षयन्निदमाह—"अहो, बहूनि मयाऽमृतप्रायाणि समुद्रकल्लोलाहृतानि फलानि भक्षितानि। परमपूर्वोऽस्यास्वादः। तत्किं पारिजातहरिचन्दनतरुसम्भवम् ? किं वा किञ्चिदमृतमयफलमिदमव्यक्तेनापि विधिनाऽपातितम्।"

एवं तस्य ब्रुवतो द्वितीयमुखेनाऽभिहितम्—"भो, यद्येवं तन्ममाऽपि स्तोकं प्रयच्छ, येनाऽहमपि जिह्वासौख्यमनुभवामि।"

ततो विहस्य प्रथमवक्त्रेणाऽभिहितम्—"आवयोस्तावदेकमुदरम्, एका तृप्तिश्च भवति। ततः किं पृथग्भक्षितेन ? वरमनेन शेषेण प्रिया तोष्यते।"

व्याख्या—अमृततकल्पं=सुधासमानं, मधुरम्। तरङ्गाक्षिप्तं=जलवीचि-प्रक्षिप्तम्। सम्प्राप्तं=लब्धम्, समुद्रकल्लोलाहृतानि=सागरतरङ्गानीतानि। अमृतप्रायाणि=अमृततुल्यानि फलानि। भक्षितानि=खादितानि। अपूर्वः=अभि-नवः। आस्वादः। पारिजातहरिचन्दनतरुसम्भवं=देववृक्षोत्पन्नम्। अमृतमयं फलं=सुधानिर्मितफलम्। अव्यक्तेन=अलक्षितेन। विधिना=दैवेन। आपातितं=निपाति-

तम्। स्तोकं=किञ्चिदल्पम्। प्रयच्छ=देहि। जिह्वासौख्यं=आस्वादसुखम्। अनुभवामि=प्राप्नोमि। तृप्तिः=सन्तोषः। वरम्=एतदुचितम्। शेषेण=अवशिष्टभागेन। प्रिया=भार्या।

हिन्दी—किसी सरोवर में एक पेट, किन्तु पृथक्-पृथक् कण्ठवाला एक भारुण्ड नामका पक्षी रहता था। एक दिन समुद्र के किनारे घूमते हुए उसको अमृत तुल्य फल मिल गया, जो समुद्र की तरङ्गों द्वारा तीर पर लाया गया था। उस फल को खाते हुए उसने कहा—ओह! मैंने समुद्र की लहरों द्वारा तीर पर लाये गये बहुत से अमृत तुल्य फल खाये थे, किन्तु इसका स्वाद तो विलक्षण ही है, तो क्या यह किसी देववृक्ष का फल है? अथवा अलक्षित भाग्य ने कहीं से इस अमृतमय फल को लाकर यहाँ छोड़ दिया है?

प्रथम मुख की इस बात को सुनकर द्वितीय मुख ने कहा—अरे भाई! यदि इतना मधुर फल है तो थोड़ा मुझे भी दे दो, जिससे मैं भी इसके आस्वाद का आनन्द ले लूँ।

यह सुनकर पहले मुख ने कहा—हमारा एक ही तो पेट है और एक से ही तृप्ति भी होती है, फिर अलग-अलग खाने से क्या लाभ है? अच्छा तो यह होगा कि अवशिष्ट भाग प्रियतमा को दे दिया जाय, जिससे वह भी सन्तुष्ट हो जायेगी।

एवमभिधाय तेन शेषं भारुण्ड्याः प्रदत्तम्। साऽपि तदास्वाद्य प्रहृष्टतमालिङ्गनचुम्बनसम्भावनाद्यनेकचाटुपरा च बभूव। द्वितीयं मुखं तद्दिनादेव प्रभृति सोद्वेगं सविषादं च तिष्ठति।

अथाऽन्येद्युर्द्वितीयमुखेन विषफलं प्राप्तम्। तद् दृष्ट्वाऽपरमाह—"भो निस्त्रिंश! पुरुषाधम! निरपेक्ष! मया विषफलमासादितम्। तत्तवाऽपमानाद्भक्षयामि।"

अपरेणाऽभिहितम्—"मूर्ख! मा मैवं कुरु। एवं कृते द्वयोरपि विनाशो भविष्यति"। अथैवं वदता तेनाऽपमानेन तत्फलं भक्षितम्। किं बहुना, द्वावपि विनष्टौ।" अतोऽहं ब्रवीमि—

"एकोदराः पृथग्ग्रीवा" इति।

चक्रधर आह—"सत्यमेतत्। तद्गच्छ गृहम्। परमेकाकिना न गन्तव्यम्। उक्तं च—

व्याख्या—एवमभिधाय=इत्थमुक्त्वा। तेन=प्रथममुखेन। भारुण्ड्याः=प्रियायै। प्रदत्तम्=प्रददे। तदास्वाद्य=तद् भक्षयित्वा। प्रहृष्टतमा=अतिप्रसन्ना

सती, आलिङ्गनचुम्बनसम्भावनाद्यनेकचाटुपरा — आलिङ्गनं = समाश्लेषः, चुम्बनं=मुखादिचुम्बनम्, सम्भावनं=भ्रूविक्षेपादि, चाटुतत्परा=प्रशंसावचन-तत्परा। बभूव=अजायत। सोद्वेगं—उद्वेगेन विषादेन च सहितं=सविषादम्। अथ=अनन्तरम्। अन्येद्युः=अन्यस्मिन् दिने। विषफलं=गरलफलम्। प्राप्तं=लब्धम्। तद् दृष्ट्वा=तदासाद्य। अपरं=प्रथमम्। मुखमाह=उक्तवान्। भो निस्त्रिंश !=हे निर्घृण ! निष्ठुर !=हे पुरुषाधम ! अधम जन ! हे निरपेक्ष != निःसङ्ग ! विषफलं=गरलफलम्। आसादितं=प्राप्तम्। तवापमानात्=तवाना-दरात्। भक्षयामि=खादामि। अपरेण=अन्येन प्रथममुखेन। अभिहितं=कथि-तम्। मा मैवं कुरु=एवं न कर्तव्यम्। एवं कृते=त्वया विषफले भक्षिते सति। द्वयोः=आवयोरपि। विनाशः=नाशः। अथैवं वदता= तत एवं ब्रुवाणेन। तेनापमानेन=तदनादरेण। तत्फलं=विषफलम्। भक्षितं=खादितम्। द्वावपि विनष्टौ=मृतौ। एकाकिना=एकेन। न गन्तव्यं=मा व्रजनीयम्।

हिन्दी—यह कहकर अवशिष्ट फल को उसने अपनी पत्नी को दे दिया। उस फल के खाने के बाद वह प्रसन्न होकर पति को आलिङ्गन चुम्बन तथा कटाक्ष-विक्षेप आदि द्वारा प्रसन्न करने लगी। दूसरा मुंह उस दिन से उदास एवं खिन्न रहने लगा।

किसी दूसरे दिन दूसरे मुंह को एक विष का फल मिल गया। उसको देख कर उसने कहा–अरे निष्करुण ! नराधम ! निरपेक्ष ! आज मैंने विषफल पाया है। तुमसे अपमानित होने के कारण मैं उसे खाऊँगा। यह सुनकर पहले मुंह ने कहा—मूर्ख ! ऐसा करने से तो हम दोनों का ही विनाश हो जायेगा।

उसके मना करने पर भी दूसरे मुंह ने उस फल को खा लिया। अधिक क्या कहा जाय, दोनों ही उस विषफल के खाने से मर गये। इसीलिए मैं कहता हूँ कि एकमत न होकर कार्य करने से भारुण्ड पक्षी के समान व्यक्ति का विनाश हो जाता है।

चक्रधर ने कहा—तुम ठीक कहते हो। अच्छा, तो तुम जाओ, किन्तु अकेले मत जाना, क्योंकि कहा गया है—

> एकः स्वादु न भुञ्जीत, नैकः सुप्तेषु जागृयात्।
> एको न गच्छेदध्वानं, नैकश्चार्थान्प्रचिन्तयेत्॥ ९३॥

अन्वयः—एकः स्वादु न भुञ्जीत, सुप्तेषु एकः न जागृयात्। अध्वानं एकः न गच्छेत् अर्थात् च एकः न प्रचिन्तयेत्॥ ९३॥

व्याख्या—एकः=एकाकी मनुष्यः । स्वादु=स्वादिष्टं मधुरं वा वस्तु । न भुञ्जीत=नाश्नीयात् । सुप्तेषु=निद्रितेषु । अन्येषु जनेषु । एकः=एकाकी जनः । न जागृयात्=न जागरणं कुर्यात् । तदानीं सोऽपि शयीत । एकः=असहायः पुमान् । अध्वानं=पन्थानम् । न गच्छेत्=न व्रजेत् । एकश्च अर्थान्=विषयान् । न प्रचिन्तयेत्=नालोचयेत् । कमप्यपरं सहायं कृत्वैव बहिर्गमनादिकं कुर्यादिति भावः ।। ९३ ।।

हिन्दी—स्वादिष्ट या मीठी वस्तु को अकेले नहीं खाना चाहिए । यदि साथ के सभी व्यक्ति सो गये हों, तो उनमें से एक व्यक्ति को नहीं जागना चाहिए । मार्ग में अकेले ही यात्रा नहीं करनी चाहिए । किसी गूढ विषय पर अकेले ही विचार नहीं करना चाहिए ।। ९३ ।।

अपि च—अपि कापुरुषो मार्गे द्वितीयः क्षेमकारकः ।
कर्कटेन द्वितीयेन जीवितं परिरक्षितम् ।। ९४ ।।

अन्वय—कापुरुषः अपि द्वितीयः मार्गे क्षेमकरः (भवति) (यथा) द्वितीयेन कर्कटेन (ब्राह्मणस्य) जीवितं परिरक्षितम् ।। ९४ ।।

व्याख्या—कापुरुष.—कुत्सितः पुरुषः कापुरुषः=भयशीलो भीरुर्वा अपि । द्वितीय=स्वेतरः । मार्गे=पथि । क्षेमकारकः—क्षेमं कल्याणं करोतीति क्षेम-कारकः=कल्याणकारी हितकारी वा भवति । यथा द्वितीयेन=स्वस्मादितरेण । कर्कटेन=केनापि कुलीरकेण । ब्राह्मणस्य जीवितं=जीवनम् । परिरक्षक्षितं=प्राण-रक्षणं कृतम् । क्वचन गन्तुं कामः स्वकीयरक्षणार्थं कमप्यपरं सहायमवश्यं कुर्या-दित्यर्थः ।। ९४ ।।

हिन्दी—मार्ग में यदि अत्यन्त भीरु व्यक्ति हो तो भी उसे साथ लेकर जाना चाहिए, क्योंकि साथ में रहने के कारण ही कर्कटक ने ब्राह्मण की जीवनरक्षा की थी ।। ९४ ।।

सुवर्णसिद्धिराह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे हुआ ?' चक्रधर ने कहना आरम्भ किया ।

१४. ब्राह्मणकर्कटक-कथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने ब्रह्मदत्तनामा ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म । स च प्रयोजन-वशाद् ग्रामं प्रस्थितः स्वमात्राऽभिहितः, यद्—"वत्स ! कथमेकाकी व्रजसि ? तदन्विष्यतां कश्चिद् द्वितीयः सहायः ।

स आह—"अम्ब ! मा भैषीः। निरुपद्रवोऽयं मार्गः। कार्यवशादेकाकी गमिष्यामि।"

अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वा, समीपस्थवाप्याः सकाशात्कर्कटमादाय मात्राऽभिहितं—"वत्स ! अवश्यं यदि गन्तव्यं, तदेष कर्कटोऽपि सहायो भवतु। तदेनं गृहीत्वा गच्छ।"

सोऽपि मातुर्वचनादुभाभ्यां पाणिभ्यां न संगृह्य कर्पूरपुटिकामध्ये निधाय, पात्रमध्ये संस्थाप्य शीघ्रं प्रस्थितः।

व्याख्याः—कस्मिंश्चिदधिष्ठाने=कस्मिंश्चिन्नगरे। प्रतिवसतिस्म=निवसतिस्म। प्रयोजनवशात्=अत्यावश्यककार्यात्। प्रस्थितः=प्रचलितः। स्वमात्रा=निजजनन्या। अभिहितः=उक्तः। एकाकी=एकः, असहायः। व्रजसि=गच्छसि। तत्=तस्मात् कारणात्। अन्विष्यतां=मृग्यताम्। द्वितीयः=अपरः। सहायः=सहायकः। अम्ब !=मातः !। मा भैषीः=भयं न कुरु। निरुपद्रवः=निर्विघ्नः। अयं मार्गः=एषः पन्थाः। तस्य=बालकस्य। निश्चयं=निर्णयम्। ज्ञात्वा=अवगत्य। समीपस्थवाप्याः=निकटस्थवाप्याः। कर्कटं=कुलीरम्। आदाय=गृहीत्वा। वत्स !=पुत्र ! एतं गृहीत्वा=कर्कटमेनमादाय। सहायः=सहचरः। उभाभ्यां=द्वाभ्याम्। पाणिभ्यां=हस्ताभ्याम्। संगृह्य=धृत्वा। कर्पूरपुटिकामध्ये=कर्पूरपेटिकायाम्। संस्थाप्य=निधाय। पात्रमध्ये=अन्यस्मिन् पात्रे निधाय। शीघ्रं प्रस्थितः=त्वरितं प्रचलितः।

हिन्दी—किसी नगर में ब्रह्मदत्त नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह आवश्यक कार्य से जब एक दिन किसी दूसरे ग्राम को जाने लगा, तो उसकी माँ ने कहा—पुत्र ! अकेले क्यों जा रहे हो, 'किसी साथी को खोज लो।

उसने उत्तर दिया—माँ आप डरें मत, यह मार्ग निर्विघ्न है। कुछ कार्यवश अकेले ही जा रहा हूँ।

माँ ने उसके दृढ़ निश्चय को जानकर पास की बावली से कर्कट को लाकर देते हुए कहा—वत्स ! यदि तुम्हारा वहाँ जाना आवश्यक है तो इस केंकड़े को ही साथ में ले लो। यही तुम्हारा सहायक होगा।

माँ की आज्ञा से उसने उस केकड़े को दोनों हाथों से पकड़कर कपूर की डिबिया में रख लिया और उसे झोले में रखकर चल दिया।

अथ गच्छन्ग्रीष्मोष्मणा सन्तप्तः कश्चिन्मार्गस्थं वृक्षमासाद्य, तत्रैव प्रसुप्तः। अत्रान्तरे वृक्षकोटरान्निर्गत्य सर्पस्तत्समीपमागतः।

स चाभ्यन्तरगतां कर्पूरपुटिकामतिलौल्यादभक्षयत्। सोऽपि कर्कटस्तत्रैव स्थितः सन् सर्पप्राणानपाऽहरत। ब्राह्मणोऽपि यावत्प्रबुद्धः पश्यति, तावत्समीपे मृत कृष्णसर्पो निजपार्श्वे कर्पूरपुटिकोपरि स्थितस्तिष्ठति। तं दृष्ट्वा व्यचिन्तयत्—"कर्कटेनाऽयं हतः" इति। प्रसन्नो भूत्वाऽब्रवीच्च—"भोः! सत्यमभिहितं मम मात्रा यत्—"पुरुषेण कोऽपि सहायः कार्यः। नैकाकिना गन्तव्यम्।" यतो मया श्रद्धापूरितचेतसा तद्वचनमनुष्ठितं तेनाऽहं कर्कटेन सर्वव्यापादनाद्रक्षितः" अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—गच्छन्=व्रजन्। ग्रीष्मोष्मणा=ग्रीष्मार्तघर्मेण। सन्तप्तः=प्रतप्तः। मार्गस्थं=पथि वर्तमानम्। वृक्षं=तरुम्। आसाद्य=प्राप्य। तत्रैव=वृक्षस्याधस्तात्। प्रसुप्तः=शयितः। वृक्षकोटरात्=तरुविवरात्, वृक्षरन्ध्रात्। निर्गत्य=निःसृत्य। तत्समीपं=ब्राह्मणसमीपम्। स च=सर्पः। अभ्यन्तरगतां=वस्त्रान्तर्गताम्। कर्पूरपुटिकाम्। अतिलौल्यात्=जिह्वोत्कण्ठ्यात्। तत्रैव=पुटिकायाम्। सर्पप्राणान्=सर्पजीवनम्। अपाहरत्=व्यनाशयत्। प्रबुद्धः=सुप्तोत्थितः। व्यचिन्तयत=चिन्तयामास। कर्कटेन=कुलीरेण। हतः=मारितः। अब्रवीत्=उवाच। अभिहितं=कथितम्। मम मात्रा=मे जनन्या। श्रद्धापूरितचेतसा=श्रद्धापूर्णहृदयेन। तद्वचनं=मातुःकथनम्। अनुष्ठितं=कृतम्। सर्पव्यापादनात्=सर्पदशनात्, सर्पमारणात्। रक्षितः=मोचितः।

हिन्दी—कुछ दूर जाने के बाद ग्रीष्मकालिक भीषण धूप से व्याकुल होकर रास्ते के बीच में ही एक पेड़ के नीचे वह सो गया। इसी समय पेड़ के खोखले से निकलकर एक साँप उस ब्राह्मण के पास आया।

कपूर की सुगन्धि में स्वाभाविक रुचि होने के कारण सर्प ने ब्राह्मण को छोड़ दिया और पोटली को फाड़कर उसके अन्दर रखी हुई कपूर की डिबिया को लोभवश निगलने लगा। उसमें रखे हुए केकड़े ने बाहर निकलकर साँप को मार डाला।

नींद खुलने पर जब ब्राह्मण ने इधर-उधर देखा, तो उसकी दृष्टि पास में पड़ी हुई उस कपूर की डिबिया पर पड़ी, जिसपर मरा हुआ वह साँप पड़ा था। उस साँप को देखकर वह सोचने लगा कि केकड़े ने ही इसको मारा है। पुनः उसने अपने मन में सोचा कि मेरी माँ ने ठीक ही कहा था—यात्राकाल में मनुष्य का कोई न कोई सहायक अवश्य खोज लेना चाहिए। अच्छा ही हुआ कि मैंने श्रद्धापूर्वक माँ की आज्ञा को मान लिया था। उसी का यह परिणाम

है कि आज इस केकड़े ने मुझे साँप के काटने से बचा लिया है। अथवा ठीक ही कहा गया है—

क्षीणः श्रयति शशी रविमृद्धो वर्द्धयति पयसां नाथम्।
अन्ये विपदि सहाया धनिनां, श्रियमनुभवन्त्यन्ये ॥ ९५ ॥

अन्वयः—क्षीणः शशी, रविं श्रयति, ऋद्धः (शशी) पयसां नाथं वर्द्धयति (एवमेव) विपदि धनिनां सहायाः अन्ये (भवन्ति) (तेषां) श्रियं च अन्ये अनुभवन्ति ॥ ९५ ॥

व्याख्या—क्षीणः=कलाक्षयं प्राप्तः, कलाविहीनो वा। शशी=चन्द्रमाः। रविं=सूर्यम्। श्रयति=आश्रयते। ऋद्धः=समृद्धः पूर्णकलः। पयसां नाथं=समुद्रम्। वर्द्धयति=प्रवर्द्धयति आनन्दयति वा। अतः स्पष्टमेवैतत् यत् विपदि=आपत्तौ। धनिनां=समृद्धानाम्। सहायाः=सहायकाः अन्ये भवन्ति। तेषां श्रियं=लक्ष्मीं, धनम्। अन्ये=इतरे जनाः। अनुभवन्ति=उपभुञ्जते।

"स्रवति" "रविवृद्धो" इति पाठान्तरे तु व्याख्या—

क्षीणः=कलाविहीनोऽपि। शशी=चन्द्रमाः। स्रवति=अमृतं वर्षति, लोकमानन्दयति। रविवृद्धो=रवेः सकाशात् कलाभिवृद्धौ सत्याम्। स एव चन्द्रः पयसां नाथं=समुद्रम् वर्द्धयति=वृद्धिं नयति। अन्ये=विरलाः पुरुषा। विपदि=आत्मनो विपत्तौ जातायामपि परेषां सहायाः भवन्ति। अन्ये=इतरे तु धनिनां श्रीसम्पन्नानां, श्रियं=सम्पत्तिम्। अनुभवन्ति=उपभुञ्जते। अर्थात् महापुरुषाः कष्टे पतिता अपि लोकानानन्दयन्ति, किं पुनर्वक्तव्यं यदि ते सम्पत्तिपरिपूर्णाः स्युरित्यर्थः ॥९५॥

हिन्दी—अपनी विपत्ति के समय दूसरों की सहायता करनेवाले लोग दूसरे होते हैं और बहुतेरे लोग धनिकों की सम्पत्ति का अनुभव करते हैं। जैसे चन्द्रमा क्षीण होने पर भी अमृत बरसाता है और वही सूर्य के द्वारा कलाभिवृद्धि होने पर समुद्र को बढ़ाता है।

अमावास्या का कलाहीन चन्द्रमा सूर्य का आश्रय ग्रहण करता है, पूर्णिमा के दिन कलाओं से पूर्ण होने पर सूर्य को भूल जाता है तथा समुद्र को अह्लादित करता है। इससे यह स्पष्ट है कि सम्पन्न व्यक्तियों को आपत्ति काल में सहयोग देनेवाले दूसरे व्यक्ति होते हैं और उनके धन का उपयोग दूसरे व्यक्ति करते हैं।

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥ ९६ ॥

अन्वयः—मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भैषजे गुरौ च यस्य यादृशी भावना भवति तादृशी (एव तस्य) सिद्धिः भवति ।। ९६ ।।

व्याख्या—मन्त्रे = मन्त्रसिद्धौ । तीर्थे = पवित्रे काश्यादिक्षेत्रे । तीर्थयात्रायां तीर्थस्थाने वा । द्विजे = ब्राह्मणे । देवे = देवतायाम् । दैवज्ञे = ज्यौतिषिके । भेषजे = औषधौ । गुरौ = उपदेष्टरि च । यस्य = जनस्य । भावना = भक्तिर्विश्वासो वा, श्रद्धा वा । यादृशी = सम्यगसम्यग्वा । येन प्रकारेण वर्तते । तस्य = पुरुषस्य । तादृशी = तथैव । सिद्धिः = फलप्राप्तिः । भवति = जायते । मन्त्रतीर्थादिभिर्भावनानुकूलमेव फलं प्राप्नुवन्ति मानवा इत्यर्थः ।। ९६ ।।

हिन्दी—ठीक भी है—मन्त्र की साधना में, तीर्थयात्रा एवं तीर्थस्थान में ब्राह्मणों की सेवा आदि में, देवताओं के विषय में, भविष्यवक्ता ज्योतिषियों में, औषधियों में तथा गुरु में जिस व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होती है उसके अनुसार ही उसको फल भी मिलता है ।। ९६ ।।

एवमुक्त्वाऽसौ ब्राह्मणो यथाऽभिप्रेतं गतः ।

व्याख्या—एवं = पूर्वोक्तम् । उक्त्वा = पठित्वा । ब्राह्मणो = असौ ब्रह्मदत्तः । यथाभिप्रेतं = यथेच्छं स्थानम् । गतः = प्रस्थितः ।

हिन्दी—ऐसा कहकर वह ब्राह्मण अपने लक्ष्य स्थान को चला गया ।

अतोऽहं ब्रवीमि—"अपि कापुरुषो मार्गे" इति ।

एवं श्रुत्वा सुवर्णसिद्धिस्तमनुज्ञाप्य स्वगृहं प्रति निवृत्तः ।

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रेऽपरीक्षितकारकं नाम पञ्चमं तन्त्रं समाप्तम् ।

व्याख्या—एवं = ब्रह्मदत्तचरितम् । श्रुत्वा = निशम्य । सुवर्णसिद्धिः = स्वर्णप्रापकः । तं = भ्रमच्चक्रमस्तकं स्वं मित्रम् । अनुज्ञाप्य = प्रार्थ्य, तेनानुमतः वा । स्वगृहं = निजभवनम् । प्रतिनिवृत्तः = अनुप्रस्थितः, परावृत्तो वा जातः ।

हिन्दी—इस कथा को सुनने के बाद चक्रधर ने सुवर्णसिद्धि से कहा—इसलिए मैं कहता हूँ कि यात्रा के समय साथ में रहने वाला अति दुर्बल प्राणी भी उपकारक होता है ।

चक्रधर की पूर्वोक्त बात सुनकर सुवर्णसिद्धि उसकी आज्ञा लेकर अपने अपने घर की ओर लौट गया ।

इस प्रकार विष्णुशर्मा द्वारा प्रणीत पञ्चतन्त्र नामक ग्रन्थ के अपरीक्षित-कारक नामक पाँचवें तन्त्र (प्रकरण) की डॉ० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी द्वारा की गई व्याख्या एवं हिन्दी अनुवाद समाप्त ।

—:०:—